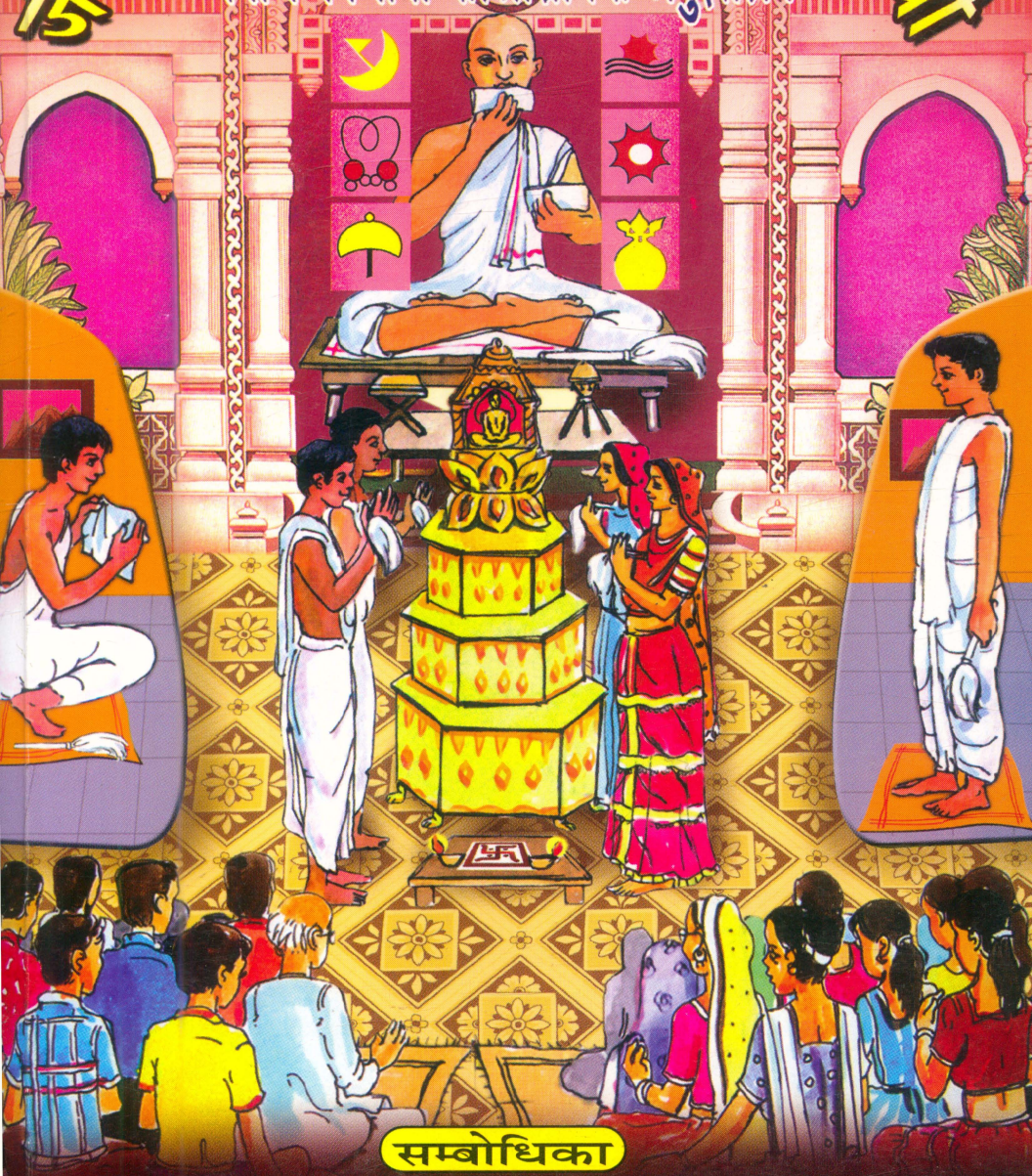
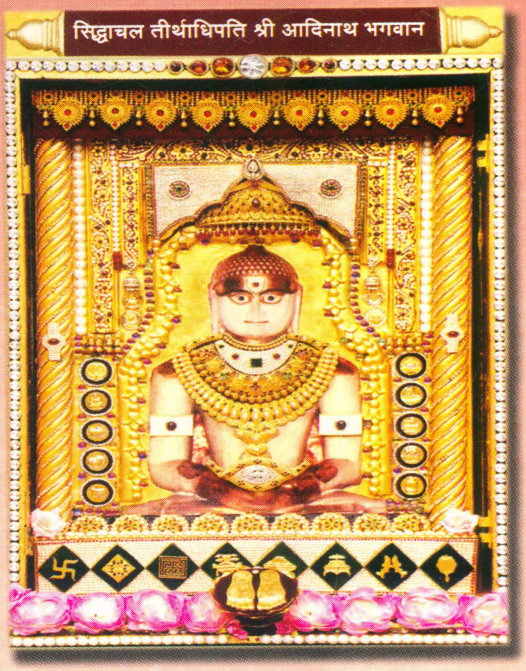
जैन गृहस्थ के व्रतारोपण सम्बन्धी

विधि-विधानों का प्रासंगिक अनुशीलन

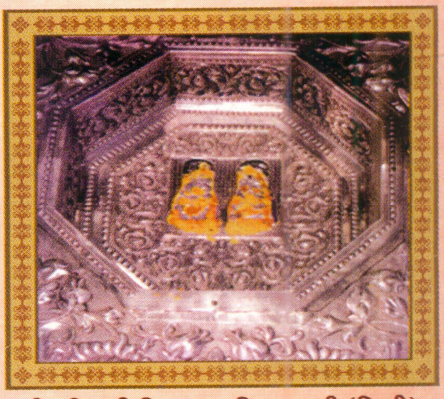


सम्बोधिका

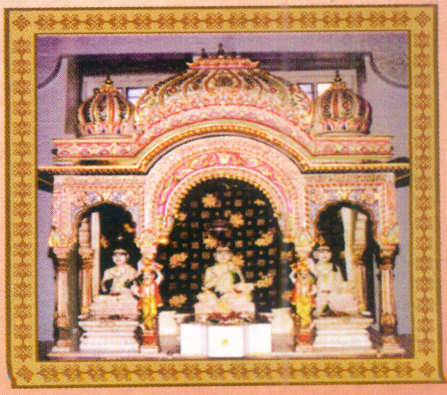
पूज्या प्रवर्त्तिनी श्री सज्जन श्रीजी म.सा.
परम विदुषी शशिप्रभा श्रीजी म.सा.




श्री जिनदत्तसूरि अजमेर दादाबाड़ी


श्री मणिधारी जिनचन्द्रसूरि दादाबाड़ी (दिल्ली)


श्री जिनकुशलसूरि मालपुरा दादाबाड़ी (जयपुर)


श्री जिनचन्द्रसूरि बिलाडा दादाबाड़ी (जोधपुर)

जैन गृहस्थ के व्रतारोपण संबंधी विधियों का प्रासंगिक अनुशीलन

जैन विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन विषय पर

(डी. लिट् उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबन्ध)

खण्ड-3

2012-13

R.J. 241 / 2007

शोधार्थी
डॉ. साध्वी सौम्यगुणा श्री

निर्देशक
डॉ. सागरमल जैन

जैन विश्व भारती विश्वविद्यालय
लाडनूं-341306 (राज.)

जैन गृहस्थ के व्रतारोपण संबंधी विधियों का प्रासंगिक अनुशीलन

जैन विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन विषय पर

(डी. लिट् उपाधि हेतु स्वीकृत शोध प्रबन्ध)

खण्ड-3



स्वप्न शिल्पी

आगम मर्मज्ञा प्रवर्त्तिनी सज्जन श्रीजी म.सा.

संयम श्रेष्ठा पूज्या शशिप्रभा श्रीजी म.सा.

मूर्त्त शिल्पी

डॉ. साध्वी सौम्यगुणा श्री

(विधि प्रभा)

शोध शिल्पी

डॉ. सागरमल जैन

जैन गृहस्थ के व्रतारोपण संबंधी विधियों का प्रासंगिक अनुशीलन

कृपा पुंज : पूज्य आचार्य श्री मज्जिन कैलाशसागर सूरीश्वरजी म.सा.

मंगल पुंज : महामनस्वी पूज्य उपाध्याय श्री मणिप्रभसागरजी म.सा.

आनन्द पुंज : आगमज्योति प्रवर्तिनी महोदया पूज्या सज्जन श्रीजी म.सा.

प्रेरणा पुंज : पूज्य गुरुवर्य्या शशिप्रभा श्रीजी म.सा.

वात्सल्य पुंज : गुर्वाज्ञा निमग्ना पूज्य प्रियदर्शना श्रीजी म.सा.

स्नेह पुंज : पूज्य दिव्यदर्शना श्रीजी म.सा., पूज्य तत्वदर्शना श्रीजी म.सा., पूज्य सम्यक्दर्शना श्रीजी म.सा., पूज्य शुभदर्शना श्रीजी म.सा., पूज्य मुदितप्रज्ञाश्रीजी म.सा., पूज्य शीलगुणाश्रीजी म.सा., सुयोग्या कनकप्रभा जी, सुयोग्या संयमप्रज्ञा जी, सुयोग्या श्रुतदर्शना जी आदि भगिनी मण्डल।

शोधकर्त्री : साध्वी सौम्यगुणाश्री (विधिप्रभा)

ज्ञान वृष्टि : डॉ. सागरमल जैन

प्रकाशक :
- प्राच्य विद्यापीठ, दुपाडा रोड, शाजापुर-465001
  email : sagarmal.jain@gmail.com
- सज्जनमणि ग्रन्थमाला प्रकाशन
  बाबू माधवलाल धर्मशाला, तलेटी रोड, पालीताणा-364270

प्रथम संस्करण : सन् 2014

प्रतियाँ : 1000

सहयोग राशि : ₹ 150.00

(पुनः प्रकाशनार्थ)

कम्पोज : विमल चन्द्र मिश्र, वाराणसी

कॅवर सेटिंग : शम्भू भट्टाचार्य, कोलकाता

मुद्रक : Antartica Press, Kolkata

ISBN : 978-81-910801-6-2 (III)

© All rights reserved by Sajjan Mani Granthmala.

प्राप्ति स्थान

1. श्री सज्जनमणि ग्रन्थमाला प्रकाशन
बाबू माधवलाल धर्मशाला, तलेटी रोड,
पो. पालीताणा-364270 (सौराष्ट्र)
फोन : 02848-253701

2. श्री कान्तिलालजी मुकीम
श्री जिनरंगसूरि पौशाल, आड़ी बांस
तल्ला गली, 31/A, पो. कोलकाता-7
मो. 98300-14736

3. श्री भाईसा साहित्य प्रकाशन
M.V. Building, Ist Floor
Hanuman Road, PO : VAPI
Dist. : Valsad-396191 (Gujrat)
मो. 98255-09596

4. पार्श्वनाथ विद्यापीठ
I.T.I. रोड, करौंदी वाराणसी-5 (यू.पी.)
मो. 09450546617

5. डॉ. सागरमलजी जैन
प्राच्य विद्यापीठ, दुपाडा रोड
पो. शाजापुर-465001 (म.प्र.)
मो. 94248-76545
फोन : 07364-222218

6. श्री आदिनाथ जैन श्वेताम्बर
तीर्थ, कैवल्यधाम
पो. कुम्हारी-490042
जिला– दुर्ग (छ.ग.)
मो. 98271-44296
फोन : 07821-247225

7. श्री धर्मनाथ जैन मन्दिर
84, अमन कोविल स्ट्रीट
कोण्डी थोप, पो. चेन्नई-79 (T.N.)
फोन : 25207936,
044-25207875

8. श्री जिनकुशलसूरि जैन दादावाडी,
महावीर नगर, केम्प रोड
पो. मालेगाँव
जिला- नासिक (महा.)
मो. 9422270223

9. श्री सुनीलजी बोथरा
टूल्स एण्ड हार्डवेयर,
संजय गांधी चौक, स्टेशन रोड
पो. रायपुर (छ.ग.)
फोन : 94252-06183

10. श्री पदमचन्द चौधरी
शिवजीराम भवन, M.S.B. का रास्ता,
जौहरी बाजार
पो. जयपुर-302003
मो. 9414075821, 9887390000

11. श्री विजयराजजी डोसी
जिनकुशल सूरि दादाबाड़ी
89/90 गोविंदप्पा रोड
बसवनगुडी, पो. बैंगलोर (कर्ना.)
मो. 093437-31869

संपर्क सूत्र

श्री चन्द्रकुमारजी मुणोत
9331032777
श्री रिखबचन्दजी झाड़चूर
9820022641
श्री नवीनजी झाड़चूर
9323105863
श्रीमती प्रीतिजी अजितजी पारख
8719950000
श्री जिनेन्द्र बैद
9835564040
श्री पन्नाचन्दजी दूगड़
9831105908

लोकार्पण

जिनकी विरल जिज्ञासाओं ने

शोध कार्य की प्रेरणा दी।

जिनके अप्रतिम सहयोग ने

विषमता में साहस दिया।

जिनके जटिल प्रश्नों ने

चिंतन के नए द्वार उद्घाटित किए।

जिनके निश्छल स्नेहाशीष ने

सफलता का विश्वास दिया।

उन समस्त आत्मीय जनों को

सादर समर्पित

सज्जन नवनीत

व्यवहार जगत में रहते हुए
सम्यग्दर्शन का रस पान हो
हेय-ज्ञेय-उपादेय का भान हो
बारह व्रतों की पहचान हो
जिससे
मोह-मिथ्या-माया का वर्जन हो
क्रिया में श्रद्धा और विवेक का सिंचन हो
श्रुत आराधना से गुण वर्धन हो
और यह हमें
लोकाचार से श्रावकाचार
श्रावकाचार से श्रमणाचार
श्रमणाचार से जिन आचार की ओर
आरोहण करने में प्रेरणास्पद बनें
इसी अभ्यर्थना के साथ...

हार्दिक अनुमोदन

सज्जनमणि प.पू. शशिप्रभा श्रीजी म.सा., पू. दिव्य दर्शना श्रीजी म.सा., पू. सौम्यगुणा श्रीजी म.सा., पू. संयम प्रज्ञा श्रीजी म.सा., पू. स्थित प्रज्ञा श्रीजी म.सा., पू. संवेग प्रज्ञा श्रीजी म.सा. आदि ठाणा 6 के सन् 2013 , अरिहंत भवन, भवानीपुर-कोलकाता के ऐतिहासिक चातुर्मास की अनुमोदनार्थ

श्रावक रत्न पिता श्री मणिचंदजी-मातु श्री लीली जी

सुपुत्र

राजकुमार–अमिता

अरविन्द-संयोगिता

सुपौत्र

अभिषेक, वेदान्त सुखानी परिवार

कोलकाता

श्रुत संवर्धन की परम्परा के पुण्य सहयोगी श्री मणिचन्दजी सुखानी परिवार

कोलकाता जैन समाज में जिनका व्यक्तित्व, सद्भावों का ज्वलंत उदाहरण है। जिनका समर्पण, निश्छलता का पावन प्रतीक है। जिनकी सरलता, आत्मिक निर्मलता के लिए जीवंत आदर्श है। जिनकी समन्वय दृष्टि, **मित्ती में सव्व भूएसु** की सबल शिक्षा है। जिनके साधना की उष्मा, सूर्य के समान सकल संघ प्रकाशी है। जिनकी उदारवृत्ति, सरिता के समान सर्व पथगामिनी है। जिनकी संकल्प शक्ति, समाज निर्माण का मुख्य आधार है। ऐसे गुण सम्पन्न सुखानी परिवार की प्रियता के विषय में एक कवि के शब्द याद आ रहे हैं–

वदनं प्रासादं सदनं सदयं, सहृदयं सुधामुचोवाचः ।
करणं परोपकरणं, येषां केषां न ते वन्द्याः ।।

अर्थात जिनके मुखमंडल पर प्रसन्नता विराजित हो, जिसके हृदय में दया का सागर लहराता हो, जिसकी वाणी से अमृत की वर्षा होती हो और जिसका काम ही परोपकार करना हो वे किसके प्रिय नहीं होते।

सुखानी परिवार इन सभी गुणों से ओत-प्रोत हैं। मूलत:बीकानेर निवासी सुखानी परिवार के मुखिया श्री मणिलालजी सुखानी कलकत्ता सेन्ट जेवियर्स से बी. कॉम. है। आपने Sukhani stamps के कार्य का शुभारंभ कर देश-विदेश तक Sukhani परिवार की छवि को विस्तृत किया है। कोलकाता जिनेश्वरसूरि फाउन्डेशन के मेम्बर्स में आपका मुख्य स्थान है। इस संस्था की हर गतिविधियों में आप पूर्ण सहयोग देते हैं। धार्मिक आयोजनों एवं मानव सेवा के कार्यों के लिए आपका हाथ सदा खुला रहता है। लायन्स क्लब आदि सामाजिक संस्थाओं में भी आप पदासीन हैं। शारीरिक प्रतिकूलता होने पर भी प्रभु दर्शन, जिन पूजा, प्रवचन श्रवण आदि आत्मलक्षी प्रवृत्तियों को नियम से करते हैं।

मंजुल स्वभावी, वाणी जादूगर श्रीमती लीलीजी सुखानी का बचपन राष्ट्रसंत पद्मसागर सूरीश्वरजी म.सा. जैसी हस्तियों के साथ बीता है। वर्तमान में कुशल सज्जन महिला मंडल, श्री जिनदत्तसूरि मंडल, जैन महिला समिति आदि में मुख्य पद पर हैं।

आप अपनी वाक् पटुता एवं मधुर वाणी से सबके दिलो को छू जाती है। आपके सुपुत्र राजकुमारजी एवं अरविंदजी सुखानी भी आपके समान ही धर्मप्रिय एवं जनप्रिय हैं। ज्येष्ठ पुत्र श्री राजकुमारजी सुखानी ने 16 वर्ष की उम्र से ही स्टेम्प के व्यापार में प्रवेश कर लिया था। अपने पिताजी के इस Business को आपने देश-विदेश में ऊँचाईयों तक पहुँचाया है। आप सामाजिक पद-प्रतिष्ठाओं से दूर रहकर भी समाज विकास में हर संभव सहायता करते हैं। सरलता, सादगी एवं भद्रता आपके चेहरे पर मधुरस के समान टपकती है। कोई एक बार भी आपके परिचय में आ जाए वह आपको भूल नहीं सकता।

श्रीमती अमिता राजकुमारजी सुखानी एक स्वाध्याय प्रिय Business Women है। Hi-profile Society में रहते हुए भी आपके जीवन में धर्म कार्यों के प्रति पूर्ण सजगता एवं अन्तरंग रुचि दृष्टिगत होती है। इतने ही सुंदर संस्कारों से अपने सुपुत्र अभिषेक एवं वेदान्त को भी नवाजा है।

पूज्य गुरुवर्य्या श्री से सुखानी परिवार का संबंध बहुत पुराना है। पिछले सतरह वर्षों से तो अत्यंत निकटता से जुड़ गए हैं। आप पूज्य गुरुवर्य्या श्री को गुरु से भी बढ़कर मानते हैं। सन् 2012 का कलकत्ता चातुर्मास आप ही के द्वारा नवनिर्मित अरिहंत भवन में सम्पन्न हुआ है। इस समय पाँचों महीने की साधर्मी भक्ति का लाभ भी आप ही के परिवार ने लिया।

सकारात्मक जीवन शैली एवं स्वाध्याय आप दोनों की विशिष्ट पहचान हैं। श्रुतज्ञान के प्रति आपकी अभिरुचि इतनी अधिक है कि अपने परिवार द्वारा आयोजित चातुर्मास में 50 दिन के बाद चातुर्मासिक मोह का त्याग करते हुए सौम्यगुणाजी को अपने अध्ययन के लिए पूर्ण समय दे दिया तथा अधिक से अधिक पुस्तक प्रकाशन में सहयोग देने की भावना व्यक्त की। जैन समाज में आज भी ऐसे दानवीर हैं जो साधु-साध्वियों का हौसला बढ़ाकर उन्हें शासन सेवा के लिए प्रेरित करते हैं।

जैन संघ आप जैसे नर रत्नों से सदा सुशोभित रहें, इसी भावना के साथ सज्जनमणि ग्रन्थमाला प्रकाशन आपके परिवार के बारे में यही कहेगा कि

ये चंद जलवे हैं जो झलक आए हैं।
रंग और भी बहुत है, जिंदगी के गुलशन में।।

●

सम्पादकीय

जैन धर्म आत्मोपलब्धि या स्व स्वरूप उपलब्धि की साधना है। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो वह आत्मा को परमात्मा बनाने की कला है। जैन धर्म में साधना के दो मार्ग बताए गए हैं-एक श्रमण धर्म और दूसरा गृहस्थ धर्म। जैन धर्म निवृत्ति प्रधान होने से प्राथमिकता तो मुनि जीवन की साधना को ही देता है, किन्तु जो मुनि जीवन को स्वीकार करने में असमर्थता का अनुभव करते हैं। उनके लिए गृहस्थ धर्म की व्यवस्था की गई। इसे सागार धर्म भी कहा जाता है। गृहस्थ धर्म के अन्तर्गत मुख्य रूप से छह आवश्यक, षट्कर्म, बारह व्रत, ग्यारह प्रतिमा और अन्तिम समय में समाधिमरण की अनुशंसा की गई है।

गृहस्थ जीवन के दो पक्ष होते हैं-एक सामाजिक जीवन और दूसरा धार्मिक जीवन। सामाजिक जीवन के अन्तर्गत षोडश संस्कार का उल्लेख आचार दिनकर आदि ग्रन्थों में मिलता है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि जैन धर्म के प्राचीन ग्रन्थों में गृहस्थ के सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन से संबंधित षोडश संस्कारों का विशेष उल्लेख प्राप्त नहीं होता है, जबकि धार्मिक जीवन के अंगीभूत बारह व्रतों, ग्यारह प्रतिमाओं आदि का उल्लेख आगम युग से ही देखने को मिलता है।

उपासकदशा नामक आगम में गृहस्थ के धार्मिक जीवन से सम्बन्धित बारह व्रतों, उनके अतिचारों एवं समाधिमरण का विस्तृत उल्लेख किया गया है। दशाश्रुतस्कन्ध नामक आगम में गृहस्थ की ग्यारह प्रतिमाओं का वर्णन किया गया है। आचार दिनकर में यद्यपि गृहस्थ के षोड़श संस्कारों के अन्तर्गत व्रतारोपण का उल्लेख आया है फिर भी इतना निश्चित है कि गृहस्थ के पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन से संबंधित विधि-विधानों के प्रति जैनाचार्यों की दृष्टि उपेक्षित ही रही है।

साध्वी श्रीसौम्यगुणाजी ने गृहस्थ के सामाजिक जीवन से संबंधित संस्कारों का विवेचन इसके पूर्व खण्ड में किया है। प्रस्तुत कृति में उन्होंने गृहस्थ के धार्मिक जीवन से संबंधित विधि-विधानों की चर्चा की है। यदि जैन साहित्य का

अवलोकन करें तो इस विषयक चर्चा आगम साहित्य में उपासकदशा और दशाश्रुतस्कन्ध में मिलती है। उसके पश्चात आचार्य हरिभद्रसूरि ने अष्टक, षोड़शक, विंशिका, पंचाशक आदि ग्रन्थों में भी गृहस्थ के धार्मिक जीवन से संबंधित चर्या एवं सम्यक्त्व व्रत आदि का उल्लेख किया है। इसी प्रकार तत्त्वार्थसूत्र, उसके स्वोपज्ञ भाष्य एवं उसकी श्वेताम्बर-दिगम्बर टीकाओं में भी गृहस्थ धर्म के बारह व्रतों तथा ग्यारह प्रतिमाओं के उल्लेख प्राप्त होते हैं। देव पूजा, गुरू उपासना आदि के उल्लेख भी आचार्य हरिभद्रसूरि के ग्रन्थों में विस्तार से उपलब्ध होते हैं। दिगम्बर परम्परा में गृहस्थ के साधना मार्ग का उल्लेख कुछ पुराणों एवं चरित्त काव्यों में मिलता है। पं. आशाधरजी ने तो इस विषय पर सागार धर्मामृत नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखा है, किन्तु इसके पूर्व आचार्य कुन्दुकुन्द के नियमसार, प्रवचनसार आदि ग्रन्थों में गृहस्थ धर्म के व्रतों आदि के कुछ उल्लेख मिल जाते हैं। इसके अतिरिक्त गृहस्थ धर्म से संबंधित बारह व्रतों एवं संलेखना आदि के उल्लेख हेमचन्द्राचार्य के योगशास्त्र में भी पाए जाते हैं।

अभयदेवसूरि चरित उपासकदशा की टीका में भी इनका विस्तृत उल्लेख मिलता है, किन्तु व्रतारोपण आदि से संबंधित विधि-विधानों का उल्लेख हमें आचार दिनकर आदि ग्रन्थों में ही प्राप्त होता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जहाँ जैन परम्परा में गृहस्थ उपासक के लिए श्रावक शब्द का उल्लेख मिलता है वहाँ बौद्ध धर्म में श्रावक शब्द का उल्लेख भिक्षु और गृहस्थ उपासक दोनों के लिए हुआ है।

प्रस्तुत कृति में साध्वी सौम्यगुणा श्रीजी ने सर्वप्रथम जैन गृहस्थ की धर्माराधना विधि और उसके प्रकारों का उल्लेख किया है। उसके पश्चात् सम्यक्त्व आरोपण विधि का विवेचन किया गया है। सम्यक्त्व की प्राप्ति जैन साधना का आधार है। इसे सम्यक्दर्शन भी कहा जाता है। मुनि जीवन की साधना हो या गृहस्थ जीवन की सम्यक्त्व की प्राप्ति उसका प्रथम चरण है। जैन धर्म के त्रिविध साधना मार्ग में सम्यक्दर्शन और सम्यक्ज्ञान की साधना गृहस्थ और मुनि दोनों के लिए विहित है। गृहस्थ और मुनि जीवन की साधना में जो भी अंतर है वह सम्यक्चारित्र को लेकर है। जहाँ मुनि जीवन में पंच महाव्रतों का आरोपण किया जाता है वहाँ गृहस्थ साधक पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और

चार शिक्षाव्रतों की साधना करता है। पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत मिलकर श्रावक के बारहव्रत कहे जाते हैं।

साध्वी श्री सौम्यगुणा श्रीजी ने प्रस्तुत कृति के तीसरे अध्याय में बारह व्रतों की आरोपण विधि का उल्लेख किया है। चौथे अध्याय में षाण्मासिक सामायिक व्रत आरोपण विधि का निरूपण किया गया है। पाँचवें अध्याय में पौषध व्रत ग्रहण विधि का उल्लेख स्वतन्त्र रूप से किया गया है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि बारह व्रतों की अवधारणा जैन धर्म की श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में सामान्य रूप से पाई जाती है, फिर भी क्रम की अपेक्षा विभिन्न ग्रन्थों में कुछ अन्तर देखा जाता है। प्रथम अंतर तो यह है कि जहाँ श्वेताम्बर परम्परा में शिक्षाव्रतों में क्रमशः सामायिक, देशावकासिक, पौषध और अतिथिसंविभाग का उल्लेख है वहाँ दिगम्बर परम्परा में कुन्दकुन्द आदि कुछ आचार्यों के ग्रन्थों में सामायिक, पौषध, अतिथिसंविभाग और संलेखना का उल्लेख मिलता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि दिगम्बर परम्परा में देशावकासिक और पौषध व्रत को एक में सम्मिलित कर दिया गया है तथा उस रिक्त स्थान की पूर्ति संलेखना व्रत को जोड़कर की गई है, किन्तु यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि सभी दिगम्बर आचार्य इसका अनुसरण नहीं करते हैं। कुछ दिगम्बर आचार्यों ने तत्त्वार्थसूत्र के आधार पर श्रावक व्रतों की विवेचना की है। उसमें देशावकासिक व्रत का स्पष्ट उल्लेख है। फिर भी क्रम आदि को लेकर विभिन्न ग्रन्थों में थोड़ा-बहुत अन्तर मिल जाता है। सामान्य रूप से बारह व्रतों की व्यवस्था सभी को स्वीकार्य रही है। इस व्रत व्यवस्था में सामायिक, पौषध आदि का विशेष महत्त्व इसलिए है कि इनमें साधक की जीवनचर्या मुनिवत हो जाती है। यही कारण है कि इन पर स्वतन्त्र रूप से भी विपुल साहित्य की रचना हुई है।

साध्वी सौम्यगुणा श्रीजी द्वारा इन दोनों का स्वतन्त्र अध्याय में विवेचन इसी दृष्टिकोण को लक्ष्य में रखकर किया गया है। जहाँ पाँच अणुव्रतों और तीन गुणव्रतों का धारण जीवन पर्यंत के लिए होता है वहाँ सामायिक और पौषध का धारण समय-समय पर किया जाता है और तत्संबंधी विधि-विधान भी उसी के अनुसार करने होते हैं अतः इनका स्वतन्त्र अध्यायों में विवेचन उचित ही है। सामायिक और पौषध के ग्रहण और पारण की विधियों में भी परस्पर कुछ

अन्तर देखा जाता है जिसका उल्लेख साध्वीजी ने प्रस्तुत कृति में किया है।

यद्यपि श्रावकों के व्रतों और उनके अतिचारों का उल्लेख तो हमें अनेक कृतियों में मिलता है, किन्तु इन व्रतों को स्वीकार करने संबंधी विधि-विधानों का उल्लेख करने वाले ग्रन्थ प्राय: विरल ही हैं। इस कृति के छठे अध्याय में उपधान तप विधि का सांगोपांग विवेचन किया गया है। नित्य उपयोगी नवकार मंत्र आदि सूत्रों के पठन-पाठन का शास्त्रीय अधिकार (eligibility) इस अनुष्ठान की आराधना के बाद ही प्राप्त होता है। श्रावकाचार सम्बन्धी मध्यकालीन ग्रन्थों में तद्विषयक चर्चा प्राप्त होती है।

सातवाँ अध्याय गृहस्थ आचरणीय ग्यारह उपासक प्रतिमाओं से सम्बन्धित है। श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार वर्तमान में यह विधि लुप्त हो चुकी है। सम्भवत: इसका मुख्य कारण घटता मनोबल एवं क्षीण होता शारीरिक संघयण होना चाहिए। यों तो प्रतिमा धारण की चर्चा आगमयुग से ही प्राप्त होती है। साध्वी सौम्यगुणा श्रीजी निश्चित ही धन्यवाद की पात्र हैं कि उन्होंने श्रावकों के व्रतारोपण संबंधी विधि-विधानों का बहुपक्षीय विश्लेषण इस एक ग्रन्थ में करने का प्रयत्न किया है। प्रस्तुत कृति में गृहस्थ व्रतारोपण सम्बन्धी विविध घटकों के विस्तृत विवरण के साथ तुलना और समीक्षा को समाहित कर इसे विद्वत योग्य भी बनाया गया है। हम अपेक्षा करते हैं कि भविष्य में भी साध्वीजी ऐसी कृतियों का प्रणयन कर जैन विद्या के क्षेत्र में अपना अवदान प्रस्तुत करती रहे।

डॉ. सागरमल जैन
प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर

आशीर्वचन

आज मन अत्यन्त आनंदित है। जिनशासन की बगिया को महकाने एवं उसे विविध रंग-बिरंगे पुष्पों से सुरभित करने का जो स्वप्न हर आचार्य देखा करता है आज वह स्वप्न पूर्णाहुति की सीमा पर पहुँच गया है। खरतरगच्छ की छोटी सी फुलवारी का एक सुविकसित सुयोग्य पुष्प है साध्वी सौम्यगुणाजी, जिसकी महक से आज सम्पूर्ण जगत सुगन्धित हो रहा है।

साध्वीजी के कृतित्व ने साध्वी समाज के योगदान को चिरस्मृत कर दिया है। आर्या चन्दनबाला से लेकर अब तक महावीर के शासन को प्रगतिशील रखने में साध्वी समुदाय का विशेष सहयोग रहा है।

विदुषी साध्वी सौम्यगुणाजी की अध्ययन रसिकता, ज्ञान प्रौढ़ता एवं श्रुत तल्लीनता से जैन समाज अक्षरशः परिचित है। आज वर्षों का दीर्घ परिश्रम जैन समाज के समक्ष 23 खण्डों के रूप में प्रस्तुत हो रहा है।

साध्वीजी ने जैन विधि-विधान के विविध पक्षों को भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से उद्घाटित कर इसकी त्रैकालिक प्रासंगिकता को सुसिद्ध किया है। इन्होंने श्रावक एवं साधु के लिए आचरणीय अनेक विधि-विधानों का ऐतिहासिक, वैज्ञानिक, समीक्षात्मक, तुलनात्मक स्वरूप प्रस्तुत करते हुए निष्पक्ष दृष्टि से विविध परम्पराओं में प्राप्त इसके स्वरूप को भी स्पष्ट किया है।

साध्वीजी इसी प्रकार जैन श्रुत साहित्य को अपनी कृतियों से रौशन करती रहे एवं अपने ज्ञान गांभीर्य का रसास्वादन सम्पूर्ण जैन समाज को करवाती रहे, यही कामना करता हूँ। अन्य साध्वी मण्डल इनसे प्रेरणा प्राप्त कर अपनी अतुल क्षमता से संघ-समाज को लाभान्वित करें एवं जैन साहित्य की अनुद्घाटित परतों को खोलने का प्रयत्न करें, जिससे आने वाली भावी पीढ़ी जैनागमों के रहस्यों का रसास्वादन कर पाएं। इसी के साथ धर्म से विमुख एवं विशृंखलित होता जैन समाज विधि-विधानों के महत्त्व को समझ पाए तथा वर्तमान में फैल रही भ्रान्त मान्यताएँ एवं आडंबर सम्यक दिशा को प्राप्त कर सकें। पुनश्च मैं साध्वीजी को उनके प्रयासों के लिए साधुवाद देते हुए यह मंगल कामना

करता हूँ कि वे इसी प्रकार साहित्य उत्कर्ष के मार्ग पर अग्रसर रहें एवं साहित्यान्वेषियों की प्रेरणा बनें।

आचार्य कैलास सागर सूरि
नाकोड़ा तीर्थ

किसी भी धर्म दर्शन में उपासनाओं का विधान अवश्यमेव होता है। विविध भारतीय धर्म-दर्शनों में आध्यात्मिक उत्कर्ष हेतु अनेक प्रकार से उपासनाएँ बतलाई गई हैं। जीव मात्र के कल्याण की शुभ कामना करने वाले हमारे पूज्य ऋषि मुनियों द्वारा शील-तप-जप आदि अनेक धर्म आराधनाओं का विधान किया गया है।

प्रत्येक उपासना का विधि-क्रम अलग-अलग होता है। साध्वीजी ने जैन विधि विधानों का इतिहास और तत्सम्बन्धी वैविध्यपूर्ण जानकारियाँ इस ग्रन्थ में दी है। ज्ञान उपासिका साध्वी श्री सौम्यगुणा श्रीजी ने खूब मेहनत करके इसका सुन्दर संयोजन किया है।

भव्य जीवों को अपने योग्य विधि-विधानों के बारे में बहुत-सी जानकारियाँ इस ग्रन्थ के द्वारा प्राप्त हो सकती है।

मैं ज्ञान निमग्ना साध्वी श्री सौम्यगुणा श्रीजी को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ कि इन्होंने चतुर्विध संघ के लिए उपयोगी सामग्री से युक्त ग्रन्थों का संपादन किया है।

मैं कामना करता हूँ कि इसके माध्यम से अनेक ज्ञानपिपासु अपना इच्छित लाभ प्राप्त करेंगे।

आचार्य पद्मसागर सूरि

हर क्रिया की अपनी एक विधि होती है। विधि की उपस्थिति व्यक्ति को मर्यादा भी देती है और उस क्रिया के प्रति संकल्प-बद्ध रहते हुए पुरुषार्थ करने की प्रेरणा भी। यही कारण है कि जिन शासन में हर क्रिया की अपनी एक स्वतंत्र विधि है।

प्राचीन ग्रन्थों में वर्णन उपलब्ध होता है कि भरत महाराजा ने हर श्रावक के गले में सम्यक दर्शन,सम्यक ज्ञान और सम्यक चारित्र रूप त्रिरत्नों की जनोई धारण करवाई थी। कालान्तर में जैन श्रावकों में यह परम्परा विलुप्त हो गई। दिगम्बर श्रावकों में आज भी यह परम्परा गतिमान है।

जिस प्रकार ब्राह्मणों में सौलह संस्कारों की विधि प्रचलित है। ठीक उसी प्रकार जैन ग्रन्थों में भी सौलह संस्कारों की विधि का उल्लेख है। आचार्य श्री वर्धमानसूरि खरतरगच्छ की रूद्रपल्लीय शाखा में हुए पन्द्रहवीं-सौलहवीं शताब्दी के विद्वान आचार्य थे। आचारदिनकर नामक ग्रन्थ में इन सौलह संस्कारों का विस्तृत निरूपण किया गया है। हालांकि गहन अध्ययन करने पर मालूम होता है कि आचार्य श्री वर्धमानसूरि पर तत्कालीन ब्राह्मण विधियों का पर्याप्त प्रभाव था, किन्तु स्वतंत्र विधि-ग्रन्थ के हिसाब से उनका यह ग्रन्थ अद्भुत एवं मौलिक है।

साध्वी सौम्यगुणा श्रीजी ने जैन गृहस्थ के व्रत ग्रहण संबंधी विधि विधानों पर तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन करके प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना की है। यह बहुत ही उपयोगी ग्रन्थ साबित होगा, इसमें कोई शंका नहीं है। साध्वी सौम्यगुणाजी सामाजिक दायित्वों में व्यस्त होने पर भी चिंतनशील एवं पुरुषार्थशील हैं। कुछ वर्ष पूर्व में विधिमार्गप्रपा नामक ग्रन्थ पर शोध प्रबन्ध प्रस्तुत कर अपनी विद्वत्ता की अनूठी छाप समाज पर छोड़ चुकी हैं।

मैं हार्दिक भावना करता हूँ कि साध्वीजी की अध्ययनशीलता लगातार बढ़ती रहे और वे शासन एवं गच्छ की सेवा में ऐसे रत्न उपस्थित करती रहें। **उपाध्याय श्री मणिप्रभसागर**

विनयाद्यनेक गुणगण गरीमायमाना विदुषी साध्वी श्री शशिप्रभा श्रीजी एवं सौम्यगुणा श्रीजी आदि सपरिवार सादर अनुवन्दना सुखशाता के साथ।

आप शाता में होंगे। आपकी संयम यात्रा के साथ ज्ञान यात्रा अविरत चल रही होगी।

आप जैन विधि विधानों के विषय में शोध प्रबंध लिख रहे हैं यह जानकर प्रसन्नता हुई।

ज्ञान का मार्ग अनंत है। इसमें ज्ञानियों के तात्पर्यार्थ के साथ प्रामाणिकता पूर्ण व्यवहार होना आवश्यक रहेगा।

आप इस कार्य में सुंदर कार्य करके ज्ञानोपासना द्वारा स्वश्रेय प्राप्त करें ऐसी शासन देव से प्रार्थना है।

आचार्य राजशेखर सूरि, भद्रावती तीर्थ

महत्तरा श्रमणीवर्या श्री शशिप्रभाश्री जी

योग अनुवंदना!

आपके द्वारा प्रेषित पत्र प्राप्त हुआ। इसी के साथ 'शोध प्रबन्ध सार' को देखकर ज्ञात हुआ कि आपकी शिष्या साध्वी सौम्यगुणा श्री द्वारा किया गया बृहदस्तरीय शोध कार्य जैन समाज एवं श्रमण-श्रमणी वर्ग हेतु उपयोगी जानकारी का कारण बनेगा।

आपका प्रयास सराहनीय है।

श्रुत भक्ति एवं ज्ञानाराधना स्वपर के आत्म कल्याण का कारण बने यही शुभाशीर्वाद।

आचार्य रत्नाकरसूरि

विदुषी आर्या साध्वीजी भगवंत श्री सौम्यगुणा श्रीजी सादर अनुवंदना सुखशाता !

आप सुखशाता में होंगे।

ज्ञान साधना की खूब अनुमोदना!

वर्तमान संदर्भ में जैन विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन का शोध प्रबन्ध पढ़ा।

आनंद प्रस्तुति एवं संकलन अद्भुत है।

जिनशासन की सभी मंगलकारी विधि एवं विधानों का संकलन यह प्रबन्ध की विशेषता है।

विज्ञान-मनोविज्ञान एवं परा विज्ञान तक पहुँचने का यह शोध ग्रंथ पथ प्रदर्शक अवश्य बनेगा।

जिनवाणी के मूल तक पहुँचने हेतु विधि-विधान परम आलंबन है। यह शोध प्रबन्ध अनेक जीवों के लिए मार्गदर्शक बनेगा। सही मेहनत की अनुमोदना।

नयपद्म सागर

'जैन विधि विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन' शोध प्रबन्ध के सार का पल्लवग्राही निरीक्षण किया।

शक्ति की प्राप्ति और शक्ति की प्रसिद्धि जैसे आज के वातावरण में श्रुत सिंचन के लिए दीर्घ वर्षों तक किया गया अध्ययन स्तुत्य और अभिनंदनीय है।

पाश्चात्य विद्वानों द्वारा प्रवर्त्तित परम्परा विरोधी आधुनिकता के प्रवाह

मैं बहे बिना श्री जिनेश्वर परमात्मा द्वारा प्ररूपित मोक्ष मार्ग के अनुरूप होने वाली किसी भी प्रकार की श्रुत भक्ति स्व-पर कल्याणकारी होती है।

शोध प्रबन्ध का व्यवस्थित निरीक्षण कर पाना सम्भव नहीं हो पाया है परन्तु उपरोक्त सिद्धान्त का पालन हुआ हो उस तरह की तमाम श्रुत भक्ति की हार्दिक अनुमोदना होती ही है।

आपके द्वारा की जा रही श्रुत सेवा सदा-सदा के लिए मार्गस्थ या मार्गानुसारी ही बनी रहे ऐसी एक मात्र अंतर की शुभाभिलाषा।

संयम बोधि विजय

विदुषी आर्या रत्ना सौम्यगुणा श्रीजी ने जैन विधि विधानों पर विविध पक्षीय बृहद शोध कार्य संपन्न किया है। चार भागों में विभाजित एवं 23 खण्डों में वर्गीकृत यह विशाल कार्य निःसंदेह अनुमोदनीय, प्रशंसनीय एवं अभिनंदनीय है।

शासन देव से प्रार्थना है कि उनकी बौद्धिक क्षमता में दिन दूगुनी रात चौगुनी वृद्धि हो। ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम ज्ञान गुण की वृद्धि के साथ आत्म ज्ञान प्राप्ति में सहायक बनें।

यह शोध ग्रन्थ ज्ञान पिपासुओं की पिपासा को शान्त करे, यही मनोहर अभिलाषा।

महत्तरा मनोहर श्री चरणरज
प्रवर्त्तिनी कीर्तिप्रभा श्रीजी

दूध को दही में परिवर्तित
करना सरल है। जामन डालिए
और दही तैयार हो जाता है।
किन्तु, दही से मक्खन निकालना
कठिन है। इसके लिए दही को
मथना पड़ता है। तब कहीं
जाकर मक्खन प्राप्त होता है।
इसी प्रकार अध्ययन एक
अपेक्षा से सरल है, किन्तु
तुलनात्मक अध्ययन कठिन है।
इसके लिए कई शास्त्रों को
मथना पड़ता है।

साध्वी सौम्यगुणा श्री ने जैन
विधि-विधानों पर रचित साहित्य
का मंथन करके एक सुंदर चिंतन
प्रस्तुत करने का जो प्रयास किया है
वह अत्यंत अनुमोदनीय एवं
प्रशंसनीय है।

शुभकामना व्यक्त
करती हूँ कि यह
शास्त्रमंथन अनेक साधकों
के कर्मबंधन तोड़ने में
सहायक बने।

साध्वी संवेगनिधि

सुश्रावक श्री कान्तिलालजी मुकीम द्वारा शोध प्रबंध सार संप्राप्त हुआ। विदुषी साध्वी श्री सौम्यगुणाजी के शोधसार ग्रन्थ को देखकर ही कल्पना होने लगी कि शोध ग्रन्थ कितना विराट्काय होगा। वर्षों के अथक परिश्रम एवं सतत रुचि पूर्वक किए गए कार्य का यह सुफल है।

वैदुष्य सह विशालता इस शोध ग्रन्थ की विशेषता है।

हमारी हार्दिक शुभकामना है कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उनका बहुमुखी विकास हो! जिनशासन के गगन में उनकी प्रतिभा, पवित्रता एवं पुण्य का दिव्यनाद हो। किं बहुना!

साध्वी मणिप्रभा श्री
भद्रावती तीर्थ

जो कर रहे स्व-पर उपकार
अन्तर्हृदय से उनको अमृत उद्गार

मानव जीवन का प्रासाद विविधता की बहुविध पृष्ठ भूमियों पर आधृत है। यह न तो सरल सीधा राजमार्ग (Straight like highway) है न पर्वत का सीधा चढ़ाव (ascent) न घाटी का उतार (descent) है अपितु यह सागर की लहर (sea-wave) के समान गतिशील और उतार-चढ़ाव से युक्त है। उसके जीवन की गति सदैव एक जैसी नहीं रहती। कभी चढ़ाव (Ups) आते हैं तो कभी उतार (Downs) और कभी कोई अवरोध (Speed Breaker) आ जाता है तो कभी कोई (trun) भी आ

जाता है। कुछ अवरोध और मोड़ तो इतने खतरनाक (sharp) और प्रबल होते हैं कि मानव की गति-प्रगति और सन्मति लड़खड़ा जाती है, रुक जाती है इन बदलती हुई परिस्थितियों के साथ अनुकूल समायोजन स्थापित करने के लिए जैन दर्शन के आप्त मनीषियों ने प्रमुखतः दो प्रकार के विधि-विधानों का उल्लेख किया है– 1. बाह्य विधि-विधान 2. आन्तरिक विधि-विधान।

बाह्य विधि-विधान के मुख्यतः चार भेद हैं– 1. जातीय विधि-विधान 2. सामाजिक विधि-विधान 3. वैधानिक विधि-विधान 4. धार्मिक विधि-विधान।

1. जातीय विधि-विधान– जाति की समुत्कर्षता के लिए अपनी-अपनी जाति में एक मुखिया या प्रमुख होता है जिसके आदेश को स्वीकार करना प्रत्येक सदस्य के लिए अनिवार्य है। मुखिया नैतिक जीवन के विकास हेतु उचित-अनुचित विधि-विधान निर्धारित करता है। उन विधि-विधानों का पालन करना ही नैतिक चेतना का मानदण्ड माना जाता है।

2. सामाजिक विधि-विधान– नैतिक जीवन को जीवंत बनाए रखने के लिए समाज अनेकानेक आचार-संहिता का निर्धारण करता है। समाज द्वारा निर्धारित कर्त्तव्यों की आचार-संहिता को ज्यों का त्यों चुपचाप स्वीकार कर लेना ही नैतिक प्रतिमान है। समाज में पीढ़ियों से चले आने वाले सज्जन पुरुषों का अच्छा आचरण या व्यवहार समाज का विधि-विधान कहलाता है। जो इन विधि-विधानों का आचरण करता है, वह पुरुष सत्पुरुष बनने की पात्रता का विकास करता है।

3. वैधानिक विधि-विधान– अनैतिकता-अनाचार जैसी हीन प्रवृत्तियों से मुक्त करवाने हेतु राज सत्ता के द्वारा अनेकविध विधि-विधान बनाए जाते हैं। इन विधि-विधानों के अन्तर्गत 'यह करना उचित है' अथवा 'यह करना चाहिए' आदि तथ्यों का निरूपण रहता है। राज सत्ता द्वारा आदेशित विधि-विधान का पालन आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। इन नियमों का पालन करने से चेतना अशुभ प्रवृत्तियों से अलग रहती है।

4. धार्मिक विधि-विधान– इसमें आप्त पुरुषों के आदेश-निर्देश, विधि-निषेध, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य निर्धारित रहते हैं। जैन दर्शन में "आणाए

धम्मो'' कहकर इसे स्पष्ट किया गया है। जैनागमों में साधक के लिए जो विधि-विधान या आचार निश्चित किए गये हैं, यदि उनका पालन नहीं किया जाता है तो आप्त के अनुसार यह कर्म अनैतिकता की कोटि में आता है। धार्मिक विधि-विधान जो अर्हत् आदेशानुसार है उसका धर्माचरण करता हुआ वीर साधक अकुतोभय हो जाता है अर्थात वह किसी भी प्राणी को भय उत्पन्न हो, वैसा व्यवहार नहीं करता। यही सद्व्यवहार धर्म है तथा यही हमारे कर्मों के नैतिक मूल्यांकन की कसौटी है। तीर्थंकरोपदिष्ट विधि-निषेध मूलक विधानों को नैतिकता एवं अनैतिकता का मानदण्ड माना गया है।

लौकिक एषणाओं से विमुक्त, अरहन्त प्रवाह में विलीन, अप्रमत्त स्वाध्याय रसिका साध्वी रत्ना सौम्यगुणा श्रीजी ने जैन वाङ्मय की अनमोल कृति खरतरगच्छाचार्य श्री जिनप्रभसूरि द्वारा विरचित **विधिमार्गप्रपा** में गुम्फित जाज्वल्यमान विषयों पर अपनी तीक्ष्ण प्रज्ञा से जैन विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन को मुख्यतः चार भाग (23 खण्डों) में वर्गीकृत करने का अतुलनीय कार्य किया है। शोध ग्रन्थ के अनुशीलन से यह स्पष्टतः हो जाता है कि साध्वी सौम्यगुणा श्रीजी ने चेतना के ऊर्ध्वीकरण हेतु प्रस्तुत शोध ग्रन्थ में जिन आज्ञा का निरूपण किसी परम्परा के दायरे से नहीं प्रज्ञा की कसौटी पर कस कर किया है। प्रस्तुत कृति की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि हर पंक्ति प्रज्ञा के आलोक से जगमगा रही है। बुद्धिवाद के इस युग में विधि-विधान को एक नव्य-भव्य स्वरूप प्रदान करने का सुन्दर, समीचीन, समुचित प्रयास किया गया है। आत्म पिपासुओं के लिए एवं अनुसन्धित्सुओं के लिए यह श्रुत निधि आत्म सम्मानार्जन, भाव परिष्कार और आन्तरिक औज्ज्वल्य की निष्पत्ति में सहायक सिद्ध होगी।

अल्प समयावधि में साध्वी सौम्यगुणाश्रीजी ने जिस प्रमाणिकता एवं दार्शनिकता से जिन वचनों को परम्परा के आग्रह से रिक्त तथा साम्प्रदायिक मान्यताओं के दुराग्रह से मुक्त रखकर सर्वग्राही श्रुत का निष्पादन जैन वाङ्मय के क्षितिज पर नव्य नक्षत्र के रूप में किया है। आप श्रुत साभिरुचि में निरन्तर प्रवहमान बनकर अपने निर्णय, विशुद्ध विचार एवं निर्मल प्रज्ञा के द्वारा सदैव सरल, सरस और सुगम

अभिनव ज्ञान रश्मियों को प्रकाशित करती रहें। यही अन्तःकरण आशीर्वाद सह अनेकशः अनुमोदना... अभिनंदन।

जिनमहोदय सागर सूरि चरणरज
मुनि पीयूष सागर

जैन विधि की अनमोल निधि

यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता है कि साध्वी डॉ. सौम्यगुणा श्रीजी म.सा. द्वारा "जैन-विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन" इस विषय पर सुविस्तृत शोध प्रबन्ध सम्पादित किया गया है। वस्तुतः किसी भी कार्य या व्यवस्था के सफल निष्पादन में विधि (Procedure) का अप्रतिम महत्त्व है। प्राचीन कालीन संस्कृतियाँ चाहे वह वैदिक हो या श्रमण, इससे अछूती नहीं रही। श्रमण संस्कृति में अग्रगण्य है– जैन संस्कृति। इसमें विहित विविध विधि-विधान वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं अध्यात्मिक जीवन के विकास में अपनी महती भूमिका अदा करते हैं। इसी तथ्य को प्रतिपादित करता है प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध।

इस शोध प्रबन्ध की प्रकाशन वेला में हम साध्वीश्री के कठिन प्रयत्न की आत्मिक अनुमोदना करते हैं। निःसंदेह, जैन विधि की इस अनमोल निधि से श्रावक-श्राविका, श्रमण-श्रमणी, विद्वान-विचारक सभी लाभान्वित होंगे। यह विश्वास करते हैं कि वर्तमान युवा पीढ़ी के लिए भी यह कृति अति प्रासंगिक होगी, क्योंकि इसके माध्यम से उन्हें आचार-पद्धति यानि विधि-विधानों का वैज्ञानिक पक्ष भी ज्ञात होगा और वह अधिक आचार निष्ठ बन सकेगी।

साध्वीश्री इसी प्रकार जिनशासन की सेवा में समर्पित रहकर स्व-पर विकास में उपयोगी बनें, यही मंगलकामना।

मुनि महेन्द्रसागर
1.2.13 भद्रावती

हृदय नाद

भारतीय विचारधारा में व्रत-अनुष्ठान का सर्वाधिक मूल्य है। व्रत सार्वकालिक साधना है। यह वह धुरी है जिस पर अवस्थित हुआ व्यक्ति भौतिक जगत से निरपेक्ष होकर आध्यात्मिक जगत में प्रवेश करता है।

अध्यात्म साधना का प्रारम्भ व्रत से होता है और उसकी पूर्णता भी व्रत से ही होती है। सम्यक्त्व ग्रहण व्रत का प्रारम्भिक चरण है और यथाख्यात चारित्र की समुपलब्धि (कैवल्य की प्राप्ति) साधना का अन्तिम सोपान है। व्रत आत्मा का सौन्दर्य है, मोक्ष प्राप्ति का द्वार है, चैतन्य शक्ति के अनावरण का परम हेतु है और वीतराग पथ पर समारूढ़ हुए साधक के लिए चरम लक्ष्य की प्राप्ति का सेतु है। व्रत अनमोल तत्व है। चौरासी लाख जीव योनि के अनन्त जीवों में मनुष्य ही इसका आचरण कर सकता है। यही कारण है कि मानव देह से ही मोक्ष को संभव बतलाया है।

सुयोग्या साध्वी सौम्यगुणाजी ने गृहस्थ धर्म संबंधी व्रत-विधियों का न केवल प्रयोगात्मक स्वरूप प्रस्तुत किया है अपितु ऐतिहासिक, तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक दृष्टिकोण से उनका मूल्यांकन भी किया है। इसी के साथ व्रत विधियों का महत्त्व, उसकी उपादेयता आदि बिन्दुओं पर भी प्रकाश डाला है जो नि:सन्देह इस शोधकृति को सर्वजन उपयोगी सिद्ध करता है।

मुझे आशा है कठिन पुरुषार्थ का यह कलेवर विद्वज्जनों द्वारा अनुशंसनीय, शोधार्थियों के लिए पठनीय एवं जन सामान्य के लिए अनुसरणीय रहेगा। साध्वी सौम्यगुणाजी का उत्साह एवं सम्यक पुरुषार्थ दिन ब दिन अभिवर्द्धित होता रहे तथा वे जिन शासन को साहित्य सेवा से लाभान्वित करती रहें, यही अन्त:करण की सद्भावना है।

आर्य्या शशिप्रभा श्री

दीक्षा गुरु प्रवर्त्तिनी सज्जन श्रीजी म.सा. एक परिचय

रजताभ रजकणों से रंजित राजस्थान असंख्य कीर्ति गाथाओं का वह रश्मि पुंज है जिसने अपनी आभा के द्वारा संपूर्ण धरा को देदीप्यमान किया है। इतिहास के पन्नों में जिसकी पावन पाण्डुलिपियाँ अंकित है ऐसे रंगीले राजस्थान का विश्रुत नगर है जयपुर। इस जौहरियों की नगरी ने अनेक दिव्य रत्न इस वसुधा को अर्पित किए। उन्हीं में से कोहिनूर बनकर जैन संघ की आभा को दीप्त करने वाला नाम है– पूज्या प्रवर्त्तिनी सज्जन श्रीजी म.सा.।

आपश्री इस कलियुग में सतयुग का बोध कराने वाली सहज साधिका थी। चतुर्थ आरे का दिव्य अवतार थी। जयपुर की पुण्य धरा से आपका विशेष सम्बन्ध रहा है। आपके जीवन की अधिकांश महत्त्वपूर्ण घटनाएँ जैसे– जन्म, विवाह, दीक्षा, देह विलय आदि इसी वसुधा की साक्षी में घटित हुए।

आपका जीवन प्राकृतिक संयोगों का अनुपम उदाहरण था। जैन परम्परा के तेरापंथी आम्नाय में आपका जन्म, स्थानकवासी परम्परा में विवाह एवं मन्दिरमार्गी खरतर परम्परा में प्रव्रज्या सम्पन्न हुई। आपके जीवन का यही त्रिवेणी संगम रत्नत्रय की साधना के रूप में जीवन्त हुआ।

आपका जन्म वैशाखी बुद्ध पूर्णिमा के पर्व दिवस के दिन हुआ। आप उन्हीं के समान तत्त्ववेत्ता, अध्यात्म योगी, प्रज्ञाशील साधक थी। सज्जनता, मधुरता, सरलता, सहजता, संवेदनशीलता, परदु:खकातरता आदि गुण तो आप में जन्मत: परिलक्षित होते थे। इसी कारण आपका नाम सज्जन रखा गया और यही नाम दीक्षा के बाद भी प्रवर्त्तित रहा।

संयम ग्रहण हेतु दीर्घ संघर्ष करने के बावजूद भी आपने विनय, मृदुता, साहस एवं मनोबल डिगने नहीं दिया। अन्तत: 35 वर्ष की आयु में पूज्या प्रवर्त्तिनी ज्ञान श्रीजी म.सा. के चरणों में भागवती दीक्षा अंगीकार की।

दीवान परिवार के राजशाही ठाठ में रहने के बाद भी संयमी जीवन का हर छोटा-बड़ा कार्य आप अत्यंत सहजता पूर्वक करती थी। छोटे-बड़े सभी की

सेवा हेतु सदैव तत्पर रहती थी। आपका जीवन सद्गुणों से युक्त विद्वत्ता की दिव्य माला था। आप में विद्यमान गुण शास्त्र की निम्न पंक्तियों को चरितार्थ करते थे–

शीलं परहितासक्ति, रनुत्सेकः क्षमा धृतिः।
अलोभश्चेति विद्यायाः, परिपाकोज्ज्वलं फलः ।।

अर्थात शील, परोपकार, विनय, क्षमा, धैर्य, निर्लोभता आदि विद्या की पूर्णता के उज्ज्वल फल हैं।

अहिंसा, तप साधना, सत्यनिष्ठा, गम्भीरता, विनम्रता एवं विद्वानों के प्रति असीम श्रद्धा उनकी विद्वत्ता की परिधि में शामिल थे। वे केवल पुस्तकें पढ़कर नहीं अपितु उन्हें आचरण में उतार कर महान बनी थी। आपको शब्द और स्वर की साधना का गुण भी सहज उपलब्ध था।

दीक्षा अंगीकार करने के पश्चात आप 20 वर्षों तक गुरु एवं गुरु भगिनियों की सेवा में जयपुर रही। तदनन्तर कल्याणक भूमियों की स्पर्शना हेतु पूर्वी एवं उत्तरी भारत की पदयात्रा की। आपश्री ने 65 वर्ष की आयु और उसमें भी ज्येष्ठ महीने की भयंकर गर्मी में सिद्धाचल तीर्थ की नव्वाणु यात्रा कर एक नया कीर्तिमान स्थापित किया।

राजस्थान, गुजरात, उत्तर प्रदेश, बंगाल, बिहार आदि क्षेत्रों में धर्म की सरिता प्रवाहित करते हुए भी आप सदैव ज्ञानदान एवं ज्ञानपान में संलग्न रहती थी। इसी कारण लोक परिचय, लोकैषणा, लोकाशंसा आदि से अत्यंत दूर रही।

आपश्री प्रखर वक्ता, श्रेष्ठ साहित्य सर्जिका, तत्त्व चिंतिका, आशु कवयित्री एवं बहुभाषाविद थी। विद्वदवर्ग में आप सर्वोत्तम स्थान रखती थी। हिन्दी, गुजराती, मारवाड़ी, संस्कृत, प्राकृत, अंग्रेजी, उर्दू, पंजाबी आदि अनेक भाषाओं पर आपका सर्वाधिकार था। जैन दर्शन के प्रत्येक विषय का आपको मर्मस्पर्शी ज्ञान था। आप ज्योतिष, व्याकरण, अलंकार, साहित्य, इतिहास, शकुन शास्त्र, योग आदि विषयों की भी परम वेत्ता थी।

उपलब्ध सहस्र रचनाएँ तथा अनुवादित सम्पादित एवं लिखित साहित्य आपकी कवित्व शक्ति और विलक्षण प्रज्ञा को प्रकट करते हैं।

प्रभु दर्शन में तन्मयता, प्रतिपल आत्म रमणता, स्वाध्याय मग्नता, अध्यात्म लीनता, निस्पृहता, अप्रमत्तता, पूज्यों के प्रति लघुता एवं छोटों के प्रति मृदुता आदि गुण आपश्री में बेजोड़ थे। हठवाद, आग्रह, तर्क-वितर्क,

अहंकार, स्वार्थ भावना का आप में लवलेश भी नहीं था। सभी के प्रति समान स्नेह एवं मृदु व्यवहार, निरपेक्षता एवं अंतरंग विरक्तता के कारण आप सर्वजन प्रिय और आदरणीय थी।

आपकी गुण गरिमा से प्रभावित होकर गुरुजनों एवं विद्वानों द्वारा आपको आगम ज्योति, शास्त्र मर्मज्ञा, आशु कवयित्री, अध्यात्म योगिनी आदि सार्थक पदों से अलंकृत किया गया। वहीं सकल श्री संघ द्वारा आपको साध्वी समुदाय में सर्वोच्च प्रवर्त्तिनी पद से भी विभूषित किया गया।

आपश्री के उदात्त व्यक्तित्व एवं कर्मशील कर्तृत्व से प्रभावित हजारों श्रद्धालुओं की आस्था को 'श्रमणी' अभिनन्दन ग्रन्थ के रूप में लोकार्पित किया गया। खरतरगच्छ परम्परा में अब तक आप ही एक मात्र ऐसी साध्वी हैं जिन पर अभिनन्दन ग्रन्थ लिखा गया है।

आप में समस्त गुण चरम सीमा पर परिलक्षित होते थे। कोई सद्गुण ऐसा नहीं था जिसके दर्शन आप में नहीं होते हो। जिसने आपको देखा वह आपका ही होकर रह गया।

आपके निरपेक्ष, निस्पृह एवं निरासक्त जीवन की पूर्णता जैन एवं जैनेतर दोनों परम्पराओं में मान्य, शाश्वत आराधना तिथि **'मौन एकादशी'** पर्व के दिन हुई। इस पावन तिथि के दिन आपने देह का त्याग कर सदा के लिए मौन धारण कर लिया। आपके इस समाधिमरण को श्रेष्ठ मरण के रूप में सिद्ध करते हुए उपाध्याय मणिप्रभ सागरजी म.सा. ने लिखा है–

महिमा तेरी क्या गाये हम, दिन कैसा स्वीकार किया।
मौन ग्यारस माला जपते, मौन सर्वथा धार लिया
गुरुवर्य्या तुम अमर रहोगी, साधक कभी न मरते हैं।।

आज परम पूज्या संघरत्ना शशिप्रभा श्रीजी म.सा. आपके मंडल का सम्यक संचालन कर रही हैं। यद्यपि आपका विचरण क्षेत्र अल्प रहा परंतु आज आपका नाम दिग्दिगन्त व्याप्त है। आपके नाम स्मरण मात्र से ही हर प्रकार की Tension एवं विपदाएँ दूर हो जाती है।

●

शिक्षा गुरु पूज्या शशिप्रभा श्रीजी म.सा.
एक परिचय

'धोरों की धरती' के नाम से विख्यात राजस्थान अगणित यशोगाथाओं का उद्‌भव स्थल है। इस बहुरत्ना वसुंधरा पर अनेकश: वीर योद्धाओं, परमात्म भक्तों एवं ऋषि-महर्षियों का जन्म हुआ है। इसी रंग-रंगीले राजस्थान की परम पुण्यवंती साधना भूमि है श्री फलौदी। नयन रम्य जिनालय, दादाबाड़ियों एवं स्वाध्याय गुंज से शोभायमान उपाश्रय इसकी ऐतिहासिक धर्म समृद्धि एवं शासन समर्पण के प्रबल प्रतीक हैं। इस मातृभूमि ने अपने उर्वरा से कई अमूल्य रत्न जिनशासन की सेवा में अर्पित किए हैं। चाहे फिर वह साधु-साध्वी के रूप में हो या श्रावक-श्राविका के रूप में। वि.सं. 2001 की भाद्रकृष्णा अमावस्या को धर्मनिष्ठ दानवीर ताराचंदजी एवं सरल स्वभावी बालादेवी गोलेछा के गृहांगण में एक बालिका की किलकारियां गूंज रही थी। अमावस्या के दिन उदित हुई यह किरण भविष्य में जिनशासन की अनुपम किरण बनकर चमकेगी यह कौन जानता था? कहते हैं सज्जनों के सम्पर्क में आने से दुर्जन भी सज्जन बन जाते हैं तब सम्यकदृष्टि जीव तो नि:सन्देह सज्जन का संग मिलने पर स्वयमेव ही महानता को प्राप्त कर लेते हैं।

किरण में तप त्याग और वैराग्य के भाव जन्मजात थे। इधर पारिवारिक संस्कारों ने उसे अधिक उफान दिया। पूर्वोपार्जित सत्संस्कारों का जागरण हुआ और वह भुआ महाराज उपयोग श्रीजी के पथ पर अग्रसर हुई। अपने बाल मन एवं कोमल तन को गुरु चरणों में समर्पित कर 14 वर्ष की अल्पायु में ही किरण एक तेजस्वी सूर्य रश्मि से शीतल शशि के रूप में प्रवर्त्तित हो गई। आचार्य श्री कवीन्द्र सागर सूरीश्वरजी म.सा. की निश्रा में मरूधर ज्योति मणिप्रभा श्रीजी एवं आपकी बड़ी दीक्षा एक साथ सम्पन्न हुई।

इसे पुण्य संयोग कहें या गुरु कृपा की फलश्रुति? आपने 32 वर्ष के गुरु सान्निध्य काल में मात्र एक चातुर्मास गुरुवर्य्याश्री से अलग किया और वह भी पूज्या प्रवर्त्तिनी विचक्षण श्रीजी म.सा. की आज्ञा से। 32 वर्ष की सान्निध्यता में आप कुल 32 महीने भी गुरु सेवा से वंचित नहीं रही। आपके जीवन की यह

विशेषता पूज्यवरों के प्रति सर्वात्मना समर्पण, अगाध सेवा भाव एवं गुरुकुल वास के महत्त्व को इंगित करती है।

आपश्री सरलता, सहजता, सहनशीलता, सहृदयता, विनम्रता, सहिष्णुता, दीर्घदर्शिता आदि अनेक दिव्य गुणों की पुंज हैं। संयम पालन के प्रति आपकी निष्ठा एवं मनोबल की दृढ़ता यह आपके जिन शासन समर्पण की सूचक है। आपका निश्छल, निष्कपट, निर्दम्भ व्यक्तित्व जनमानस में आपकी छवि को चिरस्थापित करता है। आपश्री का बाह्य आचार जितना अनुमोदनीय है, आंतरिक भावों की निर्मलता भी उतनी ही अनुशंसनीय है। आपकी इसी गुणवत्ता ने कई पथ भ्रष्टों को भी धर्माभिमुख किया है। आपका व्यवहार हर वर्ग के एवं हर उम्र के व्यक्तियों के साथ एक समान रहता है। इसी कारण आप आबाल वृद्ध सभी में समादृत हैं। हर कोई बिना किसी संकोच या हिचक के आपके समक्ष अपने मनोभाव अभिव्यक्त कर सकता है।

शास्त्रों में कहा गया है 'सन्त हृदय नवनीत समाना'– आपका हृदय दूसरों के लिए मक्खन के समान कोमल और सहिष्णु है। वहीं इसके विपरीत आप स्वयं के लिए वज्र से भी अधिक कठोर हैं। आपश्री अपने नियमों के प्रति अत्यन्त दृढ़ एवं अतुल मनोबली हैं। आज जीवन के लगभग सत्तर बसंत पार करने के बाद भी आप युवाओं के समान अप्रमत्त, स्फुर्तिमान एवं उत्साही रहती हैं। विहार में आपश्री की गति समस्त साध्वी मंडल से अधिक होती है।

आहार आदि शारीरिक आवश्यकताओं को आपने अल्पायु से ही सीमित एवं नियंत्रित कर रखा है। नित्य एकाशना, पुरिमड्ढ प्रत्याख्यान आदि के प्रति आप अत्यंत चुस्त हैं। जिस प्रकार सिंह अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने हेतु पूर्णत: सचेत एवं तत्पर रहता है वैसे ही आपश्री विषय-कषाय रूपी शत्रुओं का दमन करने में सतत जागरूक रहती हैं। विषय वर्धक अधिकांश विगय जैसे– मिठाई, कढ़ाई, दही आदि का आपके सर्वथा त्याग है।

आपश्री आगम, धर्म दर्शन, संस्कृत, प्राकृत, गुजराती आदि विविध विषयों की ज्ञाता एवं उनकी अधिकारिणी है। व्यावहारिक स्तर पर भी आपने एम.ए. के समकक्ष दर्शनाचार्य की परीक्षा उत्तीर्ण की है। अध्ययन के संस्कार आपको गुरु परम्परा से वंशानुगत रूप में प्राप्त हुए हैं। आपकी निश्रागत गुरु भगिनियों एवं शिष्याओं के अध्ययन, संयम पालन तथा आत्मोकर्ष के प्रति आप सदैव सचेष्ट

रहती हैं। आपश्री एक सफल अनुशास्ता हैं यही वजह है कि आपकी देखरेख में सज्जन मण्डल की फुलवारी उन्नति एवं उत्कर्ष को प्राप्त कर रही हैं।

तप और जप आपके जीवन का अभिन्न अंग है। 'ॐ ह्रीं अर्हं' पद की रटना प्रतिपल आपके रोम-रोम में गुंजायमान रहती है। जीवन की कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी आप तदनुकूल मनःस्थिति बना लेती हैं। आप हमेशा कहती हैं कि

जो-जो देखा वीतराग ने, सो सो होसी वीरा रे।
अनहोनी ना होत जगत में, फिर क्यों होत अधीरा रे।।

आपकी परमात्म भक्ति एवं गुरुदेव के प्रति प्रवर्धमान श्रद्धा दर्शनीय है। आपका आगमानुरूप वर्तन आपको निसन्देह महान पुरुषों की कोटी में उपस्थित करता है। आपश्री एक जन प्रभावी वक्ता एवं सफल शासन सेविका हैं।

आपश्री की प्रेरणा से जिनशासन की शाश्वत परम्परा को अक्षुण्ण रखने में सहयोगी अनेकशः जिनमंदिरों का निर्माण एवं जीर्णोद्धार हुआ है। श्रुत साहित्य के संवर्धन में आपश्री के साथ आपकी निश्रारत साध्वी मंडल का भी विशिष्ट योगदान रहा है। अब तक 25-30 पुस्तकों का लेखन-संपादन आपकी प्रेरणा से साध्वी मंडल द्वारा हो चुका है एवं अनेक विषयों पर कार्य अभी भी गतिमान है।

भारत के विविध क्षेत्रों का पद भ्रमण करते हुए आपने अनेक क्षेत्रों में धर्म एवं ज्ञान की ज्योति जागृत की है। राजस्थान, गुजरात, मध्यप्रदेश, छ.ग., यू.पी., बिहार, बंगाल, तमिलनाडु, कर्नाटक, महाराष्ट्र, झारखंड, आन्ध्रप्रदेश आदि अनेक प्रान्तों की यात्रा कर आपने उन्हें अपनी पदरज से पवित्र किया है। इन क्षेत्रों में हुए आपके ऐतिहासिक चातुर्मासों की चिरस्मृति सभी के मानस पटल पर सदैव अंकित रहेगी। अन्त में यही कहूँगी-

चिन्तन में जिसके हो क्षमता, वाणी में सहज मधुरता हो।
आचरण में संयम झलके, वह श्रद्धास्पद बन जाता है।
जो अन्तर में ही रमण करें, वह सन्त पुरुष कहलाता है।
जो भीतर में ही भ्रमण करें, वह सन्त पुरुष कहलाता है।।

ऐसी विरल साधिका आर्यारत्न पूज्याश्री के चरण सरोजों में मेरा जीवन सदा भ्रमरवत् गुंजन करता रहे, यही अन्तरकामना।

साध्वी सौम्याजी की शोध यात्रा के अमिट पल

साध्वी प्रियदर्शनाश्री

आज सौम्यगुणाजी को सफलता के इस उत्तुंग शिखर पर देखकर ऐसा लग रहा है मानो चिर रात्रि के बाद अब यह मनभावन अरुणिम वेला उदित हुई हो। आज इस सफलता के पीछे रहा उनका अथक परिश्रम, अनेकशः बाधाएँ, विषय की दुरूहता एवं दीर्घ प्रयास के विषय में सोचकर ही मन अभिभूत हो जाता है। जिस प्रकार किसान बीज बोने से लेकर फल प्राप्ति तक अनेक प्रकार से स्वयं को तपाता एवं खपाता है और तब जाकर उसे फल की प्राप्ति होती है या फिर जब कोई माता नौ महीने तक गर्भ में बालक को धारण करती है तब उसे मातृत्व सुख की प्राप्ति होती है ठीक उसी प्रकार सौम्यगुणाजी ने भी इस कार्य की सिद्धि हेतु मात्र एक या दो वर्ष नहीं अपितु सत्रह वर्ष तक निरन्तर कठिन साधना की है। इसी साधना की आँच में तपकर आज 23 Volumes के बृहद् रूप में इनका स्वर्णिम कार्य जन ग्राह्य बन रहा है।

आज भी एक-एक घटना मेरे मानस पटल पर फिल्म के रूप में उभर रही है। ऐसा लगता है मानो अभी की ही बात हो, सौम्याजी को हमारे साथ रहते हुए 28 वर्ष होने जा रहे हैं और इन वर्षों में इन्हें एक सुन्दर सलोनी गुड़िया से एक विदुषी शासन प्रभाविका, गूढ़ान्वेषी साधिका बनते देखा है। एक पाँचवीं पढ़ी हुई लड़की आज D.LIt की पदवी से विभूषित होने वाली है। वह भी कोई सामान्य D.Lit. नहीं, 22-23 भागों में किया गया एक बृहद् कार्य और जिसका एक-एक भाग एक शोध प्रबन्ध (Thesis) के समान है। अब तक शायद ही किसी भी शोधार्थी ने डी.लिट् कार्य इतने अधिक Volumes में सम्पन्न किया होगा। लाडनूं विश्वविद्यालय की प्रथम डी.लिट्. शोधार्थी सौम्याजी के इस कार्य ने विश्वविद्यालय के ऐतिहासिक कार्यों में स्वर्णिम पृष्ठ जोड़ते हुए श्रेष्ठतम उदाहरण प्रस्तुत किया है।

सत्रह वर्ष पहले हम लोग पूज्या गुरुवर्य्याश्री के साथ पूर्वी क्षेत्र की स्पर्शना

कर रहे थे। बनारस में डॉ. सागरमलजी द्वारा आगम ग्रन्थों के गूढ़ रहस्यों को जानने का यह एक स्वर्णिम अवसर था अत: सन् 1995 में गुर्वाज्ञा से मैं, सौम्याजी एवं नूतन दीक्षित साध्वीजी ने भगवान पार्श्वनाथ की जन्मभूमि वाराणसी की ओर अपने कदम बढ़ाए। शिखरजी आदि तीर्थों की यात्रा करते हुए हम लोग धर्म नगरी काशी पहुँचे।

वाराणसी स्थित पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वहाँ के मन्दिरों एवं पंडितों के मंत्रनाद से दूर नीरव वातावरण में अद्भुत शांति का अनुभव करवा रहा था। अध्ययन हेतु मनोज्ञ एवं अनुकूल स्थान था। संयोगवश मरूधर ज्योति पूज्या मणिप्रभा श्रीजी म.सा. की निश्रावर्ती, मेरी बचपन की सखी पूज्या विद्युतप्रभा श्रीजी आदि भी अध्ययनार्थ वहाँ पधारी थी।

डॉ. सागरमलजी से विचार विमर्श करने के पश्चात आचार्य जिनप्रभसूरि रचित विधिमार्गप्रपा पर शोध करने का निर्णय लिया गया। सन् 1973 में पूज्य गुरुवर्य्या श्री सज्जन श्रीजी म.सा. बंगाल की भूमि पर पधारी थी। स्वाध्याय रसिक आगमज्ञ श्री अगरचन्दजी नाहटा, श्री भँवलालजी नाहटा से पूज्याश्री की पारस्परिक स्वाध्याय चर्चा चलती रहती थी। एकदा पूज्याश्री ने कहा कि मेरी हार्दिक इच्छा है जिनप्रभसूरिकृत विधिमार्गप्रपा आदि ग्रन्थों का अनुवाद हो। पूज्याश्री योग-संयोग वश उसका अनुवाद नहीं कर पाई। विषय का चयन करते समय मुझे गुरुवर्य्या श्री की वही इच्छा याद आई या फिर यह कहूं तो अतिशयोक्ति नहीं होगी कि सौम्याजी की योग्यता देखते हुए शायद पूज्याश्री ने ही मुझे इसकी अन्तस् प्रेरणा दी।

यद्यपि यह ग्रंथ विधि-विधान के क्षेत्र में बहु उपयोगी था परन्तु प्राकृत एवं संस्कृत भाषा में आबद्ध होने के कारण उसका हिन्दी अनुवाद करना आवश्यक हो गया। सौम्याजी के शोध की कठिन परीक्षाएँ यहीं से प्रारम्भ हो गई। उन्होंने सर्वप्रथम प्राकृत व्याकरण का ज्ञान किया। तत्पश्चात दिन-रात एक कर पाँच महीनों में ही इस कठिन ग्रंथ का अनुवाद अपनी क्षमता अनुसार कर डाला। लेकिन यहीं पर समस्याएँ समाप्त नहीं हुई। सौम्यगुणाजी जो कि राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर से दर्शनाचार्य (एम.ए.) थीं, बनारस में पी-एच.डी. हेतु आवेदन नहीं कर सकती थी। जिस लक्ष्य को लेकर आए थे वह कार्य पूर्ण नहीं होने से मन थोड़ा विचलित हुआ परन्तु विश्वविद्यालय के नियमों के कारण हम

कुछ भी करने में असमर्थ थे अत: पूज्य गुरुवर्य्याश्री के चरणों में पहुँचने हेतु पुन: कलकत्ता की ओर प्रयाण किया। हमारा वह चातुर्मास संघ आग्रह के कारण पुन: कलकत्ता नगरी में हुआ। वहाँ से चातुर्मास पूर्णकर धर्मानुरागी जनों को शीघ्र आने का आश्वासन देते हुए पूज्याश्री के साथ जयपुर की ओर विहार किया। जयपुर में आगम ज्योति, पूज्या गुरुवर्य्या श्री सज्जन श्रीजी म.सा. की समाधि स्थली मोहनबाड़ी में मूर्ति प्रतिष्ठा का आयोजन था अत: उग्र विहार कर हम लोग जयपुर पहुँचें। बहुत ही सुन्दर और भव्य रूप में कार्यक्रम सम्पन्न हुआ। जयपुर संघ के अति आग्रह से पूज्याश्री एवं सौम्यगुणाजी का चातुर्मास जयपुर ही हुआ। जयपुर का स्वाध्यायी श्रावक वर्ग सौम्याजी से काफी प्रभावित था। यद्यपि बनारस में पी-एच.डी. नहीं हो पाई थी किन्तु सौम्याजी का अध्ययन आंशिक रूप में चालू था। उसी बीच डॉ. सागरमलजी के निर्देशानुसार जयपुर संस्कृत विश्वविद्यालय के प्रो. डॉ. शीतलप्रसाद जैन के मार्गदर्शन में धर्मानुरागी श्री नवरतनमलजी श्रीमाल के डेढ़ वर्ष के अथक प्रयास से उनका रजिस्ट्रेशन हुआ। सामाजिक जिम्मेदारियों को संभालते हुए उन्होंने अपने कार्य को गति दी।

पी-एच.डी. का कार्य प्रारम्भ तो कर लिया परन्तु साधु जीवन की मर्यादा, विषय की दुरूहता एवं शोध आदि के विषय में अनुभवहीनता से कई बाधाएँ उत्पन्न होती रही। निर्देशक महोदय दिगम्बर परम्परा के होने से श्वेताम्बर विधि-विधानों के विषय में उनसे भी विशेष सहयोग मिलना मुश्किल था अत: सौम्याजी को जो करना था अपने बलबूते पर ही करना था। यह सौम्याजी ही थी जिन्होंने इतनी बाधाओं और रूकावटों को पार कर इस शोध कार्य को अंजाम दिया।

जयपुर के पश्चात कुशल गुरुदेव की प्रत्यक्ष स्थली मालपुरा में चातुर्मास हुआ। वहाँ पर लाइब्रेरी आदि की असुविधाओं के बीच भी उन्होंने अपने कार्य को पूर्ण करने का प्रयास किया। तदनन्तर जयपुर में एक महीना रहकर महोपाध्याय विनयसागरजी से इसका करेक्शन करवाया तथा कुछ सामग्री संशोधन हेतु डॉ. सागरमलजी को भेजी। यहाँ तक तो उनकी कार्य गति अच्छी रही किन्तु इसके बाद लम्बे विहार होने से उनका कार्य प्राय: अवरूद्ध हो गया। फिर अगला चातुर्मास पालीताणा हुआ। वहाँ पर आने वाले यात्रीगणों की भीड़ और तप साधना-आराधना में अध्ययन नहींवत ही हो पाया। पुन: साधु जीवन

के नियमानुसार एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर कदम बढ़ाए। रायपुर (छ.ग.) जाने हेतु लम्बे विहारों के चलते वे अपने कार्य को किंचित भी संपादित नहीं कर पा रही थी। रायपुर पहुँचते-पहुँचते Registration की अवधि अन्तिम चरण तक पहुँच चुकी थी अत: चातुर्मास के पश्चात मुदितप्रज्ञा श्रीजी और इन्हें रायपुर छोड़कर शेष लोगों ने अन्य आसपास के क्षेत्रों की स्पर्शना की। रायपुर निवासी सुनीलजी बोथरा के सहयोग से दो-तीन मास में पूरे काम को शोध प्रबन्ध का रूप देकर उसे सन् 2001 में राजस्थान विश्वविद्यालय में प्रस्तुत किया गया। येन केन प्रकारेण इस शोध कार्य को इन्होंने स्वयं की हिम्मत से पूर्ण कर ही दिया।

तदनन्तर 2002 का बैंगलोर चातुर्मास सम्पन्न कर मालेगाँव पहुँचे। वहाँ पर संघ के प्रयासों से चातुर्मास के अन्तिम दिन उनका शोध वायवा संपन्न हुआ और उन्हें कुछ ही समय में पी-एच.डी. की पदवी विश्वविद्यालय द्वारा प्रदान की गई। सन् 1995 बनारस में प्रारम्भ हुआ कार्य सन् 2003 मालेगाँव में पूर्ण हुआ। इस कालावधि के दौरान समस्त संघों को उनकी पी-एच.डी. के विषय में ज्ञात हो चुका था और विषय भी रुचिकर था अत: उसे प्रकाशित करने हेतु विविध संघों से आग्रह होने लगा। इसी आग्रह ने उनके शोध को एक नया मोड़ दिया। सौम्याजी कहती 'मेरे पास बताने को बहुत कुछ है, परन्तु वह प्रकाशन योग्य नहीं है' और सही मायने में शोध प्रबन्ध सामान्य जनता के लिए उतना सुगम नहीं होता अत: गुरुवर्य्या श्री के पालीताना चातुर्मास के दौरान विधिमार्गप्रपा के अर्थ का संशोधन एवं अवान्तर विधियों पर ठोस कार्य करने हेतु वे अहमदाबाद पहुँची। इसी दौरान पूज्य उपाध्याय श्री मणिप्रभसागरजी म.सा. ने भी इस कार्य का पूर्ण सर्वेक्षण कर उसमें अपेक्षित सुधार करवाए। तदनन्तर L.D. Institute के प्रोफेसर जितेन्द्र भाई, फिर कोबा लाइब्रेरी से मनोज भाई सभी के सहयोग से विधिमार्गप्रपा के अर्थ में रही त्रुटियों को सुधारते हुए उसे नवीन रूप दिया।

इसी अध्ययन काल के दौरान जब वे कोबा में विधि ग्रन्थों का आलोडन कर रही थी तब डॉ. सागरमलजी का बायपास सर्जरी हेतु वहाँ पदार्पण हुआ। सौम्याजी को वहाँ अध्ययनरत देखकर बोले– "आप तो हमारी विद्यार्थी हो, यहाँ क्या कर रही हो? शाजापुर पधारिए मैं यथासंभव हर सहयोग देने का प्रयास करूँगा।" यद्यपि विधि विधान डॉ. सागरमलजी का विषय नहीं था परन्तु उनकी ज्ञान प्रौढ़ता एवं अनुभव शीलता सौम्याजी को सही दिशा देने हेतु

पर्याप्त थी। वहाँ से विधिमार्गप्रपा का नवीनीकरण कर वे गुरुवर्य्याश्री के साथ मुम्बई चातुर्मासार्थ गईं। महावीर स्वामी देरासर पायधुनी से विधिप्रपा का प्रकाशन बहुत ही सुन्दर रूप में हुआ।

किसी भी कार्य में बार-बार बाधाएँ आए तो उत्साह एवं प्रवाह स्वत: मन्द हो जाता है, परन्तु सौम्याजी का उत्साह विपरीत परिस्थितियों में भी वृद्धिंगत रहा। मुम्बई का चातुर्मास पूर्णकर वे शाजापुर गईं। वहाँ जाकर डॉ. साहब ने डी.लिट करने का सुझाव दिया और लाडनूं विश्वविद्यालय के अन्तर्गत उन्हीं के निर्देशन में रजिस्ट्रेशन भी हो गया। यह लाडनूं विश्व भारती का प्रथम डी.लिट. रजिस्ट्रेशन था। सौम्याजी से सब कुछ ज्ञात होने के बाद मैंने उनसे कहा– प्रत्येक विधि पर अलग-अलग कार्य हो तो अच्छा है और उन्होंने वैसा ही किया। परन्तु जब कार्य प्रारम्भ किया था तब वह इतना विराट रूप ले लेगा यह अनुमान भी नहीं था। शाजापुर में रहते हुए इन्होंने छ:सात विधियों पर अपना कार्य पूर्ण किया। फिर गुर्वाज्ञा से कार्य को बीच में छोड़ पुन: गुरुवर्य्या श्री के पास पहुँची। जयपुर एवं टाटा चातुर्मास के सम्पूर्ण सामाजिक दायित्वों को संभालते हुए पूज्याश्री के साथ रही।

शोध कार्य पूर्ण रूप से रूका हुआ था। डॉ.साहब ने सचेत किया कि समयावधि पूर्णता की ओर है अत: कार्य शीघ्र पूर्ण करें तो अच्छा रहेगा वरना रजिस्ट्रेशन रद्द भी हो सकता है। अब एक बार फिर से उन्हें अध्ययन कार्य को गति देनी थी। उन्होंने लघु भगिनी मण्डल के साथ लाइब्रेरी युक्त शान्त-नीरव स्थान हेतु वाराणसी की ओर प्रस्थान किया। इस बार लक्ष्य था कि कार्य को किसी भी प्रकार से पूर्ण करना है। उनकी योग्यता देखते हुए श्री संघ एवं गुरुवर्य्या श्री उन्हें अब समाज के कार्यों से जोड़े रखना चाहते थे परंतु कठोर परिश्रम युक्त उनके विशाल शोध कार्य को भी सम्पन्न करवाना आवश्यक था। बनारस पहुँचकर इन्होंने मुद्रा विधि को छोटा कार्य जानकर उसे पहले करने के विचार से उससे ही कार्य को प्रारम्भ किया। देखते ही देखते उस कार्य ने भी एक विराट रूप ले लिया। उनका यह मुद्रा कार्य विश्वस्तरीय कार्य था जिसमें उन्होंने जैन, हिन्दू, बौद्ध, योग एवं नाट्य परम्परा की सहस्राधिक हस्त मुद्राओं पर विशेष शोध किया। यद्यपि उन्होंने दिन-रात परिश्रम कर इस कार्य को 6-7 महीने में एक बार पूर्ण कर लिया, किन्तु उसके विभिन्न कार्य तो अन्त तक

चलते रहे। तत्पश्चात उन्होंने अन्य कुछ विषयों पर और भी कार्य किया। उनकी कार्यनिष्ठा देख वहाँ के लोग हतप्रभ रह जाते थे। संघ-समाज के बीच स्वयं बड़े होने के कारण नहीं चाहते हुए भी सामाजिक दायित्व निभाने ही पड़ते थे।

सिर्फ बनारस में ही नहीं रायपुर के बाद जब भी वे अध्ययन हेतु कहीं गई तो उन्हें ही बड़े होकर जाना पड़ा। सभी गुरु बहिनों का विचरण शासन कार्यों हेतु भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में होने से इस समस्या का सामना भी उन्हें करना ही था। साधु जीवन में बड़े होकर रहना अर्थात संघ-समाज-समुदाय की समस्त गतिविधियों पर ध्यान रखना, जो कि अध्ययन करने वालों के लिए संभव नहीं होता परंतु साधु जीवन यानी विपरीत परिस्थितियों का स्वीकार और जो इन्हें पार कर आगे बढ़ जाता है वह जीवन जीने की कला का मास्टर बन जाता है। इस शोधकार्य ने सौम्याजी को विधि-विधान के साथ जीवन के क्षेत्र में भी मात्र मास्टर नहीं अपितु विशेषज्ञ बना दिया।

पूज्य बड़े म.सा. बंगाल के क्षेत्र में विचरण कर रहे थे। कोलकाता वालों की हार्दिक इच्छा सौम्याजी को बुलाने की थी। वैसे जौहरी संघ के पदाधिकारी श्री प्रेमचन्दजी मोघा एवं मंत्री मणिलालजी दुसाज शाजापुर से ही उनके चातुर्मास हेतु आग्रह कर रहे थे। अत: न चाहते हुए भी कार्य को अर्ध विराम दे उन्हें कलकत्ता आना पड़ा। शाजापुर एवं बनारस प्रवास के दौरान किए गए शोध कार्य का कम्पोज करवाना बाकी था और एक-दो विषयों पर शोध भी। परंतु "जिसकी खाओ बाजरी उसकी बजाओ हाजरी" अत: एक और अवरोध शोध कार्य में आ चुका था। गुरुवर्य्या श्री ने सोचा था कि चातुर्मास के प्रारम्भिक दो महीने के पश्चात इन्हें प्रवचन आदि दायित्वों से निवृत्त कर देंगे परंतु समाज में रहकर यह सब संभव नहीं होता।

चातुर्मास के बाद गुरुवर्य्या श्री तो शेष क्षेत्रों की स्पर्शना हेतु निकल पड़ी किन्तु उन्हें शेष कार्य को पूर्णकर अन्तिम स्वरूप देने हेतु कोलकाता ही रखा। कोलकाता जैसी महानगरी एवं चिर-परिचित समुदाय के बीच तीव्र गति से अध्ययन असंभव था अत: उन्होंने मौन धारण कर लिया और सप्ताह में मात्र एक घंटा लोगों से धर्म चर्चा हेतु खुला रखा। फिर भी सामाजिक दायित्वों से पूर्ण मुक्ति संभव नहीं थी। इसी बीच कोलकाता संघ के आग्रह से एवं अध्ययन हेतु अन्य सुविधाओं को देखते हुए पूज्याश्री ने इनका चातुर्मास कलकत्ता घोषित

कर दिया। पूज्याश्री से अलग हुए सौम्याजी को करीब सात महीने हो चुके थे। चातुर्मास सम्मुख था और वे अपनी जिम्मेदारी पर प्रथम बार स्वतंत्र चातुर्मास करने वाली थी।

जेठ महीने की भीषण गर्मी में उन्होंने गुरुवर्य्याश्री के दर्शनार्थ जाने का मानस बनाया और ऊपर से मानसून सिना ताने खड़ा था। अध्ययन कार्य पूर्ण करने हेतु समयावधि की तलवार तो उनके ऊपर लटक ही रही थी। इन परिस्थितियों में उन्होंने 35-40 कि.मी. प्रतिदिन की रफ्तार से दुर्गापुर की तरफ कदम बढ़ाए। कलकत्ता से दुर्गापुर और फिर पुनः कोलकाता की यात्रा में लगभग एक महीना पढ़ाई नहींवत हुई। यद्यपि गुरुवर्य्याश्री के साथ चातुर्मासिक कार्यक्रमों की जिम्मेदारियाँ इन्हीं की होती है फिर भी अध्ययन आदि के कारण इनकी मानसिकता चातुर्मास संभालने की नहीं थी और किसी दृष्टि से उचित भी था। क्योंकि सबसे बड़े होने के कारण प्रत्येक कार्यभार का वहन इन्हीं को करना था अतः दो माह तक अध्ययन की गति पर पुनः ब्रेक लग गया। पूज्या श्री हमेशा फरमाती है कि–

जो जो देखा वीतराग ने, सो-सो होसी वीरा रे।
अनहोनी ना होत जगत में, फिर क्यों होत अधीरा रे।।

सौम्याजी ने भी गुरु आज्ञा को शिरोधार्य कर संघ-समाज को समय ही नहीं अपितु भौतिकता में भटकते हुए मानव को धर्म की सही दिशा भी दिखाई। वर्तमान परिस्थितियों पर उनकी आम चर्चा से लोगों में धर्म को देखने का एक नया नजरिया विकसित हुआ। गुरुवर्य्याश्री एवं हम सभी को आन्तरिक आनंद की अनुभूति हो रही थी किन्तु सौम्याजी को वापस दुगुनी गति से अध्ययन में जुड़ना था। इधर कोलकाता संघ ने पूर्ण प्रयास किए फिर भी हिन्दी भाषा का कोई अच्छा कम्पोजर न मिलने से कम्पोजिंग कार्य बनारस में करवाया गया। दूरस्थ रहकर यह सब कार्य करवाना उनके लिए एक विषम समस्या थी। परंतु अब शायद वे इन सबके लिए सध गई थी, क्योंकि उनका यह कार्य ऐसी ही अनेक बाधाओं का सामना कर चुका था।

उधर सैंथिया चातुर्मास में पूज्याश्री का स्वास्थ्य अचानक दो-तीन बार बिगड़ गया। अतः वर्षावास पूर्णकर पूज्य गुरूवर्य्या श्री पुनः कोलकाता की ओर पधारी। सौम्याजी प्रसन्न थी क्योंकि गुरूवर्य्या श्री स्वयं उनके पास पधार रही थी।

गुरुजनों की निश्रा प्राप्त करना हर विनीत शिष्य का मनेच्छित होता है। पूज्या श्री के आगमन से वे सामाजिक दायित्वों से मुक्त हो गई थी। अध्ययन के अन्तिम पड़ाव में गुरूवर्य्या श्री का साथ उनके लिए सुवर्ण संयोग था क्योंकि प्राय: शोध कार्य के दौरान पूज्याश्री उनसे दूर रही थी।

शोध समय पूर्णाहुति पर था। परंतु इस बृहद कार्य को इतनी विषमताओं के भंवर में फँसकर पूर्णता तक पहुँचाना एक कठिन कार्य था। कार्य अपनी गति से चल रहा था और समय अपनी धुरी पर। सबमिशन डेट आने वाली थी किन्तु कम्पोजिंग एवं प्रूफ रीडिंग आदि का काफी कार्य शेष था।

पूज्याश्री के प्रति अनन्य समर्पित श्री विजयेन्द्रजी संखलेचा को जब इस स्थिति के बारे में ज्ञात हुआ तो उन्होंने युनिवर्सिटी द्वारा समयावधि बढ़ाने हेतु अर्जी पत्र देने का सुझाव दिया। उनके हार्दिक प्रयासों से 6 महीने का एक्सटेंशन प्राप्त हुआ। इधर पूज्या श्री तो शंखेश्वर दादा की प्रतिष्ठा सम्पन्न कर अन्य क्षेत्रों की ओर बढ़ने की इच्छुक थी। परंतु भविष्य के गर्भ में क्या छुपा है यह कोई नहीं जानता। कुछ विशिष्ट कारणों के चलते कोलकाता भवानीपुर स्थित शंखेश्वर मन्दिर की प्रतिष्ठा चातुर्मास के बाद होना निश्चित हुआ। अत: अब आठ-दस महीने तक बंगाल विचरण निश्चित था। सौम्याजी को अप्रतिम संयोग मिला था कार्य पूर्णता के लिए।

शासन देव उनकी कठिन से कठिन परीक्षा ले रहा था। शायद विषमताओं की अग्नि में तपकर वे सौम्याजी को खरा सोना बना रहे थे। कार्य अपनी पूर्णता की ओर पहुँचता इसी से पूर्व उनके द्वारा लिखित 23 खण्डों में से एक खण्ड की मूल कॉपी गुम हो गई। पुन: एक खण्ड का लेखन और समयावधि की अल्पता ने समस्याओं का चक्रव्यूह सा बना दिया। कुछ भी समझ में नहीं आ रहा था। जिनपूजा क्रिया विधानों का एक मुख्य अंग है अत: उसे गौण करना या छोड़ देना भी संभव नहीं था। चांस लेते हुए एक बार पुन: Extension हेतु निवेदन पत्र भेजा गया। मुनि जीवन की कठिनता एवं शोध कार्य की विशालता के मद्देनजर एक बार पुन: चार महीने की अवधि युनिवर्सिटी के द्वारा प्राप्त हुई।

शंखेश्वर दादा की प्रतिष्ठा निमित्त सम्पूर्ण साध्वी मंडल का चातुर्मास बकुल बगान स्थित लीलीजी मणिलालजी सुखानी के नूतन बंगले में होना निश्चित हुआ।

पूज्याश्री ने खडगपुर, टाटानगर आदि क्षेत्रों की ओर विहार किया। पाँच-छह साध्वीजी अध्ययन हेतु पौशाल में ही रूके थे। श्री जिनरंगसूरि पौशाल कोलकाता बड़ा बाजार में स्थित है। साधु-साध्वियों के लिए यह अत्यंत शाताकारी स्थान है। सौम्याजी को बनारस से कोलकाता लाने एवं अध्ययन पूर्ण करवाने में पौशाल के ट्रस्टियों की विशेष भूमिका रही है। सौम्याजी ने अपना अधिकांश अध्ययन काल वहाँ व्यतीत किया।

ट्रस्टीगण श्री कान्तिलालजी, कमलचंदजी, विमलचंदजी, मणिलालजी आदि ने भी हर प्रकार की सुविधाएँ प्रदान की। संघ-समाज के सामान्य दायित्वों से बचाए रखा। इसी अध्ययन काल में बीकानेर हाल कोलकाता निवासी श्री खेमचंदजी बांठिया ने आत्मीयता पूर्वक सेवाएँ प्रदान कर इन लोगों को निश्चिन्त रखा। इसी तरह अनन्य सेवाभावी श्री चन्द्रकुमारजी मुणोत (लालाबाबू) जो सौम्याजी को बहनवत मानते हैं उन्होंने एक भाई के समान उनकी हर आवश्यकता का ध्यान रखा। कलकत्ता संघ सौम्याजी के लिए परिवारवत ही हो गया था। सम्पूर्ण संघ की एक ही भावना थी कि उनका अध्ययन कोलकाता में ही पूर्ण हो।

पूज्याश्री टाटानगर से कोलकाता की ओर पधार रही थी। सुयोग्या साध्वी सम्यग्दर्शनाजी उग्र विहार कर गुरुवर्य्याश्री के पास पहुँची थी। सौम्याजी निश्चिंत थी कि इस बार चातुर्मासिक दायित्व सुयोग्या सम्यग दर्शनाजी महाराज संभालेंगे। वे अपना अध्ययन उचित समयावधि में पूर्ण कर लेंगे। परंतु परिस्थिति विशेष से सम्यगजी महाराज का चातुर्मास खडगपुर ही हो गया।

सौम्याजी की शोधयात्रा में संघर्षों की समाप्ति ही नहीं हो रही थी। पुस्तक लेखन, चातुर्मासिक जिम्मेदारियाँ और प्रतिष्ठा की तैयारियाँ कोई समाधान दूर-दूर तक नजर नहीं आ रहा था। अध्ययन की महत्ता को समझते हुए पूज्याश्री एवं अमिताजी सुखानी ने उन्हें चातुर्मासिक दायित्वों से निवृत्त रहने का अनुनय किया किन्तु गुरु की शासन सेवा में सहयोगी बनने के लिए इन्होंने दो महीने गुरुवर्य्या श्री के साथ चातुर्मासिक दायित्वों का निर्वाह किया। फिर वह अपने अध्ययन में जुट गई।

कई बार मन में प्रश्न उठता कि हमारी प्यारी सौम्या इतना साहस कहाँ से लाती है। किसी कवि की पंक्तियाँ याद आ रही है–

सूरज से कह दो बेशक वह, अपने घर आराम करें ।
चाँद सितारे जी भर सोएं, नहीं किसी का काम करें ।
अगर अमावस से लड़ने की जिद कोई कर लेता है ।
तो सौम्य गुणा सा जुगनु सारा, अंधकार हर लेता है ।।

जिन पूजा एक विस्तृत विषय है। इसका पुनर्लेखन तो नियत अवधि में हो गया परंतु कम्पोजिंग आदि नहीं होने से शोध प्रबंध के तीसरे एवं चौथे भाग को तैयार करने के लिए समय की आवश्यकता थी। अब तीसरी बार लाडनूं विश्वविद्यालय से Extension मिलना असंभव प्रतीत हो रहा था।

श्री विजयेन्द्रजी संखलेचा समस्त परिस्थितियों से अवगत थे। उन्होंने पूज्य गुरूवर्य्या श्री से निवेदन किया कि सौम्याजी को पूर्णत: निवृत्ति देकर कार्य शीघ्रातिशीघ्र करवाया जाए। विश्वविद्यालय के तत्सम्बन्धी नियमों के बारे में पता करके डेढ़ महीने की अन्तिम एवं विशिष्ट मौहलत दिलवाई। अब देरी होने का मतलब था Rejection of Work by University अत: त्वरा गति से कार्य चला।

सौम्याजी पर गुरुजनों की कृपा अनवरत रही है। पूज्य गुरूवर्य्या सज्जन श्रीजी म.सा. के प्रति वह विशेष श्रद्धा प्रणत हैं। अपने हर शुभ कर्म का निमित्त एवं उपादान उन्हें ही मानती हैं। इसे साक्षात गुरु कृपा की अनुश्रुति ही कहना होगा कि उनके समस्त कार्य स्वत: ग्यारस के दिन सम्पन्न होते गए। सौम्याजी की आन्तरिक इच्छा थी कि पूज्याश्री को समर्पित उनकी कृति पूज्याश्री की पुण्यतिथि के दिन विश्वविद्यालय में Submit की जाए और निमित्त भी ऐसे ही बने कि Extension लेते-लेते संयोगवशात पुन: वही तिथि और महीना आ गया।

23 दिसम्बर 2012 मौन ग्यारस के दिन लाडनूं विश्वविद्यालय में 4 भागों में वर्गीकृत 23 खण्डीय Thesis जमा की गई। इतने विराट शोध कार्य को देखकर सभी हतप्रभ थे। 5556 पृष्ठों में गुम्फित यह शोध कार्य यदि शोध नियम के अनुसार तैयार किया होता तो 11000 पृष्ठों से अधिक हो जाते। यह सब गुरूवर्य्या श्री की ही असीम कृपा थी।

पूज्या शशिप्रभा श्रीजी म.सा. की हार्दिक इच्छा थी कि सौम्याजी के इस ज्ञानयज्ञ का सम्मान किया जाए जिससे जिन शासन की प्रभावना हो और जैन संघ गौरवान्वित बने।

भवानीपुर–शंखेश्वर दादा की प्रतिष्ठा का पावन सुयोग था। श्रुतज्ञान के बहुमान रूप 23 ग्रन्थों का भी जुलूस निकाला गया। सम्पूर्ण कोलकाता संघ द्वारा उनकी वधामणी की गई। यह एक अनुमोदनीय एवं अविस्मरणीय प्रसंग था।

बस मन में एक ही कसक रह गई कि मैं इस पूर्णाहुति का हिस्सा नहीं बन पाई।

आज सौम्याजी की दीर्घ शोध यात्रा को पूर्णता के शिखर पर देखकर नि:सन्देह कहा जा सकता है कि पूज्या प्रवर्त्तिनी म.सा. जहाँ भी आत्म साधना में लीन है वहाँ से उनकी अनवरत कृपा दृष्टि बरस रही है। शोध कार्य पूर्ण होने के बाद भी सौम्याजी को विराम कहाँ था? उनके शोध विषय की त्रैकालिक प्रासंगिकता को ध्यान में रखते हुए उन्हें पुस्तक रूप में प्रकाशित करने का निर्णय लिया गया। पुस्तक प्रकाशन सम्बन्धी सभी कार्य शेष थे तथा पुस्तकों का प्रकाशन कोलकाता से ही हो रहा था। अत: कलकत्ता संघ के प्रमुख श्री कान्तिलालजी मुकीम, विमलचंदजी महमवाल, श्राविका श्रेष्ठा प्रमिलाजी महमवाल, विजयेन्द्रजी संखलेचा आदि ने पूज्याश्री के सम्मुख सौम्याजी को रोकने का निवेदन किया। श्री चन्द्रकुमारजी मुणोत, श्री मणिलालजी दूसाज आदि भी निवेदन कर चुके थे। यद्यपि अजीमगंज दादाबाड़ी प्रतिष्ठा के कारण रोकना असंभव था परंतु मुकिमजी के अत्याग्रह के कारण पूज्याश्री ने उन्हें कुछ समय के लिए वहाँ रहने की आज्ञा प्रदान की।

गुरूवर्य्या श्री के साथ विहार करते हुए सौम्यागुणाजी को तीन Stop जाने के बाद वापस आना पड़ा। दादाबाड़ी के समीपस्थ शीतलनाथ भवन में रहकर उन्होंने अपना कार्य पूर्ण किया। इस तरह इनकी सम्पूर्ण शोध यात्रा में कलकत्ता एक अविस्मरणीय स्थान बनकर रहा।

क्षणै: क्षणै: बढ़ रहे उनके कदम अब मंजिल पर पहुँच चुके हैं। आज जो सफलता की बहुमंजिला इमारत इस पुस्तक श्रृंखला के रूप में देख रहे हैं वह मजबूत नींव इन्होंने अपने उत्साह, मेहनत और लगन के आधार पर रखी है। सौम्यगुणाजी का यह विशद् कार्य युग-युगों तक एक कीर्तिस्तम्भ के रूप में स्मरणीय रहेगा। श्रुत की अमूल्य निधि में विधि-विधान के रहस्यों को उजागर करते हुए उन्होंने जो कार्य किया है वह आने वाली भावी पीढ़ी के लिए आदर्श रूप रहेगा। लोक परिचय एवं लोकप्रसिद्धि से दूर रहने के कारण ही आज वे इस

बृहद् कार्य को सम्पन्न कर पाई हैं। मैं परमात्मा से यही प्रार्थना करती हूँ कि वे सदा इसी तरह श्रुत संवर्धन के कल्याण पथ पर गतिशील रहे। अंततः उनके अडिग मनोबल की अनुमोदना करते हुए यही कहूँगी–

प्रगति शिला पर चढ़ने वाले बहुत मिलेंगे,
कीर्तिमान करने वाला तो विरला होता है।
आंदोलन करने वाले तो बहुत मिलेंगे,
दिशा बदलने वाला कोई निराला होता है।
तारों की तरह टिम-टिमाने वाले अनेक होते हैं,
पर सूरज बन रोशन करने वाला कोई एक ही होता है।
समय गंवाने वालों से यह दुनिया भरी है,
पर इतिहास बनाने वाला कोई सौम्य सा ही होता है।
प्रशंसा पाने वाले जग में अनेक मिलेंगे,
प्रिय बने सभी का ऐसा कोई सज्जन ही होता है ।।

●

हार्दिक अनुमोदना

किसी कवि ने बहुत ही सुन्दर कहा है–

धीरे-धीरे रे मना, धीरे सब कुछ होय।
माली सींचे सो घड़ा, ऋतु आवत फल होय।।

हर कार्य में सफलता समय आने पर ही प्राप्त होती है। एक किसान बीज बोकर साल भर तक मेहनत करता है तब जाकर उसे फसल प्राप्त होती है। चार साल तक College में मेहनत करने के बाद विद्यार्थी Doctor, Engineer या MBA होता है।

साध्वी सौम्यगुणाजी आज सफलता के जिस शिखर पर पहुँची है उसके पीछे उनकी वर्षों की मेहनत एवं धैर्य नींव रूप में रहे हुए हैं। लगभग 30 वर्ष पूर्व सौम्याजी का आगमन हमारे मण्डल में एक छोटी सी गुड़िया के रूप में हुआ था। व्यवहार में लघुता, विचारों में सरलता एवं बुद्धि की श्रेष्ठता उनके प्रत्येक कार्य में तभी से परिलक्षित होती थी। ग्यारह वर्ष की निशा जब पहली बार पूज्याश्री के पास वैराग्यवासित अवस्था में आई तब मात्र चार माह की अवधि में प्रतिक्रमण, प्रकरण, भाष्य,कर्मग्रन्थ, प्रात:कालीन पाठ आदि कंठस्थ कर लिए थे। उनकी तीव्र बुद्धि एवं स्मरण शक्ति की प्रखरता के कारण पूज्य छोटे म.सा. (पूज्य शशिप्रभा श्रीजी म.सा.) उन्हें अधिक से अधिक चीजें सिखाने की इच्छा रखते थे।

निशा का बाल मन जब अध्ययन से उक्ता जाता और बाल सुलभ चेष्टाओं के लिए मन उत्कंठित होने लगता, तो कई बार वह घंटों उपाश्रय की छत पर तो कभी सीढ़ियों में जाकर छुप जाती ताकि उसे अध्ययन न करना पड़े। परंतु यह उसकी बाल क्रीड़ाएँ थी। 15-20 गाथाएँ याद करना उसके लिए एक सहज बात थी। उनके अध्ययन की लगन एवं सीखने की कला आदि के अनुकरण की प्रेरणा आज भी छोटे म.सा. आने वाली नई मंडली को देते हैं। सूत्रागम अध्ययन, ज्ञानार्जन, लेखन, शोध आदि के कार्य में उन्होंने जो श्रृंखला प्रारम्भ की है आज सज्जनमंडल में उसमें कई कड़ियाँ जुड़ गई हैं परन्तु मुख्य कड़ी तो

मुख्य ही होती है। ये सभी के लिए प्रेरणा बन रही हैं किन्तु इनके भीतर जो प्रेरणा आई वह कहीं न कहीं पूज्य गुरुवर्य्या श्री की असीम कृपा है।

उच्च उड़ान नहीं भर सकते
तुच्छ बाहरी चमकीले पर
महत कर्म के लिए चाहिए
महत प्रेरणा बल भी भीतर

यह महत प्रेरणा गुरु कृपा से ही प्राप्त हो सकती है। विनय, सरलता, शालीनता, ऋजुता आदि गुण गुरुकृपा की प्राप्ति के लिए आवश्यक है।

सौम्याजी का मन शुरू से सीधा एवं सरल रहा है। सांसारिक कपट-माया या व्यवहारिक औपचारिकता निभाना इनके स्वभाव में नहीं है। पूज्य प्रवर्तिनीजी म.सा. को कई बार ये सहज में कहती **'महाराज श्री!' मैं तो आपकी कोई सेवा नहीं करती, न ही मुझमें विनय है, फिर मेरा उद्धार कैसे होगा, मुझे गुरु कृपा कैसे प्राप्त होगी?' तब पूज्याश्री फरमाती– 'सौम्या! तेरे ऊपर तो मेरी अनायास कृपा है, तूं चिंता क्यों करती है? तूं तो महान साध्वी बनेगी।'** आज पूज्याश्री की ही अन्तस शक्ति एवं आशीर्वाद का प्रस्फोटन है कि लोकैषणा, लोक प्रशंसा एवं लोक प्रसिद्धि के मोह से दूर वे श्रुत सेवा में सर्वात्मना समर्पित हैं। जितनी समर्पित वे पूज्या श्री के प्रति थी उतनी ही विनम्र अन्य गुरुजनों के प्रति भी। गुरु भगिनी मंडल के कार्यों के लिए भी वे सदा तत्पर रहती हैं। चाहे बड़ों का कार्य हो, चाहे छोटों का उन्होंने कभी किसी को टालने की कोशिश नहीं की। चाहे प्रियदर्शना श्रीजी हो, चाहे दिव्यदर्शना श्रीजी, चाहे शुभदर्शनाश्रीजी हो, चाहे शीलगुणा जी आज तक सभी के साथ इन्होंने लघु बनकर ही व्यवहार किया है। कनकप्रभाजी, संयमप्रज्ञाजी आदि लघु भगिनी मंडल के साथ भी इनका व्यवहार सदैव सम्मान, माधुर्य एवं अपनेपन से युक्त रहा है। ये जिनके भी साथ चातुर्मास करने गई हैं उन्हें गुरुवत सम्मान दिया तथा उनकी विशिष्ट आन्तरिक मंगल कामनाओं को प्राप्त किया है। पूज्या विनीता श्रीजी म.सा., पूज्या मणिप्रभाश्रीजी म.सा., पूज्या हेमप्रभा श्रीजी म.सा., पूज्या सुलोचना श्रीजी म.सा., पूज्या विद्युतप्रभाश्रीजी म.सा. आदि की इन पर विशेष कृपा रही है। पूज्य उपाध्याय श्री मणिप्रभसागरजी म.सा., आचार्य श्री पद्मसागरसूरिजी म.सा., आचार्य श्री कीर्तियशसूरिजी आदि ने इन्हें अपना

स्नेहाशीष एवं मार्गदर्शन दिया है। आचार्य श्री राजयशसूरिजी म.सा., पूज्य भ्राता श्री विमलसागरजी म.सा. एवं पूज्य वाचंयमा श्रीजी (बहन) म.सा. इनका Ph.D. एवं D.Litt. का विषय विधि-विधानों से सम्बन्धित होने के कारण इन्हें 'विधिप्रभा' नाम से ही बुलाते हैं।

पूज्या शशिप्रभाजी म.सा. ने अध्ययन काल के अतिरिक्त इन्हें कभी भी अपने से अलग नहीं किया और आज भी हम सभी गुरु बहनों की अपेक्षा गुरु निश्रा प्राप्ति का लाभ इन्हें ही सर्वाधिक मिलता है। पूज्याश्री के चातुर्मास में अपने विविध प्रयासों के द्वारा चार चाँद लगाकर ये उन्हें और भी अधिक जानदार बना देती हैं।

तप-त्याग के क्षेत्र में तो बचपन से ही इनकी विशेष रुचि थी। नवपद की ओली का प्रारम्भ इन्होंने गृहस्थ अवस्था में ही कर दिया था। इनकी छोटी उम्र को देखकर छोटे म.सा. ने कहा– देखो! तुम्हें तपस्या के साथ उतनी ही पढ़ाई करनी होगी तब तो ओलीजी करना अन्यथा नहीं। ये बोली– मैं रोज पन्द्रह नहीं बीस गाथा करूंगी आप मुझे ओलीजी करने दीजिए और उस समय ओलीजी करके सम्पूर्ण प्रात:कालीन पाठ कंठाग्र किये। बीसस्थानक, वर्धमान, नवपद, मासक्षमण, श्रेणी तप, चत्तारि अट्ठ दस दोय, पैंतालीस आगम, ग्यारह गणधर, चौदह पूर्व, अट्ठाईस लब्धि, धर्मचक्र, पखवासा आदि कई छोटे-बड़े तप करते हुए इन्होंने अध्ययन एवं तपस्या दोनों में ही अपने आपको सदा अग्रसर रखा।

आज उनके वर्षों की मेहनत की फलश्रुति हुई है। जिस शोध कार्य के लिए वे गत 18 वर्षों से जुटी हुई थी उस संकल्पना को आज एक मूर्त्त स्वरूप प्राप्त हुआ है। अब तक सौम्याजी ने जिस धैर्य, लगन, एकाग्रता, श्रुत समर्पण एवं दृढ़निष्ठा के साथ कार्य किया है वे उनमें सदा वृद्धिंगत रहे। पूज्य गुरुवर्य्या श्री के नक्षे कदम पर आगे बढ़ते हुए वे उनके कार्यों को और नया आयाम दें तथा श्रुत के क्षेत्र में एक नया अवदान प्रस्तुत करें। इन्हीं शुभ भावों के साथ–

गुरु भगिनी मण्डल

अनुभूति की सरगम

व्यक्तित्व विकास एवं आत्मिक उत्थान के लिए साधना और उपासना-ये दो आवश्यक तत्त्व हैं। साधना बीजारोपण है और उपासना खाद-पानी देने से लेकर देख-रेख की समग्र व्यवस्था जुटाने की प्रक्रिया है। बीजारोपण तभी सफल और सार्थक परिणाम देता है, जब उसके अंकुरित, पुष्पित एवं पल्लवित होने के लिए खाद, पानी एवं देख-रेख की प्रक्रिया का क्रम सम्यक् रूप से चलता रहे। उसी प्रकार उपासना भी तभी सार्थक एवं फलवती होती है जब मन, मस्तिष्क एवं अन्त:करण में सद्विचारों एवं सत्प्रवृत्तियों की प्रतिष्ठापना का क्रम सतत चलता रहे।

उपासना का अर्थ है उप + आसन अर्थात स्वयं के निकट बैठना, समीपता। स्वयं के निकट बैठने से तात्पर्य है स्वयं को सुपात्र एवं पवित्र बनाकर अरिहंत के उपदेशों को अन्त:स्थल में उतारने का प्रयास करना। साधना का अर्थ है-स्वयं को साध लेना। स्वयं के भीतर विद्यमान भगवद् स्वरूप को प्रकट करने के लिए प्रयत्न करना।

हमारा जीवन कल्पवृक्ष की तरह असंख्य सद्गुणों से परिपूर्ण हैं, परन्तु इसके सुपरिणाम तभी संभव है जब उन गुणों का सही दिशा में उपयोग किया जाए, उन्हें सम्यक् रूप से साधा जाए। इस ओर किया गया प्रयत्न साधना है।

किसी भी व्रत को धारण करने की भावना उत्पन्न होना, तद्हेतु प्रयत्नशील बनना एवं भावना को साकार रूप देते हुए व्रतों को स्वीकार कर लेना साधना है तथा गृहीत व्रत का जीवनपर्यन्त या निश्चित अवधिपर्यन्त निर्दोष पालन करना, व्रत संबंधी नियमों में अडिग रहना इत्यादि उपासना है। साधना व्रत का प्रारम्भ है और उपासना उसकी पूर्णता है। साधना नियतकालिक होती है और उपासना अनियतकालिक होती है। साधना आत्मा की संस्कृति है और उपासना आत्मा की प्रकृति है। साधना का स्वरूप बुद्धिगम्य है और उपासना का स्वरूप अनुभवगम्य है। साधना की आधारशिला प्रयोग है जबकि उपासना की आधारशिला योग है। व्रत-ग्रहण उपासना और साधना का सम्मिश्रित रूप है।

गुरू के द्वारा प्रतिज्ञा से आबद्ध हो जाना व्रतारोपण कहलाता है।

व्रत का शाब्दिक अर्थ है– नियम या प्रतिज्ञा। आरोपण का अर्थ है– स्थापन करना, स्थित होना। सुस्पष्ट है कि गुरू द्वारा दी गई प्रतिज्ञा स्वीकार करना व्रतारोपण है।

तत्त्वत: धर्म या नीतिपूर्वक जीवन जीने की प्रतिज्ञा करना व्रतारोपण है। किसी व्रत का पालन करने पर उससे उत्पन्न होने वाले गुणों का आविर्भाव होता है। इससे साधना का श्रेष्ठ मार्ग फलवान बनता है।

सभी परम्पराओं में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों को एकमत से स्वीकार किया गया है। एक सुव्यवस्थित जीवन हेतु चारों पुरुषार्थों का आचरण अनिवार्य है, फिर भी इन चारों में धर्म प्रमुख है। कारण कि धर्म ही व्यक्ति को जीवन जीने का सही निर्देश देता है एवं उसे अधोपतन से बचाता है। वह अर्थ और काम पुरुषार्थों का नियामक भी है एवं मोक्ष पुरुषार्थ का साधन है। इसके अभाव में व्यक्ति का जीवन स्वेच्छाचारी एवं दुर्गुणों का संकुल बन जाता है। अत: उन्मार्गगामी प्रवृत्तियों को रोकने के लिए तथा व्यक्ति के चहुँमुखी विकास के लिए सम्यक्त्व आदि व्रत स्वीकार करना अत्यन्त अनिवार्य है।

प्रस्तुत कृति में सर्वप्रथम जैन गृहस्थ की धर्माराधना विधि और उसके प्रकारों का उल्लेख किया गया है जिससे श्रावक जीवन के दैनिक कर्त्तव्यों, मार्मिक आचारों एवं आवश्यक गुणों से परिचित हो सकें तथा उन्हें हृदयंगम करते हुए श्रावक धर्म की मुख्य भूमिका पर आरूढ़ हो सकें।

उसके पश्चात सम्यक्त्व व्रतारोपण विधि का मौलिक अध्ययन प्रस्तुत किया है। इसका मुख्य हेतु यह है कि सम्यग्दर्शन अध्यात्म-साधना का मूल आधार एवं मुख्य केन्द्र है। वह मुक्ति महल का प्रथम सोपान है तथा श्रुतधर्म और चारित्रधर्म की आधार शिला है। जिस प्रकार उच्च एवं भव्य प्रासाद का निर्माण दृढ़ आधार वाली शिला पर ही संभव हो सकता है इसी तरह सम्यग्दर्शन की नींव पर ही श्रुत-चारित्र धर्म का भव्य प्रासाद खड़ा हो सकता है। सम्यग्दर्शन के सद्भाव में ही यम, नियम, तप, जप आदि सार्थक होते हैं। सम्यग्दर्शन के अभाव में सम्यक ज्ञान और सम्यक चारित्र निरर्थक हैं। जैसे-अंक के बिना शून्य का कोई मूल्य नहीं होता, वैसे ही सम्यक्त्व के बिना ज्ञान और चारित्र का कोई अर्थ नहीं रहता। सम्यग्दर्शन से ही ज्ञान और चारित्र में सम्यक्त्व

आता है। सम्यग्दर्शन का सामान्य अर्थ-श्रद्धा है। भौतिक क्षेत्र में जो महत्त्व ऊर्जा का है, ठीक वही भूमिका आध्यात्मिक क्षेत्र में श्रद्धा निभाती है। यह चेतना को उत्कृष्टता के ढांचे में ढाल सकने वाली कारगर भट्टी है। श्रद्धाविहीन आत्मोत्कर्ष के मार्ग पर एक कदम भी नहीं चल सकता है। वह पक्षाघात पीड़ित की तरह कुछ कदम चलकर ही लड़खड़ाता हुआ धड़ाम से नीचे गिर जाता है। श्रद्धा ही वह आश्रयस्थल है जिसके सहारे आत्मचेतना को चरम ऊँचाईयों तक पहुँचाया जा सकता है। अध्यात्म क्षेत्र के जितने भी चमत्कार हैं, सब कुछ श्रद्धा की ही परिणतियाँ हैं। श्रद्धा के बल से ही पाषाण की प्रतिमा में भगवद् स्वरूप का बोध होता है और वैसा ही प्रतिफल उपलब्ध किया जाता है। श्रद्धा के अभाव में आत्म तत्त्व को परमात्म सत्ता के साथ जोड़ सकना भी असम्भव है अत: आत्मविकास की दिशा में बढ़ने वाले के लिए श्रद्धा का अवलम्बन अनिवार्य है। इसके बिना कुछ भी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि नहीं की जा सकती है। सम्यग्दर्शन व्रत का स्वीकार सद्गुण रूपी बीज का आधान है। जब कुछ बोया जाएगा तभी कुछ पाया जा सकेगा। इसलिए सर्वप्रथम सम्यक्त्वव्रतारोपण-विधि प्रस्तुत की गई है।

इसके अनन्तर क्रमश: बारहव्रत, सामायिकव्रत, पौषधव्रत, उपधानतप और उपासक प्रतिमा संबंधी विधि-विधानों का स्वरूप प्रतिपादित किया गया है। इस क्रमिकता का भी एक उद्देश्य है। जब श्रद्धा बलवती बनती है तभी साधक आंशिक व्रत स्वीकार कर सकता है। सम्यक्त्व श्रद्धा रूप व्रत है। इस व्रत पालन में "अष्ट कर्मों से रहित अरिहंत ही मेरे देव हैं, निर्ग्रन्थ साधु ही मेरे गुरू हैं और अहिंसा ही मेरा धर्म है" इस प्रकार की आस्था में दृढ़ रहना होता है, जबकि इसके अग्रिम चरण में व्यक्ति अहिंसा, सत्य, अचौर्य, अपरिग्रह आदि व्रतों का आंशिक रूप से परिपालन करने की प्रतिज्ञा स्वीकार करता है अत: तीसरे क्रम पर बारहव्रतारोपण विधि वर्णित की है। इसे देशविरतिचारित्र भी कहते हैं।

कदाचित देशविरति चारित्र का पालन करते हुए सर्वविरति चारित्र अंगीकार करने की भावना उत्पन्न हो जाए तो उसके अभ्यास रूप छह माह तक उभय सन्ध्याओं में सामायिकव्रत स्वीकार करना चाहिए। सामायिक आत्मा का मूल धर्म है एतदर्थ चतुर्थ क्रम पर सामायिकव्रतारोपण-विधि कही गई है।

धर्म के मुख्य दो अंग हैं-श्रुत और चरित्र। सम्यग्दर्शन और सम्यगज्ञान श्रुतधर्मरूप हैं तथा श्रमण एवं श्रावक के मूलगुण और उत्तरगुण चारित्रधर्म रूप

हैं। इन द्विविध धर्म का संपोषण करने हेतु व्रती गृहस्थ को पर्वादि दिनों में पौषधव्रत एवं यथानुकूलता उपधान तप करना चाहिए। पौषधव्रत द्वारा चारित्र धर्म का पालन होता है तथा उपधान द्वारा श्रुत एवं चारित्र दोनों धर्मों का परिपालन होता है। इसी के साथ तद्रूप जीवन जीने का सम्यक अभ्यास भी हो जाता है अत: पाँचवें क्रम पर पौषध विधि का प्रासंगिक निरूपण तथा छठवें क्रम पर उपधान विधि का विस्तृत उल्लेख किया गया है।

तत्पश्चात संयमी जीवन में आ सकने वाली कठिनाईयों से पार हुआ जा सके और तनिक भी विचलित न बने, इस उद्देश्य से अन्तिम सातवें अध्याय में ग्यारह प्रतिमाओं को धारण करने की विधि बतलाई गई है। यद्यपि कुछ आचार्यों के मतानुसार इस विषम काल में चार प्रतिमाएँ ही धारण की जा सकती हैं और कुछ के अनुसार प्रतिमा रूप धर्म विच्छिन्न हो गया है, जबकि दिगम्बर परम्परा में प्रतिमा रूप धर्म आज भी विद्यमान है।

सारतत्त्व यह है कि व्रतों का आरोपण अज्ञान दशा और अविवेक दृष्टि के निराकरण हेतु किया जाता है। व्रत-साधना से हमारा दृष्टिकोण परिष्कृत होता है और अन्त:करण में वह प्रकाश उत्पन्न होता है जिससे स्वयं के लक्ष्य और कर्त्तव्य को समझ सकें। व्रत-साधना एक व्यायाम प्रक्रिया है, जिसके प्रयोग से आत्मबल और सत्प्रवृत्तियों का अभिवर्द्धन किया जाता है। इस साधना का वरदान महानता है। यदि साधना सच्ची हो, तो उसके सुपरिणाम तुरन्त प्राप्त होते हैं अत: हम गृहीत प्रतिज्ञा को विशुद्ध रूप से आचरित करें।

●

वन्दना की सरगम

आज से सत्रह वर्ष पूर्व एक छोटे से लक्ष्य को लेकर लघु यात्रा प्रारंभ हुई थी। उस समय यह अनुमान कदापि नहीं था कि वह यात्रा विविध मोड़ों से गुजरते हुए इतना विशाल स्वरूप धारण कर लेगी। आज इस दुरुह मार्ग के अन्तिम पड़ाव पर पहुँचने में मेरे लिए परम आधारभूत बने जगत के सार्थवाह, तीन लोक के सिरताज, अखिल विश्व में जिन धर्म की ज्योत को प्रदीप्त करने वाले, मार्ग दिवाकर, अरिहंत परमात्मा के प़ाद प्रसूनों में अनेकश: श्रद्धा दीप प्रज्वलित करती हूँ। उन्हीं की श्रेयस्कारी वाणी इस सम्यक ज्ञान की आराधना में मुख्य आलंबन बनी है।

रत्नत्रयी एवं तत्त्वत्रयी के धारक, समस्त विघ्नों के निवारक, सकारात्मक ऊर्जा के संवाहक, सिद्धचक्र महायंत्र को अन्तर्हृदय से वंदना करती हूँ। इस श्रुतयात्रा के क्रम में परम हेतुभूत, भाव विशुद्धि के अधिष्ठाता, अनंत लब्धि निधान गौतम स्वामी के चरणों में भी हृदयावनत हो वंदना करती हूँ।

धर्म-स्थापना करके जग को, सत्य का मार्ग बताया है ।
दिवाकर बनकर अखिल विश्व में, ज्ञान प्रकाश फैलाया हैं।
सर्वज्ञ अरिहंत प्रभु ने, पतवार बन पार लगाया है।
सिद्धचक्र और गुरु गौतम ने, विषमता में साहस बढ़ाया है।।

जिनशासन के समुद्धारक, कलिकाल में महान प्रभावक, जन मानस में धर्म संस्कारों के उन्नायक, चारों दादा गुरुदेव के चरणों में सश्रद्धा समर्पित हूँ। इन्हीं की कृपा से मैं रत्नत्रयात्मक साधना पथ पर अग्रसर हो पाई हूँ। इसी श्रृंखला में मैं आस्था प्रणत हूँ उन सभी आचार्य एवं मुनि भगवंतों की, जिनका आगम आलोडन एवं शस्त्र गुंफन इस कार्य के संपादन में अनन्य सहायक बना।

दत्त-मणिधर-कुशल-चन्द्र गुरु, जैन गगनांगण के ध्रुव सितारे हैं।
लक्षाधिक को जैन बनाकर, लहरायी धर्म ध्वजा हर द्वारे हैं।
श्रुत आलोडक सूरिजन मुनिजन, आगम रहस्यों को प्रकटाते हैं ।
अध्यात्म योगियों के शुभ परमाणु, हर बिगड़े काज संवारे हैं।।

जिनके मन, वचन और कर्म में सत्य का तेज आप्लावित है। जिनके

आचार, विचार और व्यवहार में जिनवाणी का सार समाहित है ऐसे शासन के सरताज, खरतरगच्छाचार्य श्री मज्जिन कैलाशसागरसूरीश्वरजी म.सा. के चरणारविन्द में भाव प्रणत वंदना। उन्हीं की अन्तर प्रेरणा से यह कार्य ऊँचाईयों पर पहुँच पाया है।

श्रद्धा समर्पण के इन क्षणों में प्रतिपल स्मरणीय, पुण्य प्रभावी, ज्योतिर्विद, प्रौढ़ अनुभवी , इतिहास के उज्ज्वल पृष्ठों पर शासन प्रभावना की यशोगाथाएँ अंकित कर रहे पूज्य उपाध्याय भगवन्त श्री मणिप्रभसागरजी म.सा. के पाद पद्मों में श्रद्धायुक्त नमन करती हूँ। आपश्री द्वारा प्रदत्त प्रेरणा एवं अनुभवी ज्ञान इस यात्रा की पूर्णता में अनन्य सहायक रहा है।

इसी श्रृंखला में असीम उपकारों का स्मरण करते हुए श्रद्धानत हूँ अनुभव के श्वेत नवनीत, उच्च संकल्पनाओं के स्वामी, राष्ट्रसंत पूज्य पद्मसागरसूरीश्वर जी म.सा. के पादारविन्द में। आपश्री द्वारा प्रदत्त सहज मार्गदर्शन एवं कोबा लाइब्रेरी से पुस्तकों का भरपूर सहयोग प्राप्त हुआ। आपश्री के निश्रारत सहजमना पूज्य गणिवर्य प्रशांतसागरजी म.सा. एवं सरस्वती उपासक, भ्राता मुनि श्री विमलसागरजी म.सा. ने भी इस ज्ञान यात्रा में हर तरह का सहयोग देते हुए कार्य को गति प्रदान की।

मैं हृदयावनत हूँ प्रभुत्वशील एवं स्नेहशील व्यक्तित्व के नायक, छत्तीस गुणों के धारक, युग प्रभावक पूज्य कीर्तियशसूरीश्वरजी म.सा. के चरण कमलों में, जिनकी असीम कृपा से इस शोध कार्य में नवीन दिशा प्राप्त हुई। आप श्री के विद्वद् शिष्य पूज्य रत्नयश विजयजी म.सा. द्वारा प्राप्त दिशानिर्देश कार्य पूर्णता में विशिष्ट आलम्बनभूत रहे।

कृतज्ञता ज्ञापन की इस कड़ी में विनयावनत हूँ शासन प्रभावक पूज्य राजयश सूरीश्वरजी म.सा. एवं मृदु व्यवहारी पूज्य वाचंयमा श्रीजी म.सा. (बहन महाराज) के चरणों में, जिन्होंने अहमदाबाद प्रवास के दौरान हृदयगत शंकाओं का सम्यक समाधान किया।

मैं भावप्रणत हूँ संयम अनुपालक, जग वल्लभ, नव्य अन्वेषक पूज्य आचार्य श्री गुणरत्नसागर सूरीश्वरजी म.सा. के चरणों में, जिन्होंने अप्रत्यक्ष रूप से जिज्ञासाओं को उपशांत किया एवं अचलगच्छ परम्परा सम्बन्धी सूक्ष्म विधानों के रहस्यों से अवगत करवाया।

मैं आस्था प्रणत हूँ लाडनूं विश्व भारती के स्वर्ण पुरुष, श्रुत सागर के गूढ़

अन्वेषक, कुशल अनुशास्ता, आचार्य श्री महाप्रज्ञजी एवं आचार्य श्री महाश्रमणजी के पद पंकजों में, आप श्री की सृजनात्मक संरचनाओं के माध्यम से यह कार्य अथ से इति तक पहुँच पाया है।

इसी क्रम में मैं नतमस्तक हूँ शासन उन्नायक, संघ प्रभावक, त्रिस्तुतिक गच्छाधिपति पूज्य आचार्यप्रवर श्री जयंतसेन सूरीश्वरजी म.सा. के चरण पुंज में, जिन्होंने यथायोग्य सहायता देकर कार्य पूर्णाहुति में सहयोग दिया।

मैं श्रद्धाप्रणत हूँ शासक प्रभावक, क्रान्तिकारी संत श्री तरुणसागरजी म.सा. के चरण सरोज में, जिन्होंने अपने व्यस्त कार्यक्रमों में भी मुझे अपना अमूल्य समय देकर यथायोग्य समाधान दिए।

मैं अंत:करण पूर्वक आभारी हूँ शासन प्रभावक, मधुर गायक प.पू. पीयूषसागरजी म.सा. एवं प्रखर वक्ता प.पू. सम्यकरत्न सागरजी म.सा. के प्रति, जिन्होंने हर समय समुचित समस्याओं का समाधान देने में रुचि एवं तत्परता दिखाई। सच कहूं तो

जिनके सफल अनुशासन में, वृद्धिंगत होता जिनशासन।
माली बनकर जो करते हैं, संघ शासन का अनुपालन॥
कैलास गिरी सम जो करते रक्षा, भौतिकता के आंधी तूफानों से।
अमृत पीयूष बरसाते हरदम, मणि अपने शांत विचारों से॥
कर संशोधन किया कार्य प्रमाणित, दिया सद्ग्रन्थों का ज्ञान।
कीर्तियश है रत्न सम जग में, पद्म कृपा से किया ज्ञानामृत पान॥
सकल विश्व में गूंज रहा है, राजयश जयंतसेन का नाम।
गुणरत्न की तरुण स्फूर्ति से, महाप्रज्ञ बने श्रमण वीर समान॥

इस श्रुत गंगा में चेतन मन को सदा आप्लावित करते रहने की परोक्ष प्रेरणा देने वाली, जीवन निर्मात्री, अध्यात्म गंगोत्री, आशु कवयित्री, चौथे कालखण्ड में जन्म लेने वाली भव्य आत्माओं के समान प्राज्ञ एवं ऋजुस्वभावधारिणी, प्रवर्त्तिनी महोदया, गुरुवर्य्या श्री सज्जन श्रीजी म.सा. के पाद-प्रसूनों में अनन्तानन्त वंदन करती हूँ, क्योंकि यह जो कुछ भी लिखा गया है वह सब उन्हीं के कृपाशीष की फलश्रुति है अत: उनके पवित्र चरणों में पुनश्च श्रद्धा के पुष्प अर्पित करती हूँ।

उपकार स्मरण की इस कड़ी में मैं आस्था प्रणत हूँ वात्सल्य वारिधि, महतरा पद विभूषिता पूज्या विनिता श्रीजी म.सा., पूज्या प्रवर्त्तिनी चन्द्रप्रभा

श्रीजी म.सा., स्नेह पुंज पूज्य कीर्तिप्रभा श्रीजी म.सा., ज्ञान प्रौढ़ा पूज्य दिव्यप्रभा श्रीजी म.सा., सरलमना पूज्य चन्द्रकलाश्रीजी म.सा., मरुधर ज्योति पूज्य मणिप्रभा श्रीजी म.सा., स्नेह गंगोत्री पूज्य मनोहर श्रीजी म.सा., मंजुल स्वभावी पूज्य सुलोचना श्रीजी म.सा., विद्या वारिधि पूज्य विद्युतप्रभा श्रीजी म.सा. आदि सभी पूज्यवर्य्याओं के चरणों में, जिनकी मंगल कामनाओं ने मेरे मार्ग को निष्कंटक बनाने एवं लक्ष्य प्राप्ति में सेतु का कार्य किया।

गुरु उपकारों को स्मृत करने की इस वेला में अथाह श्रद्धा के साथ कृतज्ञ हूँ त्याग-तप-संयम की साकार मूर्ति, श्रेष्ठ मनोबली, पूज्या सज्जनमणि श्री शशिप्रभा श्रीजी म.सा. के प्रति, जिनकी अन्तर प्रेरणा ने ही मुझे इस महत् कार्य के लिए कटिबद्ध किया और विषम बाधाओं में भी साहस जुटाने का आत्मबल प्रदान किया। चन्द शब्दों में कहूँ तो

आगम ज्योति गुरुवर्य्या ने, ज्ञान पिपासा का दिया वरदान।
अनायास कृपा वृष्टि ने जगाया, साहस और अंतर में लक्ष्य का भान।।
शशि चरणों में रहकर पाया, आगम-ग्रन्थों का सुदृढ़ ज्ञान।
स्नेह आशीष पूज्यवर्य्याओं का, सफलता पाने में बना सौपान।।

कृतज्ञता ज्ञापन के इस अवसर पर मैं अपनी समस्त गुरु बहिनों का भी स्मरण करना चाहती हूँ, जिन्होंने मेरे लिए सदभावनाएँ ही संप्रेषित नहीं की, अपितु मेरे कार्य में यथायोग्य सहयोग भी दिया।

मेरी निकटतम सहयोगिनी ज्येष्ठ गुरुबहिना पू. प्रियदर्शना श्रीजी म.सा., संयमनिष्ठा पू. जयप्रभा श्रीजी म.सा., सेवामूर्ति पू. दिव्यदर्शना श्रीजी म.सा. जाप परायणी पू. तत्वदर्शना श्रीजी म.सा., प्रवचनपटु पू. सम्यकदर्शना श्रीजी म.सा., सरलहृदयी पू. शुभदर्शना श्रीजी म.सा., प्रसन्नमना पू. मुदितप्रज्ञा श्रीजी म.सा., व्यवहार निपुणा शीलगुणा जी, मधुरभाषी कनकप्रभा श्रीजी, हंसमुख स्वभावी संयमप्रज्ञा श्रीजी, संवेदनहृदयी श्रुतदर्शना जी आदि सर्व के अवदान को भी विस्मृत नहीं कर सकती हूँ।

साध्वीद्वया सरलमना **स्थितप्रज्ञाजी** एवं मौन साधिका **संवेगप्रज्ञाजी** के प्रति विशेष आभार अभिव्यक्त करती हूँ क्योंकि इन्होंने प्रस्तुत शोध कार्य के दौरान व्यावहारिक औपचारिकताओं से मुक्त रखने, प्रूफ संशोधन करने एवं हर तरह की सेवाएँ प्रदान करने में अद्वितीय भूमिका अदा की। साथ ही गुर्वाज्ञा को शिरोधार्य कर ज्ञानोपासना के पलों में निरन्तर मेरी सहचरी बनी रही।

इसी के साथ अल्प भाषिणी सुश्री मोनिका बैराठी (जयपुर) एवं शान्त स्वभावी सुश्री सीमा छाजेड़ (मालेगाँव) को साधुवाद देती हुई उनके उज्ज्वल भविष्य की तहेदिल से कामना करती हूँ क्योंकि शोध कार्य के दौरान दोनों मुमुक्षु बहिनों ने हर तरह की सेवाएँ प्रदान की।

अन्तर्विश्वास भगिनी मंडल का, देती दुआएँ सदा मुझको।
प्रिय का निर्देशन और सम्यक बुद्धि, मुदित करे अन्तर मन को।
स्थित संवेग की श्रुत सेवाएँ, याद रहेगी नित मुझको।
इस कार्य में नाम है मेरा, श्रेय जाता सज्जन मण्डल को।।

इस शोध प्रबन्ध के प्रणयन काल में जिनका मार्गदर्शन अहम् स्थान रखता है ऐसे जैन विद्या एवं तुलनात्मक धर्मदर्शन के निष्णात विद्वान, प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर के संस्थापक, पितृ वात्सल्य से समन्वित, आदरणीय डॉ. सागरमलजी जैन के प्रति अन्तर्भावों से हार्दिक कृतज्ञता अभिव्यक्त करती हूँ। आप श्री मेरे सही अर्थों में ज्ञान गुरु हैं। यही कारण है कि आपकी निष्काम करुणा मेरे शोध पथ को आद्यंत आलोकित करती रही है। आपकी असीम प्रेरणा, नि:स्वार्थ सौजन्य, सफल मार्गदर्शन और सुयोग्य निर्माण की गहरी चेष्टा को देखकर हर कोई भावविह्वल हो उठता है। आपके बारे में अधिक कुछ कह पाना सूर्य को दीपक दिखाने जैसा है।

दिवाकर सम ज्ञान प्रकाश से, जागृत करते संघ समाज
सागर सम श्रुत रत्नों के दाता, दिया मुझे भी लक्ष्य विराट।
मार्गदर्शक बनकर मुझ पथ का, सदा बढ़ाया कार्योल्लास।।

इस दीर्घ शोधावधि में संघीय कर्त्तव्यों का निर्वहन करते हुए अनेक स्थानों पर अध्ययनार्थ प्रवास हुआ। इन दिनों में हर प्रकार की छोटी-बड़ी सेवाएँ देकर सर्व प्रकारेण चिन्ता मुक्त रखने के लिए शासन समर्पित सुनीलजी मंजुजी बोथरा (रायपुर) के भक्ति भाव की अनुशंसा करती हूँ।

अपने सद्भावों की ऊर्जा से जिन्होंने मुझे सदा स्फुर्तिमान रखा एवं दूरस्थ रहकर यथोचित सेवाएँ प्रदान की ऐसी स्वाध्याय निष्ठा, श्रीमती प्रीतिजी अजितजी पारख (जगदलपुर) भी साधुवाद के पात्र हैं।

सेवा स्मृति की इस कड़ी में परमात्म भक्ति रसिक, सेवाभावी श्रीमती शकुंतलाजी चन्द्रकुमारजी (लाला बाबू) मुणोत (कोलकाता) की अनन्य सेवा भक्ति एवं आत्मीय स्नेहभाव की स्मृति सदा मानस पटल पर बनी रहेगी।

इसी कड़ी में श्रीमति किरणजी खेमचंदजी बांठिया (कोलकाता) तथा श्रीमती नीलमजी जिनेन्द्रजी बैद (टाटा नगर) की निस्वार्थ सेवा भावना एवं मुद्राओं के चित्र निर्माण में उनके अथक प्रयासों के लिए मैं उनकी सदा ऋणी रहूँगी।

बनारस अध्ययन के दौरान वहाँ के भेलुपुर श्री संघ, रामघाट श्री संघ तथा निर्मलचन्दजी गांधी,कीर्तिभाई ध्रुव, अश्विन भाई शाह, ललितजी भंसाली, धर्मेन्द्रजी गांधी, दिव्येशजी शाह आदि परिवारों ने अमूल्य सेवाएँ दी, एतदर्थ उन सभी को सहृदय साधुवाद है।

इसी प्रवास के दरम्यान कलकत्ता, जयपुर, मुम्बई, जगदलपुर, मद्रास, बेंगलोर, मालेगाँव, टाटानगर, वाराणसी आदि के संघों एवं तत् स्थानवर्ती कान्तिलालजी मुकीम, मणिलालजी दुसाज, विमलचन्दजी महमवाल, महेन्द्रजी नाहटा, अजयजी बोथरा, पन्नालाल दुगड़, नवरतनमलजी श्रीमाल, मयूर भाई शाह, जीतेशमलजी, नवीनजी झाड़चूर, अश्विनभाई शाह, संजयजी मालू, धर्मचन्दजी बैद आदि ने मुझे अन्तप्रेरित करते हुए अपनी सेवाएँ देकर इस कार्य की सफलता का श्रेय प्राप्त किया है अतएव सभी गुरु भक्तों की अनुमोदना करती हुई उनके उज्ज्वल भविष्य की कामना करती हूँ।

इस श्रेष्ठतम शोध कार्य को पूर्णता देने और उसे प्रामाणिक सिद्ध करने में L.D. Institute अहमदाबाद श्री कैलाशसागरसूरि ज्ञानमंदिर-कोबा, प्राच्य विद्यापीठ-शाजापुर, खरतरगच्छ संघ लायब्रेरी-जयपुर, पार्श्वनाथ विद्यापीठ-वाराणसी के पुस्तकालयों का अनन्य सहयोग प्राप्त हुआ, एतदर्थ कोबा संस्थान के केतन भाई, मनोज भाई, अरूणजी आदि एवं पार्श्वनाथ विद्यापीठ के ओमप्रकाश सिंह को बहुत-बहुत धन्यवाद और शुभ भावनाएँ प्रेषित करती हूँ।

प्रस्तुत शोध कार्य को जनग्राह्य बनाने में जिनकी पुण्य लक्ष्मी सहयोगी बनी है उन सभी श्रुत संवर्धक लाभार्थियों का मैं अनन्य हृदय से आभार अभिव्यक्त करती हूँ।

इस बृहद शोध खण्ड को कम्प्यूटराईज्ड करने एवं उसे जन उपयोगी बनाने हेतु मैं अंतर हृदय से आभारी हूँ मितभाषी श्री विमलचन्द्रजी मिश्रा (वाराणसी) की, जिन्होंने इस कार्य को अपना समझकर कुशलता पूर्वक संशोधन किया। उनकी कार्य निष्ठा का ही परिणाम है कि यह कार्य आज साफल्य के शिखर पर पहुँच पाया है।

इसी क्रम में ज्ञान रसिक, मृदुस्वभावी श्रीरंजनजी कोठारी, सुपुत्र रोहितजी कोठारी एवं पुत्रवधु ज्योतिजी कोठारी का भी मैं आभार व्यक्त करती हूँ कि उन्होंने जिम्मेदारी पूर्वक सम्पूर्ण साहित्य के प्रकाशन एवं कंवर डिजाईनिंग में सजगता दिखाई तथा उसे लोक रंजनीय बनाने का प्रयास किया। शोध प्रबन्ध की समस्त कॉपियों के निर्माण में अपनी पुण्य लक्ष्मी का सदुपयोग कर श्रुत उन्नयन में निमित्तभूत बने हैं।

Last but not the least के रूप में उस स्थान का उल्लेख भी अवश्य करना चाहूँगी जो मेरे इस शोध यात्रा के प्रारंभ एवं समापन की प्रत्यक्ष स्थली बनी। सन् 1996 के कोलकाता चातुर्मास में जिस अध्ययन की नींव डाली गई उसकी बहुमंजिल इमारत सत्रह वर्ष बाद उसी नगर में आकर पूर्ण हुई। इस पूर्णाहुति का मुख्य श्रेय जाता है श्री जिनरंगसूरि पौशाल के ट्रस्टी श्री विमलचंदजी महमवाल, कान्तिलालजी मुकीम, कमलचंदजी धांधिया, मणिलालजी दुसाज आदि को जिन्होंने अध्ययन के लिए यथायोग्य स्थान एवं सुविधाएँ प्रदान की तथा संघ समाज के कार्यभार से मुक्त रखने का भी प्रयास किया।

इस शोध कार्य के अन्तर्गत जाने-अनजाने में किसी भी प्रकार की त्रुटि रह गई हो अथवा प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में सहयोगी बने हुए लोगों के प्रति कृतज्ञ भाव अभिव्यक्त न किया हो तो सहृदय मिच्छामि दुक्कडम् की प्रार्थी हूँ।

प्रतिबिम्ब इन्दू का देख जल में, आनंद पाता है बाल ज्यों।
आप्त वाणी मनन कर, आज प्रसन्नचित्त मैं हूँ।
सत्गुरु जनों के मार्ग का, यदि सत्प्ररूपण ना किया।
क्षमत्व हूँ मैं सुज्ञ जनों से, हो क्षमा मुझ गल्तियाँ।।

●

मिच्छामि दुक्कडं

आगम मर्मज्ञा, आशु कवयित्री, जैन जगत की अनुपम साधिका, प्रवर्त्तिनी पद सुशोभिता, खरतरगच्छ दीपिका पू. गुरुवर्य्या श्री सज्जन श्रीजी म.सा. की अन्तरंग कृपा से आज छोटे से लक्ष्य को पूर्ण कर पाई हूँ।

यहाँ शोध कार्य के प्रणयन के दौरान उपस्थित हुए कुछ संशय युक्त तथ्यों का समाधान करना चाहूँगी–

सर्वप्रथम तो मुनि जीवन की औत्सर्गिक मर्यादाओं के कारण जानते-अजानते कई विषय अनछुए रह गए हैं। उपलब्ध सामग्री के अनुसार ही विषय का स्पष्टीकरण हो पाया है अतः कहीं-कहीं सन्दर्भित विषय में अपूर्णता भी प्रतीत हो सकती है।

दूसरा जैन संप्रदाय में साध्वी वर्ग के लिए कुछ नियत मर्यादाएँ हैं जैसे प्रतिष्ठा, अंजनशलाका, उपस्थापना, पदस्थापना आदि करवाने एवं आगम शास्त्रों को पढ़ाने का अधिकार साध्वी समुदाय को नहीं है। योगोद्वहन, उपधान आदि क्रियाओं का अधिकार मात्र पदस्थापना योग्य मुनि भगवंतों को ही है। इन परिस्थितियों में प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि क्या एक साध्वी अनधिकृत एवं अननुभूत विषयों पर अपना चिन्तन प्रस्तुत कर सकती है?

इसके जवाब में यही कहा जा सकता है कि 'जैन विधि-विधानों का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन' यह शोध का विषय होने से यत्किंचित लिखना आवश्यक था अतः गुरु आज्ञा पूर्वक विद्वद्वर आचार्य भगवंतों से दिशा निर्देश एवं सम्यक जानकारी प्राप्तकर प्रामाणिक उल्लेख करने का प्रयास किया है।

तीसरा प्रायश्चित्त देने का अधिकार यद्यपि गीतार्थ मुनि भगवंतों को है किन्तु प्रायश्चित्त विधि अधिकार में जीत (प्रचलित) व्यवहार के अनुसार प्रायश्चित्त योग्य तप का वर्णन किया है। इसका उद्देश्य मात्र यही है कि भव्य जीव पाप भीरु बनें एवं दोषकारी क्रियाओं से परिचित

होवें। कोई भी आत्मार्थी इसे देखकर स्वयं प्रायश्चित्त ग्रहण न करें।

इस शोध के अन्तर्गत कई विषय ऐसे हैं जिनके लिए क्षेत्र की दूरी के कारण यथोचित जानकारी एवं समाधान प्राप्त नहीं हो पाए, अतः तद्विषयक पूर्ण स्पष्टीकरण नहीं कर पाई हूँ।

कुछ लोगों के मन में यह शंका भी उत्पन्न हो सकती है कि मुद्रा विधि के अधिकार में हिन्दू, बौद्ध, नाट्य आदि मुद्राओं पर इतना गूढ़ अध्ययन क्यों?

मुद्रा एक यौगिक प्रयोग है। इसका सामान्य हेतु जो भी हो परंतु इसकी अनुश्रुति आध्यात्मिक एवं शारीरिक स्वस्थता के रूप में ही होती है।

प्रायः मुद्राएँ मानव के दैनिक चर्या से सम्बन्धित है। इतर परम्पराओं का जैन परम्परा के साथ पारस्परिक साम्य-वैषम्य भी रहा है अतः इनके सद्पक्षों को उजागर करने हेतु अन्य मुद्राओं पर भी गूढ़ अन्वेषण किया है।

यहाँ यह भी कहना चाहूँगी कि शोध विषय की विराटता, समय की प्रतिबद्धता, समुचित साधनों की अल्पता, साधु जीवन की मर्यादा, अनुभव की न्यूनता, व्यावहारिक एवं सामान्य ज्ञान की कमी के कारण सभी विषयों का यथायोग्य विश्लेषण नहीं भी हो पाया है। हाँ, विधि-विधानों के अब तक अस्पृष्ट पन्नों को खोलने का प्रयत्न अवश्य किया है। प्रज्ञा सम्पन्न मुनि वर्ग इसके अनेक रहस्य पटलों को उद्घाटित कर सकेंगे। यह एक प्रारंभ मात्र है।

अन्ततः जिनवाणी का विस्तार करते हुए एवं शोध विषय का अन्वेषण करते हुए अल्पमति के कारण शास्त्र विरुद्ध प्ररूपणा की हो, आचार्यों के गूढ़ार्थ को यथारूप न समझा हो, अपने मत को रखते हुए जाने-अनजाने अर्हतवाणी का कटाक्ष किया हो, जिनवाणी का अपलाप किया हो, भाषा रूप में उसे सम्यक अभिव्यक्ति न दी हो, अन्य किसी के मत को लिखते हुए उसका संदर्भ न दिया हो अथवा अन्य कुछ भी जिनाज्ञा विरुद्ध किया हो या लिखा हो तो उसके लिए त्रिकरण-त्रियोगपूर्वक श्रुत रूप जिन धर्म से मिच्छामि दुक्कड़म् करती हूँ।

●

विषयानुक्रमणिका

अध्याय-1 : जैन गृहस्थ के प्रकार एवं उसकी धर्माराधना विधि 1-62

• श्रावक शब्द का अर्थ विचार • जैन शास्त्रों में श्रावक के विभिन्न नाम • श्रावक का यथार्थ लक्षण • श्रावकत्व की प्राप्ति का हेतु • जैन धर्म में साधना के स्तर • श्रमण और गृहस्थ की साधना में अन्तर • जैनधर्म में गृहस्थ साधना का महत्त्व • गृहस्थ उपासक का साधनाक्रम • गृहस्थ साधकों के विभिन्न स्तर • गृहस्थ साधकों के भेद • गृहस्थ श्रावक के अन्य प्रकार • गृहस्थ धर्म की प्राथमिक योग्यता • गृहस्थ धर्म की साधना के प्राथमिक नियम • सप्तव्यसन का त्याग जरूरी क्यों?

श्रावक के अनिवार्य कर्त्तव्य– 1. सामान्य कर्त्तव्य 2. दैनिक कर्त्तव्य 3. संध्याकालीन कर्त्तव्य 4. रात्रिकालीन कर्त्तव्य 5. चातुर्मासिक कर्त्तव्य 6. बृहद् कर्त्तव्य 7. पर्यूषण सम्बन्धी कर्त्तव्य 8. वार्षिक कर्त्तव्य।

श्रावक के दैनिक षट्कर्म– • श्रावक के तीन मनोरथ • श्रावक की दिनचर्या का प्राचीन स्वरूप • श्रावकाचार और पर्यावरण • सम्यक्त्वादि व्रतों का स्वरूप, महत्त्व एवं उसके उद्देश्य • सम्यक्त्वादि व्रतग्रहण करने का अधिकारी • सम्यक्त्वादि व्रतग्रहण की आवश्यकता क्यों? • व्रत ग्रहण करने के विभिन्न विकल्प • श्रावक द्वारा नवकोटिपूर्वक प्रत्याख्यान सम्बन्धी अपवाद • व्रतधारी के लिए करणीय • व्रतधारी के लिए अकरणीय • व्रतग्राहियों के लिए अभिग्रहदान विधि • उपसंहार • सन्दर्भ सूची।

अध्याय-2 : सम्यक्त्वव्रतारोपण विधि का मौलिक अध्ययन 63-135

• सम्यग्दर्शन शब्द का अर्थ • सम्यग्दर्शन का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ • सम्यग्दर्शन के अर्थों की विकास यात्रा • सम्यग्दर्शन का लक्षण • जैन साहित्य में मिथ्यात्व का स्वरूप एवं प्रकार • सम्यग्दर्शन प्राप्ति के हेतु

• सम्यग्दर्शन के प्रकार • सम्यग्दर्शन के आठ आचार • व्यवहार सम्यक्त्वी के 67 गुणों का स्वरूप एवं प्रयोजन • सम्यग्दर्शन के पच्चीस दोष • सम्यग्दर्शन की आवश्यकता क्यों? • सम्यग्दर्शन का माहात्म्य • त्रिविध मोक्षमार्ग में सम्यक्त्व का स्थान • सम्यग्दर्शन को कैसे पहचाने? • सम्यग्दर्शन का फल • सम्यक्त्वग्राही की पूर्व योग्यता • सम्यक्त्व व्रतप्रदाता की योग्यता • सम्यक्त्व व्रत ग्रहण के लिए शुभ मुहूर्त्तादि का विचार • सम्यक्त्व व्रतारोपण में प्रयुक्त सामग्री • सम्यक्त्वव्रत- विधि की ऐतिहासिक विकास • यात्रा • सम्यक्त्व व्रतारोपण-विधि • सम्यक्त्व व्रतारोपण सम्बन्धी विधि-विधानों के प्रयोजन • तुलनात्मक विवेचन • उपसंहार • सन्दर्भ सूची।

अध्याय-3 : बारहव्रत आरोपण विधि का सैद्धान्तिक अनुचिन्तन 136-210

• श्रावक धर्म प्रतिपादन के प्रकार • जैन आचार ग्रन्थों में बारहव्रतों का स्वरूप

पाँच अणुव्रत– 1. अहिंसा अणुव्रत का स्वरूप 2. हिंसा के प्रकार 3. हिंसा के अन्य प्रकार 4. अहिंसाव्रत के दो आगार 5. अहिंसा व्रत के अतिचार 6. अहिंसाणुव्रत की उपादेयता 7. सत्य अणुव्रत का स्वरूप 8. स्थूल असत्य के प्रकार 9. सत्यव्रत के अतिचार 10. सत्याणुव्रत की उपादेयता 11. असत्य प्रकारों के सेवन से होने वाली हानियाँ 12. अचौर्य अणुव्रत का स्वरूप 13. स्थूल एवं सूक्ष्म चोरी का स्वरूप 14. स्थूल चोरी के प्रकार 15. चोरी के बाह्य कारण 16. अचौर्य व्रत के अतिचार 17. अचौर्यव्रत की उपादेयता 18. चौर्यकर्म से होने वाली हानियाँ 19. ब्रह्मचर्य अणुव्रत का स्वरूप 20. ब्रह्मचर्यव्रत के अतिचार 21. ब्रह्मचर्य की महिमा 22. ब्रह्मचर्य व्रत की उपादेयता 23. परिग्रह परिमाणव्रत का स्वरूप 24. परिग्रह परिमाणव्रत के अतिचार 25. परिग्रह परिमाणव्रत की उपादेयता 26. पाँच अणुव्रत के अन्य प्रकार।

तीन गुणव्रत– 1. दिशापरिमाण व्रत का स्वरूप 2. दिशापरिमाण व्रत के अतिचार 3. दिशापरिमाण व्रत की उपादेयता 4. उपभोगपरिभोग परिमाण व्रत का स्वरूप 5. उपभोगपरिभोग व्रत पालन हेतु कुछ आवश्यक बातें 6. उपभोग परिभोग परिमाण व्रत के अतिचार 7. पन्द्रह कर्मादान 8. उपभोग परिभोग व्रत

की उपादेयता 9. अनर्थदण्डविरमण व्रत का स्वरूप 10. अनर्थदण्ड के प्रकार 11. अनर्थदण्ड व्रत के अतिचार 12. अनर्थदण्ड व्रत की उपादेयता।

चार शिक्षाव्रत– 1. सामायिक व्रत का स्वरूप 2. सामायिक व्रत के अतिचार 3. सामायिक व्रत की उपादेयता 4. देशावगासिक व्रत का स्वरूप 5. देशावगासिक व्रत के अतिचार 6. देशावगासिक व्रत की उपादेयता 7. पौषधोपवास व्रत का स्वरूप 8. पौषधोपवास व्रत के अतिचार 9. पौषधोपवास व्रत की उपादेयता 10. अतिथिसंविभाग व्रत का स्वरूप 11. अतिथिसंविभाग व्रत के प्रकार 12. अतिथिसंविभाग व्रत के अतिचार 13. अतिथिसंविभाग व्रत की उपादेयता।

• श्रावक के एक सौ चौबीस अतिचार • श्रावक व्रत एक मनोवैज्ञानिक क्रम • द्वादशव्रत के सम्बन्ध में श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराओं में मतभेद • बारहव्रत स्वीकार एवं उसे प्रदान करने का अधिकारी कौन? • बारहव्रतारोपण विधि में प्रयुक्त सामग्री • श्रावकव्रत ग्रहण सम्बन्धी आवश्यक शुद्धियाँ • श्रावक के बारहव्रत संबंधी विकल्प • श्रावक की व्रत-व्यवस्था का ऐतिहासिक विकास क्रम • बारहव्रत आरोपण विधि • बारहव्रतारोपण सम्बन्धी विधि-विधानों के प्रयोजन • तुलनात्मक विवेचन • उपसंहार • संदर्भ सूची।

अध्याय-4 : सामायिक व्रतारोपण विधि का प्रयोगात्मक अनुसंधान 211-259

• सामायिक शब्द का अर्थ • सामायिक की मौलिक परिभाषाएँ • सामायिक के लक्षण • सामायिक का रूढ़ार्थ • सामायिक के पर्यायवाची • सामायिक के भेद, प्रभेद एवं प्रकार • सामायिक शुद्धि के प्रकार • सामायिक सुखासन में ही क्यों? • सामायिक पूर्वाभिमुख या उत्तराभिमुख क्यों करें? • सामायिक का सामान्य काल दो घड़ी ही क्यों? • सामायिक का फल मोक्ष कैसे? • सामायिक से होने वाले लाभ • सामायिक के उपकरणों का स्वरूप एवं प्रयोजन • सामायिक में बत्तीस दोषों की संभावनाएँ • सामायिक व्रती की आवश्यक योग्यताएँ • सामायिक का कर्त्ता कौन? • सामायिक में चिन्तन योग्य विषय • सामायिक की उपस्थिति किन जीवों में? • सामायिक का उद्देश्य • सामायिक का साध्य • साध्य, साधक और

साधना का परस्पर सम्बन्ध • सामायिक में चित्त शांति के उपाय • सामायिक व्रत में प्रयुक्त सामग्री • सामायिक की ऐतिहासिक विकास यात्रा • षाण्मासिक सामायिक आरोपण विधि • जैन धर्म की विभिन्न परम्पराओं में सामायिक ग्रहण एवं पारण विधि • तुलनात्मक विवेचन • सामायिक व्रत सम्बन्धी विधि विधानों के प्रयोजन • उपसंहार • सन्दर्भ सूची।

अध्याय-5 : पौषधव्रत विधि का सामयिक अध्ययन 260-311

• पौषध शब्द का तात्त्विक अर्थ • पौषध के मुख्य प्रकार • पौषध व्रत की प्रतिज्ञा के विभिन्न विकल्प • पौषधधारी के कर्त्तव्य • पौषधव्रत से होने वाले लाभ • पौषध का तात्कालिक फल • पौषध व्रतग्राही के लिए जानने योग्य कुछ बातें • पौषधव्रत के अठारह दोष • पौषध व्रतधारी एवं पौषध व्रत प्रदाता की योग्यताएँ • पौषधव्रत हेतु शुभदिन आदि का विचार • पौषध किन तिथियों में करें? • पौषधव्रत के लिए आवश्यक उपकरण • पौषधव्रत की ऐतिहासिक अवधारणा • पौषध ग्रहण विधि का प्रचलित स्वरूप।

• **पौषध विधि से सम्बन्धित अन्य विधि-विधान–** 1. प्रात:कालीन प्रतिलेखना विधि 2. रात्रिकमुखवस्त्रिका प्रतिलेखन विधि 3. उग्घाड़ापौरूषी विधि 4. प्रत्याख्यानपारण विधि 5. भोजन या पानी के बाद की चैत्यवंदन विधि 6. स्थंडिलगमन एवं आलोचना विधि 7. सन्ध्याकालीन प्रतिलेखन विधि 8. चौबीसमांडला विधि 9. प्रतिक्रमण विधि 10.रात्रिकसंस्तारक पौरूषी विधि, 11. पौषध पारने की विधि।

• तुलनात्मक विवेचन • उपसंहार • सन्दर्भ सूची।

अध्याय-6 : उपधान तपवहन विधि का सर्वांगीण अनुशीलन 312-417

• उपधान शब्द का अर्थ • उपधान का स्वरूप • उपधान तप की आवश्यकता क्यों? • उपधान तप की प्रासंगिकता विविध दृष्टियों से • उपधान का लोकोत्तर माहात्म्य • उपधान के मुख्य प्रकार 1. पंचमंगल महाश्रुतस्कन्ध उपधान 2. इरियावहिय श्रुतस्कन्ध उपधान, 3. अरिहंत भावस्तव (णमुत्थुणंसूत्र) उपधान, 4. चैत्यस्तव (अरिहंतचेईयाणंसूत्र) उपधान 5. चतुर्विंशतिस्तव (लोगस्ससूत्र) उपधान, 6. श्रुतस्तव(पुक्खरवरदीसूत्र)

उपधान, 7. सिद्धस्तव (सिद्धाणंबुद्धाणंसूत्र) उपधान।

• ज्ञानाचार और उपधान • योग और उपधान • विपश्यना और उपधान • उपधानवाहियों के लिए करणीय-अकरणीय कार्य।

• **उपधानवाहियों के जानने योग्य कुछ महत्त्वपूर्ण बातें–** 1. पुरूषों के लिए आवश्यक उपकरण 2. श्राविकाओं के लिए आवश्यक उपकरण 3. उपधान दिव• निरस्त होने के कारण 4. उपधान के आलोचना योग्य दोष 5. उपधानवाही की दैनिक क्रियाएँ 6. उपधानवाही के लिए विशिष्ट सूचनाएँ।

• उपधान के लाभ • उपधान न करने पर होने वाले दोष • उपधान तपविधि में हुए क्रमिक परिवर्तन • उपधान के वाचना क्रम में घटित परिवर्तन • वाचनाओं का प्राचीन एवं अर्वाचीन क्रम • उपधान करवाने का अधिकारी कौन ? • उपधान करने योग्य कौन? • उपधान का अधिकारी गृहस्थ या मुनि? • उपधान वहन कब? • मालारोपण का सामान्य स्वरूप • माला धारण करवाने का अधिकारी कौन? • मालारोपण की शास्त्रीय विधि • माला किस वस्तु की हो ? • मालाधारण का महत्त्व • मालारोपण कब हो? • माला महोत्सव का प्रयोजन • उपधान विधि की ऐतिहासिक विकास यात्रा • मालारोपण की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि • महानिशीथसूत्र में वर्णित उपधान विधि।

• **उपधान की विशेष विधि–** 1. प्रभातकालीन क्रियाविधि 2. उपधान उत्क्षेप(प्रवेश) विधि 3. कायोत्सर्ग विधि 4. देववंदन विधि 5. नंदीश्रवण विधि 6. वासअक्षत अभिमन्त्रण विधि 7. उद्देश विधि 8. नंदिपवेयण विधि 9. नंदीविसर्जन विधि 10. पौषधग्रहण विधि 11. प्रात:कालीन प्रतिलेखन विधि 12. उग्घाड़ा पौरूषी विधि।

• **उपधान सम्बन्धी अन्य विधि-विधान–** 1. वाचना विधि 2. वसति प्रवेदन विधि 3. कायोत्सर्ग विधि 4. नवकारवाली गिनने की विधि 5. खमाससमण विधि 6. आलोचना ग्रहण विधि 7. उपधान निक्षेप विधि 8. प्रतिपूर्णा विकृति पारणविधि।

• **मालारोपण विधि–** 1. समुद्देश विधि 2. अनुज्ञा विधि • जैन धर्म की प्रचलित परम्पराओं में उपधान विधि • तुलनात्मक अध्ययन • उपसंहार • सन्दर्भ सूची।

अध्याय-7 : उपासक प्रतिमाराधना विधि का शास्त्रीय विश्लेषण 418-456

• उपासक प्रतिमा का अर्थ गाम्भीर्य • प्रतिमाओं के विभिन्न प्रकार- 1. श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराओं में नाम विषयक मतभेद 2. श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराओं में क्रम विषयक मतभेद 3. श्वेताम्बर एवं दिगम्बर आम्नायों में अन्य मतभेद।

• ग्यारह प्रतिमाओं का स्वरूप • प्रतिमाओं का वर्गीकरण • उत्कृष्ट आदि की अपेक्षा प्रतिमाओं का स्वरूप • प्रतिमा पूर्ण होने के बाद क्या करें? • प्रतिमाओं की मुख्य पृष्ठभूमि? • प्रतिमाएँ कौन धारण करता है? • प्रतिमाओं का काल विचार • प्रतिमा का जघन्यकाल एक दिन क्यों? • प्रतिमाधारी के कृत्य • प्रतिमा एक विमर्श • प्रतिमाग्राही की योग्यता • उपासक प्रतिमा धारण करवाने का अधिकारी • प्रतिमाग्रहण के लिए शुभ मुहूर्त्त विचार • उपासक प्रतिमा में प्रयुक्त सामग्री • उपासक प्रतिमाओं की ऐतिहासिक विकास यात्रा।

• उपासक प्रतिमा धारण की मूल विधि • ग्यारह प्रतिमाओं के प्रयोजन • तुलनात्मक विवेचन • उपसंहार • सन्दर्भ सूची।

प्रयुक्त ग्रन्थ सूची 457-470

●

अध्याय- 1

जैन गृहस्थ के प्रकार एवं उसकी धर्माराधना विधि

जैन दर्शन का चरम लक्ष्य आत्मोपलब्धि एवं परम तत्त्व की संप्राप्ति है, जिसे श्रमण साधना का सर्वोत्कर्ष होने पर ही प्राप्त किया जा सकता है। इस श्रमण साधना का एवं उनकी चर्याविधि का जैनागमों में जितना अधिक गहन चिन्तन किया गया है, उतना सद्गृहस्थों एवं उपासकों के आचार-विचार का नहीं। यद्यपि यह महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि श्रमण भगवान महावीर ने पूर्वागत परम्परा का संपोषण करते हुए चतुर्विध संघ की स्थापना की और उसमें साधु-साध्वी और श्रावक-श्राविका को स्थान दिया। तीर्थ स्थापना करने के कारण ही वे तीर्थंकर कहलाए। इस प्रकार अर्हत्परम्परा में तीर्थ स्वरूप चतुर्विध संघ का समतुल्य स्थान है। इसमें अन्तर यही है कि साधु-साध्वी का स्थान रथ के आगे के पहिए के समान है और श्रावक-श्राविका पीछे के पहिए के समान हैं। यद्यपि श्रुत साहित्य में श्रमण के साधकीय जीवन का विस्तृत रूप से वर्णन है और यह उल्लेख साधना की सर्वोच्चता एवं कठोरता के आधार पर किया गया है। फिर भी जैसे धर्मीजनों के बिना कर्म की महत्ता सिद्ध नहीं होती, वैसे ही श्रावक-श्राविकाओं के अभाव में श्रमणों के ध्यान-योग साधना की भी सिद्धि नहीं हो सकती। क्योंकि श्रमण जीवन की चर्या पालन में श्रावक-श्राविका की अहम् भूमिका वैसे ही रहती है जैसे धर्माराधना के लिए शरीर का स्वस्थ होना परमावश्यक होता है। कहा भी गया है-'शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्'।

श्रावक-श्राविकाओं का आचरण कैसा होना चाहिए? सद्गृहस्थों के सामान्य-विशेष कर्त्तव्य कौनसे हैं? तद्विषयक चर्चा तीर्थंकर परमात्मा के समवसरण में निश्चित रूप से हुई होगी। इसका यही प्रमाण है कि उपासकदशासूत्र के अतिरिक्त स्थानांगसूत्र, समवायांगसूत्र, भगवतीसूत्र, ज्ञाताधर्मकथासूत्र, अन्तकृत्दशासूत्र, विपाकसूत्र, राजप्रश्नीयसूत्र,

उत्तराध्ययनसूत्र, दशाश्रुतस्कन्धसूत्र एवं आवश्यकसूत्र में गृहस्थों के लिए आचरणीय व्रतों एवं प्रतिमाओं आदि का प्रतिपादन किया गया है, जिन्हें अंगीकृत कर अनेकों भव्यात्माओं ने आत्म कल्याण किया। आगमिक व्याख्या साहित्य में भी सद्गृहस्थों के लिए आचरणीय एवं पालनीय विधि-नियमों का सुविस्तृत प्रतिपादन है। जैन गृहस्थ के आचारगत विधि-विधानों को लेकर श्वेताम्बर-दिगम्बर के जैनाचार्यों एवं विद्वत्वर्गों ने भी स्वतन्त्र रचनाओं का निर्माण कर जिनशासन को लाभान्वित किया है।

श्रावक शब्द का अर्थ विचार

जैन परम्परा में गृहस्थ साधक को 'श्रावक'-इस नाम की संज्ञा दी गई है। श्रावक शब्द तीन वर्णों के संयोग से बना है। इन तीन वर्णों के क्रमशः तीन अर्थ हैं-1. श्रद्धालु 2. विवेकी और 3. क्रियावान्। जो गृहस्थ इन तीन गुणों से युक्त हो, वह श्रावक कहलाता है। एक अन्य दृष्टि से 'श्रा' शब्द तत्त्वार्थ श्रद्वान् को व्यक्त करता है, 'व' शब्द धर्मक्षेत्र में धनरूप बीज बोने की प्रेरणा देता है और 'क' शब्द महापापों को दूर करने का संकेत करता है।[1] श्रावक शब्द 'श्रु श्रवणे' धातु से बना है जिसका अर्थ होता है– श्रवण करना अथवा सुनना। जो श्रद्धापूर्वक जिन प्रवचन का श्रवण करता है और यथाशक्ति तद्रूप आचरण करने का प्रयास करता है, वह श्रावक है।[2] श्रावक शब्द का तीसरा अर्थ- 'श्रा पाके' धातु के आधार पर किया जाए तो संस्कृत में 'श्रापक' रूप बनता हैं, पर श्रापक शब्द की अर्थसंगति श्रावक शब्द के साथ नहीं बैठती है। शाब्दिक दृष्टि से इसका अर्थ है-जो भोजन पकाता है, पचन-पाचन आदि क्रियाओं को करते हुए धर्म साधना करता है, वह 'श्रापक' है।

किसी आचार्य ने श्रावक शब्द के तीनों अक्षरों पर गहराई से विचार करते हुए 'श्रा' शब्द के दो अर्थ किए हैं- जिन प्रवचन पर दृढ़ श्रद्धा रखने वाला और श्रद्धापूर्वक जिनवाणी का श्रवण करने वाला। इससे यह ज्ञात होता है कि श्रावक को मनोरंजन की दृष्टि से या दोष दृष्टि से उत्प्रेरित होकर जिनवाणी का श्रवण नहीं करना चाहिए, अपितु श्रद्धा युक्त भावों से शास्त्र श्रवण करना चाहिए, तभी 'श्रावक' संज्ञा को सार्थक कर सकता है।

श्रावक शब्द में दूसरा अक्षर 'व' है। इसके निम्न अर्थ किए हैं-सुपात्र, अनुकम्पापात्र, सभी को बिना विलम्ब किए दान देने वाला, सत्कार्य का वपन करने वाला, धर्म, समाज एवं आत्महितकारी श्रेष्ठ कार्यों का वरण करने वाला।

इस अक्षर का एक अन्य अर्थ 'विवेक' भी किया है यानी श्रावक सभी क्रियाओं को विवेकपूर्वक करें।

श्रावक शब्द में तीसरा अक्षर 'क' है। इसके दो अर्थ घटित होते हैं। प्रथम अर्थ के अनुसार पाप को काटने वाला और द्वितीय अर्थ के अनुसार आवश्यकताओं को कम करने वाला।[3]

अर्वाचीन ग्रन्थों में श्रावक शब्द का निम्नोक्त अर्थ प्राप्त होता है- श्र=श्रद्धा, व=विवेक, क=क्रिया अर्थात जो श्रद्धापूर्वक विवेकयुक्त आचरण करता है, वह श्रावक है।

अभिधान राजेन्द्र कोश के सप्तम खण्ड में 'श्रावक' को इस प्रकार व्याख्यायित किया गया है।

(i) **'श्रृणोति जिनवचनमिति श्रावकः।'** जो जिनवाणी का श्रवण करता है, वह श्रावक कहलाता है।

(ii) **'श्रान्ति पचंति तत्त्वार्थ श्रद्धानं निष्ठां नयन्तीति श्राः, वपंति गुणवंत-सप्तक्षेत्रेषु धनबीजानि निक्षिपंतीति वः, किरंति क्लिष्ट कर्मरजो विक्षिपन्तीति काः, तत् कर्म धारये श्रावकाः इति भवंति।'**

जो जिनोक्त तत्त्वों पर श्रद्धा करता है, सात पुण्य क्षेत्रों में धन का व्यय करता है तथा कर्म-क्षय हेतु प्रयत्नशील बनता है, वह श्रावक कहलाता है।

(iii) **'श्रृणोति साधुसमीपे साधु–समाचारीमिति श्रावकः।'** जो साधु के निकट श्रमण-समाचारी का श्रवण करता है, वह श्रावक कहलाता है।

व्यवहार में श्रावक शब्द का अभिप्राय यह है–

श्रद्धालुतां श्राति श्रृणोति शासनं,
दानं वऐदाशु वृणोति दर्शनम् ।
कृन्तत्यपुण्यानि करोति संयमं
तं श्रावकं प्राहुस्मी विचक्षणाः ।।

श्रा अर्थात जिनवाणी पर दृढ़ श्रद्धा अथवा शास्त्र-श्रवण।

व अर्थात करणीय–अकरणीय का विवेक अथवा दान-बीज का वपन।

क अर्थात अशुभ का छेदन अथवा क्रिया-निष्ठ जीवन।

इन तीनों में सम्यकदर्शन, ज्ञान और सम्यकचारित्र की स्पष्ट अभिव्यक्ति है। अर्थात जो सुदेव, सुगुरु और सुधर्म के प्रति आस्थावान है, आत्मा के हिताहित को जानता है और सदाचरण में कुशल है, वह श्रावक कहलाता है।

(iv) आवश्यक वृत्ति में श्रावक को परिभाषित करते हुए कहा गया है– **जिनशासनभक्ताः गृहस्थाः श्रावकाः भण्यंते।** अर्थात जिन गृहस्थों में जिनशासन के प्रति भक्ति और प्रीति है, उन्हें श्रावक कहा जाता है।

आगम पाठों में श्रावक के लिये 'समणोपासग' शब्द का प्रयोग हुआ है जिसका संस्कृत रूपांतरण श्रमणोपासक होता है।

श्रमण का अर्थ होता है– साधु और उपासक का अर्थ होता है– उपासना करने वाला।

जो श्रमण की पर्युपासना एवं सेवा-भक्ति करता है, वह श्रावक कहलाता है।

जैन शास्त्रों में श्रावक के विभिन्न नाम

जैन ग्रन्थों में गृहस्थ श्रावक को उपासक, श्रावक, देशविरत, आगारी, आदि नामों से सम्बोधित किया गया है। इस नामों में अर्थ की दृष्टि से कुछ विशेषताएँ हैं जैसे उपासक का अर्थ है-उपासना करने वाला। जो अपने अभीष्ट देव, गुरू एवं धर्म की आराधना करता है, वह उपासक कहलाता है। देशविरति का अर्थ है-अहिंसादि अणुव्रतों को धारण करने वाला। जो गृहस्थ हिंसादि पाप कार्यों का एकदेश त्याग करता है, वह देशविरति कहलाता है। इसी का दूसरा नाम संयतासंयत, विरताविरत भी है। आगारी का अर्थ है-घर में रहने वाला। जो पारिवारिक जीवन में रहकर धर्म करता है, वह आगारी कहलाता है। 'आगार' शब्द आवास अर्थ का भी वाचक है। इसके सागार, गेही, गृही आदि नाम भी हैं।

श्रावक का यथार्थ लक्षण

जैन टीका साहित्य के अनुसार जो सम्यग्दृष्टि है, अणुव्रती है, उत्तरोत्तर विशिष्ट गुणों की प्राप्ति के लिए प्रतिदिन मुनि धर्म और गृहस्थ धर्म की सामाचारी को सुनता है, वह श्रावक है।[4]

श्रावकत्व की प्राप्ति का हेतु

जैन आचार्यों के अनुसार जब उदय प्राप्त अनन्तानुबन्धी- कषायचतुष्क और अप्रत्याख्यान-कषायचतुष्क का क्षय तथा विद्यमान दोनों प्रकार के कषायचतुष्क का उपशम होता है, तब वह चारित्राचारित्ररूप देशविरति को प्राप्त होता है।[5] यहाँ देशविरत से तात्पर्य-बारह प्रकार के श्रावकधर्म को स्वीकार करना है और यही श्रावकत्व कहलाता है।

जैन धर्म में साधना के स्तर

जैन परम्परा में मानव की साधना का प्रारम्भ सम्यग्दर्शन से होता है और पूर्णता सम्यक्चारित्र में होती है। सम्यक्चारित्र के दो पक्ष माने गए हैं- 1. गृहस्थ धर्म और 2. श्रमण धर्म। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की दृष्टि से गृहस्थ एवं मुनि की साधना में कोई विशेष अन्तर नहीं है। आत्मा के शुद्ध स्वरूप का बोध होना, देव-गुरू-धर्म पर श्रद्धा करना, जिनवाणी के प्रति निःशंक रहना आदि नियम दोनों प्रकार के साधकों के लिए अनिवार्य है, किन्तु सम्यक्चारित्र के परिपालन की अपेक्षा से गृहस्थ एवं साधु की साधना में अन्तर है। गृहस्थ अपनी वैयक्तिक क्षमता के आधार पर हिंसादि पाप कार्यों का अंशतः त्याग करता है जबकि मुनि हिंसादि दुष्प्रवृत्तियों का सर्वथा त्यागी होता है। यही इन दोनों की साधना में विशेष अन्तर है।

यह हकीकत है कि संसार में सभी व्यक्तियों की क्षमता एक समान नहीं होती है। जैसे विद्यालय में दाखिल होने वाले समस्त विद्यार्थी एक ही कक्षा के नहीं होते हैं, अपनी-अपनी योग्यतानुसार सभी की कक्षाएँ अलग-अलग होती है, वैसे ही आध्यात्मिक क्षेत्र में भी सभी साधकों की योग्यता एक समान नहीं होती। उसी अपेक्षा से साधनाशील साधकों के दो प्रकार किए गए हैं।

जैन आगमों में मुख्यतः धर्म के दो प्रकार बताए हैं-एक श्रुतधर्म और दूसरा चारित्रधर्म। श्रुतधर्म का अर्थ है- सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान को समझपूर्वक स्वीकार करना अर्थात नवतत्त्व आदि के स्वरूप को जानना और उन पर निश्चल श्रद्धा रखना श्रुतधर्म है। चारित्रधर्म का अर्थ है-सम्यक्चारित्र का पालन करना। इससे ज्ञात होता है कि जैन परम्परा में धर्म साधना के जो दो प्रकार कहे गए हैं, वे गृहस्थ एवं साधु की अपेक्षा से पूर्णतः युक्तिसंगत हैं। ये दोनों भेद व्यक्ति की मनोभूमिका एवं क्षमता के आधार पर किए गए हैं। यह बात हम अनुभव के आधार पर भी कह सकते हैं कि गृहस्थ श्रुतधर्म का आचरण पूर्ण रूप से भी कर सकता है, किन्तु चारित्रधर्म का सर्वांश पालन उसके लिए संभव नहीं है क्योंकि गृहस्थ साधक हिंसा, झूठ, अब्रह्मसेवन, परिग्रह आदि पाप कार्यों के बीच रहते हुए इनसे सर्वथा मुक्त रह ही नहीं सकता है।

श्रमण और गृहस्थ की साधना में अन्तर

पूर्वोक्त विवेचन से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि श्रुतधर्म की अपेक्षा से गृहस्थ एवं मुनि की साधना में कोई विशेष अन्तर नहीं है। यह वर्गीकरण चारित्रधर्म की दृष्टि से किया गया है। सम्यक्चारित्र के भी भावचारित्र और द्रव्यचारित्र-ऐसे दो भेद हैं। इनमें भी भावचारित्र दोनों में संभव हो सकता है क्योंकि गृहस्थ प्रशस्त भावना वाला तो हो सकता है, किन्तु द्रव्यचारित्र का ग्रहण गृहस्थ साधक के लिए परिस्थिति एवं क्षमता सापेक्ष है अत: द्रव्यचारित्र के आधार पर ही गृही-साधना और मुनि-साधना का विभाजन होता है।

व्रतपालन की दृष्टि से देखें तो गृहस्थ एवं मुनि-दोनों ही अहिंसा का पालन करते हैं, सत्य बोलते हैं, ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन करते हैं, परिग्रह की मर्यादा करते हैं, किन्तु गृहस्थ इन सभी का आंशिक पालन ही कर सकने में समर्थ होता है, जबकि श्रमण उनका पूर्ण रूपेण परिपालन कर सकता है।

इसके अतिरिक्त समिति-गुप्ति का पालन, आर्त्त-रौद्र ध्यान का परित्याग, परीषह सहन, क्षमा-संतोष आदि उत्तम धर्मों का आचरण करना, भावचारित्र की अपेक्षा दोनों में समान ही है। षडावश्यक क्रिया एवं संलेखना ग्रहण का विधान भी दोनों साधकों के लिए लगभग समान है। गृहस्थ और श्रमण इन दोनों में महत्त्वपूर्ण अन्तर क्रमश: अणुव्रतों एवं महाव्रतों को लेकर है।

उदाहरणार्थ- श्रमण त्रस एवं स्थावर सभी प्रकार के जीवों की हिंसा का परित्याग करता है, जबकि गृहस्थ मात्र संकल्प युक्त त्रस हिंसा का ही त्यागी होता है। श्रमण पूर्णत: ब्रह्मचर्य का पालन करता है, जबकि गृहस्थ स्वपत्नी-सन्तोष का व्रत लेता है। श्रमण समस्त परिग्रह का त्यागी होता है, जबकि गृहस्थ परिग्रह की सीमा निश्चित करता है। श्रमण झूठ न बोलने की सर्वथा प्रतिज्ञा करता है, जबकि गृहस्थ गृहकार्य सम्बन्धी, व्यापार सम्बन्धी झूठ बोलने की छूट रखता है। गृहस्थ के गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों को लेकर भी दोनों में अन्तर देखा जाता है। श्रमण यावज्जीवन सामायिकव्रत में रहता है, जबकि गृहस्थ निश्चित अवधि के लिए ही सामायिकव्रत को ग्रहण करता है। श्रमण जीवन भर के लिए आभूषण, विलेपन, उबटन, पुष्पधारण आदि कई प्रकार की भोगोपभोग सम्बन्धी वस्तुओं का परित्याग करता है, जबकि गृहस्थ उन वस्तुओं की मर्यादा रखता है। इस प्रकार गृहस्थ एवं श्रमण में व्रतपालन की दृष्टि से अन्तर है।

व्रतग्रहण के प्रकारों को लेकर भी गृहस्थ एवं श्रमण की साधना में अन्तर देखा जा सकता है। श्रमण पंच महाव्रतों को नवकोटि सहित ग्रहण करते हैं, जबकि गृहस्थ पाँच अणुव्रतों को छः से लेकर दो कोटियों के मध्य ग्रहण करते हैं। श्रमण के व्रत में किसी प्रकार के विकल्प या अपवाद नहीं होते हैं, किन्तु गृहस्थ व्रतों को ग्रहण करते समय अपनी क्षमता एवं मानसिकता के अनुसार विकल्प रख सकता है। इससे सुनिश्चित है कि गृहस्थ की साधना वैकल्पिक होती है। इस साधना का अनुपालन सामर्थ्य के अनुसार एवं यथेच्छा से किया जा सकता है, जबकि मुनि की साधना सर्वांश होती है तथा इस साधना के लिए किसी प्रकार की छूट नहीं रखी जाती है।

जैन ग्रन्थों में व्रतग्रहण की नौ कोटियाँ इस प्रकार कही गईं हैं– 1. मनसाकृत 2. मनसाकारित 3. मनसा-अनुमोदित 4. वाक्कृत 5. वाक्कारित 6. वाक्-अनुमोदित 7. कायकृत 8. कायकारित 9. काय-अनुमोदित।

गृहस्थ साधक अनुमोदना की प्रक्रिया से नहीं बच सकता है अतः उसका व्रतग्रहण दो से छः कोटियों के मध्य ही होता है। डॉ. सागरमल जैन ने कहा है कि कुछ जैन सम्प्रदायों ने श्रावक के व्रत ग्रहण में आठ कोटियों को स्वीकारा है तथा गुजरात के स्थानकवासी जैन सम्प्रदाय में आठ कोटि और छः कोटि के प्रश्न को लेकर दो उपसम्प्रदायों का भी निर्माण हुआ है।[6]

सार रूप में कहा जा सकता है कि गृहस्थ और श्रमण की साधना के अन्तर का मुख्य आधार द्रव्यचारित्र है और व्रत ग्रहण सम्बन्धी वैकल्पिक कोटियाँ हैं। भावनात्मक साधना या भावचारित्र की अपेक्षा दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं है।

जैनधर्म में गृहस्थ साधना का महत्त्व

जैनदर्शन में सिद्धावस्था को प्राप्त करने के पन्द्रह प्रकार तदनुसार गृहस्थ साधक भी सिद्ध पद को उपलब्ध कर सकता है।[7] यह सत्य है कि श्रमण की अपेक्षा गृहस्थ जीवन की साधना निम्न कोटि की होती है। तदुपरान्त वैयक्तिक दृष्टि से कुछ गृहस्थ साधकों को श्रमण साधकों की अपेक्षा साधना मार्ग पर श्रेष्ठ माना गया है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि कुछ गृहस्थ भी श्रमणों की अपेक्षा संयम परिपालन में श्रेष्ठ होते हैं।[8]

डॉ. सागरमल जैन ने इस प्रसंग को पुष्ट करते हुए लिखा है कि श्वेताम्बर कथा साहित्य में भगवान् ऋषभदेव की माता मरूदेवी द्वारा गृहस्थ जीवन से सीधे मोक्ष प्राप्त करने तथा भरत द्वारा श्रृंगार भवन में कैवल्य प्राप्त कर लेने की घटनाएँ यही बताती हैं कि गृहस्थ जीवन से भी साधना की चरम लक्ष्य की उपलब्धि (मोक्ष) संभव है, यद्यपि दिगम्बर परम्परा स्पष्ट रूप से गृहस्थ मुक्ति का निषेध करती हैं। यदि साधक की मनोदशा, क्षमता एवं कर्म वैचित्र्य की दृष्टि से विचार करें तो साधना पक्ष की कईं भूमिकाएँ हैं, कईं कोटियाँ हैं, उनमें गृहस्थ साधक की भूमिका विरताविरत की मानी गई है। विरत+अविरत का अर्थ है- आंशिक रूप से प्रवृत्ति एवं आंशिक रूप से निवृत्ति।

जैन विचारणा में आंशिक निवृत्तिमय जीवन भी सम्यक् माना गया है और उसे मोक्ष की ओर ले जाने वाला बताया गया है। सूत्रकृतांगसूत्र में कहा है कि सभी प्रकार के पापाचरणों में कुछ से निवृत्ति और कुछ से अनिवृत्ति होना ही विरताविरत है, परन्तु यह स्थान भी आर्य है तथा समस्त दु:खों का अन्त करने वाला मोक्षमार्ग है। यह जीवन भी एकान्त सम्यक् एवं यथार्थ है।[9]

इस प्रकार सुस्पष्ट है कि जैनधर्म की श्वेताम्बर परम्परा में गृहस्थ साधना को भी मोक्ष प्रदाता के रूप में स्वीकारा गया है। इस अपेक्षा से गृहस्थ साधना का महत्त्व स्वत: परिलक्षित हो जाता है।

गृहस्थ उपासक का साधनाक्रम

हर साधक के लिए यह शक्य नहीं कि वह महाव्रतों की समग्र, परिपूर्ण या निरपवाद आराधना कर सकें। कुछ संकल्पबली पुरूष ही इसे साध सकने में समर्थ होते हैं। महाव्रतों की साधना की अपेक्षा एक और सरल मार्ग है, जिसमें साधक अपनी शक्ति के अनुसार आंशिक रूप में व्रत स्वीकार कर सकता है। ऐसे साधकों के लिए जैन शास्त्रों में श्रमणोपासक शब्द का प्रयोग है। इसमें श्रमण और उपासक-ये दो शब्द हैं। उपासक का शाब्दिक अर्थ उप-समीप बैठने वाला है। जो श्रमण की सन्निधि में बैठता है, जिनसे अनुप्राणित होकर उपासना के पथ पर आरूढ़ होता है, वह श्रमणोपासक है। उपासना या आराधना को साधने का मार्ग यही है। केवल कुछ पढ़ लेने या सुन लेने से जीवन बदल जाए, यह संभव नहीं। अत: गृहस्थ साधक के लिए जो श्रमणोपासक शब्द का प्रयोग है, वह वास्तव में बड़ा अर्थपूर्ण है।

छान्दोग्योपनिषद् में इस प्रसंग की सुन्दर व्याख्या करते हुए कहा गया है[10]–"साधनोद्यत व्यक्ति में जब बल जागरित होता है तब वह उठता है, उठकर परिचरण करता है। आत्मबल संजोकर उस और गतिमान् होता है, फिर वह गुरू के समीप बैठता है, उनका जीवन देखता है, उनसे धर्मतत्त्व का श्रवण करता है, सुने हुए पर मनन करता है और जीवन में तदनुरूप आचरण करता है। ऐसा होने पर ज्ञात को आचरित करने के कारण वह विज्ञाता विशिष्ट ज्ञाता कहा जाता है।

श्रमणोपासक के लिए एक दूसरा शब्द श्रावक है। श्रावक का एक अर्थ सुननेवाला है। यहाँ सुननेवाला-यह अर्थ लाक्षणिक दृष्टि से है। नियमत: श्रावक संज्ञा तभी प्राप्त होती है, जब वह व्रत अंगीकार करता है।[11] इस प्रकार जैन परम्परा में गृही-साधना का क्रम अनूठा और अद्वितीय है।

गृहस्थ साधकों के विभिन्न स्तर

गृहस्थ साधकों के सम्बन्ध में यह कहना अपेक्षित होगा कि सभी गृहस्थ साधना की दृष्टि से समान नहीं होते हैं, उनमें स्तर-भेद होता है। गुणस्थान सिद्धान्त के आधार पर गृहस्थ साधकों को दो विभागों में वर्गीकृत किया जा सकता है 1. अविरत सम्यग्दृष्टि और 2. देशविरति सम्यग्दृष्टि।

1. अविरत(अव्रती) सम्यगदृष्टि श्रावक– इस कोटि में वे गृहस्थ आते हैं, जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप साधना-मार्ग को भलीभाँति जानते हैं, उस पर निष्ठा रखते हैं, किन्तु उस पथ पर आगे नहीं बढ़ पाते। इस कोटि के गृहस्थ का श्रद्धा और ज्ञान तो यथार्थ होता है, लेकिन आचरण सम्यक् नहीं होता। इस प्रकार के साधक किसी प्रकार के नियम प्रत्याख्यान आदि की प्रतिज्ञाएँ भी स्वीकार नहीं कर सकते हैं। मात्र सद्ज्ञान और श्रद्धा के आधार पर अपनी साधना को आगे बढ़ाते हैं।

2. देशविरति सम्यगदृष्टि श्रावक– इस कोटि में उन गृहस्थ साधकों को रखा गया है, जो सम्यक् श्रद्धा के साथ-साथ यथाशक्ति सम्यक्-आचरण के मार्ग पर आगे बढ़ते हैं। जैन चिंतन में अणुव्रतों, गुणव्रतों एवं शिक्षाव्रतों का पालन करने वाले गृहस्थ(श्रावक) को देशविरति कहा गया है। इस श्रेणी के साधकों में भी व्रताचरण की क्षमता एवं स्वयं की योग्यता के आधार पर अनेक विभेद हो सकते हैं। यह चर्चा अग्रिम पृष्ठों पर प्रस्तुत करेंगे। आवश्यकनिर्युक्ति

में श्रावक के निम्न दो प्रकार प्रज्ञप्त हैं- 1. साभिग्रह-व्रतसम्पन्न और 2. निरभिग्रह-सम्यग्दर्शन सम्पन्न।[12] इन्हें बारहव्रतधारी एवं सम्यक्त्वव्रतधारी श्रावक भी कहा जाता है।

फलित यह है कि जैनधर्म में साधना की प्रक्रिया हर व्यक्ति की अपनी मनोदशा, क्षमता एवं योग्यता के आधार पर ही विकसित होती है। किसी को बलपूर्वक या आग्रह विशेष से साधना-पथ पर आरूढ़ नहीं किया जाता है। यही वजह है कि गृहस्थ साधक एवं श्रमण साधक के अनेक प्रकार एवं भेद-प्रभेद हैं।

गृहस्थ साधकों के भेद

पं. आशाधर रचित सागारधर्मामृत में गृहस्थव्रती के तीन भेद किए गए हैं- 1. पाक्षिक 2. नैष्ठिक और 3. साधक।[13]

1. पाक्षिक श्रावक– यह गृहस्थ साधक की प्रथम अवस्था है। इसमें वह धर्म के सर्वसाधारण स्वरूप की ओर झुकता है और आगे बढ़ने की पृष्ठ भूमि तैयार करता है। सामान्यतया जो व्यक्ति वीतराग को देव के रूप में, निर्ग्रन्थ मुनि को गुरू के रूप में और अहिंसा को धर्म के रूप में स्वीकार करता है, वह पाक्षिक श्रावक कहलाता है।

2. नैष्ठिक श्रावक– जो गृहस्थ दुर्व्यसनों एवं औदुम्बर फलों के भक्षण का त्याग करते हैं, वे नैष्ठिक श्रावक कहे जाते हैं। इसके अतिरिक्त बारह व्रतों एवं ग्यारह प्रतिमाओं का पालन करने वाले तथा षडावश्यक आदि क्रियाओं का पालन करने वाले गृहस्थ साधक भी इसी वर्ग में आते हैं। यह इस श्रेणी की सर्वोच्च सीमा है।

3. साधक श्रावक– गृहस्थ साधक की यह तृतीय अवस्था है। यहाँ तक पहुँचते-पहुँचते उसका मन संसार से विरक्त हो जाता है तथा संसार से मुक्त होने के लिए संलेखना धारण करता है। सामान्यतया जो गृहस्थ बारह व्रतों एवं ग्यारह प्रतिमाओं का निर्दोष पालन करते हुए जीवन के अंतिम भाग में संलेखनाव्रत को अंगीकार कर लेता है, वह साधक श्रावक कहा जाता है। कुछ दिगम्बराचार्यों ने गृहस्थ के पाक्षिक आदि चार भेद किए हैं। इनमें 'चर्याश्रावक' नाम का भेद अतिरिक्त है और उसे भेद गणना में दूसरे स्थान पर माना गया है। जो धर्म क्रिया के निमित्त, देवता की आराधना निमित्त, मंत्र की सिद्धि निमित्त, औषधि-सेवन या भोगोपभोग निमित्त किसी तरह की हिंसा नहीं करता

है, कदाच् हो जाए तो प्रायश्चित्त ग्रहणकर आत्मशुद्धि करता है, वह चर्या श्रावक कहलाता है। इस चर्या का पालन दर्शन प्रतिमा से लेकर अनुमति-विरतप्रतिमा पर्यन्त किया जाता है।

निष्पत्ति– पाक्षिक श्रावक की कोटि तक पहुँचना आत्मिक उन्नति का प्रथम कदम है, नैष्ठिक श्रावक की भूमिका तक पहुँचना आध्यात्मिक प्रगति का द्वितीय चरण है और साधक श्रावक की श्रेणी को प्राप्त करना अध्यात्ममार्ग का अन्तिम सोपान है।

उक्त तीनों भेद दिगम्बर परम्परा के अनुसार किए गए हैं। श्वेताम्बर ग्रन्थों में इस प्रकार के भेद सम्बन्धी कोई चर्चा नहीं है, किन्तु इतना कहा जा सकता है कि पूर्वनिर्दिष्ट अविरत श्रावक और देशविरत श्रावक से ये भिन्न नहीं हैं। परमार्थत: पाक्षिक श्रावक अविरत श्रावक का और नैष्ठिक श्रावक देशविरत श्रावक का ही दूसरा नाम है।

गृहस्थश्रावक के अन्य प्रकार

नाम आदि निक्षेप की अपेक्षा श्रावक के चार प्रकार निम्न हैं [14]-

1. नाम श्रावक– जिसका नाम श्रावक रखा हो, वह उस योग्य न होने पर भी नाम श्रावक कहलाता है।

2. स्थापना श्रावक– पुस्तक, पत्रिका, चित्र, तस्वीर आदि में अंकित श्रावक की फोटू स्थापना श्रावक है।

3. द्रव्य श्रावक– देव-गुरू-धर्म पर श्रद्धा नहीं रखने वाला और आजीविकार्थ श्रावक नाम को धारण करने वाला द्रव्य श्रावक कहलाता है अथवा भावरहित द्रव्य अनुष्ठान करने वाला भी द्रव्य श्रावक कहा जाता है।

4. भाव श्रावक– श्रद्धापूर्वक जिनाज्ञा का पालन करने वाला भावश्रावक है।

स्थानांगसूत्र में वर्णित श्रमणोपासक के चार प्रकार निम्नोक्त हैं[15]-

1. माता-पिता के समान– जो गृहस्थ श्रमणों के प्रति अत्यन्त स्नेह, वात्सल्य और श्रद्धा रखते हैं उनकी तुलना माता-पिता से की गई है अत: उन्हें 'माता-पिता समान' श्रावक कहते हैं।

2. भाई के समान– जो गृहस्थ श्रमणों के प्रति यथावसर वात्सल्य और यथावसर उग्र भाव दोनों रखते हैं उनकी तुलना भाई से की गई है। वे तत्वविचार

आदि के समय कदाचित् उग्रता प्रकट कर देते हैं, किन्तु जीवन निर्वाह के प्रसंग में उनका हृदय वात्सल्य से परिपूर्ण रहता है। ऐसे गृहस्थ को 'भाईसमान' श्रावक कहा है।

3. मित्र के समान– जो गृहस्थ श्रमणों के प्रति कारणवश प्रीति और कारणविशेष से अप्रीति दोनों रखते हैं उनकी तुलना मित्र से की गई है। ऐसे श्रमणोपासक अनुकूलता के समय प्रीति रखते हैं और प्रतिकूलता के समय उपेक्षा करने लगते हैं। अत: उन्हें मित्र समान श्रावक कहा है।

4. सपत्नि के समान– जिनके भीतर श्रमणों के प्रति वात्सल्य या भक्तिभाव नहीं होता, केवल नाम से ही श्रमणोपासक कहलाते हैं उनकी तुलना सपत्नी(सौत) से की गई है।

इस प्रकार श्रमणोपासक के पूर्वोक्त चार प्रकार भक्ति-भाव और वात्सल्य की हीनाधिकता के आधार पर कहे गए हैं।

स्थानांगसूत्र में श्रमणोपासक के अन्य चार प्रकार भी निर्दिष्ट हैं[16]-

1. आदर्शसमान– जो श्रावक आदर्श(दर्पण) के समान निर्मल चित्तवाला होता है वह साधु द्वारा प्रतिपादित उत्सर्ग मार्ग और उपवादमार्ग के आपेक्षिक कथन को यथावत् स्वीकार करता है अत: वह आदर्श के समान कहा गया है।

2. पताकासमान– जो श्रावक पताका(ध्वजा) के समान अस्थिर चित्तवाला होता है वह विभिन्न प्रकार की देशना रूप वायु से प्रेरित होने के कारण किसी एक निश्चित तत्त्व पर स्थिर नहीं रह पाता अत: उसे पताका के समान कहा है।

3. स्थाणुसमान– जो श्रावक स्थाणु(सूखे वृक्ष के ठूंठ) के समान विनम्र स्वभाव से रहित होता है, अपने कदाग्रह को समझाए जाने पर भी नहीं छोड़ता है अत: उसे स्थाणुसमान कहा है।

4. खरकण्टकसमान– जो श्रावक कदाग्रही होता है, उसे कोई सन्त पुरूष समझाने का प्रयत्न करें तो वह तीक्ष्ण दुर्वचन रूप कण्टकों से उसे भी विद्ध कर देता है अत: उसे खरकण्टक समान कहा है।

इस प्रकार चित्त की निर्मलता, अस्थिरता और कुटिलता की अपेक्षा चार भेद कहे गये हैं। ध्यातव्य है कि श्रावक के उक्त प्रकार उनके स्वभाव आदि के आधार पर वर्णित हैं।

गृहस्थ धर्म की प्राथमिक योग्यता

जैनाचार्यों के निर्देशानुसार सामान्य व्यक्ति को गार्हस्थ्य जीवन में प्रवेश करने से पूर्व कुछ आवश्यक योग्यताओं से समन्वित होना चाहिए। सुयोग्य गृहस्थ ही सम्यक्त्वव्रत, बारहव्रत, सामायिकव्रत आदि अंगीकार कर सकता है। आचार्य हरिभद्रसूरि ने जैन गृहस्थ (श्रावक) में पैंतीस गुणों का होना आवश्यक माना है। आचार्य हेमचन्द्र ने भी नामान्तर से इन्हीं गुणों का समर्थन किया है। प्रस्तुत विवरण उनके धर्मबिन्दूप्रकरण एवं योगशास्त्र में विस्तार के साथ उल्लिखित है। परवर्ती आचार्यों ने श्रावक की इन योग्यताओं को 'मार्गानुसारी गुण' इस नाम से अभिहित किया है। आचार्य नेमिचन्द्र एवं पं. आशाधर आदि ने भी गृहस्थ के लिए अपेक्षित योग्यताएँ स्वीकार की है।

इस विषयक विस्तृत चर्चा अग्रिम अध्याय में करेंगे।

गृहस्थ धर्म की साधना के प्राथमिक नियम

जैन धर्म एक मानवतावादी धर्म है। वह साध्य और साधन दोनों की पवित्रता में विश्वास करता है। जैन धर्म में प्रवेश करने के लिए मात्र वीतराग (साध्य) देव के प्रति श्रद्धा, निष्ठा या आस्था को अभिव्यक्त करना ही पर्याप्त नहीं है, अपितु कुछ आचार-नियमों का पालन करना भी आवश्यक है। जैन धर्म में प्रवेश करने वाले अनुयायियों के लिए जिन नियमों का पालन करना अनिवार्य है, उन्हें अष्टमूलगुण कहा गया है। जैन विचारणा में अष्टमूलगुण को लेकर श्वेताम्बर एवं दिगम्बर- परम्परा में थोड़ा मतभेद है। श्वेताम्बर परम्परा में पाँच अणुव्रत का स्थान मूलगुण में है और शेष सात व्रत उत्तरगुण के रूप में हैं। दिगम्बर परम्परा में श्रावकों के मूलगुण आठ माने गए हैं।

आचार्य समन्तभद्र (चौथी शती) ने पाँच अणुव्रतों के परिपालन एवं मद्य, मांस और मधु के परित्याग को अष्ट मूलगुण कहा है।[17] आचार्य अमृतचन्द्र (10वीं-11वीं शती) ने पंच उदुम्बर फलों एवं मद्य, मांस और

मधु के त्याग करने को अष्टमूलगुण माना है।[18] किसी आचार्य के अनुसार मद्य, मांस, मधु, रात्रिभोजन, पंच उदुम्बर फलों का त्याग, देववन्दना, जीवदया करना और पानी छानकर पीना-ये मूलगुण माने गए हैं।[19]

आचार्य रविषेण (8वीं शती) ने आचार्य कुन्दकुन्द और आचार्य समन्तभद्र दोनों का समन्वय किया है।[20] उन्होंने मधु, मद्य, मांस, जुआ, रात्रिभोजन और

वेश्यागमन को छोड़ने के लिए नियम निर्धारित किए हैं। इनमें प्रथम के तीन दोषों के साथ-साथ अन्तिम दो दोषों का अधिक सेवन होने के कारण आचार्य रविषेण को इन्हें मूलगुणों के अन्तर्गत मानना पड़ा होगा। जटासिंहनन्दि ने कुन्दकुन्द का अनुगमन किया है।[21] स्वामीकार्तिकेय ने स्वतन्त्र रूप से तो मूलगुणों का उल्लेख नहीं किया है, परन्तु दर्शन प्रतिमा में उन्हें सम्मिलित कर दिया है।[22]

आचार्य जिनसेन (8वीं-9वीं शती) ने रविषेण का अनुकरण किया है केवल रात्रिभोजन त्याग के स्थान पर 'परस्त्रीत्याग' का निर्धारण किया गया है। आचार्य सोमदेव[23], देवसेन[24], पद्मनन्दी[25], अमितगति[26], आशाधर[27], आदि आचार्यों ने लगभग समन्तभद्र का अनुकरण किया है। पं. आशाधर ने जलगालन को भी अष्टमूलगुणों में माना है।[28] आचार्य सोमदेव, अमृतचन्द्र, आदि ने पंच अणुव्रतों के स्थान पर पाँच औदुम्बर फल– 1. पीपल फल 2. गूलर फल 3. वट फल 4. पिलंखन फल और 5. अंजीर फल के त्याग का विधान कर नियमों की कठोरता को कम किया है। वसुनन्दिश्रावकाचार में सप्तव्यसनों के त्याग का विधान है। आज सप्तव्यसन त्याग को ही सामान्यतया स्वीकारा जाता है। इस सम्बन्ध में जैन धर्म की लगभग सभी परम्पराएँ एकमत हैं तथा सभी ने गृहस्थ की भूमिका में प्रवेश करने के पूर्व सप्त व्यसनों के त्याग को अनिवार्य माना है।

निष्पत्ति– यदि दिगम्बर परम्परा मान्य अष्टमूलगुणों के परिप्रेक्ष्य में ऐतिहासिक एवं समीक्षात्मक पहलू से विचार करें तो पाते हैं कि जैनागमों में अष्टमूलगुण के नाम से कहीं भी चर्चा नहीं है। यह उल्लेख सर्वप्रथम आचार्य समन्तभद्रकृत(चौथी-शती) रत्नकरण्डक श्रावकाचार में उपलब्ध होता है। इसके पूर्ववर्ती आचार्य कुन्दकुन्द ने इस सम्बन्ध में कोई चर्चा नहीं की है।[29] उन्होंने श्वेताम्बर मान्य पाँच मूलगुण एवं सात उत्तरगुण के रूप में बारहव्रतों के नाम गिनाए हैं। यह संभव है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने मद्य, मांस और मधु के सेवन का निषेध अहिंसा के अन्तर्गत किया हो अथवा यह भी हो सकता है कि उनके समय में मद्य, मांस, मधु के सेवन की प्रवृत्ति अधिक न रही हो। आचार्य समन्तभद्र के आते-आते यह प्रवृत्ति कुछ अधिक बढ़ गई होगी, इसलिए उसे रोकने की दृष्टि से उन्होंने मूलगुणों की कल्पना कर उनके परिपालन का विधान

किया है। यहाँ ध्यातव्य है कि तत्त्वार्थसूत्र के टीकाकार पूज्यपाद, अकलंक और विद्यानन्दजी ने भी उनका कोई उल्लेख नहीं किया है, परन्तु यह निश्चित है कि आचार्य समन्तभद्र द्वारा प्रणीत अष्ट मूलगुणों को किंचित् मतान्तर के साथ उत्तरवर्ती प्रायः सभी आचार्यों ने स्वीकारा है।

यदि स्थूल दृष्टि से देखा जाए तो श्वेताम्बर के पाँच मूलगुणों एवं दिगम्बर के अष्ट मूलगुणों में मात्र विवक्षा का ही भेद है, क्योंकि मूलरूप से तो पाँच पापों का त्याग ही है और मद्य, मांस एवं मधु महाविगय है। अतएव प्रत्येक श्रावक के लिए इनका त्याग अनिवार्य है। इसी के साथ पंच उदुम्बर फलों एवं मद्य, मांस, मधु का त्याग अणुव्रत-साधना की पूर्व तैयारी के रूप में भी माना जा सकता है।

सप्तव्यसन त्याग

संस्कृत में व्यसन शब्द का तात्पर्य है- कष्ट। जिन प्रवृत्तियों का परिणाम एक बुरी आदत का निर्माण करता हो, उन प्रवृत्तियों को व्यसन कहा जाता है।

व्यसन एक ऐसी आदत है, जिसके बिना व्यक्ति रह नहीं सकता। एक यशस्वी कवि ने कहा है[30]–

व्यसनस्य मृत्योश्च, व्यसनं कष्टमुच्यते।
व्यसन्यधोऽधो व्रजति, स्वर्यात्य व्यसनी मतः।।

मृत्यु और व्यसन-इन दोनों में व्यसन अधिक कष्टप्रद है, क्योंकि मृत्यु एक बार कष्ट देती है, परन्तु व्यसन व्यक्ति को आजीवन कष्ट देता है। यद्यपि व्यसनों की संख्या अनगिनत है, फिर भी वैदिक परम्परा में व्यसनों की संख्या अठारह बताई है। इनमें दस व्यसन कामज है और आठ व्यसन क्रोधज हैं। कामज व्यसन निम्नलिखित है[31]– 1. मृगया (शिकार) 2. अक्ष (जुआ) 3. दिन में शयन 4. परनिन्दा 5. परस्त्रीसेवन 6. मद 7. नृत्यसभा 8. गीतसभा 9. वाद्यश्रवण और 10. निरर्थक भ्रमण।

क्रोधज व्यसन निम्न हैं- 1. चुगली करना 2.अति साहस करना 3. द्रोह करना 4. ईर्ष्या 5. असूया 6. अर्थ दोष 7. वाणी से दण्ड 8. कठोर वचन।

जैन परम्परा में मुख्य रूप से सात प्रकार के व्यसन माने गए है[32]– 1. द्यूतक्रीड़ा (जुआ) 2. मांसाहार 3. मद्यपान 4. वेश्यागमन 5. परस्त्रीगमन 6. शिकार और 7. चौर्य कर्म।

1. जुआ– जुआ एक ऐसा आकर्षण है, जो भूत की तरह मानव के सत्त्व

को चूस लेता है। जिसको यह लत लग जाती है वह मृग-मरीचिका की तरह धन प्राप्ति की अभिलाषा से अधिकाधिक धन बाजी पर लगाता चला जाता है और जब धन नष्ट हो जाता है, तब उसके जीवन में चिन्ता का सागर उमड़ पड़ता है, जो मरणपर्यन्त उसकी स्थिति को पतनोन्मुख बनाए रखता है। भारत के सभी ऋषि-महर्षियों ने जुए की निन्दा की है। ऋग्वेद में भी द्यूतक्रीडा को त्याज्य माना है।[33] जुआ एक प्रकार की खुजली है, उसे जितना खुजलाया जाए, वह उतनी ही बढ़ती है। यह एक छुआछूत की बीमारी है, जो दूसरों को भी लग जाती है।

जैन ग्रन्थों में चौपड़ या शतरंज के रूप में जुआ खेलने का निषेध किया है, क्योंकि हारा हुआ जुआरी दुगुना खेलता है।[34]

प्राचीनकाल में चौपड़, पासा अथवा शतरंज के रूप में जुआ खेला जाता था। महाभारत काल में चौपड़ का अधिक प्रचलन था, तो मुगलकाल में शतरंज का। अंग्रेजी शासनकाल में ताश के रूप में और उसके बाद सट्टा, फीचर, लाटरी, मटका आदि विविध रूपों में जुए का प्रचलन प्रारंभ हुआ। रेस आदि का व्यसन भी जुआ ही है। एच.डब्ल्यू.बीचर का अभिमत है कि जुआ चाहे ताश के पत्तों के रूप में खेला जाता हो या घुड़दौड़ के रूप में, इन सब में बिना परिश्रम किए धन प्राप्त करने की इच्छा रहती है। जो धन बिना श्रम के प्राप्त होता है, वह बरसाती नदी की तरह आता है और वह नदी के मूल पानी को भी ले जाता है।

हानि– जुआरी का चित्त सदैव अशान्त रहता है। यदि धन प्राप्त हो गया तो वह दुगुना जुआ खेलता है और नहीं हुआ तो प्राप्त करने के लिए चिंतित रहता है। जुआरी की केवल जेब ही खाली नहीं होती, उसकी बुद्धि भी खाली हो जाती है। यह एक ऐसा असाध्य रोग है, जो पुनः-पुनः आक्रमण करता है। जुआ एक ऐसी आवेशात्मक आँधी है, जिसमें कुछ भी नहीं सूझता है। जुआरी अन्य व्यसनों को भी अपना लेता है, झूठी कसमें खाता है, झूठे वायदे करता है, चोरी करता है, दिमाग को शान्त करने के लिए मद्यपान करता है, परस्त्रीगमन और वेश्यागमन भी कर लेता है। इन सब दुर्गुणों के कारण नहीं वह स्वयं ही अपितु पारिवारिक जीवन भी संकट में पड़ जाता है अतः जैन गृहस्थ के लिए यह वर्जनीय है।

2. मांसाहार– मृतमानव या पशु-पक्षी का भक्षण करना मांसाहार कहलाता है। यह जुए की भाँति एक प्रकार का व्यसन है। मांसाहार को मानव

प्रकृति के सर्वथा विरूद्ध कहा गया है। सभी धर्मों में इसका सेवन त्याज्य माना गया है। विपाकसूत्र में मांसाहार करने वालों के जीवन में आने वाले कष्टों का हृदय-विदारक चित्रण किया गया है।[35] आचार्य मनु ने कहा है-जीवों के बिना मांस उपलब्ध नहीं होता और जीवों का वध कभी स्वर्ग प्रदान नहीं करता, अत: मांसभक्षण का त्याग करना चाहिए।[36]

कुछ सज्जन यह कुतर्क देते हैं कि हम स्वयं पशुओं को नहीं मारते हैं, किन्तु बाजार से खरीद कर खाते हैं, अत: हमें पाप नहीं लगता। आचार्य मनु कहते हैं-जो मांसाहार का अनुमोदन करता है, मांस खरीदता है, बेचता है, पकाता है, खिलाता है-वे सभी घातक हैं।[37] इस कथन को जैनदर्शन भी मानता है। कुछ लोग यह समझते हैं कि मांस खाने से शरीर ताकतवर बनता है, शक्ति बढ़ती है, किन्तु वे भ्रम में हैं। इस दुनियाँ में अनेकों उदाहरण ऐसे हैं, जो यह सिद्ध करते हैं कि शाकाहारी से बढ़कर कोई विजेता हो नहीं सकता है।

हानि– मांसाहार में कैल्शियम और कार्बोहाइड्रेट्स नहीं होते, इसलिए मांस खाने वाले चिड़चिड़े, क्रोधी, निराशावादी और असहिष्णु होते हैं। मांस का सेवन करने से मानव स्नायु इतने अधिक कमजोर हो जाते हैं कि वह जीवन से निराश होकर आत्महत्या करने को भी उतारू हो जाता है। सामाजिक, नैतिक, धार्मिक एवं स्वास्थ्य की दृष्टि से भी मांसाहार हानिप्रद है। आर्थिक दृष्टि से भी यह अनुपयुक्त है। यह तामसिक आहार है। इससे जीवन में अनेक विकृतियाँ पैदा होती हैं अत: मांसाहार का त्याग करना प्रथम भूमिका है।

3. मद्यपान– साधक वर्ग के लिए मद्यपान वर्जित माना गया है। यह सड़े हुए पदार्थों का मिश्रण है। शर्करायुक्त पदार्थ जैसे-अंगूर, महुआ, जौ, गेहूँ, मक्का, गुड़, आदि वस्तुओं को सड़ाकर इसका निर्माण किया जाता है। मदिरा का सत्त्व 'एल्कोहल' तथा सड़ा हुआ पदार्थ 'वाइन' कहलाता है। इसे भट्टी में उबालने पर 'स्पिरिट' की तरह तेज मदिरा बनती है। मदिरा को ही शराब कहते हैं।

मदिरा एक प्रकार का नशा है। यह तन, धन एवं जीवन तीनों को बर्बाद करता है। किसी ने कहा है-मदिरा का प्रथम घूंट मानव को मूर्ख बनाता है, दूसरा घूंट पागल बनाता है, तीसरे घूंट से वह दानव की तरह कार्य करने लगता है और चौथे घूंट से मुर्दे की तरह भूमि पर लुढ़क पड़ता है।

हानि– आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार जिस प्रकार अग्नि की एक चिनगारी से घास का ढेर राख में परिवर्तित हो जाता है, उसी प्रकार मदिरापान से विवेक,

संयम, ज्ञान, सत्य, शौच, दया आदि सभी गुण नष्ट हो जाते हैं।[38] इसके सेवन से पाचन संस्थान कमजोर होता है। मन, मस्तिष्क और बुद्धि का विनाश होता है। इस व्यसन का सेवन करने पर आर्थिक, धार्मिक, पारिवारिक, सामाजिक एवं नैतिक दृष्टि से भी स्तर गिर जाता है।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने मद्यपानसेवी व्यक्ति में उत्पन्न होने वाले सोलह दोषों का उल्लेख किया है जो निम्न हैं- 1. शरीर का विद्रूप होना 2. शरीर का विविध रोगों का आश्रय-स्थल होना 3. परिवार से तिरस्कृत होना 4. समय पर कार्य करने की क्षमता नहीं रहना 5. अन्तर्मानस में द्वेष पैदा होना 6. ज्ञान-तन्तुओं का धुंधला हो जाना 7. स्मृति नष्ट होना 8. बुद्धि भ्रष्ट होना 9. सज्जनों से सम्पर्क न रहना 10. वाणी में कठोरता आना 11. कुसंगति होना 12. कुलहीनता 13. शक्ति ह्रास 14-16. धर्म- अर्थ-काम तीनों का नाश होना।[39] महात्मागाँधी ने मदिरापान को तस्कर कृत्य और वेश्यावृत्ति से भी अधिक निन्दनीय कहा है, क्योंकि इन दोनों कुकृत्यों को पैदा करने वाला मद्यपान है। मदिरापान से होने वाली हानियों का इतिहास बहुत लम्बा-चौड़ा है।

4. वेश्यागमन– यह सर्वमान्य दुष्प्रवृत्ति है। इसे एक ऐसा दुर्व्यसन कहा गया है, जो जीवन को कुपथ की ओर अग्रसर करता है। यह जहरीले साँप की तरह है जो चमकीला, लुभावना और आकर्षक है, किन्तु बहुत ही खतरनाक है। वेश्या प्रज्वलित दीपशिखा है, जिस पर हजारों लोग शलभ की भाँति पड़-पड़ कर भस्म हो गए हैं। वह एक जलती मशाल है, जिसने हजारों परिवारों को जलाकर साफ कर दिया है।

हानि– वेश्यागामी व्यक्ति का शारीरिक, आर्थिक, पारिवारिक, सामाजिक, नैतिक और धार्मिक सभी दृष्टियों से शोषण होता है। वह लोगों की नजरों से गिर जाता है। मदिरापान से होने वाले सभी दोष इसके जीवन में भी प्रवेश कर जाते हैं अत: वेश्यागमन सर्वथा परिहार्य है।

5. शिकार– शिकार एक क्रूर कृत्य है। यह मानव मन की निर्दयता, कठोरता और हृदयहीनता का प्रतीक है। जैन ग्रन्थों में शिकारी को 'पापर्द्धि' कहा है। पापर्द्धि से तात्पर्य पाप द्वारा प्राप्त ऋद्धि है क्योंकि शिकारी के पास धर्म नाम की कोई चीज होती ही नहीं, वह पाप कार्य से ही अपना जीवन निर्वाह करता है।

हानि– शिकारी अनेकों के जीवन को कष्टमय बनाता है। शिकारी एक पशु का वध नहीं करता, वह अहंकार के वशीभूत होकर अनेकों जीवों को दनादन मार देता है। आचार्य वसुनन्दी ने कहा है-मधु, मद्य, मांस का दीर्घकाल तक सेवन करने वाला जितने निकृष्ट पाप का संचय करता है, उतने सभी पापों को शिकारी एक दिन में शिकार खेलकर संचित कर लेता है।[40] शिकारी को शिकार करते समय भी भयंकर आपत्तियों का सामना करना पड़ता है। उस समय कभी वाहन को तेज दौड़ाता है, तो कभी संकरी पगडंडियों से गुजरते हुए चट्टान से टकराता है। कभी उसे गहरे गर्त में गिरने का भय रहता है, तो कभी-कभी शिकार के पीछे दौड़ते समय तीव्र भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी और थकान से भी व्यथित होना पड़ता है। कभी तीक्ष्ण कांटों से पैर बिंध जाते हैं, तो कभी पहाड़, नदी, नाले पार करने पड़ते हैं। कभी जंगल में आग लग जाने से प्राण बचाना कठिन हो जाता है, तो कभी रास्ता भूल जाने से जंगल में इधर-उधर भटकना पड़ता है। इस प्रकार उसका जीवन भंयकर विपत्तियों से घिर जाता है। अत: गृहस्थ श्रावक के लिए यह व्यसन त्याज्य है।

6. चोरी– किसी की अधिकृत वस्तु बिना अनुमति के ग्रहण करना चोरी कहलाता है। चोरी का वास्तविक अर्थ है-जिस वस्तु पर अपना

अधिकार न हो, उस पर मालिक की बिना अनुमति के अधिकार कर लेना। चोरी समाज का एक कलंक है। चोरी का दान कच्चे पारे को खाने के सदृश माना गया है।

चोरी कई प्रकार से होती हैं। प्रश्नव्याकरणसूत्र में चोरी के तीस नाम बताए गए हैं।[41] एक चिन्तक ने चोरी के छ: प्रकार बताए हैं- 1. छन्न चोरी 2. नजर चोरी 3. ठग चोरी 4. उद्घाटक चोरी 5. बलात् चोरी 6. घातक चोरी।

आधुनिक युग में कुछ अलग प्रकार की चोरियाँ भी होने लगी है। जैसे- वस्तुओं में मिलावट करना, बढ़िया बताकर घटिया देना, कम देना, अपने लिए या अपने पारिवारिक जनों के लिए अच्छी चीजें रखकर दूसरों को रद्दी चीजें देना, नाम की चोरी करना, उपकार की चोरी करना ये सभी क्रियाएँ चोरी ही हैं।

हानि– यह अनुभवसिद्ध है कि जो व्यक्ति चोरी करता है, वह अपने जीवन को तो जोखिम में डालता ही है, साथ ही अपने परिवार को भी खतरे में डाल देता है। चोरी करने वाला धन तो प्राप्त कर लेता है, किन्तु उसकी शांति,

सम्मान और सन्तोष नष्ट हो जाते हैं। उसका मन सदा भय से आक्रान्त रहता है। उसका मन 'और अधिक कैसे प्राप्त करूँ' की लालसा में भटकता रहता है। अत: आध्यात्मिक मार्ग पर आगे बढ़ने वाले साधकों को इस कुकृत्य का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए।

7. परस्त्रीगमन– परस्त्री से तात्पर्य स्वयं की पत्नी के अतिरिक्त अन्य सभी स्त्रियों से है। परस्त्री के साथ उपभोग करना, वासना की दृष्टि से देखना, क्रीड़ा करना, प्रेम पत्र लिखना, स्वयं के अधीनस्थ करने के लिए विविध उपहार देना आदि क्रियाएँ परस्त्री-सेवन कहलाती हैं।

हानि– सामाजिक, धार्मिक और नैतिक-सभी दृष्टियों से परस्त्री सेवन हानिप्रद है। परस्त्री सेवन करने वाला व्यक्ति समाज में अविश्वास का पात्र बनता है। उसे लोग कुत्सित एवं निन्दित दृष्टि से देखते हैं। वह वासनाओं की आग में इतना भभक उठता है कि सत्य-असत्य, उचित-अनुचित, विवेक-अविवेक सब कुछ भूल जाता है। सामाजिक नियम, पारिवारिक कर्त्तव्य, जीवन जीने की कला, आवश्यक धर्म-क्रियाएँ आदि से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता है। वह सब जगह से टूटता चला जाता है तथा विषयेच्छा की तृप्ति के लिए सदैव असंतुष्ट हुआ घूमता रहता है। इस वर्णन से यह निश्चित होता है कि परस्त्री सेवी कभी भी साधना के मार्ग पर आगे नहीं बढ़ सकता है अत: साधक पुरूष को परस्त्रीगमन का सर्वथा परिहार करना चाहिए।

निष्पत्ति– जैन साधना पद्धति में व्यसन मुक्ति को साधना के महल में प्रवेश करने का प्रथम द्वार बताया है। जब तक व्यक्ति दुर्व्यसनों से मुक्त नहीं होता तब तक उस मनुष्य के जीवन में गुणों का विकास नहीं हो सकता है इसलिए जैनाचार्यों ने व्यसनमुक्ति पर अत्यधिक बल दिया है। लोकतान्त्रिक शासन व्यवस्था में व्यसनमुक्ति एक ऐसी विशिष्ट आचार पद्धति है जिसके परिपालन से गृहस्थ सदाचारमय जीवन यापित कर सकता है तथा राष्ट्रीय-विकास के कार्यों में भी सक्रिय योगदान दे सकता है। यह एक ऐसी आचार संहिता है जो केवल जैन गृहस्थों के लिए ही नहीं, किन्तु मानव मात्र के लिए उपयोगी है।[42]

जैन श्रावक के अनिवार्य कर्त्तव्य

जैन साधक गृहस्थ धर्म की अनुपालना करते हुए आत्मदिशा की ओर अग्रसर हो सके तथा जिन शासन की प्रभावना करते हुए राष्ट्र, समाज एवं

परिवार में धर्म संस्कारों का सींचन कर सके, इस लक्ष्य से अनेकविध मार्गों का प्रतिपादन किया गया है। उनमें से कुछ विशिष्ट इस प्रकार हैं-

सामान्य कर्त्तव्य

'मण्हजिणाणं' नामक सज्झाय पाठ में गृहस्थ श्रावक के सामान्य छत्तीस कर्तव्य बतलाये गए हैं। उनके नाम ये हैं-1. जिनाज्ञा का पालन करना 2. मिथ्यात्व का परिहार करना 3. सम्यक्त्व को धारण करना 4. षडावश्यक में तत्पर रहना 5. पर्व तिथियों में पौषध व्रत करना 6. दान करना 7. शील का पालन करना 8. तप करना 9. शुभ भाव पूर्वक धर्म आराधना करना 10. स्वाध्याय करना 11. गुणीजनों को नमस्कार करना 12. परोपकार करना 13. यतनापूर्वक प्रवृत्ति करना 14-16. जिनपूजा, जिनस्तवन एवं गुरूस्तवन करना 17. साधर्मिक वात्सल्य करना 18. व्यवहारशुद्धि रखना 19. रथयात्रा करना 20. तीर्थयात्रा करना 21. उपशम(शांत) भाव रखना 22. विवेक दृष्टि युक्त होना 23. संवर करना 24. भाषासमिति का पालन करना 25-30. पृथ्वीकाय आदि षड्जीवनिकायों पर करूणा करना 31. धार्मिक पुरूषों का संग करना 32. इन्द्रियों का दमन करना 33. चारित्र परिणाम में वृद्धि करना 34. संघ का बहुमान करना 35. जिनागम लिखवाना और 36. जैन धर्म की प्रभावना करना।[43]

जैन श्रावक को इन छत्तीस आचारों का पालन यथाशक्ति अवश्य करना चाहिए।

आचार्य सोमप्रभसूरि ने श्रावक के छः कर्तव्य बतलाए हैं जो मनुष्य जन्म की सफलता में परम निमित्तभूत हैं- 1. जिनपूजा 2. गुरूभक्ति 3. जीवदया 4. सुपात्रदान 5. गुणानुराग और 6. जिनवाणी श्रवण।[44]

दैनिक कर्त्तव्य

आचार्य रत्नशेखरसूरि के अनुसार श्रावक के दैनिक कर्तव्य निम्नांकित हैं[45]-1. पूर्वदिन की चार घड़ी रात शेष रहने पर उठना 2. नमस्कार महामंत्र का स्मरण करना 3. सामायिक एवं रात्रिक प्रतिक्रमण करना 4. देव दर्शन एवं वासपूजा आदि करना 5. गुरूवंदन करना 6. गृह व्यवस्था देखना 7. जिन प्रवचन सुनना 8. उपयोग पूर्वक स्नान करना 9. जिनप्रतिमा की सविधि पूजा करना 10. मर्यादित भोजन करना 11. यथाशक्ति सुपात्रदान देना 12. पापरहित

व्यापार करना 13. संध्या काल में आरती और मंगल दीपक करना 14. दैवसिक प्रतिक्रमण करना 15. गुरूसेवा करना 16. स्वाध्याय करना 17. कुटुम्बीजनों के साथ धर्म चर्चा करना 18. माता-पिता आदि पूज्यजनों की सेवा करना 19. गृहस्थी त्याग हेतु तीन मनोरथों का चिंतन करना।

संध्याकालीन कर्त्तव्य

श्राद्धविधिप्रकरण में वर्णित गृहस्थ के संध्याकालीन कर्त्तव्य निम्न प्रकार हैं[46]-1. रात्रिभोजन का त्याग करना 2.यथाशक्ति जल सेवन आदि का भी त्याग करना 3. आरती और मंगलदीपक सहित जिन प्रतिमा की द्रव्य पूजा करना एवं चैत्यवंदन पूर्वक भावपूजा करना 4. दैवसिक प्रतिक्रमण करना 5. आचार्य एवं रूग्ण आदि साधुओं की सेवा-शुश्रुषा करना 6. स्वाध्याय करना 7. पारिवारिक सदस्यों के साथ धर्मकथा आदि करना।

रात्रिकालीन कर्त्तव्य

श्राद्धविधिप्रकरण के अनुसार श्रावक के रात्रिक कर्त्तव्य निम्नलिखित हैं[47]– 1. यथाशक्ति ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना 2.देव-गुरू और धर्म के उपकारों का स्मरण करना 3. अरिहंतादि चार की शरण स्वीकार करना 4. सर्व जीवों से क्षमायाचना करना 5. प्राणातिपात आदि अठारह पापस्थानों का त्याग करना 6. दुष्कृत कार्यों की निन्दा एवं सुकृत की अनुमोदना करना 7. आहार-शरीर-उपधि के त्याग पूर्वक सागारी अनशन स्वीकार करना 8. पाँच बार नमस्कारमंत्र का स्मरण करना 9. अर्द्धरात्रि में निद्रा खुल जाए तो शरीर की अशुचि का चिंतन करना और धर्मध्यान आदि में प्रवृत्त होना।

चातुर्मासिक कर्त्तव्य

चौदहवीं शती के प्रसिद्ध जैनाचार्य रत्नशेखरसूरि ने गृहस्थ के चातुर्मास सम्बन्धी जो कर्त्तव्य बतलाये हैं वे निम्नानुसार हैं [48]–

1. ज्ञानाचार आदि पाँच आचारों का पालन करना 2. जिन चैत्यों के दर्शन करना 3. व्याख्यान श्रवण करना 4. ज्ञानपंचमी पर्व के दिन ज्ञान की विशिष्ट आराधना करना 5. जिनमन्दिर-उपाश्रय आदि की शुद्धि एवं संरक्षण करना 6. गुरूमहाराज के प्रवचन देने से पहले गहुँली करना 7. प्रतिदिन जिनदर्शन, वन्दन एवं पूजन करना 8. जिनप्रतिमा की शुद्धि करना 9. त्रस जीवों की रक्षा करना 10. गृह सम्बन्धी सभी कार्य यतना और उपयोग पूर्वक करना 11. अभ्याख्यान

आक्रोश, कटुवचन, देव-गुरू की निंदा, परपरिवाद आदि का त्याग करना 12. दिन में ब्रह्मचर्य का पालन करना तथा रात्रि में परस्त्री/परपुरूष का त्याग करना 13. धन-धान्यादि नौ प्रकार के परिग्रह का परिमाण करना 14. वर्षा ऋतु में यथाशक्ति गमनागमन की प्रवृत्ति नहीं करना 15. तुच्छफल, सचित्तफल, अनन्तकाय आदि का भक्षण नहीं करना 16. प्रतिदिन खाद्य द्रव्यों का नियमन करना 17. सामायिक, पौषध, अतिथि संविभाग आदि शिक्षाव्रतों का पालन करना 18. प्रतिदिन चौदह नियमों में निर्धारित द्रव्यों की संख्या को सीमित करना 19. अष्टमी और चतुर्दशी एवं तीर्थंकर की कल्याणक तिथियों में उपवास आदि विशेष तप करना 20. धर्माराधना में सदैव उद्यमवन्त और उत्साहित रहना 21. औषध आदि का दान करना 22. साधर्मिक वात्सल्य करना 23. पानी आदि का छान कर उपयोग करना 24. आरम्भ-समारम्भ के कार्य कम से कम कार्य करना 25. गुरू आदि की भक्ति निमित्त निर्दोष आहार की व्यवस्था रखना 26. यथासम्भव अतिथिसंविभागव्रत का पालन करना आदि।

बृहद् कर्त्तव्य

श्राद्धविधिप्रकरण के अनुसार गृहस्थ को अपने जीवन काल में निम्न कृत्यों का पालन एक बार अवश्य करना चाहिए[49]-

1. जिनमन्दिर का निर्माण एवं जीर्णोद्धार करवाना 2. जिनप्रतिमा प्रतिष्ठित करवाना 3. उपाश्रय बनवाना 4. छःरी पालित संघ निकालना अर्थात पैदल तीर्थ यात्रा करवाना 5. आचार्य आदि पदवी का महोत्सव करना 6. आगम शास्त्र लिखवाना।

पर्युषण सम्बन्धी कर्त्तव्य

कल्पसूत्र की टीका में गृहस्थ साधक के लिए पर्युषण में करने योग्य निम्न कर्त्तव्य बतलाये गये हैं[50]-

1. अमारी प्रवर्तन(अहिंसा पालन) करना एवं करवाना 2. छट्ठ(लगातार दो उपवास) एवं अट्ठम (लगातार तीन उपवास) तप करना 3. सुपात्र दान देना 4. नारियल आदि की प्रभावना करना 5. जिन पूजा एवं चैत्यपरिपाटी करना 6. सर्व साधुओं को वंदन करना 7. श्रीसंघ की भक्ति करना 8. ब्रह्मचर्य पालन करना 9. आरम्भ का त्याग करना 10. सत्कार्यों में द्रव्य का व्यय करना 11. श्रुतज्ञान की भक्ति करना 12. जीवों को अभयदान देना 13. उभयकाल

प्रतिक्रमण करना 14. पूजा आदि महोत्सव करना 15. रात्रिजागरण करना 16. सर्व जीवों से क्षमाचायना करना 17. कल्पसूत्र का श्रवण करना। 18. प्राणी मात्र के प्रति अनुकम्पा का भाव रखना।

वार्षिक कर्त्तव्य

उपदेशप्रासाद वृत्ति के अनुसार श्रावक के वार्षिक कर्त्तव्य निम्नोक्त हैं[51]-

1. संघपूजा– प्रतिवर्ष कम से कम एक बार संघपूजा करना। यहाँ संघ पूजा का तात्पर्य साधु-साध्वी को निर्दोष आहार एवं पुस्तक आदि का दान देना और श्रावक-श्राविका की यथाशक्ति भक्ति करने से है। वर्तमान में संघपूजा का अर्थ रूपए आदि की प्रभावना करने में रूढ़ हो गया है।

उपदेशप्रासाद टीका में संघ पूजा तीन प्रकार की कही गई है-उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य। सकल संघ की पधरामणी करना उत्कृष्ट संघपूजा है। सूत की नवकारवाली देना जघन्य संघपूजा है और शेष सर्वप्रकार की भक्ति करना मध्यम संघपूजा है।

यदि कोई श्रावक समर्थ न हो, तो साधु-साध्वी को मुखवस्त्रिका आदि और श्रावक-श्राविका को सुपारी आदि देकर भी संघ पूजा की जा सकती है, किन्तु जैन श्रावक को अनिवार्य रूप से यह कृत्य करना चाहिए। इतिहास प्रसिद्ध पूणिया श्रावक जैसी सामान्य भक्ति से भी बड़ा लाभ प्राप्त हो सकता है। एक जगह कहा गया है कि– संपत्ति में नियम, शक्ति होने पर सहनशीलता, यौवनावस्था में व्रत और दारिद्रयावस्था में अल्पदान महालाभ के कारण होते हैं।

2. साधर्मीभक्ति– 'समानः धर्मो येषां ते साधर्मिकाः'-एक ही धर्म के अनुयायी परस्पर साधर्मिक कहलाते हैं। स्वधर्मी बन्धुओं के प्रति प्रेम, वात्सल्य, बहुमान और भक्ति करना साधर्मी वात्सल्य कहलाता है।

साधर्मी भक्ति का वास्तविक अर्थ यही है। आज साधर्मी भक्ति का अर्थ श्रीसंघ को भोजन करवाने के अर्थ में सीमित हो गया है। वस्तुतः भोजन करवाना तो साधर्मी भक्ति का एक प्रकार है। यथार्थ में तो आन्तरिक प्रेम, सद्भाव, वात्सल्यभाव आदि रखना साधर्मी भक्ति है।

दूसरी परिभाषा के अनुसार साधर्मिकों को निमंत्रित करके उन्हें विशिष्ट आसन पर बिठाकर वस्त्रादि का दान करना और यदि कोई सहधर्मी कर्मोदयवश विपत्तिग्रस्त स्थिति में हो, तो अपनी सम्पत्ति का व्यय कर उसका उद्धार करना साधर्मी भक्ति है। किसी ने लिखा है- **'न धर्मो धार्मिकैर्बिना'** यदि जीवन में

सहधर्मी का समागम न हो, उसका सहवास न हो, उसके प्रति आदर-सत्कार न हो, तो व्यक्ति का आत्मधर्म किसके सहारे खड़ा रहेगा? साधर्मी-भक्ति धर्म को स्थिर करने का आधार माना गया है।[52]

साधर्मीवात्सल्य एक महान् आराधना है। इसकी महत्ता के सम्बन्ध में एक प्राचीन गाथा दृष्टव्य है-

एकत्थ सव्वधम्मा, साहम्मिअवच्छलं तु एगत्थ बुद्धि ।
तुलाए-तुलिया दोवि अ, तुल्लाई मणिआइं ।।

बुद्धि के तराजू में एक ओर सभी धर्म रखे जाएं तथा दूसरी ओर साधर्मिक गृहस्थ को रखा जाए, तो दोनों समान रहते हैं।

सम्राट भरत, महाराजा कुमारपाल, महामात्य वस्तुपाल, तेजपाल, श्रेष्ठी जिनदास आदि की जीवन गाथाएँ साधर्मीभक्ति के जीवन्त उदाहरण हैं अत: प्रत्येक श्रावक को प्रतिवर्ष एक बार साधर्मी-भक्ति अवश्य करना चाहिए।

3. यात्रा त्रिक– प्रत्येक वर्ष जघन्य से एक यात्रा अवश्य करना चाहिए। यात्रा तीन प्रकार की बतलाई गईं हैं-[53] 1. अट्ठाई उत्सवयात्रा 2. रथयात्रा और 3. तीर्थयात्रा।

(1) अट्ठाईयात्रा– एक पर्यूषण, दो ओली, तीन चातुर्मास- ऐसे एक वर्ष में कुल छ: अट्ठाई पर्व आते हैं। पर्यूषण के आठ दिन, ओली के नौ दिन एवं चातुर्मासिक चतुर्दशी के पहले के आठ-आठ दिन इस प्रकार इन पर्व दिनों में सभी चैत्यों की पूजा आदि महान् उत्सव करना अट्ठाईपर्व यात्रा है।

(2) रथयात्रा– योग्य प्रकार से सज्जित रथ में जिनेश्वर प्रभु की प्रतिमा स्थापित कर उसे नगर में घुमाना रथयात्रा है अथवा अष्टाह्निकपर्व के दिनों में स्वर्णादि के रथ में गजाश्व जोतकर और उसमें जिनेश्वर परमात्मा की प्रतिमा विराजमान कर शोभायात्रा निकालना रथयात्रा है। वर्तमान में इस यात्रा को वरघोड़ा या भगवान की सवारी निकालना भी कहते हैं।

(3) तीर्थयात्रा– शत्रुंजय, गिरनार, सम्मेतशिखर आदि तीर्थों की यात्रा करना तीर्थयात्रा है। पैदल तीर्थयात्रा में छ: नियमों का पालन अनिवार्य माना गया है-1. पादविहार 2. एकासन 3. सचित्त वस्तु का त्याग 4. ब्रह्मचर्य पालन 5. संथारा पर शयन और 6. सम्यक्त्व की शुद्धि रखना। इन नियमों के अतिरिक्त प्रभुपूजा, प्रतिक्रमण, प्रवचनश्रवण आदि अन्य नियम भी पालने योग्य होते हैं।

4. स्नात्रमहोत्सव– प्रतिवर्ष एक बार स्नात्र महोत्सव करना-यह श्रावक

का चतुर्थ कर्त्तव्य है। पर्वादि दिनों में नियम से करोड़ों देवी-देवता अपने सुख भोगों का त्याग कर अरिहंत परमात्मा का जन्माभिषेक महोत्सव मनाने के लिए मेरूपर्वत आदि स्थानों पर जाते हैं और पवित्र तीर्थजलों द्वारा जिनप्रतिमा का स्नात्र कर जीवन को धन्य-धन्य मानते हैं अत: इस शाश्वत परम्परा का निर्वाह करने के लिए भव्य आत्माओं द्वारा एक बार निश्चित रूप से बृहत् स्नात्र-महोत्सव किया जाना चाहिए। उपदेशप्रासाद में वर्णन आता है कि श्रावक पेथडशाह ने रैवतगिरि(गिरनार) तीर्थ पर स्नात्रमहोत्सव में छप्पन घड़ी परिमाण स्वर्ण की उजवणी कर इन्द्रमाल पहनी थी और शत्रुंजय से गिरनार पर्वत तक एक स्वर्णध्वज चढ़ाया था। उसके पश्चात् उसके पुत्र शाह झांझण ने रेशमी वस्त्र का तिगुना ध्वज चढ़ाया था।[54]

5. देवद्रव्यवृद्धि– जिस प्रकार वाहन को गतिशील बनाए रखने के लिए ऊर्जा-प्रदायक स्थान सहायक होते हैं, उसी प्रकार जीवन सन्मार्ग की ओर बढ़ता रहे, तदर्थ जिनालय आदि धार्मिक स्थल होना अत्यन्त जरूरी है। जिनमंदिरों की परम्परा निरन्तर चलती रहे, इस उद्देश्य से धर्मानुयायी श्रावकों को प्रतिवर्ष तीर्थमाला, उपधानमाला, इन्द्रमाला आदि पहननी चाहिए। इससे देवद्रव्य की वृद्धि होती है। जैसा कि एक बार गिरनार तीर्थ पर श्वेताम्बरी और दिगम्बरी-दोनों का आपसी विवाद हुआ। उस समय यह निर्णय लिया गया कि जो चढ़ावा लेकर इन्द्रमाला पहनेगा, यह तीर्थ उसी का माना जाए गा। उस समय पेथड़शाह ने छप्पन घड़ी परिमाण स्वर्ण द्वारा इन्द्रमाला पहनी और चार घड़ी स्वर्ण याचकों को देकर तीर्थ अपना किया। इस प्रकार शुभविधिपूर्वक देवद्रव्य की वृद्धि करना चाहिए।[55]

6. महापूजा– प्रत्येक वर्ष शुभ भावों की वृद्धि हेतु जिनमंदिर में एक महापूजा करवाना-यह श्रावक के प्रमुख कर्त्तव्यों में से एक है।

7. रात्रिजागरण– प्रतिवर्ष एक बार तीर्थस्थलों पर, पर्वादि प्रसंगों पर या शुभ अवसर पर रात्रिजागरण करना चाहिए। रात्रिजागरण के द्वारा परमात्मा के प्रति अनुराग एवं भक्ति बढ़ती है।

8. श्रुतभक्ति– प्रतिदिन श्रुतज्ञान की भक्ति करना। यदि प्रतिदिन श्रुतभक्ति करने में अशक्त हों, तो प्रतिमास या प्रतिवर्ष तो अवश्य करना चाहिए। श्रुतभक्ति द्वारा हित-अहित की बुद्धि विकसित होती है तथा ज्ञानावरणीयकर्म का क्षयोपशम होता है।

9. उद्यापन– बीसस्थानक, ज्ञानपंचमी, नवपद ओली आदि कोई भी तप पूर्ण होने पर शक्ति के अनुसार द्रव्य का व्यय कर उत्सव मनाना, धार्मिक उपकरण आदि चढ़ाना उजमणा (उद्यापन) कहलाता है। यह उद्यापन कार्य तपस्या के कलश के रूप में किया जाता है। इसे तपश्चर्या की अनुमोदना का एक अंग कह सकते हैं। शक्तिसम्पन्न श्रावकों को प्रतिवर्ष एक-एक उद्यापन अवश्य करना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति अकेला ही उद्यापन करने में समर्थ न हो, तो जब सामुदायिक-उद्यापन होता हो, तब यथाशक्ति योगदान देकर लाभ लिया जा सकता है, किन्तु उद्यापन का भागीदार अवश्य बनना चाहिए। उद्यापन करने से तप फल में वृद्धि होती है। कहा गया है-**'तप फल वाधे रे उजमणा थकी, जिम जल पंकजनाल'** जिस प्रकार पानी से कमलनाल की वृद्धि होती है, उसी प्रकार उद्यापन से तप के फल की वृद्धि होती है। वस्तुतः चंचला लक्ष्मी को स्थिर एवं सुदृढ़ बनाने का यह महत्त्वपूर्ण कार्य है। मंत्री पेथड़शाह ने नमस्कारमंत्र के तप का उद्यापन किया था। उसमें सोना, चाँदी, मणि, मोती, हीरा, पन्ना, रूपए, रेशमी ध्वजाएँ आदि प्रत्येक वस्तु 68-68 चढ़ाईं थी।[56] आज भी उद्यापन परम्परा मौजूद है, किन्तु इन दिनों विशेष रूप से दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र के उपकरण ही चढ़ाए जाते हैं।

10. तीर्थप्रभावना– प्रतिवर्ष एक बार शासन प्रभावना का कार्य करना। इस कर्त्तव्य का पालन आचार्य आदि गुरू भगवन्तों का ठाठ-बाट से प्रवेश करवाकर, समूह के साथ जिनालय के दर्शन कर आदि अनेक रूपों में किया जा सकता है। जैन ग्रन्थों में वर्णन आता है कि भगवान महावीर के आगमन पर कोणिक राजा ने भव्य स्वागत-समारोह सम्पन्न किया था। इसी तरह प्रदेशीराजा, दशार्णभद्रराजा, उदायनराजा भी समस्त राज्य-ऋद्धि के साथ परमात्मा महावीर को वंदन करने गए थे। महामंत्री पेथड़शाह ने धर्मघोषसूरिजी के मांडवगढ़ प्रवेशोत्सव पर 72 हजार टंक द्रव्य का खर्च किया था। यहाँ शासन-प्रभावना का आशय यह है कि सांसारिक व्यक्ति धर्म महिमा को देखकर आत्मकल्याण के लिए प्रवृत्त बने।

11. हृदयशुद्धि– जैन श्रावक का ग्यारहवाँ कर्त्तव्य है कि वह हृदय को शुद्ध रखे और अपने पापों की गुरू के समक्ष आलोचना करें तथा पाप की शुद्धि निमित्त गुरू जो प्रायश्चित्त दें उसे पूर्ण करें। आलोचना के बिना पापशुद्धि संभव नहीं है, इसलिए प्रतिवर्ष एक बार तो अवश्य आलोचना करनी चाहिए।

निष्पत्ति– यदि गृहस्थ साधक के कर्त्तव्यों का समीक्षात्मक पहलू से विचार करें, तो स्पष्ट होता है कि श्वेताम्बर की भाँति दिगम्बर आचार्यों ने भी श्रावक के विविध कर्त्तव्यों का प्रतिपादन किया है। रयणसार में गृहस्थ के दो कर्त्तव्य बताए गए हैं, जिनमें चार प्रकार का दान देना और देव-शास्त्र-गुरू की पूजा करने का उल्लेख है। कषायपाहुड में चार कर्त्तव्यों का वर्णन है। इसमें दान, पूजा, शील और उपवास का समावेश किया है। कुरलकाव्य में श्रावक के पाँच कर्त्तव्यों का उल्लेख है जिसमें पूर्वजों के कीर्ति की रक्षा, देवपूजन, अतिथिसत्कार, बंधु-बांधवों की सहायता और आत्मोन्नति का वर्णन है। चारित्रसार में श्रावक के छः कर्त्तव्यों का निर्देश है-इज्या, वार्त्ता, दत्ति, स्वाध्याय, संयम और तप। पद्मनंदी पंचविंशतिका में देवपूजा, गुरूसेवा, स्वाध्याय, संयम, तप और दान-इन छः कर्त्तव्यों को प्रमुख माना गया है। ये छः कर्त्तव्य 'दैनिक षट्कर्म' के रूप में भी प्रचलित हैं। आचार्य अमितगति ने सामायिक, स्तवन, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और उपसर्ग विजय इन छह प्रकारों को आवश्यक रूप माना है।

श्रावक के अन्य कर्त्तव्यों में तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार गृहस्थ साधक मारणान्तिक संलेखना का प्रीतिपूर्वक सेवन करने वाला हो। वसुनन्दी श्रावकाचार के अनुसार श्रावक को स्व-सामर्थ्य के अनुसार विनय, वैयावृत्य, कायक्लेश और पूजन विधान करना चाहिए। सागार धर्मामृत में कहा गया है कि उसे पर्व दिनों में अनशन आदि तप करना चाहिए, महापुरूषों की अनुप्रेक्षाओं का चिंतन करना चाहिए और दस धर्मों का पालन करना चाहिए। पंचाध्यायी में निर्देश है कि शक्ति के अनुसार मंदिर बनवाना चाहिए और तीर्थयात्रा आदि करनी चाहिए।[57]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर तुलना की जाए, तो हम पाते हैं कि श्वेताम्बर एवं दिगम्बर-दोनों परम्पराओं में श्रावक सम्बन्धी कर्त्तव्यों को लेकर नाम एवं संख्या की दृष्टि से भिन्नता है, यद्यपि मूल स्वरूप में बहुत कुछ साम्य है।

श्रावक के दैनिक षट्कर्म

दिगम्बर परम्परा में गृहस्थ साधक के लिए प्रतिदिन पालन करने योग्य छह कर्त्तव्य कहे गए हैं जो इस प्रकार हैं-

1. जिनेन्द्रपूजा– वीतरागी अरिहंत परमात्मा के अर्च्य गुणों के प्रति सर्वात्मना समर्पित हो जाना यथार्थ पूजा है। पूजा दो प्रकार की बताई गई है- द्रव्यपूजा और भावपूजा। अष्टद्रव्यों आदि के द्वारा जिन-प्रतिमा की पूजा करना द्रव्यपूजा है और उनके गुणों का चिन्तन करना भावपूजा है। श्रावक को यथाशक्ति दोनों प्रकार की पूजा करनी चाहिए।

पूजा करने से शुभ राग की वृद्धि होती है। शुभ राग की अभिवृद्धि होने से स्व स्वरूप बोध की अभीप्सा तीव्रतर हो जाती है जिससे वह फलत: आत्मदशा को उपलब्ध कर लेता है। अत: गृहस्थव्रती को इस कर्म का अवश्य पालन करना चाहिए।

2. गुरूभक्ति– गुरू का अर्थ है-अज्ञान अंधकार को नष्ट करने वाला। जो पंचमहाव्रत के पालक हैं, कंचन-कामिनी के त्यागी हैं, आरम्भ-परिग्रह से रहित हैं, सदैव आत्म भावों में रमण करते हैं, उन्हें गुरू के रूप में स्वीकार करके आहार, वस्त्र, पात्र, औषध और भेषज आदि आवश्यक वस्तुएँ प्रदान करना गुरूभक्ति है।

गुरू की भक्ति करने से त्रियोग की विशुद्धि होती है, सुसंस्कारों का बीजारोपण होता है, गुणों का अनायास प्रकटीकरण होने लगता है आदि कई प्रकार के लाभ होते हैं। इसी कारण गृहस्थ के दैनिक-षट्कर्मों में गुरूभक्ति को आवश्यक माना गया है।

3. स्वाध्याय– स्वाध्याय का अर्थ है स्व-आत्मा का, अध्याय-चिन्तन, मनन करना अर्थात् आत्मधर्म में स्थित होना या आत्मस्वरूप का चिन्तन करना स्वाध्याय है।

स्वाध्याय करने से बुद्धिबल और आत्मबल का विकास होता है, परिणाम की विशुद्धि होती है। यह परिणाम विशुद्धि ही महाफलदायक है। इससे मन स्थिर होता है, हेय, ज्ञेय एवं उपादेय का भेद ज्ञान प्राप्त होता है और राग वैराग में बदल जाता है। अत: यह कर्म श्रावक की दैनिक-चर्या में अनिवार्य माना गया है।

4. संयम– इन्द्रिय एवं मन की चंचलता से रहित होना संयम है। संयम दो प्रकार से होता है-1. इन्द्रियसंयम और 2. प्राणीसंयम। इन्द्रियों की चंचल गति को रोकना इन्द्रियसंयम है और षट्कायिक जीवों की रक्षा का ध्यान रखना प्राणीसंयम है।

संयम का पालन करने से इच्छाएँ तथा लालसाएँ मन्द होती है, विषय-कषायों पर नियन्त्रण होता है, अहिंसा धर्म का पालन होता है और मन स्थिर बनता है। अस्तु, साधना के चरमोत्कर्ष तक पहुँचने के लिए संयम का पालन अपरिहार्य है।

5. तप– इच्छाओं का निरोध करना तप है। तप बारह प्रकार का कहा गया है। तप करने से व्यक्ति की महत्त्वाकांक्षाएँ कम होती है, शरीर स्वस्थ रहता है, आत्मा निर्मल बनती है, अंहकार और ममकार की भावनाएँ विलीन हो जाती हैं तथा कई प्रकार की लब्धियाँ और शक्तियाँ जागृत होती हैं।

6. दान– न्यायोपार्जित धन का सदुपयोग करना दान है। जैनाचार्यों ने कहा है-सम्पत्ति की सार्थकता दान में है, किन्तु सुपात्र को दिया गया दान ही अधिक फलवान होता है। दान करने से अहंकार या प्रसिद्धि की भावना जग जाए, तो वह दान निष्फल हो जाता है अत: दान वृत्ति कामना, प्रसिद्धि और फलरहित भावना से युक्त होना चाहिए।

निष्पत्ति– यदि दिगम्बर मान्य गृहस्थ के दैनिक षट्कर्म का ऐतिहासिक दृष्टि से पर्यावलोकन करें तो ज्ञात होता है कि आचार्य कुन्दकुन्द, जटासिंहनन्दि एवं जिनसेन (12 वीं शती) तक श्रावक के दैनिक कर्त्तव्य के रूप में दान, पूजा, तप और शील- ये चार कर्म थे। इससे परवर्तीकाल में पूजा, वार्त्ता, दान, स्वाध्याय, संयम और तप-इन छ: कर्मों को कर्त्तव्य के रूप में स्वीकारा जाने लगा। जिनसेनाचार्य ने इन छह कर्म को श्रावक के कुलधर्म के रूप में स्थापित किया है।[58] आचार्य सोमदेव और आचार्य पद्मनन्दि ने भी इन्हें षट्कर्मों के नाम से स्वीकार किया है। उपर्युक्त षट्कर्म कालक्रम के प्रभाव से 14वीं-15वीं शती के बाद अस्तित्व में आए हैं। आज भी गृहस्थ के दैनिक कर्त्तव्य के रूप में इन्हें ही स्वीकारा जाता है।

यह उल्लेख्य है कि श्वेताम्बर ग्रन्थों में भी श्रावक के षट्कर्म बतलाए गए हैं, परन्तु श्वेताम्बर परम्परा में मान्य षट्कर्म एवं दिगम्बर परम्परा के आधार पर बतलाए गए षट्कर्म में भेद परिलक्षित होता है। यद्यपि दोनों ही परम्पराएँ इसकी आवश्यकता को महत्त्व देती हैं, फिर भी उनमें आंशिक भिन्नताएँ हैं। श्वेताम्बर परम्परा के आचार्य हरिभद्र, आचार्य हेमचन्द्र के ग्रन्थों एवं इससे परवर्ती 16वीं-17वीं शती के ग्रन्थों में षट्कर्म की स्पष्ट चर्चा देखने को नहीं मिलती है। यद्यपि आचार्य हरिभद्रसूरि आदि ने श्रावक जीवन से सम्बन्धित विभिन्न कर्त्तव्यों का

निर्देश किया है, पर उनमें षट्कर्त्तव्यों की पृथक् चर्चा नहीं है। आचार्य हेमचन्द्र ने श्रावक की दैनिक-चर्या पर प्रकाश डालते हुए 'प्रतिक्रमण आदि षट्आवश्यक-क्रिया' करने का सूचन तो किया है, परन्तु यहाँ षडावश्यक से तात्पर्य सामायिक आदि छः आवश्यक-क्रियाओं से है।

यदि गहराई से अध्ययन करें, तो आचार्य हरिभद्र आदि द्वारा प्रतिपादित श्रावकधर्मविधिप्रकरण, श्रावकप्रज्ञप्ति आदि के अन्तर्गत व्युत्क्रम या बिखरे हुए अंशों में षट्कर्म के नाम तो मिल जाते हैं, किन्तु परवर्ती संकलित ग्रन्थों में इसकी अवधारणा अधिक स्पष्ट रूप से देखने को मिलती है। श्वेताम्बर मान्य षट्कर्म के नाम ये हैं-जिनेन्द्रपूजा, गुरू उपासना, सत्वानुकम्पा, सुपात्रदान, गुणानुराग और श्रुतिराग। जैन परम्परा के अतिरिक्त हिन्दू-धर्म में भी गृहस्थों के लिए आवश्यक षट्कर्मों का विधान है। पाराशरस्मृति के अनुसार षट्कर्मों के नाम निम्न हैं- 1. संध्या 2. जप 3. होम 4. देवपूजा 5. अतिथिसत्कार और 6. वैश्वदेव।[59]

इस प्रकार श्रावक के दैनिक-षट्कर्म की अवधारणा जैन एवं हिन्दू दोनों परम्पराओं में नामान्तर के साथ सुस्पष्टतः उपलब्ध होती हैं।

श्रावक के तीन मनोरथ

जो साधक अशुभकर्मों का क्षय और संसार का अन्त करने के लिए प्रयत्नशील हो चुका है और अन्तर्चेतना से जागृत है, उस श्रावक को प्रतिदिन तीन प्रकार के मनोरथों का अवश्य चिन्तन करना चाहिए। इन मनोरथों का स्मरण करने वाला श्रावक महानिर्जरा करने का अधिकारी बनता है। वे तीन मनोरथ (शुभ भावनाएँ) निम्न हैं[60]-

1. मैं कब अल्प या बहुत परिग्रह का त्याग करूँगा।
2. मैं कब मुंडित होकर गृहस्थधर्म से मुनिधर्म का पालन करूँगा।
3. मैं कब समाधिमरण की आराधना कर सागारी या निरागारी अनशनपूर्वक विचरण करूँगा।

पूर्वोक्त मनोरथों का चिन्तन करने से व्यक्ति के परिणाम ऋजु बनते हैं और वह उत्तरोत्तर आत्मलक्षी की दिशा में अग्रसर बनता है।

निष्पत्ति– यदि तीन मनोरथों के सम्बन्ध में समीक्षात्मक-दृष्टि से अध्ययन किया जाए, तो यह वर्णन आगमसाहित्य में एकमात्र स्थानांगसूत्र में उपलब्ध होता है। आगमेतर ग्रन्थों में यह चर्चा कई जगह उपलब्ध हैं, जो निर्विवादतः

स्थानांगसूत्र के आधार पर हुई मालूम होती है।

श्रावक की दिनचर्या का प्राचीन स्वरूप

जैन धर्म की शासन व्यवस्था का अर्धांग है श्रावक। मोक्षमार्ग की साधना का प्रथम सोपान श्रावकाचार से आरंभ होता है। महाव्रतों के कष्टसाध्य मार्ग पर आरूढ़ होने से पहले अणुव्रत रूप श्रावकधर्म का परिपालन करने की परिपाटी शाश्वत रूप से चली आ रही है। श्रावकधर्म की विशेषता यह है कि वह केवल मोक्षमार्ग की साधना नहीं है, प्रत्युत सांसारिक जीवन को भी व्यवस्थित और सन्मार्गगामी बनाने का साधन है।

गृहस्थ को व्यापारिक, पारिवारिक और आध्यात्मिक सभी प्रकार की भूमिकाओं का निर्वहन करना होता है। प्रश्न उठता है-वह संसार और विराग दोनों प्रकार के कर्त्तव्यों का किस प्रकार निर्वाह करता है? इस विषय में जैनाचार्यों का महान् योगदान रहा है। उन्होंने श्रावक की दैनिक चर्या का विधिवत् संयोजन किया है ताकि वह सभी कृत्यों को यथोचित रूप से सुसंपन्न कर सकें।

यदि ऐतिहासिक दृष्टि से पर्यवेक्षण करें, तो जहाँ तक जैन आगमों, प्रकीर्णकों, मूलसूत्रों का प्रश्न है वहाँ श्रावक की क्रमबद्ध चर्या का उल्लेख कहीं भी देखने को नहीं मिलता है। भगवतीसूत्र में जयन्ति श्राविका द्वारा पूछे गए प्रश्नों का वर्णन है। ज्ञाताधर्मकथासूत्र में मेघकुमार, धन्नासार्थवाह, तेतलीपुत्र, पुण्डरीक-कण्डरीक आदि जैन धर्म का अनुसरण करने वाले श्रावकों का ऐतिहासिक जीवन चरित्र अंकित है, किन्तु उनका गृहस्थधर्म किस प्रकार परिपालित होता था, इसका कोई संकेत नहीं है। तदनन्तर उपासकदशासूत्र जो कि आचारांगसूत्र का पूरक है। आचारांगसूत्र में जिस प्रकार मुनिधर्म का प्रतिपादन किया गया है, उसी प्रकार इस श्रुतांग में श्रावकधर्म का भी परिपूर्ण परिचय प्राप्त होता है। इसमें श्रावकों के नियम एवं व्रत आदि का सविस्तृत वर्णन है। यहाँ व्रतों के अतिचार भी स्पष्ट बताए गए हैं। इसके सिवाय कथानकों के माध्यम से जैन-गृहस्थ के धार्मिक नियम भी समझाए गए हैं, परन्तु उनकी विधिवत् दैनिक-चर्या का सूचन नहीं है। अन्तकृतदशासूत्र में भव परम्परा का अंत करने वाले विशिष्ट चारित्रात्माओं का वर्णन है। गौतम आदि वृष्णिकुल के अठारह राजकुमारों की तपोमय साधना का उत्कृष्ट वर्णन है, किन्तु उन महापुरूषों की दैनिक-चर्या क्या थी ? इस सम्बन्ध में कोई सामग्री प्रस्तुत नहीं है।

इससे सूचित होता है कि आगम-युग में श्रावक जीवन की प्रणाली विधिवत् अवश्य होगी, किन्तु तद्युगीन श्रावक जीवन के तप-संलेखना आदि अन्य पक्ष सबल होने के कारण अथवा लेखन कला विकसित न होने के कारण यह पक्ष अछूता रहा हुआ मालूम होता है।

जहाँ तक निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि एवं टीका विषयक ग्रन्थों का प्रश्न है, उनमें भी इस विषय को लेकर लगभग कोई चर्चा नहीं है। जहाँ तक

मध्यकालीन (5 वीं से 12 वीं शती के) ग्रन्थों का सवाल है वहाँ आचार्य हरिभद्रसूरिकृत पंचाशकप्रकरण, श्रावकधर्मविधिप्रकरण, श्रावकप्रज्ञप्ति आदि तथा हेमचन्द्राचार्यरचित योगशास्त्र आदि में इस विषयक प्रारम्भिक एवं सुव्यवस्थित स्वरूप उपलब्ध होता है। उत्तरकालीन आचारदिनकर आदि ग्रन्थों में भी यह विवरण प्राप्त होता है। संभवत: श्रावकचर्या का सुगठित स्वरूप भले ही परवर्ती ग्रन्थों में परिलक्षित होता हो, किन्तु आचार्य हरिभद्रसूरि के पूर्वकाल में इसका प्रायोगिक रूप मौजूद था, तभी आचार्य हरिभद्रसूरि इस प्रसंग में कुछ कह पाए।

पूर्वनिर्दिष्ट ग्रन्थों के अनुसार श्रावक की दिनचर्या एवं आचार विधि इस प्रकार है-

जैनाचार्यों ने श्रावक के रहने योग्य स्थान का उल्लेख करते हुए कहा है- जहाँ साधुओं का आगमन हो, जिनमन्दिर हों और सहधर्मी बन्धु रहते हों, वहीं श्रावक को रहना चाहिए।[61] आज यह पक्ष विचारणीय बनता जा रहा है। आधुनिक जीवन शैली में जीने वाले लोगों के लिए जिनालय या उपाश्रय का निकट होना उतना आवश्यक नहीं है, जितना कि मल्टीप्लेक्स, साइबरकेफे, बिगबाजार, होटल आदि का होना जरूरी है। यही वजह है कि आज की युवा पीढ़ी संस्कार विमुख होती जा रही है।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने श्रावक की दैनिकचर्या पर प्रकाश डालते हुए निर्दिष्ट किया है कि • वह ब्रह्ममुहूर्त्त (सूर्योदय होने के 48 मिनिट पूर्व) में उठ जाए। • निद्रा से जागृत होते ही नमस्कारमन्त्र का स्मरण करें। • फिर मैं श्रावक हूँ, व्रतधारी हूँ, मेरा क्या धर्म है, मेरा कुल क्या है, मैंने किन व्रतों को अंगीकार किया है, इन सबका चिन्तन करें। • उसके बाद शारीरिक-नित्य क्रियाओं से निवृत्त होवें।

तदनन्तर आचारदिनकर[62] के मतानुसार घर में या पौषधशाला में

प्रतिक्रमणादि करें। फिर पुष्प, नैवेद्य आदि सामग्री ग्रहण कर स्वयं के गृह चैत्य में जाएं। जिनप्रतिमा की फलादिपूर्वक द्रव्यपूजा एवं चैत्यवन्दन पूर्वक भाव पूजा करें। • फिर नवकारसी, पौरूषी, एकासना आदि का आत्मसाक्षी एवं देवसाक्षी से प्रत्याख्यान ग्रहण करें।[63] • उसके बाद अपने नगर के प्रमुख चैत्यालय में जाए। वहाँ विधिपूर्वक प्रवेश करें। • फिर रत्नत्रय आदि की आराधना-निमित्त जिनप्रतिमा की तीन प्रदक्षिणा करें । • फिर उत्तम प्रकार के पुष्प- फलादि द्वारा द्रव्यपूजा करें। • तदनन्तर चैत्यवन्दन करें।[64] यदि समय हो, तो पाँच शक्रस्तव-पूर्वक देववन्दन करें अथवा मध्यम या जघन्य चैत्यवंदन करें।

• उसके बाद जिनालय के समीप उपाश्रय में गुरू महाराज विराजित हों, तो उनके पास आएं और विधिवत् वन्दन करें। फिर देवसाक्षी से गृहीत प्रत्याख्यान को गुरूसाक्षीपूर्वक गुरूमुख से ग्रहण करें। यहाँ मुनिभगवन्त पदस्थ हों, तो उन्हें द्वादशावर्त्तवन्दन करें। हेमचन्द्राचार्य के अनुसार गुरू की प्रतिपत्तिपूर्वक प्रत्याख्यान ग्रहण करें। गुरू की प्रतिपत्ति (सेवाभक्ति) पूर्वक गृहीत प्रत्याख्यान विशेष लाभदायी और आत्महितकारी होता है।[65] • फिर गुरू से आगम शास्त्रों का श्रवण करें। • उसके बाद साधुओं से उनके स्वास्थ्य के बारे में पूछें। यदि कोई साधु रूग्ण हो, तो औषधि आदि आवश्यक वस्तुओं की व्यवस्था करें।

फिर पन्द्रह कर्मादान तथा अनीति आदि का त्याग करके जिसमें अत्यल्प पाप हो, वैसा व्यापार करें। • उसके बाद आचार्य हरिभद्रसूरि के मतानुसार शास्त्रोक्त विधि से भोजन करें। जिस समय भोजन करने से शरीर निरोग रहता हो या प्रत्याख्यान का पालन होता हो, उसे ही भोजन का उचित समय जानना चाहिए। असमय भोजन करने से धार्मिक बाधा और शारीरिक नुकसान होता है। • भोजनोपरान्त (मुट्ठिसहियं, तिविहार आदि के) प्रत्याख्यान लें। • फिर जिनमन्दिर या आराधना-स्थल में शास्त्रवेत्ताओं के साथ शास्त्रवार्त्ता करें। • उसके बाद मध्याह्नकाल में जिनप्रतिमा के समक्ष चैत्यवंदन करें।[66]

यहाँ हेमचन्द्राचार्य के अनुसार आवश्यक व्यापार से निवृत्त होने के बाद मध्याह्नकाल की पूजा करें, उसके बाद भोजन करें, फिर धर्म चर्चा करें।[67] • तदनन्तर जो साधु वैयावृत्य करते-करते थक गए हों और विशेष कारण से विश्राम करना चाहते हों, श्रावक को चाहिए कि उनको थकान दूर करने दें।

• फिर नमस्कार महामन्त्र का ध्यान करें, याद किए गए सूत्र पाठों का पुनरावर्तन करें तथा अन्य और भी उचित कृत्यादि सम्पन्न करें। • उसके बाद सन्ध्याकाल में आरती, धूप खेवन आदि के द्वारा सांयकालीन पूजा का कृत्य सम्पन्न करें • फिर दिवस सम्बन्धी अतिचारों का मिथ्यादुष्कृत दैवसिक-प्रतिक्रमण करें।

• तत्पश्चात् श्रेष्ठ विधिपूर्वक स्वाध्याय-ध्यान आदि करें।[68] • तदनन्तर सोने के पूर्व देव-गुरू आदि का स्मरण करें। • फिर यथाशक्ति स्त्री-सहवास का त्याग करें। • स्त्री-शरीर के स्वरूप का चिन्तन करें जैसे-स्त्री का शरीर वीर्य रक्त से उत्पन्न हुआ है, उसके नौ छिद्रों से मल पदार्थ बाहर निकलते हैं अत: मल-मूत्र से उसका शरीर अपवित्र है। अब्रह्म का त्याग करने वालों पर आन्तरिक प्रेम रखें। • फिर विधिपूर्वक शयन करें। • दूसरे दिन रात्रि बहुत शेष हो, तभी जग जाए। उस समय कर्म सिद्धांत आदि सूक्ष्म पदार्थों के स्वरूप का चिन्तन करें अथवा संसार की अनित्यता आदि के विषय में विचार करें अथवा क्लेश आदि पापकर्मों से कब और कैसे निवृत्ति होगी-इस विषय में शान्तचित्त से सोचें।[69]

निष्पत्ति– यदि श्रावक की दिनचर्या विधि का उपलब्ध ग्रन्थों के आधार पर तुलनात्मक अध्ययन किया जाए तो कुछ तथ्य स्पष्ट होते हैं-

❁ ऐतिहासिक दृष्टि से यह विधि आचार्यहरिभद्रकृत पंचाशक प्रकरण, आचार्यहेमचन्द्रकृत योगशास्त्र एवं वर्धमानसूरिकृत आचारदिनकर में उल्लेखित है। पंचाशक प्रकरण आदि में प्रस्तुत विधि किंचिद् अन्तर के साथ प्राप्त होती है।

जैसे कि आचार्य हरिभद्रसूरिजी एवं आचार्य हेमचन्द्रसूरिजी ने श्रावक के लिए प्रात:कालीन षडावश्यक क्रिया करने का स्पष्ट निर्देश नहीं किया है, जबकि आचार्य वर्धमानसूरि ने चैत्यवंदन (दिन का पहला चैत्यवंदन) करके प्रतिक्रमण करने का स्पष्ट उल्लेख किया है। हां! सन्ध्याकालीन षडावश्यक का उल्लेख तीनों ग्रन्थों में समान रूप से है।

❁ आचार्य हरिभद्र एवं आचार्य हेमचन्द्र ने श्रावक की दिनचर्या के क्रम में मध्याह्नकालीन पूजा करने के पूर्व एक बार ही न्यायोचित व्यापार करने का निर्देश किया है, जबकि आचारदिनकर में दो बार व्यापार करने का उल्लेख है। इसमें कहा गया है कि मध्याह्नकाल में धर्मचर्चा आदि करने के पश्चात् पुन: व्यापारादि में प्रवृत्त होवें।

❁ मध्याह्नकालीन श्रावकचर्या एवं पूजा के सम्बन्ध में योगशास्त्र और आचारदिनकर का एकमत है। इनमें श्रावक की मध्याह्नचर्या का प्रतिपादन करते हुए बतलाया है कि वह आवश्यक व्यापार से निवृत्त होने के बाद पूजा-विधि करें। उसके बाद भोजन करें, फिर धर्म चर्चा करें। जबकि पंचाशक प्रकरण में व्यापार कार्य से निवृत्त होने के पश्चात भोजन करने का निर्देश है। उसके बाद जिनमन्दिर में आगम वाणी का श्रवण कर, चैत्यवन्दन आदि करने का निरूपण है।

सुस्पष्टत: आचार्य हरिभद्रसूरि ने भोजन करने के उपरान्त मध्याह्नपूजा करने का सूचन किया है तथा आचार्य हेमचन्द्र ने मध्याह्न पूजा करने के पश्चात् भोजन करने का निर्देश किया है। वर्तमान में त्रिकाल-पूजा या मध्याह्नकालीन पूजा करने वाले गृहस्थ प्राय: पूजा करने के बाद ही भोजन करते हैं। आचारदिनकर में भोजन करने से पूर्व साधु को आहार हेतु निमंत्रित करने का भी उल्लेख किया गया है।

❁ पंचाशक आदि ग्रन्थों में त्रिकाल पूजा के समय कब, कौनसी पूजा की जानी चाहिए, यह विवरण भी स्पष्टत: पढ़ने को नहीं मिलता है। आचार्य हरिभद्र ने जिनेन्द्रदेव का सत्कार, चैत्यवन्दन आदि करना चाहिए इतना उल्लेख किया है। 'आदि' शब्द के स्पष्टीकरण हेतु पंचाशक टीका का अध्ययन आवश्यक है। आचार्य हेमचन्द्र ने प्रात:कालीन पूजा के सम्बन्ध में पुष्पादि द्रव्यों को चढ़ाने का एवं सायंकालीन पूजा के प्रसंग में धूप-दीप आदि करने का सूचन किया है। आचारदिनकर में प्रात: एवं मध्याह्न दोनों समय द्रव्यादिपूर्वक विशिष्ट पूजा करने का वर्णन है। इस विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि श्रावक को प्रात: एवं मध्याह्न काल में द्रव्य और भाव दोनों तरह की पूजा करनी चाहिए। वर्तमान परिपाटी में प्रात:काल में वासक्षेप पूजा, मध्याह्न काल में अष्टप्रकारी द्रव्यपूजा एवं चैत्यवन्दनरूप भावपूजा तथा संध्याकाल में आरती-दीपक करने का व्यवहार देखा जाता है। संभवत: यह परम्परा जीत व्यवहार से प्रचलन में आई हो क्योंकि पूर्ववर्ती ग्रन्थों में तो इस प्रकार की निश्चित क्रियाविधि का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता है।

वर्तमान दृष्टि से मनन करें, तो त्रिकालपूजा करने वाले भाई-बहिन अपनी सुविधानुसार दर्शन-पूजन के लिए परमात्मा के द्वार पर पहुँचते हैं और एक ही

बार में त्रिकालदर्शन विधि की इतिश्री कर लेते हैं।

विधि-अविधि की सम्यक जानकारी होने के बावजूद भी वर्तमान की महत्त्वाकांक्षाओं ने इतना व्यस्त और धनसंग्रह की बीमारी से ग्रस्त बना दिया है कि वह धार्मिक-आराधनाओं को यन्त्रवत् सम्पन्न कर रहा है।

श्रावकाचार और पर्यावरण

व्यक्ति और पर्यावरण अन्योन्याश्रित हैं। व्यक्ति से पर्यावरण और पर्यावरण से व्यक्ति संप्रभावित होते हैं अत: व्यक्ति और पर्यावरण-दोनों की शुद्धता पर ध्यान दिया जाना चाहिए।

आधुनिक विज्ञान का मानना है कि तृष्णा और लोभ से समग्र वातावरण दूषित होता है, जबकि पर्यावरण की सुरक्षा करना श्रावकाचार की पृष्ठभूमि है। श्रावकाचार से तात्पर्य है- अहिंसा, सत्य, अचौर्य, अपरिग्रह, मैत्री, दया, करूणा के मार्ग को स्वीकार करना तथा मद्य-मांसादि अभक्ष्य पदार्थों के सेवन का त्याग करना। प्रदूषण मुक्ति का सर्वोत्तम उपाय है-'सादा जीवन उच्च विचार।'

व्यक्ति की मानसिक मलीनताएँ ही उसके आस-पास के वातावरण को प्रदूषित करती हैं और उसकी स्वयं की सुंदर भावनाएँ ही उसके आस-पास के पर्यावरण को स्वच्छ बनाती हैं। यही कारण है कि धार्मिक-आराधनाएँ उत्तम स्थलों पर की जाती हैं। धार्मिक-स्थलों की अपेक्षा घर पर की जाने वाली साधनाओं में मन अधिक अस्थिर और चंचल रहता है। इसका मूल कारण वातावरण की अपवित्रता है। वातावरण का सही निर्माण व्यक्ति की जीवन-शैली पर आधारित है। जीवन शैली को सर्वोत्तम एवं सर्वोत्कृष्ट बनाने हेतु श्रावकाचार की भूमिका पर आरूढ़ होना प्रत्येक के लिए अनिवार्य है। जैन ग्रन्थों का अध्ययन करने से सुस्पष्ट होता है कि जैनाचार्य पर्यावरण की समस्या से भलीभाँति परिचित थे और प्रदूषण की संभावनाएँ उनके सामने थीं, इसीलिए उन्होंने सबसे पहली व्यवस्था इस प्रकार की, जिससे व्यक्ति यतनापूर्वक चले, यतनापूर्वक बैठे, यतनापूर्वक बोले, यतनापूर्वक सोए। इस प्रकार की संयमित जीवन शैली द्वारा व्यक्ति पापकर्मों के दूषण एवं पर्यावरण के प्रदूषण दोनों से अपना संरक्षण कर सकता है।

जैन परम्परा के प्रथम तीर्थंकर प्रभु ऋषभदेव पर्यावरण सुरक्षा के प्रथम संवाहक महापुरूष थे जिन्होंने पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति में जीव के अस्तित्व की अवधारणा दी और उनकी रक्षा के लिए अहिंसा को व्यापक बनाया। उन्होंने पर्यावरण की परिधि को भी असीमित कर दिया। यह अहिंसा केवल स्थावर कायिक जीवों तक ही सीमित नहीं है, बल्कि त्रसजीव भी इस परिधि में सम्मिलित होते हैं। इसमें आध्यात्मिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक आदि वे सारे क्षेत्र भी आ जाते हैं, जिनका सम्बन्ध व्यक्ति और समाज से है। इन सारे क्षेत्रों के पर्यावरण को विशुद्ध बनाए रखने में जैनधर्म के जो सिद्धान्त हैं, वे अनुपम, अकाट्य और मानवता को जगाने वाले हैं। जैनाचार्यों ने श्रावकाचार के रूप में उन सिद्धान्तों को विशेष रूप से उपन्यस्त किया है। यदि पर्यावरण को गहराई से समझकर उसे धर्म एवं मानवता से जोड़ दिया है कि एक का सुख दूसरे का सुख और एक का दुःख, दूसरे का दुःख बन जाता है। किसी एक वर्ग द्वारा की गई असावधानी से दूसरा वर्ग प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता।

यह प्रत्यक्षीभूत भी है कि वैचारिक-प्रदूषण वातावरण को प्रदूषित करता है जैसे- एक ग्रह में विस्फोट होने से दूसरे ग्रह का वातावरण बदल जाता है। सूर्य सौरमण्डल का केन्द्र है। पृथ्वी पर रहने वाले पशु, मानव आदि समस्त जीवों का जीवन सूर्य पर आधारित है। जल, वर्षा, वृक्ष, स्वास्थ्य, भोजन, आवास, वायु-यह सब कुछ सूर्य के आधार से है। सौरमण्डल के परिवर्तन से हमारा जीवन तुरन्त प्रभावित होता है। भूकम्प, ज्वारभाटा आदि जैसे प्रकृति के प्रकोप भी सौरमण्डल के कारण होते हैं। आधुनिक-वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध कर दिया है कि पृथ्वी ग्रहों से प्रभावित होती है और ग्रह पृथ्वी से प्रभावित होते हैं। प्राकृतिक और कृत्रिम गैसो, विस्फोटों के विकिरण से ग्रहों पर हुए प्रभाव का अनुभव सभी ने किया ही है। मिश्र, ब्रिटेन, अमेरिका, फ्रांस आदि देशों में पहाड़ों पर अधिक बर्फ जमना, वर्षा आना, सूखा पड़ना, भूमि-स्खलन होना, ज्वारभाटा आना आदि सब कुछ सौरमण्डल के प्रभाव से होता है।

जैन परम्परा में उत्सर्पिणीकाल और अवसर्पिणीकाल का जो विवरण मिलता है, वह सौरमण्डल की गति-स्थिति से बहुत जुड़ा हुआ है। यह सब पर्यावरण का ही भाग है। अस्तु, पर्यावरण की सुरक्षा के लिए ही धर्म का जन्म

हुआ है। मूलत: जैन-धर्म प्रकृतिवादी है और उसने प्रकृति को सुरक्षित रखने के लिए आत्म-तुला सिद्धान्त को प्रस्थापित कर अहिंसा को नया आयाम दिया है। अणु-परमाणु बम की होड़ में आज सारा विश्व तृतीय विश्वयुद्ध के कगार पर पहुँच गया है। उसका अधिकांश धन सुरक्षा पर खर्च हो रहा है। ऐसी स्थिति में भगवान महावीर का यह वाक्य स्मरणीय है- **'णत्थि असत्थं परेण परं'** अर्थात अशस्त्र (अहिंसा) के समान कोई शस्त्र नहीं है।[70]

यह गौरव का विषय है कि जैन तीर्थंकरों एवं उनके अनुयायी आचार्यों ने पर्यावरण को सुरक्षित रखने एवं जीवन को सुखी बनाने के लिए जीवन को धर्म और अध्यात्म से जोड़ दिया है। अहिंसा और अपरिग्रह के माध्यम से सर्वसाधारण जनता को पर्यावरण सुरक्षित रखने का जो पाठ दिया है, वह सचमुच बेमिसाल है। धर्म को दया और संयम आदि जैसे मानवीय गुणों के साथ जोड़कर अन्तश्चेतना को झंकृत करने का सुपथ दिया है। इतना ही नहीं, प्रकृति को राष्ट्रीय सम्पत्ति मानकर उसे सुरक्षित रखने का विशेष आह्वान जैनाचार्यों की देन है। उन्होंने आध्यात्मिक और साहित्यिक ग्रन्थ लिखकर यह स्पष्ट संदेश दिया है कि जीवन में जब तक अहिंसा और अपरिग्रह का पालन नहीं होगा, व्यक्ति और समाज सुखी नहीं रह सकता। इस दृष्टि से श्रावकाचार की जीवन-पद्धति एक नई दिशा प्रदान करती है और यह सिद्ध करती है कि श्रावकाचार और पर्यावरण एक-दूसरे के साथ गहरे जुड़े हुए हैं तथा पर्यावरण को प्रदूषण से बचाने में श्रावकाचार का विशिष्ट स्थान है।

सम्यक्त्वादि व्रतों का स्वरूप, महत्त्व एवं उसके उद्देश्य

व्रत शब्द 'वृञ् वरणे' धातु से सिद्ध है। इसका अर्थ है- स्वेच्छा से नियमों को स्वीकार करना। व्रत एक प्रकार की प्रतिज्ञा है, मन को नियन्त्रित करने का अचूक उपाय है, कुसंस्कारों के विलीनीकरण का एक मार्ग है, सत्संस्कारों के बीजारोपण का केन्द्र स्थल है और समस्त प्रकार की दुष्प्रवृत्तियों को अवरूद्ध करने का अमोघ शस्त्र है। व्रत मानव जीवन के लिए तटबन्ध के समान है, जो स्वच्छन्द चलते हुए जीवन प्रवाह को मर्यादित रखता है। व्रत-विहीन व्यक्ति तटहीन नदी की भाँति उच्छृंखल और स्वच्छन्द होता है, वह कभी भी प्रलय की स्थिति उत्पन्न कर सकता है।

जो लोग व्रत-नियम आदि से घबराते हैं, उनके लिए यह ध्यान देने योग्य

है कि व्रत के पालन और कानून के पालन में बड़ा अन्तर है। कानून के नियम स्वेच्छा से स्वीकृत नहीं होते हैं, किन्तु व्रत स्वेच्छा से स्वीकार किए जाते हैं। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य भी है कि जो वस्तु जबरन लादी जाती है, उस वस्तु (नियम) को भंग करने के लिए मन चाहता है, परन्तु जो नियम स्वेच्छा से स्वीकृत हों, उसे वह व्यक्ति प्राण प्रण से निभाता है। व्रत एक प्रकार का आत्मसंयम है। व्रत दमन नही, शमन है। जब व्यक्ति स्वेच्छा से व्रतों को ग्रहण नहीं करता है, तब शासन की ओर से दण्ड थोपा जाता है। स्वच्छन्दता को रोकने के लिए ही नियमों का विधान किया जाता है। इससे सुस्पष्ट है कि व्रत स्वाधीन है, स्वेच्छाधीन है एवं स्व-स्वीकृत है।

आचार्य पतंजलि ने योग साधना के लिए यम और नियम पर अत्यधिक बल दिया है। यम और नियम-दोनों ही व्रत हैं। जैनाचार्यों ने योगसाधना और आत्मसाधना के लिए व्रतों का पालन आवश्यक माना है, क्योंकि व्रतपालन के माध्यम से साधना का विकास एवं उसकी पूर्णता होती है।[71] यह अनुभवसिद्ध सत्य है कि जब तक मानव किसी प्रकार का व्रत या नियम ग्रहण नहीं करता है, तब तक उसका मन अस्त-व्यस्त रहता है, जबकि प्रतिज्ञाबद्ध व्यक्ति निश्चल हो जाता है।

पाश्चात्य-शिक्षा और संस्कृति में पलने वाले लोगों का यह मानना है कि जीवन में व्रत की कोई आवश्यकता नहीं है। व्रतों का ग्रहण करना एक प्रकार से इच्छाओं का दमन करना है, अपने-आपको बन्धन में आबद्ध करना है। चूंकि बन्धनमय जीवन नीरस बन जाता है अत: व्रत ग्रहण करना अनावश्यक है। कुछ चिन्तकों का यह अभिमत है कि नियमों का पालन करना उचित है किन्तु उसके लिए व्रत लेने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि व्रत लेने के पश्चात् कोई बाधा उपस्थित हो गई, तो उस समय व्रत बन्धन कारक बन जाएगा, इसलिए जानबूझकर अपने आपको बन्धन में डालना उचित नहीं है।

इस विषय में अनुभव कहता है कि व्रत ग्रहण करने के सम्बन्ध में जो तर्क दिए जाते हैं, वे निर्बल मन के प्रतीक हैं। जबकि व्रत का स्वीकार स्वेच्छा से होता है। व्रत ग्रहण मानव मन की इच्छा पर निर्भर है। कोई भी व्रत हठात् नहीं दिया जाता वह तो स्वेच्छा से ही ग्रहण किया जाता है। कुछ समय के लिए यह स्वीकार भी कर लिया जाए कि व्रत बन्धन है, पर यह बन्धन अपनी इच्छा का

स्वीकृत बन्धन है। आत्मोत्थान की मंगलमय भावना से ग्रहण किया गया बन्धन है। वस्तुत: व्रत इच्छओं का दमन नहीं, शमन है।

यदि आगम-साहित्य का अवलोकन करें, तो व्रत की मूल्यवत्ता और अधिक स्पष्ट हो जाती है। इसमें वर्णन आता है कि जो भी मुमुक्षु साधक तीर्थंकर परमात्मा या आचार्यों के निकट आता था, उसे सर्वप्रथम व्रतों का स्वरूप समझाया जाता था। तत्पश्चात् वह साधक स्वयं व्रत ग्रहण करने के लिए अपनी भावना प्रभु के समक्ष व्यक्त करता था, तब तीर्थंकर परमात्मा कहते **'जहा सुयं देवाणुप्पिया, मा पडिबद्धं करेह'** – हे देवानुप्रिय! तुम्हें जैसा सुख उत्पन्न हो, वैसा करो। इस आगम वचन से सिद्ध होता है कि साधक की स्वयं की रूचि, इच्छा और शक्ति पर व्रत ग्रहण करना छोड़ दिया जाता था। इससे यह भी फलित होता है कि व्रत लेने-देने की वस्तु नहीं, यह तो स्वेच्छा से स्वयं ग्रहण करने की वस्तु है। इससे यह मानना होगा कि व्रत बन्धन नहीं है, वरन् निश्छल एवं निर्दोष रूप से जीवन जीने की महत्वपूर्ण कला है।

व्रत का उद्देश्य सदा सर्वदा महान होना चाहिए। किसी भी व्रत का पालन भौतिक पदार्थों की प्राप्ति, शारीरिक इच्छाओं की उपलब्धि या किसी प्रकार के चमत्कारों की लालसा से रहित किया जाना चाहिए। व्रतों का पूर्णत: पालन करने के लिए हृदय मे उत्साह होना चाहिए। वही व्रत जीवन में प्रचण्ड शक्ति का संचार करता है, कर्मो की निर्जरा करता है, आत्मशुद्धि के साथ-साथ परमात्म भाव की प्राप्ति और वीतरागता की उपलब्धि करवाता है। अत: व्रतग्राही साधकों को यह ध्यान रखना परम आवश्यक है कि व्रत का स्वीकार भौतिक इच्छा, सांसारिक लिप्सा, स्वार्थवृत्ति एवं प्रलोभन आदि के उद्देश्य को लेकर न हो।

व्रत ग्रहण करने के विषय में यह विवेक भी आवश्यक है कि कोई भी व्रत क्रोध, मान, माया या लोभ के आवेश में आकर ग्रहण नहीं किया जाए, क्योंकि क्रोधादि से आविष्ट होकर ग्रहण किया गया व्रत सुव्रत नहीं होता अपितु वह व्रत का अभिनयमात्र हो सकता है। व्रतप्रदान के सम्बन्ध में भी यह विवेक रखना अनिवार्य है कि साधक की योग्यता और क्षमता को देखकर व्रत प्रदान किया जाए। जैसे-एक व्यक्ति पूर्ण स्वस्थ है, शरीर से हृष्ट-पुष्ट है, तो उसे संथारा ग्रहण करवाना अनुचित है किन्तु अस्वस्थ हो, मृत्युवेला निकट आ चुकी हो, तो संलेखना न करवाना अनुचित है अतएव पात्रता एवं स्थिति को देखकर व्रत

प्रदान करें। जैसे-आनन्द, कामदेव आदि श्रावकों ने अणुव्रत ग्रहण किए तथा धन्ना, शालिभद्र, मेघकुमार आदि ने महाव्रत ग्रहण किए।

सम्यक्त्वादि-व्रतग्रहण करने का अधिकारी कौन

जैन आगमों में यह स्पष्ट कहा गया है कि व्रती वही बन सकता है, व्रत ग्रहण का संकल्प वही कर सकता है, जिसने शल्यों का परित्याग किया हो।[72]

शल्य का अर्थ है- तीक्ष्ण कांटे या तीर।

जैन ग्रन्थों में तीन प्रकार के शल्य कहे गए हैं-1. मायाशल्य 2. निदानशल्य और 3. मिथ्यात्वशल्य।

1. माया शल्य– जिस व्रत का जो महान् उद्देश्य है उसका ख्याल न रखते हुए मात्र लोगों को दिखाने के लिए व्रत ग्रहण करना माया-शल्य है। क्योंकि मायापूर्वक व्रत ग्रहण करने वाला साधक गुप्त रूप से व्रत का भंग कर सकता है, जन-सामान्य के सम्मुख व्रतधारी होने का अभिनय कर सकता है, कदाच् किसी के द्वारा प्रतिज्ञा भंग करते हुए उसे देख लिया जाए तो जिन शासन की अवहेलना, लोक निन्दा आदि हो सकती है। इन्हीं कुछ कारणों से मायावी व्यक्ति के लिए व्रत ग्रहण करने का निषेध किया गया है।

2. निदान शल्य– किसी भी व्रत को फलाकांक्षा, लालसा एवं सांसारिक-कामना की चाहपूर्वक स्वीकार करना निदान शल्य है। जैसे-मैं इतना तप करूंगा, तो मुझे स्वर्ग मिलेगा, मैं किसी को दान दूंगा, तो परभव में धनी बनूंगा, इस तरह प्रतिफल की अपेक्षा से व्रत का स्वीकार करना। यदि कोई साधक निदान(फल प्राप्ति) की भावना पूर्वक व्रत स्वीकार करता है, तो वह एक प्रकार की सौदेबाजी है जबकि बिना किसी कामना के अंगीकार किया गया व्रत क्षणभर में अनन्त कर्मों की निर्जरा कर सकता है, तब महान् फल को तुच्छ वस्तु के लिए समर्पित करना कहाँ की समझदारी है? अत: व्रत का ग्रहण निदानरहित होना चाहिए, वही विशुद्ध आराधना का प्रकार है।

3. मिथ्यादर्शन शल्य– अज्ञानता, नासमझी या मिथ्याधारणा पूर्वक व्रत अंगीकार करना मिथ्यादर्शन शल्य है। व्रती के लिए मिथ्यादर्शन शल्य का त्याग करना परमावश्यक है, क्योंकि जहाँ तक मिथ्यात्व रहता है, वहाँ तक व्रत का पालन सम्यक प्रकार से नहीं हो सकता। इसी के साथ मिथ्यात्वबुद्धि के रहने पर व्रती प्रतिपल संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय के कारण न सम्यग्ज्ञान कर

सकता है और न ही सम्यक्श्रद्धा कर पाता है। वह हर क्षण संशय के झूले में झूलता रहता है, मिथ्यात्व वश किसी वस्तु का विपरीत स्वरूप पकड़ लेता है जिससे वह यथार्थ निर्णय भी नहीं कर पाता है और यथार्थ निर्णय के अभाव में व्रत का यथार्थ परिपालन नहीं कर सकता है, इसलिए व्रती को मिथ्यात्व शल्य से रहित होना चाहिए।

जिस प्रकार शरीर पर चुभे हुए कांटे प्राणान्तक पीड़ा पहुँचाते रहते हैं, उसी प्रकार शल्यसहित व्रत ग्रहण करने वालों को पूर्वोक्त शल्य जीवन भर पीड़ित करते रहते हैं जिससे आत्मा का विकास नहीं हो पाता। इसलिए आत्मशुद्धि के इस मार्ग पर आरूढ़ हाने वाले साधक को नि:शल्य होना चाहिए। ऐसा व्यक्ति ही व्रत-पालन के योग्य कहा गया है, क्योंकि व्रत आदि का निर्दोष पालन सरल-सहज व्यक्ति के लिए ही संभव है।

सम्यक्त्व आदि व्रतग्रहण की आवश्यकता क्यों?

यह विचारणीय तथ्य है कि जब व्यक्ति सम्यक्त्वव्रत, बारहव्रत, सामायिकव्रत, उपधानतप आदि का प्रतिज्ञापूर्वक एवं संकल्पपूर्वक पालन कर सकता है, तब इन्हें स्वीकार करने हेतु विशिष्ट विधि की क्या आवश्यकता है? तथा व्रत ग्रहण के दिन नन्दीरचना, देववन्दन, उपवास आदि का क्या महत्त्व है?

इसका उचित समाधान यही दिया जा सकता है कि जिस प्रकार चिकित्सक के घर जन्म लेने मात्र से कोई चिकित्सक नहीं बन जाता उसके लिए चिकित्सा की पढ़ाई करना एवं उसकी परीक्षा समुत्तीर्ण करना जरूरी होता है, उसी प्रकार उच्च कुल में जन्म लेने मात्र से ही कोई श्रावक नहीं बनता, उसके लिए शक्ति के अनुसार परमात्मा की पूजा करना, सकल संघ के समक्ष संकल्पित नियम को स्वीकार करना, गुरूमुख से पाप आदि कार्य न करने की प्रतिज्ञा आदि करना आवश्यक है। सकल संघ के समक्ष प्रतिज्ञाबद्ध होना-यह जैन श्रावक की कोटि में प्रवेश करने का प्रमाण-पत्र है और श्रावकत्व की दीक्षा स्वीकार करने का परीक्षण है। उपर्युक्त अनुष्ठान सम्पन्न करने से व्रतग्राही गृहीत व्रतादि का निष्ठापूर्वक पालन करता है।

व्रतग्रहण की आवश्यकता का दूसरा प्रयोजन यह कहा जा सकता है कि व्रत या तप ऐसे गुण हैं जो जन्मजात प्राप्त नहीं होते हैं। उन्हें अर्जित करना होता

है, इसलिए भी व्रत-ग्रहण की एक सुनिश्चित विधि की आवश्यकता महसूस होती है।

तीसरा कारण यह है कि चतुर्विध संघ के समक्ष किसी भी प्रकार की ली गई प्रतिज्ञा में स्थायित्व की सम्भावना रहती है, क्योंकि निर्दिष्ट गुणवाला गृहस्थ हो, तो वह लोकलज्जा, निश्छलता आदि गुणों को धारण करता हुआ गृहीत प्रतिज्ञा के प्रति सदैव जागृत एवं सचेत रहता है। किसी भी परिस्थिति में अपनी प्रतिज्ञा को खण्डित नहीं कर सकता। यहाँ तक कि प्रतिज्ञा भंग से होने वाले दुष्परिणामों के बारे में भी रहेगा। ऐसे अनेक कारण हैं जिनसे व्रत अनुष्ठान की अनिवार्यता सिद्ध होती हैं।

व्रत-ग्रहण करने के विभिन्न विकल्प

जैन धर्म में मुख्य व्रतों को अणुव्रत या महाव्रत कहा है। योगदर्शन में उसे 'पंचयम' कहा गया है और बौद्ध धर्म में उसे 'पंचशील' माना है। इससे ध्वनित होता है जैन, बौद्ध और वैदिक परम्परा में व्रत का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है।

जैन दर्शन सूक्ष्म चिन्तन प्रधान दर्शन है। वह व्रत ग्रहण के

सम्बन्ध में कुछ विकल्प रखता है। उसका यह कहना है कि

मुनिधर्म(पंचमहाव्रत) स्वीकार करने पर किसी प्रकार के विकल्प नहीं रखे जाते हैं। उसमें विकल्प रखने की आवश्यकता ही नहीं रहती है, क्योंकि मुनिधर्म उत्सर्ग-मार्ग है और गृहस्थ धर्म अपवाद-मार्ग है।

गृहस्थ सामाजिक, पारिवारिक एवं भौतिक-जगत् के बीच पलता है, उसे कभी भी किसी प्रकार की बाधा आ सकती है। दूसरा कारण यह है कि उसके जीवन में व्यवहार की प्रधानता रहती है, निश्चय के आदर्श पर चलना उसके लिए मुश्किल है अत: वह किसी भी प्रकार के व्रत को पूर्णतया धारण करने में समर्थ नहीं हो सकता है। एतदर्थ उसके लिए कुछ विकल्प बताए गए हैं, ताकि वह गृहस्थी के बन्धन में रहते हुए भी व्रतों का यथाशक्ति पालन कर सके। इससे फलित होता है कि मुनिधर्म निर्विकल्प है और गृहस्थ-धर्म सविकल्प है। मुनि के व्रत-नियम आदि विकल्प(छूट) रहित हैं और गृहस्थ के व्रत, नियम आदि विकल्पसहित हैं। मुनि जीवन की साधना कठोरता के साथ आगे बढ़ती है और गृहस्थ जीवन की साधना सरलता के साथ आगे बढ़ती है।

सिद्धान्तत: गृहस्थ श्रावक अपने व्रतों का पालन अनेक विकल्पों से कर

सकता है। व्रत-ग्रहण काल में सामान्य रूप से उनपचास विकल्पों का सहारा लिया जाता है। ये विकल्प तीन करण और तीन योग से मिलकर बनते हैं। करण और योग-ये दोनों जैन दर्शन के पारिभाषिक शब्द हैं। जिसके द्वारा कार्य किया जाए, वह करण कहलाता है। कितने ही कार्य स्वयं के द्वारा किए जाते हैं, कितने ही कार्य दूसरों से करवाए जाते हैं और कितनी ही बार दूसरों के द्वारा किए गए कार्यों का अनुमोदन (समर्थन) किया जाता है। इन तीन करणों को क्रमशः कृत, कारित और अनुमोदित कहते हैं। मन, वचन और काया-ये योग के तीन प्रकार हैं। इन तीनों को प्रवृत्ति और कार्य से जोड़ना योग कहलाता है।

त्याग की तरतमता की अपेक्षा से श्रावक व्रत के निम्न आठ विकल्प होते हैं–[73]

1. दो करण तीन योग से त्याग करने वाला।
2. दो करण दो योग से त्याग करने वाला।
3. दो करण एक योग से त्याग करने वाला।
4. एक करण तीन योग से त्याग करने वाला।
5. एक करण दो योग से त्याग करने वाला।
6. एक करण एक योग से त्याग करने वाला।
7. उत्तरगुणसम्पन्न।
8. अविरतसम्यगदृष्टि।

गृहस्थ साधक अपनी रूचि और शक्ति के अनुसार व्रतों को ग्रहण कर सकता है। इस अपेक्षा को ध्यान में रखते हुए ये विकल्प कहे गए हैं।

कुछ श्रावक प्रथम भंग के अनुसार, कुछ द्वितीय भंग के अनुसार और कुछ तृतीय, चतुर्थ, पंचम और षष्ठम भंग के अनुसार अणुव्रतों को ग्रहण करते हैं। इस प्रकार व्रत-ग्रहण करने की अपेक्षा से श्रावकों के छः भेद होते हैं। इसी तरह छः भेद चार व्रत लेने वालों के, छः भेद तीन व्रत लेने वालों के, छः भेद दो व्रत लेने वालो के, छः भेद एक व्रत लेने वालों के, इस प्रकार कुल तीस भेद होते हैं। 31 वाँ भेद उत्तरगुणधारी (विकल्परहित व्रत ग्रहण करने वाले) श्रावक का और 32 वाँ भेद अव्रती श्रावक का है। इस तरह आठ विकल्पों द्वारा व्रत ग्रहण करने वाले श्रावक के 32 भेद होते हैं।

सामान्यतः व्रत ग्रहण की प्रतिज्ञा के सम्बन्ध में 49 भंग बताए गए हैं।

उनचास भंग (विकल्प)

जैन साधु तीन करण (मन, वचन, काया) और तीन योग (कृत, कारित, अनुमोदित) से सर्वसावद्य योग(पापकारी प्रवृत्ति) का त्याग करता है। तीन को तीन से गुणन करने पर नौ भंग बनते हैं। इन नौ भंगों को अतीत, वर्तमान और अनागत-इन तीन कालों से गुणा करने पर सत्ताईस भंग (9×3=27) बनते हैं। ये भंग श्रमण की अपेक्षा से है।

जैन श्रावक सावद्य व्यापार का त्याग आंशिक रूप से करता है अत: उसके आंशिक प्रत्याख्यान होते हैं। इस दृष्टि से तीन योग और तीन करण से उसके उनचास विकल्प बनते हैं। विशेषावश्यकभाष्य में वर्णित प्रत्याख्यान के उनपचास विकल्प निम्न हैं[74]-

1. करण-1, योग-1, प्रतीक अंक-11, भंग-9

1. करूं नहीं-मन से 2.करूं नहीं-वचन से 3. करूं नहीं-काया से 4. कराऊं नहीं-मन से 5. कराऊं नहीं-वचन से 6. कराऊं नहीं-काया से 7. अनुमोदूं नहीं-मन से 8. अनुमोदूं नहीं-वचन से 9. अनुमोदूं नहीं-काया से।

2. करण-1 योग-2, प्रतीक अंक-12, भंग-9

1. करूँ नहीं-मन से, वचन से 2.करूँ नहीं-मन से, काया से, 3. करूँ नहीं-वचन से, काया से 4. कराऊं नहीं-मन से, वचन से 5. कराऊं नहीं-मन से, काया से 6. कराऊं नहीं-वचन से, काया से 7. अनुमोदूं नहीं-मन से, वचन से 8. अनुमोदूं नहीं-मन से, काया से 9. अनुमोदूं नहीं-वचन से, काया से।

3. करण-1, योग-3, प्रतीक अंक-13, भंग-3

1. करूँ नहीं-मन से, वचन से, काया से 2.कराऊं नहीं-मन से, वचन से, काया से 3. अनुमोदूं नहीं-मन से, वचन से, काया से।

4. करण-2 योग-1, प्रतीक अंक-21, भंग-9

1. करूं नहीं, कराऊं नहीं-मन से 2.करूं नहीं-कराऊं नहीं-वचन से 3. करूं नहीं, कराऊं नहीं-काया से 4. करूं नहीं, अनुमोदूं नहीं-मन से 5. करूं नहीं, अनुमोदूं नहीं, वचन से 6. करूं नहीं, अनुमोदूं नहीं-काया से 7. कराऊं नहीं, अनुमोदूं नहीं-मन से 8. कराऊं नहीं, अनुमोदूं नहीं-वचन से 9. कराऊं नहीं, अनुमोदूं नहीं-काया से।

5. करण-2, योग-2, प्रतीक अंक-22, भंग-9

1. करूं नहीं, कराऊं नहीं-मन से, वचन से 2.करूं नही, कराऊं नहीं-मन से, काया से 3. करूं नहीं, कराऊं नहीं-वचन से, काया से 4. करूं नही, अनुमोदूं नहीं-मन से, वचन से 5. करूं नही, अनुमोदूं नहीं-मन से, काया से 6. करूं नही, अनुमोदूं नहीं-वचन से, काया से 7. कराऊं नहीं, अनुमोदूं नहीं-मन से, वचन से 8. कराऊं नहीं, अनुमोदूं नहीं-मन से, काया से 9. कराऊं नहीं, अनुमोदूं नहीं-वचन से, काया से।

6. करण-2 योग-3, प्रतीक अंक-23, भंग-3

1. करूं नहीं, कराऊं नहीं-मन से, वचन से, काया से 2.करूं नहीं, अनुमोदूं नहीं-मन से, वचन से, काया से 3. कराऊं नहीं, अनुमोदूं नहीं-मन से, वचन से, काया से।

7. करण-3 योग-1, प्रतीक अंक-31, भंग-3

1. करूं नहीं, कराऊं नहीं, अनुमोदूं नहीं-मन से 2. करूं नहीं, कराऊं नही, अनुमोदूं नहीं-वचन से 3. करूं नही, कराऊं नही, अनुमोदुं नहीं काया से।

8. करण-3, योग-2, प्रतीक अंक-32, भंग-3

1. करूं नहीं, कराऊं नहीं, अनुमोदूं नहीं-मन से, वचन से 2.करूं नही, कराऊं नही, अनुमोदूं नहीं-मन से, काया से 3. करूं नही, कराऊं नही, अनुमोदूं नहीं-वचन से, काया से।

9. करण-3, योग-3, प्रतीक अंक-33, भंग-1

1. करूं नहीं, कराऊं नहीं, अनुमोदूं नहीं-मन से, वचन से, काया से।

इन 49 भंगों को अतीत, अनागत और वर्तमान-इन तीन से गुणा करने पर 147 भंग होते हैं। इससे अतीत का प्रतिक्रमण, वर्तमान का संवरण और भविष्य के लिए प्रत्याख्यान होता है। आजकल प्राय: दो करण-तीन योग से व्रतों का ग्रहण किया जाता है। दिगम्बर परम्परा की मान्यतानुसार प्रतिमाधारी श्रावक तीन करण और तीन योग से अणुव्रत आदि का पालन करते हैं, पर उनकी व्रतग्रहण-विधि को प्रत्येक श्रावक अपना नहीं सकता है। श्वेताम्बर आचार्यों की मान्यतानुसार सामान्यतया जिन गृहस्थों पर गृहस्थाश्रम की जिम्मेदारियाँ हैं, वे तीन करण और तीन योगपूर्वक व्रत-ग्रहण नहीं कर सकते हैं। जो लोग यह

शंका करते हों कि गृहस्थ तीन करण और तीन योगपूर्वक व्रत-धारण क्यों नहीं कर सकता है? उनके लिए समाधान यह है कि पारिवारिक-कुटुम्बियों के संग रहने वाले गृहस्थ का सम्बन्ध ऐसे व्यक्तियों से भी होता है, जिन्होंने पापों का परित्याग नहीं किया हो, तब उन व्यक्तियों के साथ व्यवहारादि निभाने के कारण पाप कार्यों की अनुमोदना करनी पड़ती है।

दूसरा कारण यह है कि व्रतधारी गृहस्थ कदाच स्वजन और परिजन को वचन और काया से किसी पाप की अनुमति नहीं भी दे, पर उनके साथ रहने, परिचित होने या उनके सम्बन्धी होने के नाते उसकी मूक अनुमति तो हो ही जाती है। वह स्वयं स्थूल हिंसा नहीं करता है, दूसरों से भी नहीं करवाता है, पर गृहस्थ होने से उसने अपने पारिवारिक-ममत्व का त्याग नहीं किया है अत: वे जो कुछ हिंसा आदि करते हैं, उसे न तो उनसे छुड़वा सकता है, न उनके साथ परिचय आदि का त्याग कर सकता है, इसलिए अनुमोदना का दोष तो उसे लगता ही है। कभी-कभी उसे गृहमुखिया का कर्त्तव्य निभाने की वजह से प्रेरणा भी देनी पड़ती है जैसे-दो करण तीन योग से व्रत ग्रहण किए हुए गृहस्थ ने किसी से कहा कि आप भोजन कर लो। यदि भोजन करने वाला राज्याधिकारी या अभक्ष्यभोजी है, तो वह अभक्ष्य एवं अपेय पदार्थों का उपभोग करेगा, जो कि हिंसाजनक है। व्रती के लिए इस प्रकार का आदेश देना नहीं कल्पता है, किन्तु व्यावहारिक जीवन का निर्वाह करने के लिए अनचाहे भी पाप कार्यों में सम्मिलित होना पड़ता है, क्लेशवृद्धि आदि कारणों की वजह से उनसे सर्वथा सम्बन्ध भी तोड़ा नहीं जा सकता है।

इस विषय के स्पष्टीकरण हेतु उपासकदशा का पाठांश पढ़ने योग्य है। उसमें वर्णन आता है कि महाशतक श्रावक की तेरह पत्नियाँ थीं। उनमें रेवती अत्यन्त क्रूर प्रकृति की नारी थी। उसने अपनी बारह सौतों को विष एवं शस्त्र-प्रयोग से मार दिया था और उनकी सम्पूर्ण सम्पत्ति पर उसका आधिपत्य हो गया था। रेवती जैसी क्रूर पत्नी का संयोग होने पर व्रती-गृहस्थ का क्या कर्त्तव्य बनता है ? क्या उसे मारा जाए? या उसे घर से बाहर निकाल दिया जाए? महाशतक दीर्घदर्शी श्रावक था। वह जानता था कि रेवती हिंसक अवश्य है, किन्तु व्यभिचारिणी नहीं है। वह दो करण तीन योग पूर्वक हिंसा का त्यागी था अत: हिंसा तो कर ही नहीं सकता था, फिर भी रेवती के साथ रहने से

संवासानुमोदन-पाप से नहीं बच सकता था। इस उदाहरण से और भी स्पष्ट हो जाता है कि व्रती-गृहस्थ अनुमोदना जनित पाप का भागी होने से वह तीन करण और तीन योग से व्रतग्रहण नहीं कर सकता है और न अपनी जाति से सम्बन्ध-विच्छेद ही कर सकता है।

निर्विवादत: यह कहा जा सकता है कि गृहस्थ के लिए दो करण और तीन योगपूर्वक व्रतादि का ग्रहण करना अधिक समुचित है। इसके सिवाय वह अन्य विकल्प भी अपना सकता है, किन्तु तीन करण और तीन योग के त्यागपूर्वक किसी व्रत-नियम आदि की प्रतिज्ञा करना उसके लिए संभव नहीं है, आपवादिक स्थिति में कदाच संभव हो सकता है।

श्रावक द्वारा नवकोटिपूर्वक प्रत्याख्यान सम्बन्धी अपवाद

सामान्यतया जैन श्रावक नौ कोटि का प्रत्याख्यान नहीं कर सकता है, किन्तु यह नियम विशेष आपवादिक स्थितिजन्य है। विशेषावश्यकभाष्य के अनुसार वे विशेष स्थितियाँ निम्न हैं[75]-

1. जो गृहस्थ दीक्षित होना चाहता है, किन्तु सन्तान की इच्छा, अनुरोध आदि कारणों से वह तत्काल प्रव्रजित न होकर ग्यारहवीं उपासक प्रतिमा स्वीकार करता है, उस समय वह नौ कोटि त्याग कर सकता है

2. वह अप्राप्य वस्तु का नौ कोटि त्याग कर सकता है जैसे- स्वयंभूरमण समुद्र के मत्स्य को मारने का त्याग करना। मनुष्य क्षेत्र से बाहर के हाथी दाँत, व्याघ्रचर्म आदि का उपयोग नहीं करना।

3. वह स्थूल प्राणातिपात, स्थूल मृषावाद आदि का नौ कोटि पूर्वक त्याग कर सकता है, जैसे-सिंह, हाथी आदि को मारने का त्याग करना, किन्तु वह सर्वथा सावद्ययोग का त्याग नहीं कर सकता है।

4. वह अप्रयोजनीय वस्तु का नौ कोटि त्याग कर सकता है, जैसे- कौए के मांस को खाने का त्याग करना।

निष्कर्ष यह है कि उपर्युक्त स्थितियों में श्रावक द्वारा नौ कोटि का प्रत्याख्यान किया जा सकता है।

व्रतधारी के लिए करणीय

आचार्य जिनप्रभसूरि के मतानुसार सम्यक्त्वव्रत धारण करने वाले गृहस्थ को निम्न कृत्यों का अवश्य पालन करना चाहिए-

- प्रतिदिन शक्रस्तवपूर्वक त्रिकाल चैत्यवंदन करना चाहिए।
- छः माह तक उभय सन्ध्याओं में विधिपूर्वक चैत्यवंदन करना चाहिए।
- प्रतिदिन नमस्कारमंत्र की एक माला गिननी चाहिए।
- द्वितीया, पंचमी, अष्टमी, एकादशी, चतुर्दशी, अमावस्या, पूर्णिमा आदि पर्व तिथियों में यथाशक्ति बियासना आदि तप करना चाहिए।
- यावज्जीवन जागते एवं सोते समय चौबीस नमस्कार मंत्र गिनना चाहिए।
- वीतरागी-देव, निर्ग्रन्थ-गुरू एवं अहिंसामय-धर्म की उपासना करना चाहिए।
- प्रतिदिन पूजा करना चाहिए।[76]
- गीतार्थ परम्परा के अनुसार सामायिक आदि षडावश्यक विधि का पालन करना चाहिए।
- यथासंभव रात्रिभोजन का त्याग करना चाहिए।
- कन्दमूलादि अभक्ष्य पदार्थों का सेवन नहीं करना चाहिए।

व्रतधारी के लिए अकरणीय

सम्यक्त्व व्रतधारी गृहस्थ के लिए कुछ कृत्य निषिद्ध बतलाए गए हैं। वे निम्न हैं-

बाईस अभक्ष्य– प्रवचनसारोद्धार के अनुसार व्रतधारी को अग्र- लिखित अभक्ष्य पदार्थों का सेवन नहीं करना चाहिए[77]-

1-5. पाँच उदुम्बर-बड़, पीपल, पिलंखण, कठुंबर, गूलर-ये पाँच फल। इनमें मच्छर जैसे असंख्य सूक्ष्म जीव होते हैं।

6-9. महाविगय-मदिरा, मांस, मधु एवं मक्खन-इनमें तद्वर्ण के असंख्य सम्मूर्च्छिम जीव उत्पन्न होते हैं।

10. हिम (बरफ)- यह असंख्य अप्काय जीवों का पिण्ड होता है।

11. विष (जहर)-इसे खाने से चेतना मूर्च्छित हो जाती है।

12. करका (आकाश से गिरने वाले ओले)-ये अप्काय जीवों के पिंडरूप होते हैं।

13. मिट्टी (सभी जाति की कच्ची मिट्टी)-इसमें मेंढक आदि पंचेन्द्रिय जीवों के उत्पत्ति की संभावना रहती है। खड़ी आदि खाने से आमाशय दूषित

होता है, इससे अन्य रोग भी उत्पन्न होते हैं।

14. रात्रिभोजन- रात्रिभोजन करने से अनेक जीवों की हिंसा होती है, और इससे जीव इहलोक-परलोक में दु:ख को प्राप्त करता हैं।

15. बहुबीज- अधिक बीज वाली वस्तुएँ जैसे- खसखस, पंपोटा, आदि इनमें प्रतिबीज जीव होने से अत्यधिक जीव हिंसा होती है।

16. अनन्तकाय- आलू, प्याज, आदि अनन्त जीवों का पिंड रूप होने से अभक्ष्य हैं।

17. संधान- बिल्व, केरी, नींबू आदि के अचार इनमें निश्चित अवधि के बाद दो इन्द्रिय वाले जीव उत्पन्न हो जाते हैं।

18. द्विदल- धान्यविशेष पदार्थ, जिनके दो दल होते हों और जिन्हें पीलने पर तेल न निकलता हो, द्विदल कहलाते हैं। द्विदल से निर्मित वस्तुएँ जैसे- बडेÞ, पूड़ी, गट्टे आदि को कच्चे दूध, दही या छाछ के साथ खाने पर त्रस जीवों की हिंसा होती है, क्योंकि द्विदल वस्तुओं के साथ कच्चे दूध आदि का सम्मिश्रण होने से तुरन्त जीवोत्पत्ति हो जाती है।

19. बैंगन- यह निद्राकारक एवं कामोद्दीपक होने से त्याज्य है।

20. अज्ञातफल- जिन पुष्प फलों को कोई जानता न हो-ऐसे अज्ञातफल खाने से व्रतभंग एवं मृत्यु की संभावना रहती है।

21. तुच्छफल- जिन फलों, पुष्पों एवं पत्तों में खाना थोड़ा और फेंकना अधिक हो, वे तुच्छ-असार कहलाते हैं। जैसे-मधूक, बिल्व आदि के फल, अरणि, महुआ आदि के पुष्प तथा वर्षाकाल में पत्तेदार सब्जियाँ-ये हिंसा में कारण भूत बनते हैं।

22. चलितरस- जिनका स्वाद बदल गया हो ऐसी वस्तुएँ, जैसे-बासी भात आदि, दो दिन का दही, छाछ आदि-इनमें जीवोत्पत्ति होने से ये हिंसा के कारण हैं।

बत्तीस अनन्तकाय– वनस्पति की प्रजाति विशेष। जिनका शरीर अनन्त जीवों का पिण्ड हो अर्थात जहाँ एक शरीर के आश्रित अनन्त जीव रहते हो, वे अनन्तकाय कहलाते हैं। इसकी कुछ प्रजातियों को जमीकन्द भी कहा जाता है। कंद अर्थात समूह, वृक्ष का भूमिगत अवयव कंद कहलाता है। जो जमीन के अन्दर पिण्डरूप में उत्पन्न होती हैं-ऐसी वनस्पतियाँ जमीकन्द कहलाती हैं।

इसके अतिरिक्त उस वृक्ष या पौधे के वे सभी अंग भी अनन्तकाय माने जाते हैं जहाँ से नव अंकुरण प्रारम्भ होता है। इस प्रकार अंकुरित कोमल पत्तियाँ भी अनन्तकाय है। इनकी संख्या बत्तीस है-

1. सूरणकंद, 2.वज्रकंद 3. आर्द्रहल्दी 4. अदरक 5. हराकचूर 6. शतावरी 7. विराली 8. कुंआरपाठा 9. थूहर 10. गिलोय 11. लहसुन 12. बांस का अंकुर 13. गाजर 14. लवणक(जिसे जलाकर साजी बनाते हैं)

15. पद्मिनीकंद 16. गिरिकर्णिका(लताविशेष) 17. किसलय(नये कोमल पत्ते) 18. कसेरू 19. थेगकंद एवं भाजी 20. हरा मोथा 21. लवणवृक्ष की छाल 22. खिलोड़ी(कंद विशेष) 23. अमृतबेल 24. पालक की भाजी 25. कोमल इमली- जो बीजरहित हो 26. मूला 27. भूमिस्फोट(छत्राकार मशरूम) 28. अंकुरित धान्य 29. बथुए की भाजी(प्रथम उगी हुई) 30. शूकरबेल(बड़ी बेल) 31. आलू और 32. पिण्डालू।[78]

ये बत्तीस अनन्तकाय आर्यदेश में प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त वे सभी खाद्य वस्तुएँ, जिनमें अनन्तकाय के शास्त्रोक्त लक्षण हों, व्रतधारी के लिए त्याज्य हैं।

व्रतधारी को जुआ, मांसाहार, मद्यपान, वेश्यागमन, परस्त्रीगमन, चोरी, शिकार- इन सात व्यसनों का सेवन भी नहीं करना चाहिए।

व्रतग्राहियों के लिए अभिग्रहदान-विधि

जैन अवधारणा में सम्यक्त्वव्रत, बारहव्रत, सामायिकव्रत आदि स्वीकार करने वाले गृहस्थ को व्रतसंरक्षणार्थ कुछ नियम दिलवाए जाते हैं। इसे अभिग्रहदान-विधि कहते हैं। विधिमार्गप्रपा[79] एवं आचारदिनकर[80] के मतानुसार अभिग्रहदान (नियम ग्रहण) की यह विधि है-

• सर्वप्रथम बाईस अभक्ष्य, बत्तीस अनन्तकाय आदि श्रावक को नहीं खाने चाहिए-यह नियम दिलाएं। • उसके बाद गुरू व्रतग्राही द्वारा यह उच्चारण करवाए-मैं जीवित रहूंगा, वहाँ तक अरिहंत मेरे देव हैं, सुसाधु मेरे गुरू हैं और वीतरागी पुरूषों द्वारा प्ररूपित सिद्धांत मेरा धर्म है-ऐसा सम्यक्त्व मैंने ग्रहण किया है। • आज के बाद अरिहंत को छोड़कर अन्य देवों को और जैन-साधु को छोड़कर अन्य यतियों या विप्र आदि को भावपूर्वक वंदन नहीं करूंगा। • जिनेश्वर द्वारा प्रतिपादित सात तत्त्वों को छोड़कर अन्य तत्त्वों पर श्रद्धा नहीं

करूंगा। • लौकिक-लोकोत्तर अनायतन में नहीं जाऊंगा। • धर्मार्थ तप-स्नान-होमादि नहीं करूंगा। • अन्य देव और अन्यलिंगी संन्यासी आदि को नमस्कार एवं परोपकार के कार्य लोक व्यवहार हेतु ही करूंगा, इसी तरह अन्य शास्त्र का श्रवण एवं पठन भी लोक-व्यवहार हेतु करूंगा।

• ग्रहण, संक्रान्ति, उत्तरायण, दुर्गा अष्टमी, अशोका अष्टमी, करवाचौथ, चैत्रअष्टमी, महानवमी, विधिसप्तमी, नागपंचमी, शिवरात्रि, वत्सद्वादशी, दुग्धद्वादशी, नवरात्रि, होली प्रदक्षिणा, बुद्ध अष्टमी, काजल तीज, गोमती तीज, अनन्त चतुर्दशी, गौरीव्रत, सूर्यरथ यात्रा, प्रमुख लौकिक पर्वादि की व्रत-उपासना नहीं करूंगा। • व्रतोपासक के लिए जो मिथ्यात्व के स्थान माने गए हैं जैसे-मंगलकार्य (दुकान आदि) के आरम्भ में गणेश आदि का नाम लेना, विवाहोत्सव में गणेश की स्थापना करना, शुक्ला दूज के दिन चन्द्रमा के दर्शन कर दशी-डोरा का दान करना, नवरात्रि में दुर्गा आदि देवियों की पूजा स्थापना करना, श्राद्ध पक्ष में पिण्डदान करना, पृथ्वी(पत्थर), पानी, अग्नि, वनस्पति आदि की पूजा करना, शीतला माता के पूजनार्थ शराब भरना, रवि सोम मंगल शुक्र आदि वारों में व्रत करना, कृषि-प्रारंभ में हल पूजा करना, माघ मास में घृत, कम्बल का दान देना, तिल और दर्भ द्वारा मृतक को जलांजलि देना, भूतप्रेतों को शराब(सकोरा) देना, मासिक-वार्षिक श्राद्ध करना, धर्मार्थ अन्य की कन्याओं का विवाह करवाना, धर्मार्थ कुआ-तालाब आदि बनाने का उपदेश देना, कौआ, बिल्ली आदि को पिण्डदान करना, पिप्पल-वट-नीम आदि वृक्षों का अभिसिंचन करना, वृक्षों का विवाह करना, गोधन आदि की पूजा करना, इत्यादि कृत्य नहीं करूंगा।

• इनके अतिरिक्त इन्द्रजालिक, नट-नटी आदि के नाटक नहीं देखूंगा। भैंसा, मेढ़ा आदि के युद्ध नहीं देखूंगा। • मूल, आश्लेषा, मघा, ज्येष्ठा, रेवती, आदि नक्षत्र में जन्म लेने वाले बालक के दोष निवारणार्थ शान्तिककर्म नहीं करूंगा। • अगलित (बिना छाने हुए) जल से स्नान नहीं करूंगा। जलक्रीड़ा आदि नहीं करूंगा। • साधर्मिक, बन्धुओं के साथ वैर-विरोध नहीं रखूंगा। ये सभी अभिग्रह (नियम) गुरू द्वारा दिलवाए जाते हैं। व्रतग्राही देव- गुरू की साक्षी पूर्वक इन्हें स्वीकार करता है।

निष्पत्ति– व्रतगाही को अभिग्रह दिलाने का प्रयोजन गृहीत व्रत का

संरक्षण एवं उत्पन्न हुए विशुद्ध भावों का संपोषण करना है। इस क्रियाविधि के माध्यम से व्रतधारी को अवधारित नियमों के प्रति सचेत-सचेष्ट रहने का आह्वान किया जाता है।

यदि उपर्युक्त विषयों के संदर्भ में सूक्ष्मदृष्टि से निरीक्षण किया जाए, तो विक्रम की 7वीं शती के पूर्वकाल तक यह वर्णन लगभग प्राप्त नहीं होता है। इसके पश्चात् आचार्य हरिभद्रसूरिजी के ग्रन्थों में तद्विषयक आंशिक विवरण बिखरे हुए स्वरूप में देखने को मिलते हैं। सम्यक्त्वी के लिए परिहार्य स्थानों का सूचन चैत्यवन्दनकुलक आदि कुछ ग्रन्थों में भी है। मूलतः यह विवेचन विधिमार्गप्रपा(14वीं शती) एवं आचारदिनकर(15वीं शती) में परिलक्षित होता है। अभिग्रहदान की यह विधि लगभग सभी परम्पराओं में समान है।

उपसंहार

आत्मोपलब्धि एवं तनावमुक्ति के लक्ष्य से की जाने वाली प्रशस्त क्रिया 'साधना' कहलाती है। जैन-विचारणा में वैयक्तिक दृष्टि से साधना के दो स्तर किए गए हैं-1. सागार और 2.अणगार। गृहस्थ सागार और श्रमण अणगार कहलाता है।

गृहस्थ उपासक तीन प्रकार के कहे गए हैं-जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट।

जघन्य श्रावक– जो निम्न तीन गुणों से युक्त होता है-1. वह मारने की बुद्धि से किसी जीव की हत्या नहीं करता। 2.मद्य-मांस का सेवन नहीं करता और 3. नमस्कार-महामन्त्र के प्रति पूर्ण श्रद्धा रखता है वह जघन्य श्रावक है।

मध्यम श्रावक– निम्न तीन गुणों का धारक होता है-1. वह देव, गुरू और धर्म के प्रति पूर्ण श्रद्धा रखता हुआ स्थूल हिंसा आदि से पूर्ण निवृत्त होता है। 2.मद्य, मांस आदि अभक्ष्य पदार्थों के परित्याग पूर्वक लज्जा, दया, सहिष्णुता, आदि सद्गुणों से युक्त होता है और 3. प्रतिदिन देवपूजा, गुरूसेवा, दान, स्वाध्याय, संयम, तप-इन षट्कर्मों एवं सामायिक आदि षडावश्यकों का पालन करता है।

उत्कृष्ट श्रावक– इन तीन विशेषताओं से युक्त होता है- 1. वह निशल्य भाव से आलोचना कर, प्रायश्चित्त द्वारा शुद्ध आराधक बनता है। 2. प्रतिमाधारी होता है और 3. जीवन की अन्तिमवेला में संलेखनाव्रत धारण करके, शेष काल को समाधिपूर्वक सम्पन्न करता हुआ देह-विसर्जन करता है। संबोधप्रकरण,

पंचाशक एवं धर्मबिन्दु के अनुसार रात्रिभोजन का त्यागी, नवकारसी आदि प्रत्याख्यान करने वाला, बाईस अभक्ष्य एवं बत्तीस अनन्तकाय का त्यागी, अर्हत्प्रतिमा का पूजक, सुदेव, सुगुरू एवं सुधर्म को मानने वाला साधक जघन्य श्रावक है। बारह व्रतों में से कुछ व्रतों का पालन करने वाला मध्यम श्रावक कहलाता है। सभी व्रतों का आचरण करने वाला उत्कृष्ट श्रावक माना गया है।

इसके सिवाय जैन गृहस्थ के लिए श्वेताम्बर के अनुसार चौदह, इक्कीस, पैंतीस, आदि सामान्य गुणों एवं दिगम्बर मतानुसार अष्टमूलगुणों से सम्पन्न होना और सप्त व्यसन आदि से रहित होना आवश्यक माना गया है।

यदि पूर्वोक्त विवेचन के आधार पर गृहस्थ-धर्म की तुलना वैदिक एवं बौद्ध परम्परा के साथ की जाए, तो विदित होता है कि जिस प्रकार जैन परम्परा में गृहस्थ साधक के लिए कुछ आवश्यक नियम कहे गए हैं, वैदिक परम्परा में गृहस्थ साधक के लिए इस प्रकार के आवश्यक नियमों का कोई प्रावधान नहीं है। गीता के अभिमत से मोक्ष के लिए कर्मयोग(गृहस्थ धर्म) और कर्मसंन्यास-दोनों ही निष्ठाएँ पूर्वकालीन हैं। गीताकार ने संन्यासी व गृहस्थ दोनों को साध्य प्राप्ति का अधिकारी माना है। गीता के अनुसार गृहस्थधर्म अथवा संन्यासधर्म दोनों में से किसी एक का निष्ठापूर्वक आचरण करने वाला दोनों के ही फल को प्राप्त करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दूधर्म में संन्यासमार्ग और गृहस्थमार्ग दोनों को लक्ष्य प्राप्ति की दृष्टि से समान महत्त्व दिया गया है। यही कारण कहा जा सकता है कि इस धारा में गृहस्थ धर्म को लेकर पृथक् रूप से कोई विवेचना नहीं की गई है, फिर भी कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मयोग अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है।[81]

यदि बौद्ध परम्परा की दृष्टि से आकलन करें, तो यह कहना चाहिए कि जैन परम्परा की भांति बौद्ध परम्परा में भी गृहस्थ उपासकों के लिए आवश्यक गुणों (मार्गानुसारी-गुण) का विधान वर्णित है। वे नियम उनके पिटक ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। जैसा कि जैन धर्म की आचार संहिता में गृहस्थ के लिए सर्वप्रथम सम्यक् श्रद्धावान् होना जरूरी माना गया है, वह जब तक सम्यक्त्वव्रत को स्वीकार नहीं कर लेता, तब तक बारहव्रत, पंचमहाव्रत आदि श्रेष्ठ व्रतों को भी ग्रहण नहीं कर सकता, अत: गृहस्थधर्म में प्रवेश करने के लिए सम्यक्तवव्रत को अनिवार्य अंग माना गया है, उसी प्रकार बौद्ध-विचारणा में भी

गृहस्थ साधक के लिए सम्यक् श्रद्धा को आवश्यक माना गया है।

डॉ. सागरमल जैन के उल्लेखानुसार अंगुत्तरनिकाय में बुद्ध ने कहा है कि जो साधक बुद्ध, धर्म और संघ में श्रद्धा रखता है, नैतिक-आचरण करता है, वही साधना के सम्यक्-मार्ग में प्रवेश कर सकता है। जो सद्गृहस्थ बुद्ध के प्रति अविचल श्रद्धा से युक्त होता है, वह भगवान् अर्हत् है, सम्यक् सम्बुद्ध है, विद्या और आचरण से संयुक्त है, लोकविद् है, अनुपम है, देवताओं तथा मनुष्यों के शास्ता हैं। आर्य श्रावक धर्म के प्रति अविचल श्रद्धा से युक्त होता है। भगवान् द्वारा गृहस्थ-धर्म को अच्छी प्रकार से समझकर उपदिष्ट किया गया है, वह प्रत्यक्षधर्म है, वह काल के बंधन से परे है, निर्वाण की ओर ले जाने वाला है, प्रत्येक विज्ञ पुरूष स्वयं जान सकता है। आर्य श्रावक संघ के प्रति अविचल श्रद्धा से युक्त होता है। भगवान् का श्रावक-संघ सुप्रतिपन्न है, ऋजु-प्रतिपन्न है, न्याय-प्रतिपन्न है, उचित पथ पर प्रतिपन्न है, यह आदर करने योग्य है। यह सत्कार करने योग्य है। यह दक्षिणा के योग्य है। यह हाथ जोड़ने योग्य है। यह अशुद्ध चित्त की शुद्धि का कारण होता है तथा मैले चित्त की निर्मलता का कारण होता है।[82] इस प्रकार गृहस्थ बुद्ध, धर्म और संघ के प्रति सम्यक्त्व-श्रद्धा रखने वाला होता है।

बौद्ध धर्म के मान्य ग्रन्थ दीर्घनिकाय में बुद्ध ने गृहस्थ जीवन के व्यावहारिक नियमों का भी उल्लेख किया है। वस्तुत: बुद्ध के अनुसार गृहस्थ उपासक को कैसा होना चाहिए? उनके द्वारा कथित नियम इस प्रकार हैं-

1. गृहस्थ को हमेशा सदाचार एवं नीतिपूर्वक धनार्जन करना चाहिए।[83]

2. गृहस्थ की जितनी आय हो, उसके एक भाग का उपभोग करना चाहिए, दो भाग राशि को पुन: व्यवसाय में लगाना चाहिए तथा एक भाग को भविष्य के लिए सुरक्षित रख देना चाहिए।

3. परिवार एवं समाज का यथाशक्ति परिपालन करना चाहिए। बुद्ध ने गृहस्थ उपासक के लिए माता-पिता को पूर्वदिशा कहा है, आचार्य को दक्षिणदिशा कहा है, स्त्री एवं पुत्र को पश्चिम दिशा के रूप में स्वीकारा है, मित्र एवं अमात्य को उत्तरदिशा माना है, दास एवं कर्मकर को अधोदिशा में गिना है, श्रमण को ऊर्ध्वदिशा की उपमा दी है। प्रत्येक गृहस्थ को अपने कुल में इन छहों दिशाओं को अच्छी तरह से नमस्कार करना चाहिए।[84]

बुद्ध ने यह भी कहा है कि गृहस्थ को किन-किन सद्गुणों से युक्त होना चाहिए? उन गुणों की चर्चा में निर्देश दिया है कि जो गृहस्थ बुद्धिमान्, सदाचारपरायण, स्नेही, निवृत्तवृत्ति, आत्मसंयमी, उद्योगी, आपत्ति में साहसी, निरन्तर कार्यशील एवं मेधा सम्पन्न हो, वही यश-कीर्ति को प्राप्त करता है।[85]

बुद्ध ने गृहस्थ उपासक को निम्न दोषों से बचने का निर्देश दिया है-
1. गृहस्थ को जीवहिंसा, चोरी, झूठ और परस्त्रीगमन नहीं करना चाहिए।
2. जुआ, कुसंगति, आलस्य, लड़ना-झगड़ना आदि नहीं करना चाहिए।
3. मद्यपान का सेवन भी नहीं करना चाहिए यह अनेक दुर्गुणों का जन्मदाता है।[86]

इस प्रकार बौद्ध परम्परा में गृहस्थ के आवश्यक अनावश्यक, योग्य अयोग्य सभी प्रकार के गुणों की चर्चा की गई है। साथ ही गृहस्थ धर्म को यापित करने के लिए उक्त नियमादि अपरिहार्य माने गए हैं तथा बुद्ध ने गृहस्थ के लिए अष्टशील से युक्त होना भी अनिवार्य कहा गया है।[87]

निष्कर्ष यह है कि तीनों ही आचारदर्शन साधना के दोनों स्तर समान रूप से स्वीकारते हैं तथा गृहस्थ-धर्म और संन्यास-धर्म दोनों के द्वारा ही निर्वाण प्राप्ति को सम्भव मानते हैं, तथापि जैन और बौद्ध-परम्पराएँ संन्यास मार्ग पर विशेष बल देती हैं। वही हिन्दू परम्परा दोनों पक्षों को तुल्य रूप में स्वीकारती हुई कर्मयोग द्वारा गृहस्थ जीवन में रहकर ही साधना करने पर जोर देती है।

सन्दर्भ-सूची

1. *अभिधानराजेन्द्रकोश, खण्ड 2, देखिए-सावय शब्द*
2. *सम्मत्तदंसणाइं पइदिअहं, जइजणा सुणेइ य।*
   सामाचारी परमं जो खलु, तं सावगं वित्ति॥
   समणसुत्तं, गा.-301
3. *श्रद्धालुतां श्राति, श्रृणोति शासनम्।*
   दानं वपेदाशु वृणोति दर्शनम्।
   कृन्तत्यपुण्यानि, करोति संयमम्।
   तं श्रावकं प्राहुरमी विचक्षणा॥
   जैन आचार सिद्धान्त और स्वरूप, पृ.-231
4. *नन्दीमलयगिरिवृत्ति, पृ.-44*
5. *आवश्यकचूर्णि, भा.-1, पृ.-18*

6. जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भा.-2, पृ.-263
7. (क) जीवविचारप्रकरण, गा.-25
   (ख) नवतत्त्वप्रकरण, गा.-55-59
8. उत्तराध्ययनसूत्र, 5/20
9. सूत्रकृतांगसूत्र, सं.-अमरमुनि, 2/2/39
10. छान्दग्योपनिषद्, 7/8/1
11. उपासकदशा, मधुकरमुनि, प्रस्तावना, पृ.-19-20 पर आधारित
12. आवश्यकनिर्युक्ति, गा.-1557
13. सागारधर्मामृत, 1/20
14. अभिधानराजेन्द्रकोष, भा. 7, पृ. 786
15. स्थानांगसूत्र, 4/3/430
16. स्थानांगसूत्र, 4/3/431
17. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, गा.-66
18. पुरूषार्थसिद्धयुपाय, गा.-61
19. जैनेन्द्र सिद्धांत कोश,50
20. पद्मपुराण, 14/202
21. वरांगचरित्त, 22, 29-30
22. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 328
23. उपासकाध्ययन, 8/270
24. भावसंग्रह, 356
25. पंचविंशतिका, 23
26. सुभाषितरत्नसंदोह, 765
27. सागारधर्मामृत, 2/18
28. वही, 2/18
29. चारित्रप्राभृत, 22
30. जैन-आचार: सिद्धांत और स्वरूप, पृ.-264
31. वही, पृ.-265
32. वसुनन्दिश्रावकाचार, गा.-59

33. 'अक्षैर्मादिव्यः'-ऋग्वेद, 10/34/13
34. 'अट्ठावए न सिक्खेज्जा' -सूत्रकृतांगसूत्र, 9/17
35. विपाकसूत्र, 1/6
36. मनुस्मृति, पं. रामशर्मा आचार्य, 5/55
37. वही, अ.-5
38. योगशास्त्र, 3/16
39. अष्टकप्रकरण, 14,15,16
40. वसुनन्दिश्रावकाचार, गा.-99
41. प्रश्नव्याकरणसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 1/3
42. जैन आचार सिद्धान्त और स्वरूप पृ.-263-92
43. मन्हजिणाणंआण मिच्छ, परिहरह घरह सम्मत्तं।
छव्विह आवस्सयंमि, उज्जुत्तो होइ पइदिवसं।।1।।
पव्वेसु पोसहवय दाणं, सीलं तवो अ भावो अ।
सज्झाय नमुक्कारो, परोवयारो अ जयणा अ ।।2।।
जिणपूआ जिण थुणणं, गुरूथुअ साहम्मिआण वच्छल्लं।
ववहारस्स य सुद्धि, रहजत्ता तित्थजत्ता य ।।3।।
उवसम विवेग संवर, भासासमिइ छ जीव करूणा य।
धम्मिअं जण संसग्गो, करणदमो चरण परिणामो।।4।।
संघोवरि बहुमाणो, पुत्थयलिहणं पभावणा तित्थे।
सड्ढाण किच्चमेअ, निच्चं सुगुरूवअेसेणं।।5।।
44. सूक्तमुक्तावली, गा. 93
45. श्राद्धविधिप्रकरण, प्रथम प्रकाश
46. वही, प्रथम प्रकाश/गा.9
47. वही, द्वितीयप्रकाश/पृ. 107-108
48. वही, चतुर्थप्रकाश/पृ.114
49. वही, षष्ठप्रकाश
50. कल्पसूत्र बालावबोधटीका-पृ.130
51. संघार्चादिसुकृत्यानि, प्रतिवर्ष विवेकिना।
यथाविधि विधेयानि, ह्येकादशभिनानि च।।
उपदेशप्रासादवृत्ति, 3/पृ.-79

52. पर्युषणप्रवचन, संकलित, पृ.-17
53. उपदेशप्रासादवृत्ति, पृ.-82
54. वही, पृ.-84
55. वही, पृ.-85
56. पर्युषणप्रवचन, पृ.-29
57. तुलसीप्रज्ञा, अंक 129, सन् 2005, पृ.-77
58. आदिपुराण, सर्ग-41, गा.-404, 108, 178
59. पाराशरस्मृति, 1/39
60. स्थानांगसूत्र, मधुकरमुनि, 3/4/210
61. निवसेज्ज तत्थ सद्धो, साहूणं जत्थ होइ।
संपाओ चेइय हराइं जम्मि य, तयण्ण साहम्मिया चेव।।

(क) पंचाशक-1/41

(ख) योगशास्त्र 3/121-122

62. आचारदिनकर, पृ.-60
63. णवकारेण विबोहो, अणुसरणं सावओ वयाइं मे।
जोगो चिइवंदणमो, पच्चक्खाणं च विहिपुव्वं।।
तह चेईहरगमण, सक्कारो वंदणं गुरूसगासे।
पच्चक्खाणं सवण, जइपुच्छा उचियकरणिज्जं।।
अविरूद्धो ववहारो, काले तह भोयणं च संवरणं।
चेइहरागमसवण, सक्कारो वंदणाई य।।
जइविस्सामणमुचिओ, जोगो नवकार चिंतणाईओ।
गिहिगमणं विहिसुवण, सरणं गुरूदेवयाईणं।
अब्बंभे पुण विरई, मोहदुगुंछा सततचिन्ता य।
इत्थीकलेवराण, तव्विरएसुं च बहुमाणो।।
सुत्ताविउद्धस्स पुणो, सुहुमपयत्थेसु चित्तविण्णासो।
भवठिइणिरूवणे वा, अहिगरणोवसमचित्ते वा।।

(क) पंचाशकप्रकरण, 1/42-47

ब्राह्मे मुहूर्त्ते उत्तिष्ठेत्, परमेष्ठिस्तुतिं पठन्।
किंधर्मा किंकुलाश्चस्मि, किं व्रतोघ्स्मीति च स्मरन्।।

शुचिःपुष्पामिषस्तोत्रै-र्देवमभ्यर्च्य वेश्मनि।
प्रत्याख्यानं यथाशक्ति, कृत्वा देवगृहं व्रजेत्।।
प्रविश्य विधिना तत्र, त्रिःप्रदक्षिणयेज्जिनम्।
पुष्पादिभिस्तमभ्यर्च्य, स्तवनैरूत्तमैः स्तुयात्।।
ततो गुरूणामभ्यर्णे, प्रतिपत्तिपुरःसरम्।
विदधीत विशुद्धात्मा, प्रत्याख्यान प्रकाशनम्।।
अभ्युत्थानं तदा लोकेऽभियानं च तदागमे।
शिरस्यंजलिसंश्लेषः, स्वयमासनढौकनम्।।
आसनाभिग्रहो भक्त्या, वंदना पर्युपासनम्।
तद्यानेष्वनुगमश्चेति, प्रतिपत्तिरियं गुरोः।।
ततः प्रतिनिवृत्तः सन्, स्थानं गत्वा यथोचितम्।
सुधीर्धर्मा विरोधेन, विदधीतार्थचिंतनम्।।
ततो माध्याह्निकीं पूजा, कुर्यात् कृत्वा च भोजनम्।
तद्विद्भिः सह शास्त्रोर्थ, रहस्यानि विचारयेत्।।
ततश्च संध्यासमये, कृत्वा देवार्चनं पुनः।
कृतावश्यककर्मा च, कुर्यात्स्वाध्यायमुत्तमम्।।
न्याय्येकाले ततो देव, गुरूस्मृतिपवित्रितः।
निद्रामल्पामुपासीत, प्रायेणाब्रह्मवर्जकः।।
निद्राछेदे योषिदंग, सतत्त्वं परिचिंतयेत्।
स्थूलभद्रादिसाधूनां, तन्निवृत्तिं परामृशन्।।
(ख) योगशास्त्र, 3/121-131

64. *पंचाशक, 1/44*
65. *योगशास्त्र, 3/128*
66. *योगशास्त्र, 1/45*
67. *यह वर्णन पंचाशक में नहीं है, योगशास्त्र में उल्लिखित है, 3/129*
68. *पंचाशक, 1/46-49*
69. *योगशास्त्र, 3/28-31*
70. *वसुनन्दिश्रावकाचार, प्रस्तावना– पृ.-26-27 के आधार पर।*
71. *जैन आचार सिद्धान्त और स्वरूप, पृ.-194-198*
72. *तत्त्वार्थसूत्र, 7/18*

73. दुविहंतिविहेण पढमो, दुविह दुविहेणं बीयओ होइ।
दुविहं एगविहेण, एगविहं चेव तिविहेणं।।
एगविहं दुविहेण, इक्किक्कविहेण छट्ठओ होइ।
उत्तरगुण सत्तमओ, अविरतओ चेव अट्ठमओ।।
आवश्यकनिर्युक्ति, 1572-73

74. करणतिगेणेक्किक्क, कालतिगे तिधणसंखिय मिसीणं।
सव्वं ति जओ गहिय, सीयालसयं पुण गिहीणं।।
विशेषावश्यकभाष्य, 3540

75. विशेषावश्यकभाष्य, 2686-88

76. विधिमार्गप्रपा-सानुवाद, पृ. 8

77. प्रवचनसारोद्धार, गा. 245-246 की टीका

78. वही, गा. 236-241

79. विधिमार्गप्रपा-सानुवाद, पृ. 7-8

80. आचारदिनकर, पृ. 47

81. जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भा.-2, पृ. 261-262

82. अंगुत्तरनिकाय,-5, उद्धृत-जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, पृ.-302

83. दीर्घनिकाय, 3/7/240, उद्धृत- वही, पृ. 302

84. वही, 3/8/244

85. वही, 3/7/199

86. वही, 3/8/245

87. सुत्तनिपात, 3/7/244

●

अध्याय- 2

सम्यक्त्वव्रतारोपण विधि का मौलिक अध्ययन

जैन दर्शन मोक्ष प्राप्ति के लिए सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप त्रिविध साधना मार्ग का निर्देश करता है। तत्त्वार्थसूत्र में त्रिविध साधना मार्ग को मोक्ष प्राप्ति का मुख्य कारण कहा गया है।[1] यद्यपि उत्तराध्ययनसूत्र में सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप रूप चतुर्विध मोक्षमार्ग का विधान है[2] तथापि परवर्ती आचार्यों ने तप को चारित्र में समाविष्ट किया है अत: परवर्ती साहित्य में मोक्ष की प्राप्ति के लिए त्रिविध साधना मार्ग का ही उल्लेख मिलता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार[3] एवं नियमसार में, अमृतचन्द्राचार्य ने पुरूषार्थसिद्धयुपाय[4] में तथा आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में त्रिविध साधना मार्ग का ही वर्णन किया है। इस प्रकार जैन दर्शन त्रिविध साधना मार्ग के समन्वय में मोक्ष की प्राप्ति मानता है, किन्तु मोक्ष प्राप्ति में सम्यग्दर्शन की प्रारम्भिक और प्राथमिक भूमिका होने से उसका विशिष्ट स्थान है।

सम्यग्दर्शन शब्द का अर्थ

जैन परम्परा में सम्यग्दर्शन, सम्यक्त्व एवं सम्यग्दृष्टि शब्दों का प्रयोग समान अर्थ में किया जाता है। यद्यपि आचार्य जिन भद्रगणिक्षमाश्रमण ने विशेषावश्यकभाष्य में सम्यक्त्व और सम्यग्दर्शन के भिन्न-भिन्न अर्थ बताए हैं।[5] उसमें कहा गया है कि जिसके निमित्त से श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र सम्यक् बनते हैं, वह सम्यक्त्व है। इस प्रकार सम्यक्त्व का अर्थ सम्यग्दर्शन से अधिक व्यापक है, फिर भी सामान्यतया सम्यग्दर्शन और सम्यक्त्व शब्द एक ही अर्थ में प्रयुक्त किए जाते रहे हैं।

सम्यक्त्व का अर्थ– जिस प्रकार किसी शब्द से 'त्व' प्रत्यय लगकर नया शब्द बनता है जैसे-मनुष्य+त्व=मनुष्यत्व, प्रभु+त्व=प्रभुत्व, मधुर+त्व=मधुरत्व उसी प्रकार सम्यक् में 'त्व' प्रत्यय लगकर सम्यक्त्व शब्द

बना है। 'त्व' प्रत्यय भाव अर्थ में लगता है अत: सम्यक्त्व का सामान्य अर्थ-जो सम्यक् हो। आचारशास्त्र में सम्यक् शब्द उचित के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। उसका सामान्य अर्थ है-अच्छा, शुभ, सुन्दर या प्रशस्त अर्थात् शुभता, सुन्दरता, प्रशस्तता होना सम्यक्त्व है। जैन दृष्टि से यह सम्यक्त्व आत्मा का उपयोग या आत्मा का परिणाम है। इस प्रकार का शुभ परिणाम दर्शन मोहनीय कर्म का उपशम, क्षयोपशम या क्षय होने पर उत्पन्न होता है और उस शुभ परिणामी जीव को ही सम्यक्त्वी कहा गया है, अत: आत्मा के अध्यवसायों का निर्मल होना, प्रशस्त होना सम्यक्त्व है।

सम्यक्त्व का एक अर्थ सामान्य रूप से सत्य का बोध होना, यथार्थ का ज्ञान होना, ऐसा जानना चाहिए। सम्यक्त्व का दूसरा अर्थ तत्त्व-रूचि है। सम्यक्त्व का तीसरा अर्थ जीवा-अजीवादि तत्त्वों में श्रद्धा करना है।[6]

सम्यक्त्व के पर्यायवाची– आवश्यकनिर्युक्ति में सम्यक्त्व के निम्न सात पर्यायवाची नाम वर्णित हैं[7]-

1. सम्यग्दृष्टि -अविपरीत प्रशस्तदृष्टि।
2. अमोह-ममत्वरहित आग्रह।
3. शोधि-मिथ्यात्व का अपनयन।
4. सद्भावदर्शन-जिनप्रवचन की उपलब्धि।
5. बोधि-परमार्थ का बोध।
6. अविपर्यय-तत्त्व का निश्चय होना।
7. सुदृष्टि-प्रशस्तदृष्टि।

स्वरूपत: सम्यक् दृष्टिवान् होना, तत्त्व का यथार्थबोध होना, अनाग्रही होना, सम्यक्त्व है। समकित शब्द इन्हीं अर्थों में रूढ़ है।

दर्शन का अर्थ- जैन दर्शन में 'दर्शन' शब्द अनाकार ज्ञान का प्रतीक माना गया है और श्रद्धा के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है। सही दर्शन, सही ज्ञान तक और सही ज्ञान ही सही आचरण तक ले जाने की क्षमता रखता है अत: धर्म का मूल दर्शन है। इस दृष्टि से आप्तवचनों एवं तत्त्वों पर श्रद्धा करना ही सम्यग्दर्शन है।

जैनागमों में दर्शन शब्द विविध अर्थों में प्रयुक्त है। प्राकृत साहित्य में दर्शन के लिए 'दंसण' शब्द का प्रयोग होता है। संस्कृत भाषा में 'दर्शन'

शब्द की निष्पत्ति 'दृश्' धातु में 'ल्युट्' प्रत्यय लगकर हुई है। इस प्रकार दृष्टि और दर्शन एक ही धातु से निष्पन्न हैं। 'दर्शन' शब्द के निम्न अर्थ प्रचलित हैं-

• दृश् धातु का अर्थ है-देखने की क्रिया करना। ल्युट् प्रत्यय लगने पर दर्शन शब्द का सामान्य अर्थ होता है-देखना। यहाँ देखने के अन्तर्गत नेत्र से देखना, अनुभव से देखना आदि सभी का समावेश हो जाता है।

• दर्शन का एक अर्थ मान्यता या सिद्धांत भी है। जैनदर्शन, बौद्धदर्शन, न्यायदर्शन आदि पदों में दर्शन का यही अर्थ अभीष्ट है।

• जैनदर्शन में 'दर्शन' एक पारिभाषिक शब्द है। यहाँ दर्शन के दो अर्थ प्रचलित हैं, एक अर्थ है-सामान्य बोध। दर्शनावरणी कर्म के क्षयोपशम से जीव में जो दर्शन गुण प्रकट होता है वह 'सामान्य बोध' अर्थ का परिचायक है।

• दर्शन का अन्य परिभाषित प्रयोग सम्यग्दर्शन के अर्थ में हुआ है। सम्यग्दर्शन का अर्थ है-वस्तु स्वरूप के अनुसार वैसी श्रद्धा करना। यद्यपि श्रद्धा से तात्पर्य जीवादि तत्त्वों के प्रति लिया जाता है, किन्तु यहाँ पर सम्यग्दर्शन का अभिप्राय दर्शनमोह-कर्म के क्षयादि से प्रकट 'दर्शन' से है।[8]

• सामान्यतया दर्शन शब्द की व्युत्पत्तिपरक व्याख्या तीन प्रकार से की जा सकती है-

1. दृश्यते अनेन इति दर्शनम्।
2. पश्यति अनुभवति इति दर्शनम्।
3. दृष्टि दर्शनम्।

इस तरह दर्शन शब्द के तीन अर्थ होते हैं। • जिसके द्वारा देखा जाता है, वह दर्शन है। • देखना ही दर्शन है। (ये दोनों अर्थ बाह्यदृष्टि के सूचक हैं।) • दृष्टिकोण ही दर्शन है। (दर्शन शब्द का यह अर्थ दर्शन-शास्त्र से सम्बन्धित है।)

• साधना के क्षेत्र में दर्शन शब्द साक्षात्कार या आत्मानुभूति के अर्थ में है। आचारांगसूत्र में दर्शन शब्द आत्मानुभूति, आत्म साक्षात्कार आदि अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।[9]

- उत्तराध्ययनसूत्र में दर्शन का श्रद्धापरक अर्थ किया गया है।
- तत्त्वार्थसूत्र में दर्शन का अर्थ तत्त्वश्रद्धान किया है।[10]

इस तरह जीव-अजीव आदि पदार्थों के स्वरूप को जानकर उन पर श्रद्धा करना दर्शन है।[11]

- परवर्ती जैन-साहित्य में दर्शन शब्द देव, गुरू और धर्म के प्रति श्रद्धा एवं भक्ति के अर्थ में रूढ़ हो गया है। सम्यक्त्व की यह व्याख्या सामान्य साधक की अपेक्षा से की गई है।[12]

सम्यक्दर्शन का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ

यद्यपि सम्यक्त्व और सम्यक्दर्शन समानार्थक हैं तथापि सम्यक्दर्शन में प्रयुक्त 'सम्यक्' शब्द की व्याख्या करते हुए आचार्य उमास्वाति लिखते हैं [13]– 'सम्यक्' शब्द दो प्रकार से प्रशंसा अर्थ का द्योतक है। वह निपातरूप में भी प्रशंसा का सूचक है और व्युत्पत्ति अर्थ में भी प्रशंसासूचक है। आचार्य पूज्यपाद इसकी व्याख्या करते हुए लिखते हैं[14]-'सम्यक्' शब्द अव्युत्पन्न(रूढ़िपरक) और व्युत्पन्न(व्याकरणसिद्ध) युगलरूप है। जब यह व्याकरण से सिद्ध किया जाता है तब 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'अंचे' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय करने पर सम्यक् शब्द बनता है। संस्कृत में इसकी व्युत्पत्ति 'समंचति इति सम्यक्'-इस प्रकार होती है। प्राकृत में इसका अर्थ प्रशंसा है। पदार्थों के सच्चे श्रद्वान को व्यक्त करने के लिए दर्शन के पहले 'सम्यक्' विशेषण दिया गया है। आचार्य अकलंकदेव ने भी 'सम्यक्' शब्द प्रशंसार्थक माना है। 'सम्यगिष्टार्थतत्त्वयोः' इस पद के अनुसार 'सम्यक्' शब्द का प्रयोग इष्टार्थ और तत्त्व अर्थ में होता है। इसका भावार्थ है- जो पदार्थ जैसा है, उसे वैसा ही जानना सम्यक् कहलाता है।[15]

सम्यक्दर्शन में द्वितीय पद 'दर्शन' है। आचार्य उमास्वाति ने यह व्याख्या इस प्रकार की है[16]-'सम्यक्' शब्द की तरह दर्शन शब्द भी 'दृश्' धातु से भाव में 'ल्युट्' प्रत्यय होकर बना है। प्रशंसार्थक सम्यक् शब्द दर्शन का विशेषण है अतएव प्रशस्त संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय आदि दोषों से रहित दर्शन को अथवा युक्तिसिद्ध दर्शन को सम्यग्दर्शन कहते हैं। आचार्य पूज्यपाद ने 'दर्शन' शब्द के स्पष्टीकरण में लिखा है[17]-दर्शन शब्द कर्तृसाधन, करणसाधन और भावसाधन तीनों रूप में है जैसे-"पश्यति

दृश्यते अनेन दृष्टिमात्रं वा दर्शनम्'' अर्थात जो देखता है, जिसके द्वारा देखा जाए या देखना मात्र। यही दर्शन शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है।

स्वरूपत: सम्यग्दर्शन में प्रयुक्त 'दर्शन' शब्द का अर्थ 'श्रद्धान' है मात्र देखना या अवलोकन करना नहीं। व्याकरण दृष्टि से धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं अत: 'दृश्' धातु से श्रद्धानरूप अर्थ करने में कोई दोष नहीं है। जैन दर्शन में सम्यग्दर्शन को श्रद्धा, रूचि, स्पर्श और प्रत्यय अथवा प्रतीति आदि नामों से भी जाना जाता है।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन शब्द तत्त्व साक्षात्कार, आत्मानुभूति, सामान्यबोध, दृष्टिकोण, तत्त्वश्रद्धान आदि अनेक अर्थों का द्योतक है। इस अध्याय में सम्यक्त्व का अर्थ सत्यबोध, आत्मबोध, श्रद्धान और देव-गुरू-धर्म के प्रति श्रद्धा रखना आदि जानना चाहिए।

सम्यग्दर्शन के अर्थों की विकास-यात्रा

डॉ. सागरमल जैन के अनुसार भगवान महावीर के समय में प्रत्येक धर्म प्रवर्त्तक अपने सिद्धान्त को सम्यक् दृष्टि और दूसरे के सिद्धान्त को मिथ्यादृष्टि कहता था। बौद्धागमों में 62 मिथ्यादृष्टियों एवं जैनागम सूत्रकृतांगसूत्र में 363 मिथ्यादृष्टियों का उल्लेख मिलता है, लेकिन वहाँ पर मिथ्यादृष्टि शब्द का प्रयोग अश्रद्धा या मिथ्याश्रद्धा के रूप में न होकर गलत दृष्टिकोण के अर्थ में हुआ है। यह गलत दृष्टिकोण जीव और जगत् के सिद्धान्तों को लेकर माना गया था। कुछ समय के बाद प्रत्येक सम्प्रदाय जीवन और जगत् सम्बन्धी अपने दृष्टिकोण पर विश्वास करने को सम्यग्दृष्टि कहने लगा और जो लोग विपरीत मान्यता रखते थे, उन्हें मिथ्यादृष्टि कहने लगा, तब सम्यक्दर्शन शब्द तत्त्वार्थ (जीव और जगत् के स्वरूप के) श्रद्धान के अर्थ में रूढ़ हुआ। लेकिन तत्त्वार्थश्रद्धान के अर्थ में भी सम्यक्-दर्शन शब्द अपने मूल अर्थ से अधिक दूर नहीं हुआ था, तथापि भावनागत दिशा बदल चुकी थी। उसमें श्रद्धा का तत्त्व प्रविष्ट हो चुका था, परन्तु वह श्रद्धा तत्त्वस्वरूप के प्रति थी।

यह ज्ञातव्य है कि श्रमण परम्परा में लम्बे समय तक सम्यग्दर्शन का दृष्टिकोणपरक अर्थ ही ग्राह्य रहा, जो परवर्तीकाल में तत्त्वार्थश्रद्धान के रूप में विकसित हुआ। यहाँ तक श्रद्धा ज्ञानात्मक थी। वस्तुत: सम्यग्दर्शन का यथार्थ दृष्टिकोण परक अर्थ ही उसका प्रथम एवं मूल अर्थ है और यह अर्थ

वीतरागी पुरूष में या सिद्धावस्था में ही संभव है, साधनावस्था में संभव नहीं है। यद्यपि जीवन-व्यवहार और साधना को सम्यक् बनाने हेतु यथार्थ दृष्टिकोण की आवश्यकता अपरिहार्यत: होती है। अयथार्थ दृष्टिकोण ज्ञान और जीवन के व्यवहार को सम्यक् नहीं बना सकता। यहाँ समस्या उत्पन्न होती है कि साधनात्मक जीवन में यथार्थ दृष्टिकोण का अभाव रहता है और बिना यथार्थ दृष्टिकोण के साधना हो नहीं सकती, तब क्या किया जाए? इसका समधान यह है कि दृष्टिकोण की यथार्थता के लिए, दृष्टि का राग-द्वेष से पूर्ण विमुक्त होना आवश्यक नहीं है, मात्र इतना आवश्यक है कि व्यक्ति यथार्थता और उसके कारण को जाने। ऐसा साधक यथार्थता को न जानते हुए भी सम्यग्दृष्टि ही है, क्योंकि वह असत्य को असत्य मानता है और उसके कारण को जानता है। इस स्थिति तक पहुँच जाने के अनन्तर पूर्ण सत्य तो प्राप्त नहीं होता है, किन्तु सत्याभीप्सा जागृत हो जाती है। यही सत्याभीप्सा उस सत्य या यथार्थता के निकट पहुँचती है और वह जितने अंश में यथार्थता के निकट पहुँचती है, उतने ही अंश में उसका ज्ञान और चारित्र शुद्ध होता जाता है। ज्ञान और चारित्र की शुद्धता से पुन: राग-द्वेष में क्रमश: कमी होती है और उसके फलस्वरूप उसके दृष्टिकोण में और अधिक यथार्थता आ जाती है। इस प्रकार व्यक्ति स्वत: ही साधना की चरम स्थिति में पहुँच जाता है, लेकिन उल्लेखनीय बात यह है कि प्रत्येक सामान्य साधक के लिए इस प्रकार यथार्थ दृष्टिकोण को प्राप्त करना सम्भव नहीं है। स्वयं द्वारा सत्य जानने की विधि की अपेक्षा दूसरा सहजमार्ग यह है कि जिन्होंने स्वानुभूति से सत्य को जानकर उसका जो भी स्वरूप बताया है, उसको स्वीकार कर लेना। इसे ही जैन-शास्त्रकारों ने तत्त्वार्थश्रद्धान कहा है।[18]

उक्त कथन से ध्वनित होता है कि सम्यग्दर्शन को चाहे यथार्थदृष्टि या तत्त्वार्थश्रद्धान कहें, उनमें वास्तविकता की दृष्टि से अन्तर नहीं है, केवल उपलब्धि की प्रक्रिया भिन्न है। जैसे एक वैज्ञानिक स्वत: प्रयोग के आधार पर किसी सत्य का उद्घाटन करता है और वस्तु तत्त्व के यथार्थस्वरूप को जानता है। दूसरा वैज्ञानिक कथनों पर विश्वास करके भी वस्तु तत्त्व के यथार्थस्वरूप को जानता है। इन दोनों दशाओं में व्यक्ति का दृष्टिकोण

यथार्थ ही रहता है, यद्यपि दोनों की उपलब्धि-विधि में अन्तर है। एक व्यक्ति तत्त्व का साक्षात्कार स्वत: करता है और दूसरा श्रद्धा के माध्यम से करता है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन के विभिन्न अर्थ एकाकारता को लिए हुए हैं।

सम्यग्दर्शन का लक्षण

सम्यग्दर्शन के विभिन्न लक्षणों में प्रमुख लक्षण है- 'तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।' यह ऐसा लक्षण है, जिसमें निश्चय और व्यवहार दोनों अर्थ घटित होते हैं। सात तत्त्व की विकल्प रूप श्रद्धा व्यवहार सम्यग्दर्शन है तथा सात तत्त्वों में छिपी हुई एक आत्मज्योति की प्रतीति निश्चय सम्यग्दर्शन है।[19]

इस प्रमुख लक्षण का विशेष स्वरूप है-तत्त्वार्थ का श्रद्धान। अपने-अपने स्वरूप के अनुसार पदार्थों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।[20] तत्त्वरूप से श्रद्धान करने का अभिप्राय यह है कि भावरूप से निश्चय करना। इस लक्षण का गूढ़तम अर्थ समझने हेतु 'तत्त्वार्थ' शब्द की व्युत्पत्तिपरक व्याख्या आवश्यक है।

तत्त्व और अर्थ-इन दो शब्दों के संयोग से तत्त्वार्थ शब्द का उद्भव हुआ है। इसके व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ इस प्रकार हैं-

- 'तत्त्वेन अर्थ: तत्वार्थ:'-तत्त्व अर्थात् अपना स्वरूप और उसके सहित पदार्थ-वह तत्त्वार्थ अथवा जो पदार्थ जिस रूप से अवस्थित है, उसका इसी रूप से ग्रहण तत्त्वार्थ है।
- 'तत्त्वमेवार्थस्तत्त्वार्थ:'-जीव-अजीव आदि की तत्त्व संज्ञा भी है और अर्थ संज्ञा भी, इसलिए जो तत्त्व है, वही अर्थ है-इस प्रकार तत्त्वार्थ है।
- 'अर्थमेव तत्त्वं तत्त्वार्थ:'-जो अर्थ पदार्थ है, वही है तत्त्व ऐसा तत्त्वार्थ है।
- 'अर्थेन तत्त्वं तत्त्वार्थ:'-पदार्थ द्वारा भाव (तत्त्व) का ज्ञान होना तत्त्वार्थ है।
- 'तत्त्वं च अर्थं च तत्त्वार्थ:'-तत्त्व और अर्थ दोनों पर श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।[21]

उक्त व्याख्याओं का सार तत्त्व यह है कि यद्यपि तत्त्वार्थ अनंत हैं और

उनका सामान्य-विशेष रूप से अनेक प्रकार का प्ररूपण सम्भव है, किन्तु यहाँ एकमात्र मोक्ष का प्रयोजन है अतः जाति की अपेक्षा से जीव और अजीव-ये दो तथा पर्यायरूप से आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष- इन पाँच तत्त्वों को मिलाकर सात तत्त्व ही कहे हैं। इन सात तत्त्वार्थ के श्रद्धान का नाम ही सम्यग्दर्शन है। अनेक स्थानों पर पुण्य और पाप को मिलाकर नौ पदार्थ भी कहे जाते हैं। ये पुण्य-पाप आस्रव-बन्ध के ही विशेष भेद हैं अतः सात तत्त्वों में गर्भित हैं।

तत्त्वार्थ श्रद्धान के यथार्थ अभिप्राय का अर्थ है जो वस्तु जैसी है उसे वैसा ही मानना और इसी का नाम सम्यग्दर्शन है। यदि सम्यग्दर्शन के विभिन्न लक्षणों का समन्वय किया जाए, तो मुख्य रूप से चार लक्षण ज्ञात होते हैं-

1. सात तत्त्वों का श्रद्धान 2. देव-शास्त्र-धर्म(गुरू) का श्रद्धान
3. स्व-पर का श्रद्धान और 4. आत्मा का श्रद्धान।

उपर्युक्त चारों ही लक्षण परस्पर गर्भित एवं प्रचलित हैं इसलिए तत्त्वार्थ श्रद्धान को सम्यग्दर्शन का प्रमुख लक्षण बतलाया है।

जैन साहित्य में मिथ्यात्व का स्वरूप एवं प्रकार

सत्य को असत्य, धर्म को अधर्म, पुण्य को पाप आदि मानते हुए विपरीत बुद्धि रखना, सत्यता को स्वीकार नहीं करना, देव-गुरू-धर्म पर श्रद्धा नहीं करना अथवा गलत मार्ग को स्वीकार करना मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व पाँच प्रकार का होता है-[22]

1. आभिग्रहिक– 'मैं जो मानता हूँ या कहता हूँ, वही सत्य है बाकी सब असत्य है'-इस प्रकार की आग्रह बुद्धि रखना आभिग्रहिक- मिथ्यात्व है।

2. अनाभिग्रहिक– सही क्या है, गलत क्या है, इसका विवेक नहीं रखना और सब कुछ सत्य है, सही है-ऐसा मानना अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व है।

3. आभिनिवेशिक– अभिनिवेश का अर्थ है दुराग्रह। सत्य को जानते हुए भी अपनी असत्य बात को पकड़कर रखना, उसका हठाग्रह नहीं छोड़ना, आभिनिवेशिक मिथ्यात्व है।

4. सांशयिक– जिनेश्वर प्रणीत तत्त्व (सिद्धान्त) के प्रति शंका रखना

सांशयिक मिथ्यात्व है।

5. अनाभोगिक– उपयोग से शून्य होना। एकेन्द्रिय जीवों से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक जीवों का ज्ञान अनाभोगिक मिथ्यात्व कहलाता है।

उक्त पाँच प्रकार के मिथ्यात्व भावों का त्याग करना सम्यक्त्व है।

सम्यग्दर्शन प्राप्ति के हेतु

सत्य तत्त्व की प्रतीति होना, सत्य का ज्ञान होना, सत्य अर्थ को स्वीकार करना, सत्य पदार्थ पर वैसी श्रद्धा होना सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन दो कारणों से उत्पन्न होता है-निसर्गज और अधिगमज।[23]

1. निसर्गज सम्यक्त्व– जिस प्रकार नदी के प्रवाह में पड़ा हुआ पत्थर बिना प्रयास के स्वाभाविक रूप से गोल हो जाता है, उसी प्रकार बिना किसी आलम्बन के ज्ञानावरणी-दर्शनावरणी कर्म का क्षयोपशम होने पर जो सत्यता का बोध होता है, वह सत्य-बोध ट्टनिसर्गज (प्राकृतिक) सम्यग्दर्शन कहलाता है, यह सम्यक्त्व बिना किसी गुरू के उपदेश या प्रेरणा के होता है।

2. अधिगमज सम्यक्त्व– गुरू आदि के उपदेश, जिनवाणी के श्रवण, स्वाध्याय आदि के निमित्त से जो सत्यबोध होता है, वह अधिगमज सम्यक्त्व कहलाता है।

सम्यग्दर्शन के प्रकार

जैनागमों में सम्यग्दर्शन के स्वरूप का निरूपण दो, तीन, पाँच, दस, आदि अनेक भेद-प्रभेदों के आधार पर किया गया है। वह निम्नानुसार है-

द्विविध वर्गीकरण

सम्यक्त्व का द्विविध वर्गीकरण तीन प्रकार से किया गया है 1. द्रव्य और भाव 2. निश्चय और व्यवहार 3. सराग और वीतराग।

द्रव्य सम्यक्त्व और भाव सम्यक्त्व

1. द्रव्य सम्यक्त्व– विशुद्ध रूप में परिणत किए हुए मिथ्यात्व के कर्म परमाणु द्रव्य-सम्यक्त्व है।

2. भाव सम्यक्त्व– विशुद्ध पुद्गलवर्गणा के निमित्त से होने वाली तत्त्व श्रद्धा भाव-सम्यक्त्व है।

निश्चय सम्यक्त्व और व्यवहार सम्यक्त्व

1. निश्चय सम्यक्त्व– राग, द्वेष और मोहनीय कर्म की प्रकृतियों का मन्द होना, पर पदार्थों का भेद ज्ञान होना, स्वस्वरूप में रमण करना और देव-गुरू-धर्म ही मेरी आत्मा है- ऐसी दृढ़ श्रद्धा होना निश्चय सम्यक्त्व है अथवा बिना किसी उपाधि के, बिना किसी उपचार के शुद्ध जीव का जो साक्षात् अनुभव होता है, वह निश्चय-सम्यक्त्व है।

2. व्यवहार सम्यक्त्व– अठारह पापों से रहित वीतराग परमात्मा को देव, पाँच महाव्रतों का पालन करने वाले मुनियों को गुरू और जिनप्रणीत उपदेश या सिद्धान्तों को धर्म मानना व्यवहार सम्यक्त्व है।[24]

सरागसम्यक्त्व-वीतरागसम्यक्त्व

1. सराग सम्यक्त्व– प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य आदि की अभिव्यक्ति होना सराग-सम्यग्दर्शन है।

2. वीतराग सम्यक्त्व– आत्मा का शुद्ध स्वरूप अथवा दर्शन सप्तक का आत्यन्तिक क्षय होने पर प्रकट होने वाली आत्म विशुद्धि वीतराग-सम्यग्दर्शन है।[25]

इस प्रकार सरागी जीवों को जो सम्यग्दर्शन होता है, वह सराग सम्यग्दर्शन कहलाता है और जो सम्यग्दर्शन वीतरागी जीवों को होता है, वह वीतराग सम्यग्दर्शन कहलाता है।

यहाँ यह तथ्य ज्ञातव्य है कि सम्यग्दर्शन स्वयं सराग या वीतराग नहीं होता, सरागता और वीतरागता का सम्बन्ध जीव की सरागी या वीतरागी अवस्था से है अत: सरागी जीव के सम्यग्दर्शन को सराग सम्यग्दर्शन और वीतरागी जीव के सम्यग्दर्शन को वीतराग सम्यग्दर्शन कहा गया है।

यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि दोनों के आत्म स्वरूप श्रद्धान में कोई अन्तर नहीं है, जैसा विशिष्ट आत्म स्वरूप श्रद्धान सरागी सम्यग्दृष्टि जीव को होता है, वैसा ही वीतरागी जीवों में होता है, मात्र अभिव्यक्ति में अन्तर है। सरागी जीवों में सम्यग्दर्शन की अभिव्यक्ति प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य-भाव से होती है और वीतरागियों में आत्मविशुद्धि मात्र से। क्योंकि इसमें आप्त, आगम एवं पदार्थ आदि का विकल्प ही नहीं रहता।

त्रिविध वर्गीकरण

सम्यक्त्व का त्रिविध वर्गीकरण इस प्रकार है- 1. कारक 2. रोचक और 3. दीपक।[26]

1. कारक सम्यक्त्व– 'कारयतीति कारकम्'-इस निरूक्ति के आधार पर जिस सम्यग्दर्शन के प्रभाव से जीव स्वयं तो श्रद्धावान् होकर सम्यक्-चारित्र का पालन करता ही है, किन्तु अन्य जीवों को भी प्रेरणा देकर सदाचरण में प्रवृत्त करता है, वह कारक सम्यक्त्व है जैसे- साधु।

2. रोचक सम्यक्त्व– रोचक का अर्थ है-रूचि रखना। जिस सम्यक्त्व के उदय से जीव सिर्फ सत्य पदार्थ के प्रति श्रद्धा ही कर पाता है, किन्तु तदनुकूल आचरण नहीं कर पाता है अथवा जिस सम्यक्त्व के उदय से जीव शुभ को शुभ और अशुभ को अशुभ रूप में जानता है और शुभ प्राप्ति की इच्छा भी करता है लेकिन उसके लिए प्रयास नहीं करता अथवा जिस सम्यक्त्व के होने पर व्यक्ति सदनुष्ठान में केवल रूचि रखता है, क्रिया नहीं करता, वह रोचक सम्यक्त्व है जैसे-सम्राट श्रेणिक आदि।

3. दीपक सम्यक्त्व– दीपक का शाब्दिक अर्थ है-सम्यक्त्व को दीप्त करना। जिस सम्यक्त्व के कारण जीव स्वयं तो तत्त्वश्रद्धान नहीं रखता है, किन्तु उसके पास तत्त्वज्ञान का बाहुल्य होने से दूसरों को प्रेरित कर सम्यक्त्वी बना देता है, अथवा जिसके द्वारा जीव दूसरों को सन्मार्ग पर लाने का कारण बनता है, लेकिन स्वयं कुमार्ग का ही पथिक बना रहता है, वह दीपक सम्यक्त्व है। यह सम्यक्त्व अभव्य और मिथ्यादृष्टि भव्य को होता है। अभव्य व्यक्ति भी ग्यारह अंग पढ़ सकता है, किन्तु उन पर श्रद्धा नहीं रख पाता।

सम्यक्त्व का त्रिविध वर्गीकरण एक अन्य प्रकार से भी किया गया है, जिसका आधार कर्म-प्रकृतियों का क्षयोपशम है। जैन विचारणा में अनन्तानुबंधी(तीव्रतम) क्रोध, मान, माया, लोभ तथा मिथ्यात्वमोह, सम्यक्त्वमोह और मिश्रमोह-ये सात प्रकृतियाँ सम्यक्त्व (यथार्थबोध) की विरोधिनी हैं। इसमें सम्यक्त्व का मोह मात्र सम्यक्त्व की निर्मलता और विशुद्धि में बाधक होता है। नियमतः कर्म प्रकृतियों की तीन स्थितियाँ हैं- 1. क्षय 2. उपशम और 3. क्षयोपशम। इसी आधार पर सम्यक्त्व का यह वर्गीकरण किया गया है- 1. औपशमिक सम्यक्त्व 2. क्षायिक सम्यक्त्व और

3. क्षायोपशमिक सम्यक्त्व ।

1. औपशमिक सम्यक्त्व– उपशम का अर्थ है-उपशमन करना या दबा देना। जिस प्रकार मिट्टीयुक्त जल से भरे हुए गिलास में फिटकरी आदि का प्रयोग किया जाए, तो मिट्टी स्वत: नीचे दब जाती है और ऊपर में स्वच्छ पानी दिखाई देता है, उसी प्रकार उक्त सप्तविध प्रकृतियों का उपशम होने पर जो सम्यक्त्व-गुण (सत्य बोध) प्रकट होता है, वह औपशमिक सम्यक्त्व है, किन्तु जैसे ही गिलास को धक्का लगता है पानी पुन: गंदा हो जाता है, वैसे ही दर्शनसप्तक (अनन्तानुबंधी कषायचतुष्क और दर्शनत्रिक) का उदय होने पर यह सम्यक्त्व विनष्ट हो जाता है, तथापि इस सम्यक्त्व की यह विशेषता है कि एक बार इसका स्पर्श करने वाले जीव का संसार मात्र अर्द्धपुद्गल परावर्तन जितना शेष रहता है। इस सम्यक्त्व की अधिकतम अवधि एक मुहूर्त्त (48 मिनिट) है।

2. क्षायिक सम्यक्त्व– दर्शनमोहनीय की सात कर्म-प्रकृतियों का क्षय होने पर जो यथार्थबोध होता है, वह क्षायिक सम्यक्त्व है। इस सम्यक्त्व की यह विशेषता है कि एक बार प्रकट होने पर यह कभी नष्ट नहीं होता है। क्षायिक सम्यक्त्व नित्य है तथा प्रतिसमय गुणश्रेणी निर्जरा का कारण है। कहा भी है 'तच्चं भवं नाइक्कमइ'- इस शास्त्रवचन के अनुसार क्षायिक सम्यक्त्वी जीव तीन भव में मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

3. क्षायोपशमिक सम्यक्त्व- चार अनन्तानुबन्धी कषाय, मिथ्यात्व मोहनीय और मिश्र मोहनीय-इन छ: प्रकृतियों के उदयाभावी क्षय और इन्हीं के सदवस्थारूप उपशम से देशघातीस्पर्द्धक वाली सम्यक्त्व-प्रकृति के उदय में जो तत्त्वार्थ-श्रद्धान होता है अर्थात् दर्शनसप्तक में से छ: प्रकृतियों का क्षय और सम्यक्त्व-प्रकृति का उपशम होने पर जो श्रद्धान (सत्यबोध) होता है, वह क्षायोपशमिक सम्यक्त्व है।

औपशमिकादि तीनों प्रकार के सम्यग्दर्शन के संबंध में विशेष जानने योग्य यह है कि • क्षायिक-सम्यग्दर्शन चौथे गुणस्थान से लेकर ऊपर के सभी गुणस्थानों में पाया जाता है। • द्वितीयोपशम-सम्यग्दर्शन चतुर्थ गुणस्थान से उपशांतमोह नामक ग्यारहवें गुणस्थान तक पाया जाता है। • उपशम और क्षयोपशम-ये दो सम्यक्त्व साधन हैं और क्षायिकसम्यक्त्व

साध्य है। • अर्द्ध पुद्गल परावर्तन के अनन्तर नियम से मोक्ष पाने वाले भव्य जीव को उपशम सम्यक्त्व प्राप्त होता है। • प्रथम नरक में तीनों सम्यक्त्व होते हैं तथा अन्य छः नरकों में मुक्तिदायक क्षायिक सम्यक्त्व को छोड़कर शेष दोनों सम्यक्त्व होते हैं। • सर्वप्रथम औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है, अतएव औपशमिक भाव को आदि में ग्रहण किया है। क्षायिक भाव औपशमिक भाव का प्रतियोगी है और संसारी जीवों की अपेक्षा औपशमिक सम्यग्दृष्टियों से क्षायिक सम्यग्दृष्टि असंख्यात गुना हैं अतः औपशमिक भाव के पश्चात् क्षायिक भाव को ग्रहण किया है। मिश्रभाव इन दोनों रूप में होता है और क्षायोपशमिक जीव औपशमिक और क्षायिक सम्यग्दृष्टियों से असंख्यात गुना होते हैं अतः मिश्रभाव को बाद में ग्रहण किया है।

पंचविध वर्गीकरण

इस वर्गीकरण में औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, वेदक और सास्वादन-ये पाँच प्रकार के सम्यक्त्व अन्तर्निहित होते हैं।[27] वेदक एवं सास्वादन का स्वरूप निम्न है-

4. वेदक सम्यक्त्व– जब जीव क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की भूमिका से क्षायिक सम्यक्त्व की ओर अग्रसर होता है, उस समय वह सम्यक् मिथ्यात्व नामक प्रकृति के शेष दलिकों का अनुभव करता है, सम्यक्त्व की यह अवस्था वेदक सम्यक्त्व है। वेदक सम्यक्त्व के अनन्तर जीव क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेता है, क्योंकि मिश्रमोहनीय-कर्म के दलिकों का वेदन करता हुआ, उन्हें क्षय कर डालता है।

5. सास्वादन सम्यक्त्व– जब जीव औपशमिक अथवा क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की भूमिका से सम्यक्त्व का वमन कर मिथ्यात्व की भूमिका की ओर लौटता है, उस अंतराल में जब तक मिथ्यात्व का उदय न हो, तब तक जो सम्यक्त्व का आस्वादन रहता है, वह सास्वादन सम्यक्त्व है।

सास्वादन और वेदक सम्यक्त्व- ये दोनों सम्यक्त्व की मध्यान्तर अवस्थाएँ हैं। पहली अवस्था सम्यक्त्व से मिथ्यात्व की ओर गिरते समय होती है और दूसरी अवस्था क्षायोपशमिक-सम्यक्त्व से क्षायिक-सम्यक्त्व की ओर बढ़ते समय होती है।

दशविध वर्गीकरण

उत्तराध्ययनसूत्र में सम्यग्दर्शन के हेतुभूत दस रूचियों का वर्णन किया गया है।[28] सम्यक्त्व के ये दस प्रकार सम्यक्त्व की उत्पत्ति के आधार पर किए गए हैं जो निम्न हैं-

1. निसर्ग (स्वभाव) रूचि– सम्यक्त्व का आवरण करने वाले कर्मों की विशिष्ट निर्जरा होने पर स्वत: सत्य की प्रतीति होना निसर्गरूचि-सम्यक्त्व है।

2. उपदेशरूचि– वीतराग वाणी सुनकर या गुरू आदि की प्रेरणा पाकर सत्य के स्वरूप को जानना और उसमें विश्वास करना उपदेशरूचि-सम्यक्त्व है।

3. आज्ञारूचि– अरिहंत परमात्मा या गुरू आदि की आज्ञानुसार प्रवृत्ति करने पर तत्त्व की रूचि होना आज्ञारूचि-सम्यक्त्व है।

4. सूत्ररूचि– अंगप्रविष्ट एवं अंगबाह्य ग्रन्थों के अध्ययन द्वारा यथार्थ बोध होना सूत्ररूचि-सम्यक्त्व है।

5. बीजरूचि– आंशिक सत्यबोध को स्वयं के चिंतन द्वारा विकसित करना बीजरूचि-सम्यक्त्व है। जैसे जल में डाली गई तेल की एक बूंद फैलती जाती है, वैसे ही एक प्रकार के सत्य बोध द्वारा अनेक प्रकार का सत्यबोध होते रहना बीज सम्यक्त्व है।

6. अभिगमरूचि– अंग साहित्य आदि ग्रन्थों के अर्थादि को विस्तृत रूप से जानने पर तत्त्वश्रद्धा का उत्पन्न होना अभिगमरूचि सम्यक्त्व है।

7. विस्ताररूचि– छ: द्रव्य, नौ तत्त्व, द्रव्य-गुण-पर्याय, प्रमाण- नय-निक्षेप आदि का विस्तारपूर्वक विवेचन करने से उत्पन्न होने वाला सत्य का बोध या तत्त्व प्रतीति विस्ताररूचि-सम्यक्त्व है।

8. क्रियारूचि– प्रतिलेखन, प्रतिक्रमण, दर्शन, पूजन, समिति पालन, तप, विनय आदि क्रियाओं में रूचि रखना तथा इन क्रियाओं के माध्यम से सत्य की प्रतीति होना क्रियारूचि-सम्यक्त्व है।

9. संक्षेपरूचि– अल्पज्ञान के आधार पर अल्पतम सत्यानुभूति होना संक्षेपरूचि-सम्यक्त्व है।

10. धर्मरूचि– वीतराग परमात्मा द्वारा प्ररूपित श्रुतधर्म और चारित्रधर्म में श्रद्धा करना धर्मरूचि सम्यक्त्व है।

निष्पत्ति- पूर्व विवेचन से यह फलित है कि सम्यग्दर्शन के सभी भेदों में आत्मानुभूतिपूर्वक जो श्रद्धान होता है, वही सच्चा सम्यग्दर्शन है और वह चौथे गुणस्थान से लेकर सिद्ध अवस्था तक निरन्तर बना रहता है।

दूसरी फलश्रुति यह है कि सम्यग्दर्शन के उपर्युक्त भेद निमित्त, स्वामी एवं पात्र की अपेक्षा से कहे गए हैं जैसे-निसर्गज और अधिगमज-ये दो भेद उत्पत्ति अपेक्षा से किए जाते हैं। औपशमिक आदि तीन भेद दर्शनमोह (अन्तरंग कारण) की अपेक्षा से किए गए हैं। निसर्ग सम्यक्त्व आदि दस भेदों में प्रारम्भ के आठ भेद कारण अपेक्षा से किए गए हैं और अन्त के दो भेद ज्ञान के सहकारीगुण की अपेक्षा से किए हैं। सराग और वीतराग-ये दो भेद पात्र अथवा स्वामी की अपेक्षा से किए गए हैं। इसी प्रकार निश्चय और व्यवहार ये दो भेद कारण-कार्य अथवा निमित्त-नैमित्तिक की अपेक्षा से किए हैं।

तीसरी विशिष्टता यह है कि भेद की अपेक्षा से सम्यग्दर्शन एक है, उत्पत्ति की अपेक्षा से दो प्रकार का है, साधन-साध्य की अपेक्षा से तीन प्रकार का, सहकारी कारण की अपेक्षा से दस प्रकार का, शब्दों की अपेक्षा से संख्यात प्रकार का, श्रद्धान करने वालों की अपेक्षा से असंख्यात प्रकार का तथा श्रद्धान करने योग्य पदार्थों की अपेक्षा से अनंत प्रकार का है।[29]

यदि सम्यग्दर्शन के भेद-प्रभेदों के सम्बन्ध में विकासक्रम की दृष्टि से विचार करें, तो सम्यग्दर्शन के द्विविध भेद-निसर्गज और अधिगमज का उल्लेख जैनागमों में एकमात्र स्थानांगसूत्र में उपलब्ध होता है।[30] उसके पश्चात तत्त्वार्थसूत्र आदि में पढ़ने को मिलता है।[31] द्विविध भेदों में द्रव्य-भाव, निश्चय-व्यवहाररूप सम्यक्त्व का उल्लेख मध्यकालीन प्रवचन-सारोद्धार में प्राप्त होता है।[32] सम्यग्दर्शन के त्रिविध भेदों-कारक, रोचक आदि का उल्लेख आगमिक व्याख्या साहित्य का सुप्रसिद्ध ग्रन्थ विशेषावश्यकभाष्य में मिलता है।[33] जैनागमों में यह वर्गीकरण लगभग कहीं भी नहीं है। सम्यग्दर्शन के पंचविध भेदों में से औपशमिकादि दो का उल्लेख स्थानांगसूत्र में मिलता है, शेष भेदों का नहीं। स्वरूपत: इन भेदों का युगपद्

वर्णन आगमेतर-साहित्य तत्त्वार्थसूत्र[34], रत्नकरण्डश्रावकाचार[35], श्रावक-प्रज्ञप्ति[36], श्रावकधर्मविधिप्रकरण[37] आदि अनेक ग्रन्थों में दृष्टिगत होता है। सम्यग्दर्शन के दसविध भेदों का उल्लेख सर्वप्रथम उत्तराध्ययनसूत्र में प्राप्त होता है। इसके पश्चात् परवर्ती साहित्य में यह वर्णन कई ग्रन्थों में परिलक्षित होता है।

यदि इस सम्बन्ध में श्वेताम्बर-दिगम्बर परम्परा की दृष्टि से मनन करें, तो सम्यग्दर्शन के निसर्ग आदि दसविध भेदों को छोड़कर शेष के नाम, क्रम, प्रकार आदि में पूर्ण समानता है, जबकि सम्यग्दर्शन के दसविध भेदों में नाम, क्रम एवं स्वरूप- इन तीनों को लेकर असमानता है।

दिगम्बर-परम्परा का प्रसिद्ध ग्रन्थ अनगारधर्मामृत में सम्यग्दर्शन के निम्न दस प्रकार बताये हैं- 1. आज्ञा 2. मार्ग 3. उपदेश 4. सूत्र 5. बीज 6. संक्षेप 7. विस्तार 8. अर्थ 9. अवगाढ़ 10. परमावगाढ़।[38]

श्वेताम्बर-परम्परा के दसविध भेदों का क्रम पुनश्च इस प्रकार है- 1. निसर्ग 2. उपदेश 3. आज्ञा 4. सूत्र 5. बीज 6. अभिगम 7. विस्तार 8. क्रिया 9. संक्षेप और 10. धर्म।

यदि दोनों में नाम साम्यता की दृष्टि से तुलना की जाए तो 1.उपदेश 2. आज्ञा 3. सूत्र 4. बीज 5. विस्तार 6. संक्षेप- ये छः नाम दोनों में मान्य हैं, शेष भिन्न हैं। इनमें क्रम की दृष्टि से काफी अन्तर है, किन्तु अर्थ की दृष्टि से समानता है।

सम्यग्दर्शन के आठ अंग

सम्यग्दर्शन के अष्ट अंग जैन धर्म की सभी परम्पराओं प्रसिद्ध हैं। जिसके जीवन में सम्यग्दर्शन का जन्म होता है, उसके जीवन में ये आठ अंग भी सहज प्रकट हो जाते हैं। जिस प्रकार सम्यग्दर्शन के बिना मोक्षमार्ग और मोक्ष संभव नहीं, उसी प्रकार अष्ट अंग के बिना सम्यग्दर्शन भी संभव नहीं है। अष्ट अंग सहित सम्यग्दर्शन ही संसार को छेदने में और मोक्ष को प्राप्त कराने में समर्थ है।

जैनाचार्यों का कहना है कि जैसे अशुद्ध मन्त्र विष की वेदना को नष्ट नहीं कर सकता है, वैसे ही अंगरहित सम्यग्दर्शन भी संसार की स्थिति का छेदन नहीं कर सकता है।[39] सम्यग्दर्शन के अष्ट अंग निम्न हैं[40]-

1. नि:शंकित– शंका का अर्थ है-संदेह। जिनभाषित तत्त्व के प्रति अंशत: या सर्वत: संदेह न करना तथा उन्हें यथार्थ एवं सत्य मानना नि:शंकित है।

2. नि:कांक्षित– बौद्ध, वैशेषिक आदि दर्शन भी युक्तियुक्त है, अहिंसा के व्याख्याता हैं, इसलिए ये भी सही हैं-इस प्रकार अन्यान्य दर्शनों के अभिमत को ग्रहण करने की इच्छा कांक्षा कहलाती है अथवा भौतिक सुखों की आकांक्षाएँ रखना कांक्षा है, इससे रहित होकर सदनुष्ठान करना नि:कांक्षित है।

3. निर्विचिकित्सा– विचिकित्सा के दो अर्थ हैं- 1. धर्म के फल में संदेह करना। जैसे-इस कष्टमय धर्मसाधना का फल होगा या नहीं? 2. जुगुप्सा या निन्दा करना जैसे-इन मुनियों के शरीर पर मैल क्यों है? प्रासुक जलस्नान में क्या दोष है? इस तरह का चिन्तन करना विचिकित्सा है। इसके विपरीत धर्मफल में संदेह नहीं करना और मैल आदि से घृणा भी नहीं करना निर्विचिकित्सा कहलाता है।[41]

4. अमूढ़दृष्टि- मूढ़ता का अर्थ है- अज्ञान। उचित-अनुचित के विवेक का अभाव होना मूढ़ता है और मूढ़तारहित दृष्टि अमूढ़दृष्टि कहलाती है। मूढ़ता तीन प्रकार की कही गई हैं-1. देवमूढ़ता 2. लोकमूढ़ता और 3. शास्त्रमूढ़ता।

- **देवमूढ़ता**- काम-क्रोधादि से युक्त अदेव को देव मानना और कर्म-विजेता वीतराग परमात्मा को अपना आराध्य न मानना देवमूढ़ता है।
- **लोकमूढ़ता-** लोक प्रचलित कुप्रथाओं, कुरूढ़ियों का पालन धर्म समझकर करना जैसे– गंगा में स्नान करने पर पाप धुल जाते हैं, पत्थरों के ढ़ेर का स्तूप बनाने पर मुक्ति होती है, इत्यादि मान्यताओं को स्वीकार कर तदनुरूप प्रवृत्ति करना लोक मूढ़ता है।[42]
- **समय (शास्त्र) मूढ़ता-** हिंसा, झूठ, चोरी, जुआ आदि की प्रवृत्तियाँ बढ़ाने वाले ग्रन्थों को धर्मशास्त्र समझना समय मूढ़ता है। इसी प्रकार गुरूमूढ़ता, धर्ममूढ़ता आदि भी समझना चाहिए। इन मूढ़ताओं से रहित होना अमूढ़दृष्टि है।

5. उपबृंहण- 'उप्' उपसर्ग और 'बृहि' धातु से उपबृंहण शब्द की उत्पत्ति हुई है। इसका अर्थ है- वृद्धि करना, पोषण करना।

इसके दो अर्थ घटित होते हैं। प्रथम अर्थ के अनुसार अपने आध्यात्मिक गुणों का विकास करना उपबृंहण है तथा दूसरे अर्थ के अनुसार जो दर्शन आदि गुणों से संपन्न हैं, उन व्यक्तियों के गुणों का संवर्धन या संकीर्त्तन करना, उनके शुद्ध आचरण में सहयोगी बनना, उनकी प्रशंसा करना, उपबृंहण कहलाता है।[43]

6. स्थिरीकरण- धर्ममार्ग से विचलित हो रहे व्यक्तियों को पुनः धर्म में स्थिर करना स्थिरीकरण है। किसी को धर्ममार्ग में संलग्न करना एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। यह कार्य सम्यक्त्वव्रत सम्पन्न व्यक्ति ही कर सकता है।

7. वात्सल्य- समान धर्म का आचरण करने वाले साधर्मिक बन्धुओं के प्रति स्नेह-भाव रखना वात्सल्य है। यह वात्सल्य गुण जिन शासन के प्रति सच्चा अनुराग होने पर ही प्रकट होता है।

8. प्रभावना- जिनशासन एवं जैनधर्म के प्रचार एवं प्रसार के लिए प्रयत्नशील रहना प्रभावना है। सदाचरण-सद्ज्ञान द्वारा अन्य प्राणियों को धर्म-मार्ग की ओर आकर्षित करना प्रभावना है।[44] प्रभावना आठ प्रकार से होती हैं- 1. प्रवचन 2. धर्मकथा 3. वाद 4. नैमित्तिक 5. तप 6. विद्या 7. व्रतग्रहण और 8. कवित्वशक्ति। इन आठ अंगों के परिपालन द्वारा सम्यक्त्व (सत्यबोध) को और अधिक शक्तिशाली बनाया जाता है।

निष्पत्ति- जो सम्यग्दर्शन निःशंकित आदि अष्ट गुणों से युक्त होता है, उसे उत्कृष्ट रत्नरूप माना गया है। सिद्धांतसार के अनुसार जो व्यक्ति इस अमूल्य रत्न को अपने हृदय में धारण करता है, उसे चक्रवर्ती आदि सर्व प्रकार की लक्ष्मी प्राप्त होती है।[45]

जैनागमों में यह वर्णन एकमात्र उत्तराध्ययनसूत्र में पढ़ने को मिलता है।[46] आगमिक व्याख्या-साहित्य में यह चर्चा निशीथभाष्य[47] आदि में प्राप्त होती है। आगमेतर ग्रन्थों में यह वर्णन श्वेताम्बर के श्रावक धर्म-विधिप्रकरण,[48] प्रतिक्रमणसूत्र आदि में तथा दिगम्बर के अष्टपाहुड[49], पुरूषार्थ सिद्धयुपाय[50] आदि में संप्राप्त होता है।

व्यवहार सम्यक्त्वी के 67 गुणों का स्वरूप एवं प्रयोजन

सम्यक दृष्टि जीव किन गुणों से युक्त होना चाहिए? तथा उसे किन नियमों का परिपालन एवं किन व्यापारों का परित्याग करना चाहिए? इस

विषयक संक्षिप्त वर्णन निम्नानुसार है[51]-

चार श्रद्धान- जिसके द्वारा सम्यक्त्व का बोध हो, वह श्रद्धान कहलाता है। इसके चार प्रकार हैं-

1. परमार्थसंस्तव- जीवाजीवादि तत्त्वों का बहुमानपूर्वक अभ्यास करना।
2. सुदृष्टपरमार्थसेवन-जीवाजीवादि पदार्थों के सम्यक् ज्ञाता आचार्या आदि की यथाशक्ति उपासना-वैयावृत्य करना।
3. व्यापन्नदर्शन वर्जन- कुगुरू का त्याग करना।
4. कुदर्शन वर्जन- मिथ्यादृष्टि कुगुरू के संग का त्याग करना।

सम्यक्त्व की निर्मलता के लिए ये चारों आवश्यक हैं।

तीन लिंग- जिसके द्वारा किसी भी जीव के सम्यक्त्वी होने का बोध किया जाए, वह लिंग कहलाता है। सम्यक्त्व के तीन लिंग प्रज्ञप्त हैं-

1. श्रुतधर्म में राग- शास्त्र श्रवण में अनुरक्त रहना।
2. चारित्र धर्म में राग- चारित्र धर्म पालन करने की इच्छा रखना।
3. देव-गुरू का वैयावृत्य- देव और गुरू में पूज्यभाव रखना और उनका आदर-सत्काररूप वैयावच्च का नियम करना।

दस विनय- देव-गुरू-धर्म की अन्तरंग हृदय से भक्ति करना, विनय कहलाता है। इसके दस भेद हैं-

1. अरिहंत-तीर्थंकर परमात्मा का विनय करना।
2. सिद्ध- अष्टकर्म से मुक्त परमात्मा का विनय करना।
3. चैत्य- जिन प्रतिमा का विनय करना।
4. श्रुत- आचारांग आदि आगम-ग्रन्थों का विनय करना।
5. धर्म- क्षमा आदि दस धर्म का विनय करना।
6. साधु- श्रमण समूह का विनय करना।
7. आचार्य- गच्छनायक का विनय करना।
8. उपाध्याय- ज्ञानदाता पदस्थ मुनि का विनय करना।
9. प्रवचन- चतुर्विध संघ का विनय करना।
10. दर्शन- सम्यक्त्व धर्म का विनय करना।

यहाँ विनय से तात्पर्य पूज्यजनों के सम्मुख गमन, आसनदान, सेवा, नमस्कार, भक्ति, पूजा आदि करना है। इससे सम्यक्त्व गुण पुष्ट होता है।

तीन शुद्धि- अरिहंतदेव, अरिहंत द्वारा प्रतिपादित धर्म और अरिहंतदेव की आज्ञानुसार प्रवृत्ति करने वाले साधु- ये तीनों ही विश्व में सारभूत हैं ऐसा विचार करना सम्यक्त्व शुद्धि है। इस प्रकार का चिन्तन करने से सम्यक्त्व शुद्ध होता है।

पाँच दूषण त्याग- सम्यक्त्वव्रत स्वीकार करने के उपरान्त भी जो तत्त्व यथार्थता को जानने एवं अनुभूत करने में बाधक हैं अथवा जिनके द्वारा सम्यक्त्व गुण मलीन होता है वे दूषण कहलाते हैं, इन्हें सम्यक्त्व व्रत के अतिचार भी कहते हैं। सम्यक्त्व को दूषित करने वाले पाँच अतिचार निम्न हैं-

1. शंका- अरिहन्त परमात्मा द्वारा उपदिष्ट सिद्धान्तों के प्रति शंका करना।
2. कांक्षा- मन्त्र-तन्त्र-चमत्कार आदि देखकर स्व-धर्म को छोड़ देना और पर-धर्म की इच्छा करना आकांक्षा है।
3. विचिकित्सा- धर्मानुष्ठान के फल के प्रति संदेह करना विचिकित्सा है।
4. मिथ्यादृष्टियों की प्रशंसा करना।
5. मिथ्यादृष्टियों के साथ अति परिचय रखना।

आठ प्रभावक- जो भव्य पुरूष धर्म प्रचार में सहायक होते हैं वे प्रभावक कहलाते हैं। प्रभावक आठ माने गए हैं-

1. प्रावचनी- बारह अंग आदि अथवा जिस समय जो आगम प्रधान माना जाए, उसे समझने वाले।
2. धर्मकथी- आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेगजननी, निर्वेदजननी-इन चार तरह की कथाओं द्वारा श्रोताओं के मन को प्रसन्न करने वाले।
3. वादी- वादी, प्रतिवादी, सभ्य और सभापतिरूप चतुरंग सभा में दूसरे मत का खण्डन करते हुए अपने पक्ष का समर्थन करने वाले।
4. नैमित्तिक- भूत, भविष्य और वर्तमान काल में होने वाले हानि-लाभ को जानने वाले।
5. तपस्वी- उग्र तपस्या करने वाले।
6. विद्यावान- विशिष्ट विद्याओं को जानने वाले।
7. सिद्ध- अंजन, पादलेप आदि सिद्धियों वाले।
8. कवि- गद्य-पद्य की रचना करने वाले।

ये प्रभावक पुरूष देश-काल के अनुसार अपनी विशिष्ट शक्तियों से शासन की प्रभावना में सहायक बनते हैं। इन प्रभावकों द्वारा की गई प्रभावना स्व-पर के सम्यक्त्व को निर्मल करती हैं।

पाँच भूषण- सम्यक्त्व को देदीप्यमान करने वाले उत्तम गुण भूषण कहलाते हैं। ये निम्न हैं-

1. जैन शासन में कुशलता- जैन शासन के रहस्य को अच्छी तरह जानने वाला-ऐसा व्यक्ति अन्य को प्रतिबोधित कर धर्मी बना सकता है।
2. शासन प्रभावना- प्रवचन, धर्मकथा आदि पूर्वोक्त आठ प्रकारों द्वारा जिन शासन के गुणों को दीप्त करना।
3. आयतन आसेवना- जिन मंदिर की सेवा करना द्रव्य आयतन है और रत्नत्रयधारक मुनियों की पर्युपासना करना भाव आयतन है।
4. स्थिरता- स्व-पर को धर्म में स्थिर करना।
5. भक्ति- चतुर्विध संघ की भक्ति करना।

ये गुण सम्यक्त्व के दीपक समान हैं। इनसे सम्यक्त्व की शोभा बढ़ती है अत: ये सम्यक्त्व के भूषण हैं।

पाँच लक्षण– जैन धर्म में सम्यगदृष्टि का श्रद्धा अर्थ प्रसिद्ध है। जैनाचार्यों ने मोक्ष के प्रयोजन में दर्शन का श्रद्धा अर्थ ही मान्य किया है। जिन तत्त्वों के माध्यम से श्रद्धा अभिव्यक्त होती है उन्हें अंग लिंग या लक्षण कहा गया है। वे निम्नोक्त हैं[52]–

1. शम- सम्यक्त्व का प्रथम लक्षण है शम। शम का मूलरूप प्राकृत में 'सम' होता है जो शम, सम एवं श्रम का सूचक है। जहाँ क्रोधादि की कमी 'शम', समभाव का आचरण 'सम' और श्रमण की श्रमशीलता 'श्रम'-तीनों का योग हो, वह शम है अर्थात जो जीव सुख-दु:ख, लाभ-अलाभ, निन्दा-प्रशंसा के अवसर पर समभाव रखता है, वह सम्यक्त्वी है।

2. संवेग- सम् + वेग-इन दो पदों के संयोजन से संवेग शब्द निर्मित है। सम्-सम्यक्, वेग-गति अर्थात आत्मा की ओर सम्यक् गति अथवा मन में क्रोधादि के भाव(वेग) आने पर उसकी प्रतिक्रिया न करना, शान्त रहना संवेग है। दूसरे अर्थ के अनुसार मोक्ष की अभिलाषा होना, मोक्ष की ओर

गमन करना संवेग है।[53] दशवैकालिकनिर्युक्ति में मोक्ष की अभिलाषा को संवेग कहा है। सम्यक्त्व व्रतधारी को संवेग गुण से युक्त होना चाहिए।

3. निर्वेद- निर्वेद का अर्थ है उदासीनता, वैराग्य, अनासक्ति। सांसारिक प्रवृत्तियों के प्रति उदासीन रहना निर्वेद है।

4. अनुकम्पा- अनु + कम्पा-इन दो शब्दों के संयोग से 'अनुकम्पा' शब्द बना है। इसका अर्थ है अनु-तदनुसार, कम्प-कम्पित होना अर्थात् किसी प्राणी के दु:ख से पीड़ित होने पर उसी के अनुरूप दु:ख की अनुभूति होना अनुकम्पा है अथवा दु:खी, दरिद्र, मलिन एवं ग्लान को देखकर कम्पित होना, द्रवित होना अनुकम्पा है।

5. आस्तिक्य- अस्ति-होना, शाश्वत रूप से होना। जो नवतत्त्व आदि पदार्थ शाश्वत रूप से हैं, उनमें विश्वास रखना आस्तिक्य है। 'आस्तिक्य' शब्द के अनेक अर्थ हैं, किन्तु इस अध्याय में निर्दिष्ट अर्थ ही अभिप्रेत है।

उक्त पाँचों लक्षण निश्चय सम्यग्दर्शन की क्रियात्मक परिणति है, जो व्यवहार में परिलक्षित होती है। इन पाँच लक्षणों से साधक की बाह्यप्रवृत्ति प्रशस्त होती है। इन्हीं बाह्य लक्षणों को देखकर जीव में सम्यक्त्व की प्राप्ति का अनुमान लगाया जाता है। इन पाँच लिंगों के बिना सम्यक्त्व का अभाव सुनिश्चित समझना चाहिए।

छः यतना- सम्यक्त्व की रक्षा के लिए उपयोग रखना, यतना है।

1-2. अन्यदर्शनी-परिव्राजक, बौद्धभिक्षु आदि साधु; मिथ्यात्वीदेव-शंकर, बुद्ध आदि के द्वारा मान्य मन्दिर, चैत्य आदि को वन्दन-नमस्कार नहीं करना।

3-4. अन्य धर्मावलम्बियों के साथ बिना बुलाए आलाप-संलाप नहीं करना।

5. अन्य धर्मानुयायियों को भोजन, पात्र आदि नहीं देना।

6. परतीर्थिक देवों की और अन्य द्वारा गृहीत जिन-प्रतिमाओं की पूजा के लिए धूप, पुष्पादि नहीं देना। ऐसा करने से अन्य का मिथ्यात्व दृढ़ होता है। इन छः यतनाओं का पालन करने से सम्यक्त्व निर्मल बनता है।

छः आगार- आगार का अर्थ है व्रत अंगीकार करते समय पहले से रखी गई छूट।

इच्छा न होने पर भी विवशता में जो अयोग्य कार्य करना पड़े तथा उस कार्य के करने पर भी सम्यक्त्वव्रत का भंग न होता हो, वह अभिओग कहलाता है। छः आगारों को 'अभिओग' भी कहा गया है। ये सम्यक्त्व व्रत की आचरणा में सहयोगी बनते हैं। इनका सामान्य वर्णन इस प्रकार है[54]-

1. राजाभिओग- राजा की आज्ञा से जिनमत के विपरीत अन्य तैर्थिक एवं उनके द्वारा माने हुए देवादि को अनिच्छापूर्वक वन्दन-नमस्कार आदि करना राजाभिओग आगार है।

2. गणाभिओग- गण, संघ या समुदाय। संघविशेष के आग्रह से अनिच्छापूर्वक अन्य तैर्थिक और उनके द्वारा माने हुए देवादि को वन्दन करना गणाभिओग आगार है।

3. बलाभिओग- कोई बलवान् पुरूष द्वारा विवश किए जाने पर अथवा बलवान् मनुष्य के भय से अनिच्छापूर्वक अन्य तैर्थिक को वन्दनादि करना बलाभिओग आगार है।

4. देवयाभिओग- कोई मिथ्यादृष्टि देव-दानव द्वारा बाधित होने पर या उनके भय से अनिच्छापूर्वक अन्य तैर्थिक एवं उनके द्वारा माने गए देवादि को वन्दन-नमस्कार करना देवयाभिओग आगार है।

5. गुरूनिग्रह- विशेष परिस्थिति में माता-पिता, गुरूजन, आदि उपकारी वर्ग के आग्रह से अनिच्छापूर्वक अन्य लिंगियों एवं अन्य देवी-देवताओं को वन्दन आदि करना गुरूनिग्रह आगार है।

6. वृत्तिकान्तार- वृत्ति का अर्थ आजीविका है और कान्तार का अर्थ जंगल-अटवी है। आजीविका का निर्वाह करने के लिए और कभी जंगल में भटक जाए, तो प्राणरक्षा के निमित्त अनिच्छापूर्वक अन्य तैर्थिक को वन्दनादि करना वृत्तिकान्तार आगार है।

छः भावना- विविध विचारों से समकित में दृढ़ होना भावना कहलाती है। वे छः प्रकार की हैं-

1. सम्यक्त्व धर्मरूपी वृक्ष का मूल है।
2. सम्यक्त्व धर्मरूपी नगर का द्वार है।
3. सम्यक्त्व धर्मरूपी महल की नींव है।
4. सम्यक्त्व धर्मरूपी जगत् का आधार है।

5. सम्यक्त्व धर्मरूपी वस्तु को धारण करने का पात्र है।
6. सम्यक्त्व चारित्रधर्मरूपी रत्न की निधि है।

छह-स्थान- नौ तत्त्व और छः द्रव्यों में दृढ़ श्रद्धा होना सम्यक्त्व है। सम्यक्त्वधारी को निम्न छः स्थानों पर दृढ़ आस्था होनी चाहिए। ये सम्यक्त्व गुण को परिपुष्ट करते हैं-

1. आत्मा है-चेतना लक्षण से जीव का अस्तित्व है।
2. आत्मा नित्य है-जीव उत्पत्ति और विनाश से रहित है।
3. आत्मा अपने कर्मों की कर्त्ता है।
4. आत्मा कृत कर्मों के फल की भोक्ता है।
5. आत्मा मुक्ति प्राप्त कर सकती है।
6. सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक्चारित्र-ये तीनों मिलकर मोक्ष का उपाय है।

निष्पत्ति- अर्हत्परम्परा में सम्यक्त्व के सड़सठ भेद व्यवहार-सम्यग्दर्शन की अपेक्षा से माने गए हैं। सम्यक्त्वी जीव में 67 गुणों का होना इसलिए आवश्यक है कि वह इनके माध्यम से निश्चय सम्यग्दर्शन में प्रवेश कर सकता है। निश्चय सम्यग्दर्शन की प्राप्ति करवाने में ये गुण नींव के समान हैं अतएव व्रतेच्छुक साधकों के लिए 67 गुणों का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

यदि सम्यक्त्वी जीव के व्यावहारिक गुणों का ऐतिहासिक दृष्टि से अनुसंधान किया जाए, तो हमें यह विवरण सर्वप्रथम प्रवचनसारोद्धार(12वीं शती) ग्रन्थ में दृष्टिगत होता है। अतः मानना होगा कि जैन साहित्य में उक्त गुणों को सुनियोजित रूप से व्याख्यायित करने का श्रेय आचार्य नेमिचन्द्र एवं टीकाकार को जाता है।

यदि इस सम्बन्ध में दूसरे पक्ष को लेकर शोध किया जाए, तो वह विवेचन बिखरे हुए अंशों में आगमिक एवं आगमेतर अन्य ग्रन्थों में भी उपलब्ध हो जाता है। यदि सम्यक्त्व के 67 भेदों में से पाँच लिंग, छः आगार, आठ प्रभावक आदि का पृथक्-पृथक् पहलू से विचार किया जाए तो जहाँ तक सम्यक्त्व के शम, संवेग आदि पाँच लिंग का सवाल है, वहाँ यह विवेचन विक्रम की 7वीं शती से पूर्व के ग्रन्थों में युगपत् रूप से दृष्टिगत नहीं होता है। इन प्रत्येक नामों की पृथक्-पृथक् चर्चा आचारांग, सूत्रकृतांग,

समवायांग, स्थानांग, भगवती आदि सूत्रों में अवश्य है, लेकिन इन पाँच अंगों के युगपत् स्वरूप का अभाव है। यह वर्णन सर्वप्रथम आचार्य हरिभद्रसूरि के श्रावकप्रज्ञप्ति में प्राप्त होता है।[55] इसके अनन्तर खरतरगच्छीय जिनेश्वरसूरिप्रणीत 'पंचलिंगीप्रकरण' में प्राप्त होता है जो सम्यक्त्व के पाँच लिंगों का प्रतिपादन करने वाला एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ पर आचार्य जिनपतिसूरि द्वारा विरचित संस्कृत बृहत्वृत्ति भी संप्राप्त है। इसके पश्चात् यह चर्चा प्रवचनसारोद्धार एवं इससे परवर्ती कृतियों में उपलब्ध होती है। अर्वाचीन कृतियों में इसे पाँच लिंग न कहकर 'पाँच लक्षण' के नाम से उल्लिखित किया है और इसे सम्यक्त्व के अन्य भेदों में प्रमुख स्थान दिया गया है।

दिगम्बर-परम्परा में सम्यक्त्व के आठ बाह्यसूचक लिंग माने गए हैं, जो श्वेताम्बर मान्य पाँच लिंग में समाविष्ट हो जाते हैं। उनके नाम ये हैं- 1. संवेग 2. निर्वेद 3. निंदा 4. गर्हा 5. उपशम 6. भक्ति 7. वात्सल्य 8. अनुकम्पा।

जहाँ तक सम्यक्त्व के पाँच अतिचार एवं छः आगार का सवाल है, वहाँ इसका वर्णन उपासकदशा[56] एवं आवश्यकसूत्र[57] में है। इसके पश्चात् तत्त्वार्थसूत्र एवं परवर्ती संकलित कृतियों में भी यह वर्णन मिलता है। इसके अतिरिक्त व्यवहार सम्यक्त्व के अन्य भेदों की मौलिक चर्चा एक मात्र प्रवचनसारोद्धार में परिलक्षित होती है।

पुनश्च सुगमबोध के लिए सड़सठ गुणों की सारणी द्रष्टव्य है-

व्यवहार सम्यक्त्व के 67 गुणों की तालिका

1. **श्रद्धा 4**	2. **लिंग 3**	3. **विनय 10**	4. **शुद्धि 3**
1. परमार्थ-संस्तव	1. परमागम-शुश्रूषा	1. अरिहंत विनय	1. मन शुद्धि
2. परमार्थ-सेवना	2. धर्मसाधना में उत्कृष्ट अनुराग	2. अरिहंत प्ररूपित धर्म विनय	2. वचन शुद्धि
3. सम्यक्त्वभ्रष्ट-परिहार	3. गुरू वैयावृत्य नियम	3. आचार्य विनय	3. काय शुद्धि

4. मिथ्यादर्शनी-परिहार		4. उपाध्याय विनय 5. स्थविर विनय 6. कुल विनय 7. गण विनय 8. संघ विनय 9. धार्मिकक्रिया विनय 10. साधर्मिक विनय	
5 **दूषण(अतिचार) 5**	**6** **प्रभावक 8**	**7** **भूषण 5**	**8** **लक्षण 5**
1. शंका 2 कांक्षा 3 विचिकित्सा 4. मिथ्यादृष्टिप्रशंसा 5. मिथ्यादृष्टि-संस्तव	1 प्रवचन 2. धर्मकथा 3. वादशक्ति 4. निमित्तज्ञान 5. तपस्या 6. विद्याबल 7. सिद्धि 8. कवित्वशक्ति	1 जिनशासन-कुशलता 2 प्रभावना 3. तीर्थसेवना 4. स्थिरता 5. भक्ति	1 उपशम 2 संवेग 3. निर्वेद 4. अनुकंपा 5. आस्तिक्य
9 **यतना 6**	**10** **आगार 6**	**11** **भावनाएँ 6**	**12** **स्थानक 6**
1. वन्दना 2. नमस्कार	1. राजाभियोग 2. गणाभियोग	1. सम्यग्दर्शन धर्म-रूपी वृक्ष का मूल है। 2. सम्यग्दर्शन धर्म-रूपी नगर का द्वार है।	1. आत्मा है। 2. आत्मा नित्य है।

3. दान	3. बलाभियोग	3. सम्यग्दर्शन धर्मरूपी महल की नींव है।	3. आत्मा अपने कर्मों की कर्ता है।
4. अनुप्रदान	4. देवाभियोग	4. सम्यग्दर्शन धर्मरूपी धार्मिक-जगत् का आधार है।	4. आत्मा कृतकर्मों के फल की भोक्ता है।
5. आलाप	5. गुरूनिग्रह	5. धर्मरूपी वस्तु को धारण करने का पात्र है।	5. आत्मा मुक्ति प्राप्त कर सकती है।
6. संलाप	6. वृत्तिकान्तार	6. सम्यग्दर्शन गुणरत्नों का खजाना है।	6. मुक्ति का उपाय है।

सम्यग्दर्शन के पच्चीस दोष

जो सम्यक्त्व का घात करते हैं, वे स्थान या विचार दोष कहलाते हैं। दिगम्बर ग्रन्थों में प्रतिपादित पच्चीस दोष निम्नलिखित है[58]-

तीन मूढ़ता, आठ मद, छः अनायतन और शंका आदि आठ दोष-इस प्रकार ये पच्चीस दोष सम्यग्दर्शन को मलिन करते हैं।

तीन मूढ़ता

मूढ़ता का अर्थ है-अज्ञानता। मूढ़ता तीन प्रकार की कही है-लोकमूढ़ता, देवमूढ़ता और गुरूमूढ़ता।

1. लोकमूढ़ता-लोक में प्रचलित धर्म के नाम पर जो विरूद्ध क्रियाएँ हैं, उनके प्रति श्रद्धा रखना अथवा मिथ्याधर्म, मिथ्याशास्त्र और मिथ्या क्रियाओं को धर्म मानना लोकमूढ़ता है।

2. देवमूढ़ता- अदेव या कुदेव में देवबुद्धि रखना अथवा पूजा-ख्याति, रूप-लावण्य, पुत्र-पुत्री आदि सम्पदा की प्राप्ति के लिए राग- द्वेषयुक्त मिथ्यादृष्टि देवों की आराधना करना देवमूढ़ता है।

3. गुरूमूढ़ता- लोगों के चित्त में चमत्कार उत्पन्न करने वाले एवं आरम्भ, परिग्रह, हिंसा आदि में रत रहने वाले वेशधारी साधुओं का सम्मान

या पूजा करना गुरूमूढ़ता है। इसे समयमूढ़ता या पाखण्डीमूढ़ता भी कहते हैं।

आठ मद

मद का सामान्य अर्थ है-मान या अभिमान करना। जैन साहित्य में वर्णित आठ मद ये हैं-

1. ज्ञानमद- 'मैं ज्ञानवान हूँ-ऐसा विचार करना ज्ञानमद है।
2. पूजामद-'मैं सर्वमान्य हूँ, मेरी आज्ञा सभी जगह चलती है'-ऐसा विचार करना पूजामद है।
3. कुलमद- पिता के वंश को कुल कहते हैं। 'मेरा पितृपक्ष बहुत समृद्ध है'-यह विचार करना कुलमद है।
4. जातिमद- माता के पक्ष को जाति कहते हैं। उस जाति का अभिमान करना जातिमद है।
5. बलमद- शारीरिक बल की प्रशंसा करना बलमद है।
6. ऋद्धिमद- धन, सम्पदा आदि ऐश्वर्य का मद करना ऋद्धिमद है।
7. तपमद- तप साधना का अहंकार करना तपमद है।
8. रूपमद- शारीरिक रूप का अहंकार करना रूपमद है।

षट् अनायतन

आयतन का अर्थ स्थान है। जो धर्म के आयतन होते हैं, वे धर्मायतन कहे जाते हैं किन्तु जो धर्म के स्थान नहीं हैं, वे अनायतन कहलाते हैं अथवा सम्यक्त्व आदि गुणों को जो स्थिर रखने में निमित्त हैं उसको आयतन कहते हैं और उससे विपरीत अनायतन कहलाते हैं। षट् आयतन के नाम निम्न हैं- 1. कुदेव की मान्यता का त्याग करना 2. कुगुरू की मान्यता का त्याग करना 3. कुधर्म-सेवन का त्याग करना 4. कुदेवानुयायियों के संसर्ग का वर्जन करना 5. कुगुरू के अनुयायियों के संसर्ग का वर्जन करना 6. कुधर्म के अनुयायियों के संसर्ग का त्याग करना। सम्यक्त्वव्रती को कुदेवादि की प्रशंसा भी नहीं करना चाहिए।

शंकादि आठ दोष

नि:शंक आदि आठ गुणों के विपरीत शंकादि आठ दोष होते हैं, जो निम्न हैं-1. शंका 2. कांक्षा 3. विचिकित्सा 4. मूढ़दृष्टि 5. अनूपगूहन 6. अस्थिरीकरण 7. अवात्सल्य 8. अप्रभावना।

पूर्वोल्लिखित नि:शंक आदि आठ गुणों से रहित स्वरूप को यहाँ शंका, कांक्षा आदि आठ दोषों के रूप में जानना चाहिए।

निष्पत्ति- दिगम्बर परम्परा के अभिमतानुसार सम्यग्दृष्टि जीव में उक्त पच्चीस दोष नहीं होते हैं। उपर्युक्त दोषों में से एक दोष भी जिसे होता है उसे सम्यग्दर्शन नहीं होता, क्योंकि ये दोष सम्यग्दर्शन का पूर्ण घात करते हैं।

यह वर्णन दिगम्बर आम्नाय के मूलाचार, ज्ञानार्णव, बृहद्द्रव्यसंग्रह, रत्नकरण्डकश्रावकाचार, अष्टपाहुड-मोक्षपाहुड आदि ग्रन्थों में विस्तार के साथ प्राप्त होता है।

सम्यग्दर्शन की आवश्यकता क्यों?

लोकव्यवहार में यह बात प्रसिद्ध है कि पाप से दु:ख होता है और धर्म से सुख, इसलिए जो भव्य प्राणी सुख की अभिलाषा करता है, उसे पापकर्म छोड़कर धर्म मार्ग का आचरण करना चाहिए।

स्वरूपत: इस आत्मा की संसार और मोक्ष-ये दो अवस्थाएँ हैं। ये दोनों ही परस्पर विरूद्ध हैं। बन्धन का नाम संसार है और मुक्त होने का नाम मोक्ष। सम्पूर्ण कर्मों का आत्यन्तिक-उच्छेद अर्थात् कर्मों से पूर्णतया छूटना मोक्ष है। यह मोक्ष मोक्षमार्गपूर्वक होता है। आचार्य उमास्वाति मोक्षमार्ग का स्वरूप बतलाते हुए कहते है[59]-

'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणिमोक्षमार्ग:'– सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र-ये तीनों मिलकर ही मोक्ष का मार्ग बनते हैं। मोक्षमार्ग में भी सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन प्रकट होने पर सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र होता है। सम्यग्दर्शन के बिना मोक्षमार्ग और मोक्ष भी सम्भव नहीं है, अत: मोक्ष सुखाभिलाषियों को सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का पुरूषार्थ करना चाहिए। सम्यग्दर्शन वह महान् उपलब्धि है, जिसके प्रकट होने पर अतीन्द्रिय सुख में वृद्धि और पूर्णता की प्राप्ति होती है।

सम्यग्दर्शन की आवश्यकता इस बात से भी स्पष्ट है कि सम्पूर्ण जिनागम में ऐसा कोई ग्रन्थ नहीं होगा, जिसमें प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सम्यग्दर्शन की चर्चा न हुई हो। अधिकांश जिनागम का प्रारम्भ और कहीं तो

ग्रन्थ का एक सम्पूर्ण अध्याय ही सम्यग्दर्शन की महिमा और उसके विवेचन से उत्कीर्ण मिलता है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने अष्टपाहुड के अन्तर्गत 'दर्शनपाहुड' नाम का स्वतंत्र अध्याय रचकर सम्यग्दर्शन को धर्म का मूल बताया है[60] और कहा है-जिसके दर्शन नहीं है, उसके धर्म भी नहीं है, क्योंकि मूलरहित वृक्ष के स्कन्ध, शाखा, पुष्प, फलादि कहाँ से होंगे? इसलिए यह उपदेश है कि जिसके धर्म नहीं, उसे धर्म की प्राप्ति नहीं हो सकती, फिर धर्म के निमित्त उसकी वंदनता किसलिए करें?[61] इसी प्रकार सम्यग्दर्शन के बिना निर्वाण की प्राप्ति भी सम्भव नहीं है क्योंकि कहा गया है-

जो पुरूष दर्शन से भ्रष्ट हैं, वे भ्रष्ट हैं तथा जो दर्शन से भ्रष्ट हैं, उनको निर्वाण नहीं होता क्योंकि यह प्रसिद्ध है कि जो चारित्र से भ्रष्ट हैं, वे तो सिद्धि को प्राप्त होते हैं, परन्तु जो दर्शन से भ्रष्ट हैं, वे सिद्धि को प्राप्त नहीं होते।[62]

इस प्रकार स्पष्ट और कठोर शब्दों में सम्यग्दर्शन को धर्म का मूल और मोक्षमार्ग में सर्वोपरि बताया है। इससे निश्चित है कि सम्यग्दर्शन पूर्वक ही चारित्र सम्यक्चारित्र कहलाता है और वह निश्चय से मोक्ष की प्राप्ति करवाता है।

सम्यग्दर्शन का माहात्म्य

मानव जीवन के व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक-दोनों जगत् में सम्यग्दर्शन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यथार्थ दृष्टिकोण के अभाव में भौतिक-जीवन का और सम्यक्श्रद्धान के अभाव में आध्यात्मिक-जीवन का विकास होना असंभव है।

नन्दिसूत्र में सम्यग्दर्शन का महत्त्व बतलाते हुए उसे संघरूपी सुमेरू पर्वत की अत्यन्त सुदृढ़ और गहन भूपीठिका कहा गया है, जिस पर ज्ञान और चारित्ररूपी उत्तम धर्म की मेखला(पर्वतमाला) स्थिर है।[63] जैन-आचार में सम्यग्दर्शन को मुक्ति का अधिकार-पत्र कहा गया है। उत्तराध्ययनसूत्र में निर्देश है कि सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान नहीं होता और सम्यग्ज्ञान के अभाव में सम्यक्चारित्र की प्राप्ति नहीं होती, चारित्र के बिना मोक्ष नहीं होता है अतः साधना के क्षेत्र में श्रद्धा की अपरिहार्य आवश्यकता है।[64]

आचारांगसूत्र में कहा गया है कि सम्यग्दृष्टि पापाचरण नहीं करता है- 'सम्मत्तदंसी ण करेइ पावं'।[65] आचारांगनिर्युक्ति में लिखा है-सम्यग्दर्शन के बिना कर्मों का क्षय नहीं होता, इसलिए कर्मरूपी सेना पर विजय प्राप्त करने के लिए सम्यग्दर्शन आवश्यक है।[66] सम्यग दृष्टि द्वारा किया हुआ तप, जप, ज्ञान और चारित्र ही सफल होते हैं। जैन विचारणा के अनुसार सत् अथवा असत् आचरण करना व्यक्ति के दृष्टिकोण पर निर्भर है। सम्यग्दृष्टि का आचरण सदैव सत् होता है। इसी आधार पर सूत्रकृतांगसूत्र में कहा गया है- जो पुरूष वीर है, लेकिन उसका दृष्टिकोण मिथ्या या असम्यक है तो उसके द्वारा किया गया तप, अध्ययन और नियम आदि समस्त पुरूषार्थ अशुद्ध होते हैं और वे अशुभ फल देने वाले होते हैं।[67]

आशय है कि जहाँ सम्यग्दृष्टि व्यक्ति का सम्पूर्ण पुरूषार्थ मुक्ति का कारण होता है, वहीं मिथ्यादृष्टि का पुरूषार्थ बन्धन का कारण होता है।

आचार्य समन्तभद्र सम्यग्दर्शन की महानता बतलाते हुए कहते हैं- सम्यग्दर्शनसहित गृहस्थ, सम्यग्दर्शनरहित साधु से श्रेष्ठ है और मोक्षमार्ग में स्थित है।[68] आचार्य कुन्दकुन्द ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में सम्यग्दर्शनरहित जीव को चलता हुआ मुर्दा कहा है। इससे सम्यग्दर्शन का अलौकिक माहात्म्य स्वत: ही स्पष्ट हो जाता है। वे लिखते हैं कि लोक में जीवरहित शरीर को शव कहते हैं, मृतक या मुर्दा कहते हैं वैसे ही सम्यग्दर्शनरहित पुरूष चलता हुआ मृतक है। मृतक तो लोक में ही अपूज्य होता है, किन्तु दर्शनरहित मुर्दा लोकोत्तर में भी अपूज्य है।[69]

इसी प्रकार अनेक उत्कृष्ट उपमाओं द्वारा सम्यग्दर्शन की महत्ता बताते हुए वे लिखते हैं[70] कि जैसे तारिकाओं के समूह में चन्द्रमा, पशुओं के समूह में मृगराज श्रेष्ठ है, वैसे ही मुनि और श्रावक-इन दो प्रकार के धर्मों में सम्यक्त्व श्रेष्ठ है। इसी प्रकार जैसे निर्मल आकाश में ताराओं के समूह में चन्द्रबिंब शोभा पाता है, वैसे ही जिनशासन में दर्शन से विशुद्ध और भावित किए हुए तप तथा व्रतों से निर्मल जिनलिंग है, वह शोभा पाता है।[71]

स्वामी कार्तिकेय के अनुसार सम्यक्त्व सब रत्नों में महारत्न है, सब योगों में उत्तम योग है, क्योंकि सम्यक्त्व से मोक्ष की सिद्धि होती है, सब सिद्धियों को करने वाला यह सम्यक्त्व ही है।[72] शिवार्य कहते हैं- जिस

प्रकार नगर में द्वार, मुख में चक्षु और वृक्ष में मूल प्रधान हैं उसी प्रकार ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य-इन चार आराधनाओं में एक सम्यक्त्व ही प्रधान हैं।[73] सम्यग्दर्शन के माहात्म्य को बताते हुए आचार्य शुभचन्द्र लिखते हैं- जिस जीव को सम्यग्दर्शन प्राप्त हो चुका है, उस पवित्र आत्मा को मैं मुक्त हुआ ही मानता हूँ, चूंकि मुक्ति का प्रधान अंग(साधन)उसे ही निर्दिष्ट किया गया है।[74]

आचार्य गुणभद्र के मतानुसार सम्यक्त्व से रहित दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप पत्थर के भारीपन के समान व्यर्थ हैं, परन्तु सम्यक्त्व सहित होने पर वही मूल्यवान मणि के समान पूजनीय है।[75] पं. आशाधरजी यहाँ तक कहते हैं- मिथ्यात्व से ग्रस्त चित्त वाला मनुष्य पशु के समान आचरण करता है जबकि सम्यक्त्व से युक्त चित्त वाला पशु भी मनुष्य के समान आचरण करता है।[76]

इस तरह सम्यग्दर्शन ही सबसे उत्तम पुरूषार्थ है, सबसे उत्तम तप है, उत्कृष्ट ज्योति है, इष्ट पदार्थों की सिद्धि है, परम मनोरथ है और अनेक कल्याणों की परम्परा है। संक्षेप में यह समझना चाहिए कि इस संसार में जो शुभ रूप कर्म हैं, शुभ कार्य हैं, शुभ भाव हैं, वे सब सम्यग्दर्शनपूर्वक ही होते हैं और बिना सम्यग्दर्शन के वे सब कार्य या भाव मिथ्या, विपरीत एवं अशुभ होते हैं।[77]

बौद्धदर्शन में भी मिथ्या दृष्टिकोण को संसार का किनारा एवं सम्यक् दृष्टिकोण को निर्वाण का किनारा माना गया है। इस सन्दर्भ में गीता का भी यही पाठ है-'श्रद्धावाल्लभते ज्ञानम्' अर्थात श्रद्धावान् ही ज्ञान को प्राप्त करता है।[78] इस प्रसंग में अध्यात्मयोगी आनन्दघन ने चौदहवें तीर्थंकर की स्तुति करते हुए कहा है कि शुद्ध श्रद्धा के बिना समस्त क्रियाएँ राख पर लीपने के समान व्यर्थ हैं।[79]

आचार्य शंकर ने सम्यग्दर्शन का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए लिखा है- सम्यग्दर्शननिष्ठ पुरूष संसार के बीजरूप अविद्या आदि दोषों का उन्मूलन करता है और निर्वाण-लाभ प्राप्त करता है।

निष्कर्ष यह है कि जब तक सम्यग्दर्शन नहीं होता, तब तक राग का उच्छेद नहीं होता और बिना राग उच्छेद के मुक्ति नहीं होती।

त्रिविध मोक्षमार्ग में सम्यक्त्व का स्थान

सम्यग्दर्शन, सम्यकज्ञान एवं सम्यकचारित्र रूप मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन का वही स्थान है, जो भवन में नींव का और वृक्ष में बीज का होता है। जैसे नींव के बिना भवन का निर्माण सम्भव नहीं है तथा बीज के अभाव में वृक्ष की उत्पत्ति, वृद्धि और फल की प्राप्ति असम्भव है, उसी प्रकार सम्यक्त्व के अभाव में ज्ञान और चारित्र की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फल की प्राप्ति असंभव है।[80] अत: इन तीनों में सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का सम्यक् प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि उसके होने पर ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र होते हैं।[81] कोई जीव सम्यक्त्व के बिना ग्यारह अंग तक पढ़ ले, तो भी अज्ञानी ही कहा जाता है तथा महाव्रतों का पालन कर अन्तिम ग्रैवेयक तक पहुँच जाए, तो भी असंयमी ही कहलाता है। सम्यक्त्व सहित जितना भी ज्ञानरूप प्रवर्त्तन हो, वह सब सम्यग्ज्ञान है और थोड़ा भी त्यागरूप प्रवर्त्तन करें, तो उसे सम्यक्चारित्र कहा जाता है। जिस प्रकार अंकसहित शून्य हो, तो वह गिनती में आता है, अन्यथा शून्य शून्य रहता है, उसी प्रकार सम्यक्त्व के बिना ज्ञान और चारित्र शून्यरूप ही है, अत: पहले सम्यक्त्व-प्राप्ति की साधना करनी चाहिए।[82] उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप-ये मोक्ष के मार्ग हैं, जिसका प्रतिपादन श्रेष्ठ दर्शनधारक जिनेश्वरों ने किया है।[83]

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि इस गाथा में ज्ञान के बाद दर्शन का स्थान है, किन्तु इसी अध्याय में यह भी निर्दिष्ट किया है कि दर्शन बिना ज्ञान नहीं होता, ज्ञान के बिना चारित्र के गुण उत्पन्न नहीं होते, चारित्र गुण की प्राप्ति के बिना मोक्ष नहीं होता, यानी कर्म से विमुक्ति नहीं होती और उसके अभाव में निर्वाण नहीं होता।[84] इसी बात का समर्थन करते हुए आचार्य शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव में लिखा है[85]-साधुजन उस सम्यग्दर्शन को चारित्र और ज्ञान का बीज, यम और प्रशम का प्राण तथा तप और आगम का आश्रय मानते हैं। इसी क्रम में यह भी कहते है[86]-जो जीव चारित्र और ज्ञान से भ्रष्ट हैं, वे सम्यक्त्व के बल से रत्नत्रयपूर्वक मुक्ति को प्राप्त कर लेते हैं, परन्तु जो प्राणी सम्यग्दर्शन से रहित हैं, वे इस संसार में कभी भी मुक्ति को प्राप्त नहीं होते हैं।

इस सन्दर्भ में आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है कि[87] जो पुरूष अनेक प्रकार के शास्त्रों को जानता है, किन्तु सम्यक्त्व रूपी रत्न से भ्रष्ट हैं वे आराधना से रहित होते हुए संसार में ही परिभ्रमण करते हैं तथा सम्यक्त्व से रहित होकर हजार कोटि वर्ष तक तप करते रहें, तब भी स्वरूप की प्राप्ति नहीं होती अत: इस संसार में सम्यग्दर्शन दुर्लभ है, ज्ञान और चारित्र को उत्पन्न करने वाला है और धर्मरूपी वृक्ष के लिए जड़ के समान है।[88] इस सम्यग्दर्शन के बिना इस जीव का ज्ञान मिथ्याज्ञान और चारित्र मिथ्याचारित्र कहलाता है। वहीं इन दोनों की यथार्थता का कारण है।[89]

इस प्रकार यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि रत्नत्रय में सम्यग्दर्शन ही सर्वोत्कृष्ट है और वही मोक्ष का अनन्तर कारण है।

सम्यग्दर्शन को कैसे पहचाने ?

यह सरल किन्तु गहन प्रश्न है कि सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई या नहीं, इसे कैसे पहचाने ? आचार्य हरिभद्रसूरि ने उपदेशपद में लिखा है कि सम्यक्त्व की अनुभूति को वचन के माध्यम से कहना शक्य नहीं है। इसे अनुभव के आधार पर ही समझा जा सकता है। यह संसार का अन्त करने वाले मोक्ष नाम का प्रथम चरण है। ज्ञानी पुरूषों ने स्वयं के शुद्धस्वरूप की अनुभूति के द्वारा ही इसे जाना है।

आचारांगसूत्र में कहा गया है कि शुद्ध आत्मस्वरूप की अभिव्यक्ति के लिए सभी स्वर निवर्तित हो जाते हैं (परमात्मा का स्वरूप शब्दों के द्वारा कहा नहीं जा सकता)। वहाँ कोई तर्क नहीं टिकता (आत्मस्वरूप तर्क द्वारा गम्य नहीं है)। मति भी उस विषय को ग्रहण नहीं कर पाती (बुद्धि द्वारा ग्राह्य नहीं है)। वह आत्मा परिज्ञ है, संज्ञ(सामान्य रूप से सभी पदार्थों को सम्यक् जानती) है, चैतन्यमय ज्ञानधन है, उसका बोध कराने के लिए कोई अपना नहीं है, वह अरूपी सत्ता है, वह पदातीत है, उसका (बोध कराने के लिए) कोई पद नहीं है।[90]

जैसे किसी पदार्थ की मधुरता का वर्णन करना हो, तो उपमान के द्वारा ही संभव है, परन्तु वह मधुरता वास्तविक रूप में कैसी है ? उसे शब्दों के माध्यम से नहीं कहा जा सकता। इसीलिए कहा गया है कि इक्षु, दूध और गुड़ की मधुरता में अन्तर है, परन्तु इस भेद को अभिव्यक्त करने में सरस्वती भी समर्थ नहीं है।

सम्यग्दर्शन का फल

अर्हत्पुरूषों ने संसार का मूल कारण मिथ्यात्व और मोक्ष का मूल कारण सम्यग्दर्शन को स्वीकार किया है। सम्यग्दर्शन की महिमा अचिन्त्य है और उसका फल भी अनुपम, महान् और परमोत्कृष्ट है। सम्यग्दर्शन का साक्षात् फल तो तत्समय में ही प्रादुर्भूत अपूर्व सुख- शान्ति का आस्वाद है और परम्परा फल सिद्धत्व-पद की महान् उपलब्धि है। अनुसन्धाता विनोदकुमार जैन की शैली में जो अतीतकाल में सिद्ध हुए हैं और आगामी काल में सिद्ध होंगे, यह सब सम्यक्त्व का माहात्म्य है।[91]

आचार्य कुन्दकुन्द सम्यग्दर्शन का फल बताते हुए कहते हैं- जो दर्शन से शुद्ध है, वही शुद्ध है, क्योंकि जिसका दर्शन शुद्ध है, वही निर्वाण को पाता है और जो सम्यग्दर्शन से रहित है, वह ईप्सित लाभ, अर्थात मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता है।[92] वे यह भी लिखते हैं- जिस पुरूष के हृदय में सम्यक्त्वरूपी जल का प्रवाह निरन्तर प्रवर्त्तमान है, उसे कर्म-रूपी रज का आवरण नहीं लगता। पूर्व में जो कर्म बंधा हुआ हो, वह नाश को प्राप्त हो जाता है।[93] सम्यक्त्व द्वारा ही संख्यात-असंख्यातगुना निर्जरा होती है। इस सन्दर्भ में आचार्य प्रभाचन्द्र का मन्तव्य यह है कि जिसे निर्मल सम्यग्दर्शन प्राप्त हो चुका है, उस पवित्र आत्मा को मैं मुक्त हुआ ही मानता हूँ। इसका कारण यह है कि मुक्ति का प्रधान अंग उसे ही निर्दिष्ट किया गया है तथा जो जीव चारित्र और ज्ञान से भ्रष्ट हैं, वे अपने-आपको सम्यक्त्व के बल से सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र में पुनर्स्थापित कर मुक्ति को प्राप्त करते है, परन्तु जो प्राणी उस सम्यग्दर्शन से रहित है, वे इस संसार में कभी भी मुक्ति को प्राप्त नहीं होते हैं।[94] इस विषय की पुष्टि करते हुए जैनाचार्य यह भी कहते हैं- जो जीव अन्तर्मुहूर्त्त मात्र भी सम्यग्दर्शन का स्पर्श कर लेता है, उसके अधिक से अधिक अर्द्धपुद्गल परावर्तनकाल मात्र ही संसार में शेष रहता है, इससे अधिक नहीं।[95]

सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के पश्चात् भवधारण की सीमा का वर्णन करते हुए आचार्य गुणभद्र ने कहा है- जो मनुष्य जिस भव में दर्शनमोह (दर्शनसप्तक) का क्षय कर लेता है, वह तीन भव में नियम से मुक्त हो जाता है। जो सम्यग्दर्शन से पतित नहीं होते, उन्हें उत्कृष्टत: सात या आठ

भव करने होते हैं और जघन्य से दो-तीन भव। इसके पश्चात् उनके संसार का उच्छेद हो जाता है। जो सम्यक्त्व से च्युत हो गए है, उनके लिए कोई नियम नहीं है।[96]

दिगम्बराचार्यों के अनुसार मिथ्यात्व का नाश होने पर सम्यक्त्व की उत्पत्ति होती है और सम्यग्दर्शन उत्पन्न होने पर मिथ्यात्व से सम्बन्धित सोलह प्रकृतियाँ और अनन्तानुबन्धी-कषाय से सम्बन्धित पच्चीस प्रकृतियाँ- कुल मिलाकर इकतालीस कर्म-प्रकृतियों का बन्ध मिट जाता है और अन्त:कोड़ाकोड़ी सागर की स्थिति रह जाती है।[97]

सम्यग्दर्शन का फल इन बिन्दुओं से भी ज्ञात किया जा सकता है कि सम्यग्दृष्टि जीव मरकर प्रथम नरक को छोड़कर शेष छ: नरकों में नहीं जाता। भवनवासी, ज्योतिष एवं व्यन्तरदेवों में उत्पन्न नहीं होता। किसी जीव को नरकायु का बंध होने के बाद सम्यग्दर्शन उत्पन्न हुआ हो, तो वह जीव प्रथम नरक में ही उत्पन्न होता है जैसे-राजा श्रेणिक। इसी प्रकार किसी को देवायु का बन्ध होने के पश्चात् सम्यग्दर्शन हुआ हो, वह जीव सौधर्मादि स्वर्गों में महर्द्धिक देव होता है। सम्यग्दृष्टि जीव एकेन्द्रिय(पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति), विकलेन्द्रिय(द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय) तथा असंज्ञी पंचेन्द्रिय में उत्पन्न नहीं होता।[98]

समाहारत: सम्यग्दर्शनयुक्त जीव परम्परा से मोक्षरूप परमधाम को प्राप्त होता है तथा जब तक संसार में रहता है, वह दुर्गति के कारणभूत अशुभकर्म को नहीं बांधता है और पूर्वसंचित पापकर्म का नाश कर लेता है। यही सम्यग्दर्शन का महान् फल है।

यही समाधान सम्यक्त्व के सम्बन्ध में घटित होता है। सम्यक्त्व प्राप्ति की वास्तविक पहचान सम्यक्त्वी जीव ही कर सकता है, उस आस्वाद की अनुभूति उसी के लिए संभव है। व्यवहारिक-दृष्टि से सड़सठ गुणों का श्रद्धान या आचरण करने वाला भव्य जीव सम्यक्त्वी या सम्यग दृष्टि कहलाता है।[99]

सम्यक्त्वग्राही की पूर्व योग्यता

यह अनुभवसिद्ध है कि जो व्यक्ति जीवन के सामान्य व्यवहार में कुशल नहीं है, वह आध्यात्मिक जीवन की साधना में आगे नहीं बढ़ सकता। धार्मिक या आध्यात्मिक होने के लिए व्यावहारिक या सामाजिक होना पहली

शर्त है। व्यवहार से ही परमार्थ साधा जा सकता है। धर्म-मार्ग का अनुसरण करने के पहले जीवन में व्यावहारिक एवं सामाजिक गुणों का प्रकटन होना अत्यावश्यक है। जैनाचार्यों ने इस तथ्य को सर्वाधिक प्राथमिकता दी है, अतः सम्यक्त्व व्रतग्राही के लिए कुछ योग्यताएँ अपेक्षित मानी गई हैं।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने सम्यक्त्वव्रत ग्रहण के इच्छुक श्रावक की पूर्व योग्यताओं का विवरण देते हुए उसके पैंतीस गुणों का उल्लेख किया है, जो निम्नलिखित हैं- 1. न्याय-नीतिपूर्वक धनोपार्जन करना 2. समान कुल एवं समान शीलधर्मी के साथ विवाह करना 3. प्रत्यक्ष और परोक्ष आपत्तियों से सावधान रहना 4. शिष्टजनों के चारित्र की प्रशंसा करना 5. जितेन्द्रिय होना 6. उपद्रवकारी स्थान का वर्जन करना 7. स्वयं के योग्य व्यक्तियों का आश्रय लेना 8. गुणदर्शी होना 9. उचित स्थान पर गृह बनवाना 10. उचित वेशभूषा धारण करना 11. आय के अनुसार व्यय करना 12. देश में जो आचार प्रसिद्ध हो, उसका पालन करना 13. निन्दित कार्यों का त्याग करना 14. अवर्णवाद का त्याग करना 15. सत्पुरूषों की संगति करना 16. माता-पिता की पूजा(सेवा) करना 17. सुखकारी प्रवृत्ति करना 18. स्व-आश्रितों का परिपालन करना 19. देव, अतिथि और दीनजनों की सेवा करना 20. यथासमय भोजन करना 21. अयोग्य देश और अयोग्य काल में गमन नहीं करना 22. यथोचित लोकयात्रा करना 23. अतिपरिचय का त्याग करना 24. व्रतधारी और ज्ञानी पुरूषों की सेंवा करना 25. धर्म, अर्थ और काम-पुरूषार्थ का उचित सेवन करना 26. धर्म, अर्थ और काम पुरूषार्थ में सामंजस्य बना रहे, उस तरह की प्रवृत्ति करना 27. स्वयं की शक्ति-अशक्ति का विचार कर नए कार्य का प्रारंभ करना 28. धर्म, अर्थ और काम की उत्तरोत्तर वृद्धि हेतु प्रयत्न करना 29. मितव्ययी होना 30. धर्मश्रवण करना 31. अभिनिवेश का त्याग करना 32. गुणपक्षपाती होना 33. बुद्धि के आठ गुणों से युक्त होना।[100] टीकाकार ने अजीर्ण होने पर भोजन नहीं करना और बलापाये प्रतिक्रिया-इन दो गुणों को भोजन के साथ संयुक्त कर पैंतीस गुणों का निर्देश किया है।

आचार्य हेमचन्द्र ने उपर्युक्त योग्यताओं को 'मार्गानुसारीगुण' के नाम से उल्लिखित किया है और गृहस्थ-साधना में प्रवेश करने वाले साधक के

लिए इन गुणों का होना आवश्यक माना है। योगशास्त्र के अभिप्रायानुसार श्रावक के पैंतीस गुण अग्रांकित हैं[101]-

1. न्याय नीतिपूर्वक धनोपार्जन करना 2.समाज में जो ज्ञानवृद्ध और वयोवृद्ध शिष्टजन हैं, उनका यथोचित सम्मान करना, उनसे शिक्षा ग्रहण करना और उनके आचार की प्रशंसा करना 3. समान कुल और समान आचार-विचार वाले स्वधर्मी, किन्तु भिन्न गोत्रोत्पन्न जनों की कन्या के साथ विवाह करना 4. चोरी, परस्त्रीगमन, असत्यभाषण आदि पापाचार का त्याग करना 5. अपने देश के कल्याणकारी आचार-विचार एवं संस्कृति का पालन करना 6. दूसरों की निन्दा न करना 7. योग्य मकान में निवास करना, जो न अधिक खुला हो और न अधिक गुप्त जिसमें निराबाध रूप से वायु एवं प्रकाश आ सके 8. सदाचारी जनों की संगति करना 9. माता-पिता का सम्मान-सत्कार करना 10. अनुकूल ग्राम या नगर में निवास करना 11. देश, जाति एवं कुल से विरूद्ध कार्य न करना, जैसे-मदिरापान, आदि 12. आय से अधिक व्यय न करना, 13. देश और काल के अनुसार वस्त्राभूषण धारण करना 14. बुद्धि के आठ गुणों से युक्त होना 15. धर्मश्रवण की इच्छा रखना 16. अजीर्ण होने पर भोजन न करना 17. समय पर प्रमाणोपेत भोजन करना 18. धर्म, अर्थ और काम-पुरूषार्थ का उचित सेवन करना 19. अतिथि, साधु और दीनजनों को यथायोग्य दान देना 20. आग्रहशील न होना 21. सौजन्य, औदार्य, दाक्षिण्य, आदि गुणों को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहना 22. अयोग्य देश और अयोग्य काल में गमन न करना 23. देश, काल, वातावरण और स्वकीय-सामर्थ्य का विचार करके ही किसी कार्य को प्रारम्भ करना 24. आचारवृद्ध और ज्ञानवृद्ध पुरूषों की यथोचित सेवा करना 25. माता-पिता, पत्नी-पुत्र, आदि आश्रितों का यथायोग्य भरण-पोषण करना 26. दीर्घदर्शी होना 27. विवेकशील होना 28. कृतज्ञ होना-उपकारी के उपकार का स्मरण करना 29. विनम्र होना 30. लज्जाशील होना 31. करूणाशील होना 32. सौम्य होना 33. यथाशक्ति परोपकारी होना 34. काम, क्रोध, मोह, मद और मात्सर्य- इन आन्तरिक शत्रुओं से बचने का प्रयत्न करना और 35. इन्द्रियों को उच्छृंखल न होने देना।

इन पूर्वोक्त गुणों से युक्त गृहस्थ ही धर्म-आराधना करने की योग्यता प्राप्त करता है।

आचार्य नेमिचन्द्रकृत प्रवचनसारोद्धार में श्रावक के इक्कीस गुणों का उल्लेख किया गया है। उनके मतानुसार इन इक्कीस गुणों को धारण करने वाला व्यक्ति व्रतों की साधना करने का अधिकारी बनता है। वे गुण ये हैं- 1. वह धर्म के प्रति श्रद्धावान् हो 2.चतुर हो 3. प्रकृति से सौम्य हो 4. लोकप्रिय हो 5. अक्रूर हो 6. पापभीरू हो 7. सरल-निष्कपट हो 8. निरभिमानी हो 9. लज्जालु हो 10. दयालु हो 11. मध्यस्थ विचारों वाला हो 12. समान दृष्टिवाला हो 13. गुणानुरागी हो 14. सत्कार्य में दक्ष हो 15. सुदीर्घदर्शी हो 16. विशेषज्ञाता हो 17. महापुरूषों का अनुसरण करने वाला हो 18. विनीत हो 19. कृतज्ञ हो 20. परोपकारी हो और 21. मर्यादायुक्त व्यवहार करने वाला हो।[102]

पं. आशाधर ने सागारधर्मामृत में व्रत-साधना के मार्ग पर आगे बढ़ने वाले श्रावक के लिए निम्न गुणों का निर्देश किया है- 1. न्यायपूर्वक धन का अर्जन करने वाला हो 2. गुणीजनों को माननेवाला हो 3. सत्यभाषी हो 4. धर्म, अर्थ और काम का परस्पर विरोध-रहित सेवन करने वाला हो 5. गुणवती पत्नी हो 6. योग्य स्थान(महल्ला) हो 7. योग्य मकान से युक्त हो 8. लज्जाशील हो 9. सात्त्विक आहार करने वाला हो 10. उचित आचरण वाला हो 11. श्रेष्ठ पुरूषों की संगति करता हो 12. बुद्धिमान् हो 13. कृतज्ञ हो 14. जितेन्द्रिय हो 15. धर्मोपदेश श्रवण करने वाला हो 16. दयालु हो 17. पापों से डरने वाला हो-ऐसा व्यक्ति गृहस्थधर्म व्रत का आचरण करें।[103]

आचार्य जिनप्रभसूरि ने उपशम आदि गुणों से युक्त व्यक्ति को सम्यक्त्व आदि व्रत धारण करने का अधिकारी माना है।[104]

निष्पत्ति– निष्कर्ष यह है कि जैन परम्परा में सम्यक्त्वव्रत ग्रहण करने के पूर्व भी व्यक्ति को कुछ योग्यताएँ अर्जित करना आवश्यक है। पूर्वाचार्यों ने यह निर्देश किया है कि सम्यक्त्व की प्राप्ति उसी के लिए संभव है, जिसने अनन्तानुबन्धी कषायचतुष्क का उपशम या क्षय किया हो। इसी के साथ व्रतसाधना के लिए श्रावक में जो योग्यताएँ होनी चाहिए, उन सद्गुणों में से अधिकांश का सम्बन्ध हमारे सामाजिक जीवन से है। वैयक्तिक जीवन में

इनका विकास सामाजिक जीवन के मधुर सम्बन्धों का सृजन करता है। ये गुण वैयक्तिक जीवन के लिए जितने उपयोगी हैं उससे भी अधिक सामाजिक जीवन के लिए आवश्यक हैं।

यदि हम समीक्षात्मक पहलू से मनन करें, तो ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर अवगत होता है कि जैनागमों एवं आगमिक- व्याख्याओं में कहीं भी श्रावक के लिए आवश्यक गुणों एवं कर्त्तव्यों का विवेचन नहीं है। सातवीं शती के पूर्व तक श्रावक के आचार-धर्म का वर्णन मुख्य रूप से व्रतग्रहण के आधार पर ही किया गया उपलब्ध होता है। हाँ, दिगम्बर-परम्परा मान्य रत्नकरण्डकश्रावकाचार आदि में यह चर्चा सामान्य रूप से प्राप्त हो सकती है।

श्वेताम्बर-परम्परा मान्य श्रावक के पैंतीस गुणों की चर्चा सर्वप्रथम आचार्य हरिभद्रकृत (8 वीं शती) धर्मबिन्दुप्रकरण में प्राप्त होती है। उसके बाद आचार्य हेमचन्द्रकृत (12 वीं शती) योगशास्त्र में यह विवेचन पढ़ने को मिलता है। तदनन्तर यह वर्णन 14वीं-15वीं शती के ग्रन्थों एवं संकलित ग्रन्थों में परिलक्षित होता है। आचार्य नेमिचन्द्र(12 वीं शती) ने श्रावक के इक्कीस गुणों का निर्देश किया है, किन्तु यह अवधारणा पैंतीस गुणों की मान्यता से परवर्ती है।

दिगम्बर परम्परा मान्य अष्टमूलगुणों की सर्वप्रथम चर्चा समन्तभद्रकृत(चौथी शती)रत्नकरण्डकश्रावकाचार में दृष्टिगत होती है। इसके पश्चात पं. आशाधरजीकृत(14 वीं शती) सागार धर्मामृत आदि में श्रावक के चौदह गुण भी बताए गए हैं।

इससे सुस्पष्ट है कि जैनाचार्यों ने जीवन को अधिक गुणवान् बनाने वाले गुणों का निर्देश कर एक क्रान्तिकारी विचारणा उपस्थित की है अत: वर्तमान परिप्रेक्ष्य में इन गुणों की अत्यधिक प्रासंगिकता है।

यदि गृहस्थव्रती के लिए आवश्यक पैंतीस गुणों की उपादेयता को लेकर विचार करें, तो आचार्य हेमचन्द्र द्वारा प्रतिपादित इन गुणों में से ग्यारह गुण कर्त्तव्य रूप(पालन करने योग्य), आठ गुण त्यागजन्य, आठ गुण ग्रहण करने योग्य और आठ गुण साधना (अभ्यास) करने योग्य हैं। यह

स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है-

1. न्यायसंपन्न वैभव 2. उचित व्यय 3. उचित वेश 4. उचित विवाह 5. उचित घर 6. अजीर्ण में भोजन त्याग 7. उचित समय पर भोजन 8. माता-पिता की पूजा 9. पोष्य-पोषण 10. अतिथि-साधु आदि का सम्मान 11. ज्ञानवृद्ध-चारित्रपात्र की सेवा करना-ये ग्यारह गुण कर्त्तव्यरूप में आचरणीय हैं।

1. निंदा त्याग 2. निंद्यप्रवृत्तित्याग 3. जितेन्द्रिय 4. क्रोधादि शत्रुओं का परिहार 5. अभिनिवेश-त्याग 6. त्रिवर्ग का उचित सेवन 7. उपद्रव वाले स्थान का त्याग 8. अदेशकालचर्या त्याग-ये आठ गुण त्यागजन्य हैं।

1. पापभीरूता 2.लज्जा 3. सौम्यता 4. लोकप्रियता 5. दीर्घदृष्टि 6. बलाबलविचार 7. विशेषज्ञता 8. गुणपक्षपात-ये आठ गुण ग्रहण करने योग्य हैं।

1. कृतज्ञता 2.परोपकार 3. दया 4. सत्संग 5. धर्मश्रवण 6. बुद्धि के आठ गुण 7. प्रसिद्धदेशाचार पालन 8. शिष्टाचार प्रशंसा-ये आठ गुण साधना (अभ्यास) करने योग्य हैं।

यदि हम धर्मबिन्दु, योगशास्त्र, सागारधर्मामृत, प्रवचनसारोद्धार में प्रतिपादित गृहस्थ के गुणों का तुलनात्मक पक्ष से विचार करें, तो अवगत होता है कि उनमें नाम, क्रम एवं संख्या की दृष्टि से समरूपता और विषमता दोनों ही है। यद्यपि आचार्य हरिभद्र एवं आचार्य हेमचन्द्रकृत पैंतीस गुणों में संख्या सम्बन्धी अन्तर नहीं है, किन्तु नाम एवं क्रम की दृष्टि से मतभेद हैं। तत्सम्बन्धी स्पष्टबोध के लिए निम्न तालिका देखें–

क्र.	आचार्य हरिभद्र द्वारा प्रतिपादित	आचार्य हेमचन्द्र द्वारा प्रतिपादित	आचार्य नेमिचन्द्र द्वारा प्रतिपादित	पं.आशाधर द्वारा प्रतिपादित
1	न्याय-नीतिन्याय सम्पन्न वैभव	वैभव (1)	विशालहृदयी	न्यायपूर्वक धन अर्जन करने वाला
2.	समान कुल-शील के साथ विवाह	शिष्टजनों की प्रशंसा करना(4)	स्वस्थता	गुणीजनों का सत्कार करने वाला

क्र.	आचार्य हरिभद्र द्वारा प्रतिपादित	आचार्य हेमचन्द्र द्वारा प्रतिपादित	आचार्य नेमिचन्द्र द्वारा प्रतिपादित	पं.आशाधर द्वारा प्रतिपादित
3.	प्रत्यक्ष और परोक्ष आपत्तियों से सावधान	समान कुलशील के साथ विवाह करना (3)	सौम्यता	सत्यभाषी
4.	शिष्टजनों (सज्जनों) के चारित्र की प्रशंसा करना	पापभीरू होना	लोकप्रियता	धर्म, अर्थ और काम का अविरोध सेवन करने वाला
5	इन्द्रिय विजेता (इन्द्रियों के प्रति आसक्त न होना)	प्रसिद्ध देशाचार का पालन करना(12)	अक्रूरता	सुयोग्य स्त्रीधारी
6.	उपद्रवकारी स्थान का वर्जन	अवर्णवाद का त्याग करना(14)	पापभीरूता	उचित स्थान(महल्ला)
7.	स्वयं के योग्य व्यक्तियों का आश्रय लेना	उचित स्थान पर निवास करना (9)	अशठता	उचित घर
8.	श्रेष्ठ पुरूषों को स्वीकार करना, गुणदर्शी होना	सत्पुरूषों की संगति करना (15)	सुदक्षता	लज्जाशील
9.	उचित स्थान पर गृह-निर्माण	माता-पिता की सेवा करना(16)	लज्जाशीलता	उचित आहारसेवी
10.	उचित वेशभूषा	उपद्रवकारी स्थान का त्याग करना (6)	दयालुता	उचित आचरण
11.	उचित व्यय	निंदित कार्यों का त्याग करना(13)	गुणानुराग	सत्पुरूषों की संगति करने वाला
12.	प्रसिद्ध देशाचार का पालन	उचित व्यय करना(11)	प्रिय सम्भाषण	बुद्धिमान्

क्र.	आचार्य हरिभद्र द्वारा प्रतिपादित	आचार्य हेमचन्द्र द्वारा प्रतिपादित	आचार्य नेमिचन्द्र द्वारा प्रतिपादित	पं.आशाधर द्वारा प्रतिपादित
13.	निन्दित कार्यों का त्याग	उचित वेशभूषा धारण करना(10)	माध्यस्थवृत्ति	कृतज्ञ
14.	अवर्णवाद(द्वेषबुद्धि) का त्याग	बुद्धि के आठ गुणों से युक्त होना(33)	दीर्घदृष्टि	जितेन्द्रिय
15.	सत्पुरूषों की संगति करना	प्रतिदिन धर्मश्रवण करना(30)	सत्कथक एवं सुपक्षयुक्त	धर्मश्रवणकर्त्ता
16.	माता-पिता की पूजा करना	अजीर्ण होने पर भोजन का त्याग करना	नम्रता	दयालु
17.	अनुद्वेगमय(शांतिमय) प्रवृत्ति	समय पर भोजन करना (20)	विशेषज्ञता	पापभीरू
18.	स्वाश्रितों का परिपालन	धर्म, अर्थ और काम-पुरूषार्थ का उचित सेवन करना (25)	वृद्धानुगामी	-
19.	देव, अतिथि और दीनजनों की सेवा करना	अतिथि-साधु और दीन की सेवा करना(19)	कृतज्ञ	-
20.	प्रकृति के अनुकूल समय पर भोजन करना	कदाग्रह का त्याग करना	परहितकारी	-
21.	अयोग्य देश और अयोग्य काल में गमन नहीं करना	गुणों का पक्षपाती होना (32)	साध्य का ज्ञाता	-

क्र.	आचार्य हरिभद्र द्वारा प्रतिपादित	आचार्य हेमचन्द्र द्वारा प्रतिपादित	आचार्य नेमिचन्द्र द्वारा प्रतिपादित	पं.आशाधर द्वारा प्रतिपादित
22.	यथोचित लोकयात्रा (किसी के साथ दुर्व्यवहार नहीं) करना	अयोग्य देश काल में गमन न करना (21)	-	-
23.	अतिपरिचय का त्याग	स्वयं की शक्ति-अशक्ति का विचार कर कार्य करना (27)	-	-
24.	व्रतधारी और ज्ञानी पुरूषों की सेवा करना	व्रतधारी और ज्ञानवृद्ध की सेवा करना (34)	-	-
25.	धर्म, अर्थ और काम-पुरूषार्थ का उचित सेवन करना।	पोष्यपोषण-परिवार का पोषण करना (18)	-	-
26.	धर्म, अर्थ और काम-पुरूषार्थ के सेवन में औचित्य का वर्तन करना, अर्थात् तीनों का परस्पर सामंजस्य बना रहे।	दीर्घदर्शी होना	-	-
27.	स्वयं की शक्ति-अशक्ति का विचार कर कार्य का प्रारंभ करना	विवेकशील होना	-	-

क्र.	आचार्य हरिभद्र द्वारा प्रतिपादित	आचार्य हेमचन्द्र द्वारा प्रतिपादित	आचार्य नेमिचन्द्र द्वारा प्रतिपादित	पं.आशाधर द्वारा प्रतिपादित
28.	धर्म, अर्थ और काम की उत्तरोत्तर वृद्धि के लिए प्रयत्न करना	कृतज्ञ	-	-
29.	मितव्ययी होना योग्य समय जानकर दान देना	लोकप्रिय(विनम्र) होना	-	-
30.	प्रतिदिन धर्मश्रवण करना	लज्जाशील	-	-
31.	अभिनिवेश (असत्आग्रह) का त्याग करना	करूणाशील	-	-
32.	गुण-पक्षपाती होना	सौम्य	-	-
33.	बुद्धि के आठ गुणों से युक्त होना	परोपकारी	-	-
34.	अजीर्ण होने पर भोजन न करना	क्रोधादि शत्रुओं का परिहार करना	-	-
35.	शक्ति संपन्न होने पर भी प्रतिक्रिया न करना	इन्द्रियजयी (5)	-	-

सम्यक्त्वव्रत प्रदाता गुरू की योग्यताएँ

सम्यक्त्वव्रत प्रदान करने का अधिकारी कौन हो सकता है? इस विषय में आचार्य वर्धमानसूरि ने कहा है[105]-जो मुनि पंचमहाव्रतों से युक्त हो, पंचाचार का पालन करने में समर्थ हो, पाँच समिति और तीन गुप्ति से युक्त हो और छत्तीस गुणों से समन्वित हो, साथ ही आगमों का ज्ञाता हो, मधुर वक्ता हो, गंभीर हो, बुद्धिमान् हो, उपदेशकुशल हो, परिश्रमी हो, सौम्य

हो, संग्रहशील हो, विकथारहित हो, अचंचल हो, प्रशान्त हृदयवाला हो, आचारकुशल हो, संविग्न हो, मध्यस्थ विचारवाला हो, गीतार्थ हो, कृतयोगी हो, श्रोता के भावों को जाननेवाला हो, लब्धिसंपन्न हो, देशना करने की रूचिवाला हो, नैमित्तिक हो, प्रिय बोलनेवाला हो, सुस्वरवाला हो, तपनिरत हो, शरीर से बलिष्ठ हो, धारणा शक्तिवाला हो, जिसने बहुत कुछ देखा हो, नैगमादि नयमत में निपुण हो, सुंदर शरीरवाला हो, प्रतिवादियों को जीतने वाला हो, पर्षदादि के लिए आनंदकारक हो, गंभीर हो, अनुवर्त्तन करने में कुशल हो, स्थिर चित्तवाला हो, उचित गुणों से युक्त हो, ऐसा आचार्य या गुरू सम्यक्त्वव्रत आदि प्रदान करने के योग्य होता है।

सम्यक्त्वव्रत ग्रहण हेतु शुभ मुहूर्त्तादि का विचार

नक्षत्र- तारों के समुदाय को नक्षत्र कहते हैं। आकाश मण्डल में ग्रहों की दूरी नक्षत्रों से ज्ञात की जाती है। ज्योतिष शास्त्र में 27 नक्षत्र माने गए हैं, उनमें निम्न नक्षत्र सम्यक्त्वव्रत आदि के लिए निषिद्ध हैं-

1. सन्ध्यागत- सूर्यास्त के समय रहने वाला नक्षत्र, 2. रविगत- जिस नक्षत्र में सूर्य स्थित रहता है, 3. विड्वर- टूटा हुआ नक्षत्र, 4. संग्रह- क्रूर ग्रह में रहा हुआ नक्षत्र, 5. विलम्बित- जिस नक्षत्र में सूर्य पृष्ठ भाग में हो, 6. राहुहत- जिस नक्षत्र में ग्रहण हो और 7. ग्रहभिन्न- जिस नक्षत्र के बीच से ग्रह जाता हो।[106]

आचारदिनकर के अनुसार मृदु, ध्रुव एवं क्षिप्र संज्ञक नक्षत्र भी सम्यक्त्वव्रत के लिए वर्जित हैं।[107] सामान्यतया व्रत ग्रहण के लिए तीनों उत्तरा (उत्तराफाल्गुनी, उत्तराभाद्रपद और उत्तराषाढ़ा) और रोहिणी नक्षत्र शुभ माने गए हैं।[108]

तिथि- गणिविद्या प्रकीर्णक के अनुसार कृष्ण एवं शुक्लपक्ष की चतुर्थी, षष्ठी, अष्टमी, नवमी, द्वादशी, चतुर्दशी, अमावस्या एवं पूर्णिमा के दिन किसी कार्य का प्रारम्भ नहीं करना चाहिए अत: ये तिथियाँ व्रत ग्रहण के लिए वर्जित मानी जा सकती हैं। इसमें दीक्षा के लिए नन्दा (प्रतिपदा, षष्ठी, एकादशी), जया (तृतीया, अष्टमी, त्रयोदशी) एवं पूर्णा (पंचमी, दशमी, पूर्णिमा)-इन तिथियों को शुभ माना है।[109]

वार- इस व्रत के लिए मंगल एवं शनि को छोड़कर शेष वार शुभ माने

गए हैं। इसमें वर्ष, मास, दिन, लग्न आदि की शुद्धि दीक्षा-मुहूर्त्त के समान जाननी चाहिए।[110]

यदि समीक्षात्मक दृष्टि से देखा जाए तो सम्यक्त्व व्रत आदि का ग्रहण किस शुभदिन में किया जाना चाहिए? इसका सामान्य उल्लेख गणिविद्याप्रकीर्णक एवं आचारदिनकर में उपलब्ध होता है।

सम्यक्त्व व्रतारोपण में प्रयुक्त सामग्री

सम्यक्त्वव्रत ग्रहण करने हेतु निम्न सामग्री आवश्यक मानी गई है-1. रजत या काष्ठनिर्मित त्रिगड़ा 2.चँदरवा पूठिया 3. चार दीपक 4. पाँच नारियल 5. पाँच नैवेद्य 6. पाँच फल 7. सवा किलो या सवा पाँच किलो चावल 8. नन्दिरचना के मध्य में एवं चारों दिशाओं में-कुल पाँच जगह रखने के लिए सवा ग्यारह-सवा ग्यारह रूपए 9. स्वस्तिक बनाने के लिए छोटे पाँच पट्टे 10. घृत 11. बत्ती 12. पंचधातु की चौमुखी प्रतिमा 13. प्रतिमा ढकने का वस्त्र 14. अभिमन्त्रित करने हेतु अक्षत और वासचूर्ण 15. गुरू महाराज के बैठने के लिए पट्टा 16. व्रतग्राही के लिए आसन, चरवला और मुखवस्त्रिका 17. धूपदानी 18. गुरू पूजा एवं ज्ञान पूजा करने के लिए यथाशक्ति द्रव्य या बहुमूल्य वस्तु।

सम्यक्त्वव्रत विधि की ऐतिहासिक विकास-यात्रा

किसी व्यक्ति को जैन परम्परा में दीक्षित करने के लिए सामान्यतया सम्यक्त्वारोपण-विधि की जाती है। इस विधि से यह सुनिश्चित किया जाता है कि यह व्यक्ति जैन धर्म में दीक्षित हुआ है। विश्व के प्रत्येक धर्म में किसी भी व्यक्ति को अपने धर्म में दीक्षित करने के लिए एक विशेष प्रकार का विधि-विधान किया जाता है। जिस प्रकार ईसाईयों में बपत्स्मिा, बौद्धों में त्रिशरणग्रहण, इस्लाम में सुन्नत आदि की विधि की जाती है, उसी प्रकार जैन धर्म में दीक्षित करने के लिए सम्यक्त्वारोपण की विधि की जाती है।

जहाँ तक प्राचीन जैन ग्रन्थों का सवाल है, वहाँ इस प्रकार के किसी विधि-विधान के उल्लेख नहीं मिलते हैं। उस युग में तीर्थंकर या जिन शासन के प्रति अपनी निष्ठा व्यक्त करने मात्र से व्यक्ति को जैन मान लिया जाता था अथवा 'जिन प्रवचन सत्य है या निर्ग्रन्थ प्रवचन सत्य है' मात्र इतना स्वीकार करने पर जैन धर्म में दीक्षित मान लिया जाता था। उसके पश्चात्

जैन-धर्म के अनुसार श्रावक के व्रत आदि ग्रहण करने सम्बन्धी कुछ उल्लेख उपासकदशा जैसे प्राचीन आगमों में मिलते हैं, किन्तु वहाँ सम्यक्त्वव्रत-ग्रहण के विषय में आनन्दश्रावक मात्र इतना ही कहता है– "हे भगवन्! निर्ग्रन्थ-प्रवचन सुआख्यात है, सुप्रज्ञप्त है, सुभाषित है, मुझे निर्ग्रन्थ प्रवचन में श्रद्धा है, विश्वास है, निर्ग्रन्थ प्रवचन मुझे रूचिकर लगते है। वह ऐसा ही है, तथ्य है, सत्य है, इच्छित है, प्रतीच्छित है। यह वैसा ही है जैसा आपने कहा है।"[111] इस आधार पर हम यह कह सकते हैं कि प्राचीनकाल में जैन-धर्म में दीक्षित होने के लिए उसके प्रति निष्ठा व्यक्त करना ही पर्याप्त समझा जाता था।

कालान्तर में बौद्ध-परम्परा में जिस प्रकार त्रिशरण ग्रहण करने की विधि प्रचलित हुई, उसी प्रकार जैन-धर्म में दीक्षित होने के लिए चतु:शरण ग्रहण करने की पद्धति विकसित हुई। इसमें चार शरण निम्न माने गए हैं- 1. अरिहंत 2. सिद्ध 3. साधु और 4. केवलि-प्ररूपित धर्म।

इस वर्णन के आधार पर कहा जा सकता है कि सम्यक्त्व व्रतारोपण सम्बन्धी यत्किंचिद विधि का उल्लेख एक मात्र उपासकदशा सूत्र में उपलब्ध होती है तथा आगम युग में जिनप्रवचन के प्रति निष्ठा की अभिव्यक्ति करने के साथ ही व्यक्ति को जैन धर्म में दीक्षित मान लिया जाता था।

आगम युग के अनन्तर निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णि साहित्य में भी इस सम्बन्ध में किसी विशेष जानकारी का उल्लेख उपलब्ध नहीं है। संभवतया आगमिक-व्याख्याओं और प्राचीन आचार्यों के ग्रन्थों में हमें सम्यक्त्व आरोपण के सम्बन्ध में निम्न पाठ उपलब्ध होता है-

अरिहंतो महदेवो, जावज्जीवं सुसाहुणो गुरूणो।
जिणपन्नत्तं तत्तं इय, सम्मत्तं मए गहियं।।

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि सम्यक्त्व आरोपण के लिए कालान्तर में उक्त पाठ का उच्चारण करना आवश्यक माना गया। इस पाठ में देव के रूप में अरिहन्त, गुरू के रूप में निर्ग्रन्थ-मुनि और धर्म के रूप में जिनप्रज्ञप्त-धर्म के प्रति अपनी निष्ठा को व्यक्त किया गया है। इस पाठ में स्पष्ट रूप से यह भी कहा गया है कि 'इय सम्मत्तं मए गहियं'-यह

सम्यक्त्व मेरे द्वारा ग्रहण किया गया है, किन्तु इस पाठ के उच्चारण के साथ सम्यक्त्वव्रतारोपण के लिए अन्य क्रियाएँ, किस प्रकार से की जाती हैं? इसका विस्तृत उल्लेख नवीं-दसवीं शती तक उपलब्ध नहीं होता है।

जहाँ तक प्राचीन आचार्यों द्वारा रचित ग्रन्थों का प्रश्न है, वहाँ आचार्य हरिभद्रसूरि के पंचाशक प्रकरण, अष्टक प्रकरण, षोडशक प्रकरण आदि ग्रन्थों में भी इस विधि का सुनिश्चित क्रम प्राप्त नहीं होता है। इसके पश्चात् सम्यक्त्वारोपण विधिक्रम का सुव्यवस्थित स्वरूप दसवीं शती के परवर्ती ग्रन्थों में प्राप्त होता है। इस संस्कार विधि के सम्बन्ध में तिलकाचार्यकृत सामाचारी (वि.सं. 1274), श्रीचन्द्राचार्यकृत सुबोधासामाचारी (वि.सं. 1300), जिनप्रभसूरिरचित विधिमार्गप्रपा (वि.सं. 1363), वर्धमानसूरिकृत आचारदिनकर (वि.सं. 15 वीं शती) आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन ग्रन्थों में हमें सम्यक्त्वारोपणविधि का एक सुव्यवस्थित रूप दृष्टिगत होता है। इससे परवर्ती ग्रन्थों में यह विधि आचार दिनकर आदि ग्रन्थों से ही उद्धृत एवं संकलित की गई मालूम होती है।

यहाँ यह कहना प्रासंगिक है कि श्रमण भगवान महावीर के निर्वाण से विक्रम की 10 वीं शती तक श्वेताम्बर, दिगम्बर एवं यापनीय-इन तीन परम्पराओं के अतिरिक्त अन्य गच्छों या सम्प्रदायों का विभाजन नहीं हुआ था। इन तीनों परम्पराओं में यद्यपि कुछ गणों, कुलों एवं शाखाओं के उल्लेख हैं, किन्तु उनमें इन धार्मिक विधि-विधानों को लेकर क्या मत-मतान्तर थे? इन्हें जानने का कोई साधन उपलब्ध नहीं है। उनके ग्रन्थों में ऐसे उल्लेख प्रायः नहींवत् हैं।

इसके अनन्तर विक्रम की दसवीं शताब्दी के पश्चात् सर्वप्रथम श्वेताम्बर मूर्तिपूजक-परम्परा में 'खरतरगच्छ' का उद्भव हुआ। फिर क्रमशः अचलगच्छ, तपागच्छ, पार्श्वचन्द्रगच्छ, विमलगच्छ आदि की उत्पत्ति हुई। इस विषय में कुछ अधिक कहना अनुचित होगा। फिर भी प्रसंगतः इतना कह देना जरूरी है कि वर्तमान में जो परम्पराएँ मुख्य रूप से प्रचलित हैं, उनमें गच्छ-उद्भव की प्राथमिकता को दृष्टि में रखते हुए हम जैन विधि-विधानों का प्रतिपादन करेंगे।

सम्यक्त्वव्रतारोपण-विधि

खरतरगच्छ की वर्तमान परम्परा में सम्यक्त्वारोपणविधि विधिमार्गप्रपा ग्रन्थ के अनुसार करवाई जाती है। वह इस प्रकार है[112] –

❁ सर्वप्रथम शुभमुहूर्त्त के दिन सम्यक्त्व व्रतग्राही जिनमन्दिर में या समवसरण (त्रिगड़ा) में विराजित जिनबिंब की पूजा करें। ❁ फिर नारियल सहित बढ़ती हुई अक्षत की तीन मुट्ठियों द्वारा उसकी अंजली को भरें। ❁ उसके बाद व्रतग्राही नमस्कारमन्त्र का स्मरण करते हुए समवसरण की तीन प्रदक्षिणा दें। प्रत्येक प्रदक्षिणा में एक नवकार बोलें। ❁ फिर ईर्यापथ का प्रतिक्रमण कर एक खमासमणसूत्रपूर्वक वंदन करके सम्यक्त्व, सामायिक और श्रुतसामायिक ग्रहण करने हेतु गुरू से देववन्दन करवाने का निवेदन करें। ❁ पुनः एक खमासमणपूर्वक वासचूर्ण डालने का कहें। तब गुरू सम्यक्त्व-सामायिक एवं श्रुत-सामायिक का आरोपण करने के लिए सूरिमंत्र या वर्द्धमानविद्या से अभिमन्त्रित वासचूर्ण को सम्यक्त्वव्रतग्राही के उत्तमांग (मस्तक) पर डालें और उसका रक्षाकवच बनाएँ।

❁ तदनन्तर गुरू व्रतग्राही को अपनी बायीं ओर बिठाकर जिनमें क्रमशः अक्षर, स्वर, व्यंजन और गाथाएँ बढ़ती हुई संख्या में हों, ऐसी स्तुतियों के द्वारा संघसहित देववंदन करें। इस देववंदन विधि में बढ़ती हुई चार स्तुतियों पूर्वक श्रीशान्तिनाथ, शान्तिदेवता, श्रुतदेवता, भुवनदेवता, क्षेत्रदेवता, अंबादेवी, पद्मावतीदेवी, चक्रेश्वरीदेवी, अच्छुप्तादेवी, कुबेरदेवता, ब्रह्मशांतिदेवता, गोत्रदेवता और शक्रादिवैयावृत्यकर देवता की आराधना निमित्त कायोत्सर्ग में नमस्कारमन्त्र का चिन्तन करें और कायोत्सर्ग पूर्णकर उन-उनकी स्तुतियाँ बोलें। उसके बाद शासनदेवता के कायोत्सर्ग में चार लोगस्ससूत्र का चिंतन करें। फिर कायोत्सर्ग पूर्णकर गुरू स्वयं स्तुति बोलें। फिर चैत्यवन्दन की मुद्रा में बैठकर शक्रस्तवसूत्र, अरिहाणादिस्तोत्र एवं जयवीयरायसूत्र बोलें। इन सूत्रों को यथायोग्य मुद्रापूर्वक बोलें। यहाँ तक की प्रक्रिया समस्त प्रकार के व्रतारोपण, पदस्थापन, उपधान आदि की नन्दि-विधियों में प्रायः समान होती है।

❁ उसके बाद व्रतगाही खमासमणसूत्रपूर्वक वंदन करके कहें-"हे भगवन्! मुझे सम्यक्त्व-सामायिक और श्रुत-सामायिक का आरोपण करने के

लिए कायोत्सर्ग करवाईए।'' तब शिष्य गुरू की अनुमतिपूर्वक सत्ताईस श्वासोश्वास परिमाण लोगस्ससूत्र का चिन्तन करें। उसके बाद पुनः व्रतग्राही एक खमासमणपूर्वक सम्यक्त्व-सामायिक एवं श्रुत-सामायिक ग्रहण करवाने के लिए गुरू से निवेदन करें। तब गुरू नमस्कारमन्त्र के स्मरणपूर्वक निम्न पाठ को तीन बार बुलवाएं। उस समय व्रतग्राही शिष्य अर्द्धावनत-मुद्रा में बद्धांजलि युक्त होकर 'व्रतग्रहणपाठ' को त्रियोगपूर्वक धारण करें। सम्यक्त्वव्रत ग्रहण करने का प्रतिज्ञा पाठ यह है-

अहं णं भंते तुम्हाणं समीवे मिच्छत्ताओ पडिक्कमामि सम्मत्तं उवसंपज्जामि। नो मे कप्पइ अज्जप्पभिइ अन्नतित्थिए वा, अन्न तित्थिय देवयाणि वा, अन्नतित्थियपरिग्गहियाणि अरहंतचेइयाणि वा, वंदित्तएवा, संलवित्तएवा, तेसिं असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा, दाउं वा, अणुप्पयाउं वा, तेसिं गंधमल्लाइ पेसेउंवा, नन्नत्थ रायाभिओगेणं, गणाभिओगेणं, बलाभिओगेणं, देवयाभिओगेणं, गुरूनिग्गहेणं, वित्तीकंतारेणं, तं च चउव्विहं, तं जहा-दव्वओ, खेत्तओ, कालओ, भावओ। तत्थ दव्वओ-दंसणदव्वाइं अहिगिच्च, खित्तओ जाव भरहम्मि मज्झिमखंडे, कालओ जाव जीवाए, भावओ जाव छलेणं न छलिज्जामि, जाव सन्निवाएणं न भुज्जामि, जाव केणइ उम्मायवसेण एसो मे दंसणपालण परिणामो न परिवडइ, ताव मे एसो दंसणाभिग्गहोत्ति।

भावार्थ- हे भगवन् ! मैं आपके समीप मिथ्यात्व का परित्याग करता हूँ और सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन) को धारण करता हूँ। मैं आज से लेकर अन्यतीर्थिकों, अन्य मत के लोगों, अन्य दर्शनियों एवं अन्य तीर्थिकों द्वारा गृहीत जिनालयों को वन्दन, नमस्कार नहीं करूंगा। उनके साथ बातचीत नहीं करूंगा, उनके साथ आहारादि का आदान-प्रदान नहीं करूंगा, उनका सत्कार-सम्मान नहीं करूंगा। मेरी यह प्रतिज्ञा छः प्रकार के कारणों को छोड़कर है। यदि कभी किसी राजा के आग्रह से, समुदाय के आग्रह से, किसी बलवान् चोर-दुष्ट आदि के आग्रह से और आजीविका-निर्वाह करने का संकट तथा प्राणान्त कष्ट के आ जाने से अन्य तीर्थिक संन्यासी या चैत्यों को नमस्कार आदि करना पड़े, तो छूट है। यह मेरा सम्यक्त्वव्रत (पालन का अभिग्रह) द्रव्य से-अन्य दर्शनी को वन्दन आदि न करने की अपेक्षा से है,

क्षेत्र से-मध्यखंड तक, काल से-यावज्जीवन के लिए, भाव से-सन्निपातादि रोगों द्वारा ग्रसित न हो जाऊँ, सम्यक्त्व पालन के परिणाम से पतित न हो जाऊँ, तब तक है।

❁ सम्यक्त्वव्रत की प्रतिज्ञा करवाने के अनन्तर गुरू व्रतग्राही के मस्तक पर वासचूर्ण डालें। उसके बाद आसन पर विराजमान होकर पंचपरमेष्ठी आदि सात मुद्राओं से अक्षतों को अभिमंत्रित करें। अक्षतों को अभिमंत्रित करते हुए उस पर 'ॐ ह्रीँ श्रीँ' इन अरिहंत बीजपदों को हाथ से लिखें। फिर अभिमन्त्रित वासचूर्ण का जिनबिंब के चरणों में निक्षेप करें।

❁ तदनन्तर सम्यक्त्व व्रतधारी सात बार खमासमणसूत्र पूर्वक वंदन करें। • पहले खमासमण द्वारा सम्यक्त्व-सामायिक एवं श्रुत-सामायिक को आरोपित करने का निवेदन करें। • दूसरे खमासमण द्वारा व्रत ग्रहण किया है, उस विषय में कुछ कहने की अनुमति लें। • तीसरे खमासमण द्वारा बोलें– हे भगवन्! आपने मुझमें सम्यक्त्व-सामायिक एवं श्रुत-सामायिक को आरोपित किया है? तब गुरू कहे-हाँ। मैंने तुममें दोनों प्रकार के सामायिक को आरोपित किया है। इसी के साथ **खमासमणाणं हत्थेणं सुत्तेणं अत्थेणं तदुभएणं सम्मं धारणीयं चिरं पालणीयं-** पूर्वकालीन क्षमाश्रमणों के हाथ से यानी गीतार्थ परम्परा से प्राप्त सूत्र द्वारा, अर्थ द्वारा, सूत्रार्थ द्वारा इस व्रत को सम्यक् प्रकार से धारण करना और इसका चिरकाल तक पालन करना। इस प्रकार मंगल वचन कहें। • चौथे खमासमण द्वारा अन्य साधुओं को व्रत ग्रहण के विषय में कहने की अनुमति लें। • पाँचवें खमासमण द्वारा प्रत्येक बार एक-एक नमस्कारमन्त्र का स्मरण करते हुए समवसरण की तीन प्रदक्षिणा दें। उस प्रदक्षिणा के समय व्रतग्राही के मस्तक पर गुरू वासचूर्ण का एवं संघ(श्रावक-श्राविका) अक्षत का क्षेपण करें। यहाँ वासचूर्ण प्रदान करते हुए गुरू भगवन्त 'तुम महान् गुणों द्वारा वृद्धि को प्राप्त करो और संसार-सागर से पार उतरो' ऐसा मंगलवचन बोलें। • छठें खमासमण द्वारा कायोत्सर्ग करने की अनुमति लें। • सातवें खमासमण द्वारा सत्ताईस श्वासोश्वास-परिमाण एक लोगस्ससूत्र का चिन्तन करें।

❁ फिर शुभलग्न का समय आने पर अथवा व्रतदंडक का उच्चारण करवाते समय शुभलग्न आ गया हो, तो व्रतग्राही गुरू की तीन प्रदक्षिणा दें और गुरू निम्न गाथा को तीन बार बुलवाएं-

इय मिच्छाओ विरमिय, सम्मं उवगम्म भणइ गुरूपुरओ ।
अरहंतो निस्संगो, मम देवो दक्खिणासाहू ।।

उसके बाद सम्यक्त्वव्रत ग्रहण किया हुआ श्रावक यथाशक्ति एकासन आदि-तप का प्रत्याख्यान करें। फिर गुरू को धर्मोपदेश देने का निवेदन करें। तब गुरू मनुष्य की दुर्लभता, सम्यक्त्व की महिमा अथवा पर्षदानुरूप धर्म-प्रवचन करें।

❁ उसके बाद गुरू व्रतग्राही को अभिग्रह दिलाएं। उसमें सम्यक्त्व-व्रतधारी के लिए करणीय-अकरणीय कृत्यों की प्रतिज्ञा और मर्यादाएँ करवाते हैं। उस दिन सम्यक्त्वव्रतधारी को यथाशक्ति साधर्मीवात्सल्य करना चाहिए तथा सुविहित साधुओं को वस्त्रादि का दान करना चाहिए।

तपागच्छ परम्परा में सम्यक्त्वव्रत-आरोपणविधि लगभग पूर्ववत् सम्पन्न की जाती है, केवल देववन्दन के सूत्रपाठों एवं स्तुतिसंख्या को लेकर भिन्नता है। इनमें चैत्यवंदन के रूप में 'ऊँ नमः पार्श्वनाथाय' का पाठ बोलते हैं, 'अरिहाणस्तोत्र' के स्थान पर 'पंचपरमेष्ठी' का स्तोत्र कहते हैं और स्तुतियों में 'अर्हंस्तनोतु सश्रेयः' की तीन एवं शांतिनाथ, द्वादशांगी, श्रुतदेवता, शासनदेवता, समस्त वैयावृत्यकर देवता-ऐसे कुल आठ स्तुतियाँ बोलते हैं। इनमें नंदीसूत्र के स्थान पर तीन नमस्कारमन्त्र सुनाने की भी परिपाटी है।[113]

अचलगच्छ, पायच्छंदगच्छ (मन्नागपुरीयबृहत्तपागच्छ), त्रिस्तुतिकगच्छ (सौधर्मबृहत्तपागच्छ) आदि परम्पराओं में यह विधि सामान्य अन्तर के साथ पूर्ववत् ही करवाई जाती है। हमें इस सम्बन्ध में प्रामाणिक ग्रन्थ तो देखने को नहीं मिले हैं, किन्तु अचलगच्छीय आचार्य श्रीगुणसागर सूरीश्वरजी म.सा. तथा पायच्छंदगच्छीय प्रवर्त्तिनी साध्वी श्री ऊँकारश्रीजी म.सा. से जानकारी प्राप्त कर यह लिखा गया है।

स्थानकवासी-तेरापंथी आम्नाय में यह विधि अति संक्षेप में करवाई जाती है। हमें इस परम्परा से सम्बन्धित भी कोई कृति देखने को नहीं मिली है, किन्तु प्रचलित परम्परा के अनुसार इतना निश्चित है कि इनमें नन्दीरचना, प्रदक्षिणा, वासदान, देववन्दन आदि के विधान नहीं होते हैं।

वन्दना, अभिग्रह आदि सामान्य अनुष्ठानपूर्वक सम्यक्त्वव्रत का प्रतिज्ञा पाठ उच्चारित करवाया जाता है।

दिगम्बर परम्परा में इस व्रत सम्बन्धी किसी तरह की जानकारी अनुसंधान के उपरान्त भी प्राप्त नहीं हो पाई है। यद्यपि दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में सम्यक्त्व ग्रहण करने सम्बन्धी उल्लेख हैं।

सम्यक्त्वव्रतारोपण सम्बन्धी विधि-विधानों के प्रयोजन

सम्यक्त्वव्रत ग्रहण करते एवं करवाते समय कुछ अनुष्ठान किए जाते हैं। जैसे-जिनबिंब की पूजा करना, ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करना, अक्षत भरी अंजलीपूर्वक प्रदक्षिणा देना, प्रदक्षिणा में नमस्कारमन्त्र का स्मरण करना, सम्यक्त्व-सामायिक के साथ श्रुतसामायिक का ग्रहण करना, वासचूर्ण अभिमन्त्रित करना, व्रतग्राही के मस्तक पर वासचूर्ण का क्षेपण करना, देववन्दन करना, व्रतग्राही को बायीं ओर बिठाना, शांतिनाथ आदि देवी-देवताओं की कायोत्सर्गपूर्वक आराधना करना, व्रतग्रहण के पूर्व और पश्चात् लोगस्ससूत्र का कायोत्सर्ग करना, अवनतमुद्रा में व्रतदंडक धारण करना, सात बार थोभवंदन करना, तप का प्रत्याख्यान करना आदि। इन क्रियाओं को किन उद्देश्यों से करते हैं? इस पर सामान्य प्रकाश डालना अपेक्षित है।

व्रत ग्रहण के दिन जिनबिम्ब की पूजा क्यों?– किसी भी व्रत को स्वीकार करने से पूर्व व्रतग्राहियों के लिए जिनबिम्ब की यथाशक्ति पूजा-भक्ति करना एक आवश्यक अंग माना गया है। क्योंकि जिनेश्वर परमात्मा की पूजा करने से तन-मन और चित्त तीनों ही स्वस्थ रहते हैं, बिम्ब के विशुद्ध परमाणुओं का स्पर्श होने से भावनाओं पर विशेष प्रभाव पड़ता है, फलस्वरूप हृदय का भावोल्लास बढ़ जाता है और वह भावोल्लास व्रतग्राही के लिए अनन्त अशुभकर्मों की निर्जरा का हेतु बनता है। इससे व्रतपालन में मन का स्थैर्य बना रहता है।

दूसरा कारण यह है कि व्यक्ति जिस व्रत की प्रतिज्ञा हेतु उद्यत हुआ है, उसकी निर्विघ्न साधना के लिए उपकारियों का स्मरण, पूजन एवं वंदन करना नैतिक-कर्त्तव्य भी बनता है। यह बात व्यवहार-जगत् में भी देखी जाती है। चाहे साधारण व्यक्ति ही क्यों न हो, वह भी माता-पिता, गुरू आदि पूज्यजनों का आशीर्वाद लेकर श्रेष्ठ कार्य करने की इच्छा रखता है,

तब व्रतग्रहण तो उसकी अपेक्षा अत्यन्त श्रेष्ठ है।

यह अनुष्ठान व्रत संकल्प को स्थायित्व प्रदान करने एवं व्रतपालन के प्रति हर पल सजगता को टिकाए रखने के प्रयोजन को लेकर भी किया जाता है, क्योंकि जिनप्रतिमा की सेवा-पूजा करने से वैचारिक प्रदूषण दूर होता है और विचार निर्मल बनते हैं, जो धर्मसाधना की सफलता का मुख्य आधार है।

अक्षतभरी अंजलि द्वारा प्रदक्षिणा क्यों?– सम्यक्त्वव्रत ग्रहण करने के पूर्व अक्षत(चावल) से भरी हुई अंजलीसहित प्रदक्षिणा देने का प्रयोजन यह है कि वह व्रतग्राही प्रभु-प्रतिमा के सम्मुख यह चिन्तन एवं प्रार्थना करें कि हे भगवन् ! जिस प्रकार मेरी अंजली में अक्षत डाले गए हैं, उसी प्रकार मेरी सम्यक्त्वव्रत-पालन की मनोभावना भी अखण्ड रहे।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि जो वीतरागी हैं, सर्वज्ञ हैं, न किसी को कुछ देते हैं और न किसी से कुछ लेते हैं, न बोलते हैं और न सुनते हैं, उस जिनबिम्ब के समक्ष अन्तर्भावना को अभिव्यक्त करने का क्या प्रयोजन? यह मनोवैज्ञानिक सिद्धांत है कि व्यक्ति की भावनाएँ इच्छित स्थल तक अवश्य पहुँचती हैं और वहाँ तक भावनाओं का पहुँचना ही मन-परिवर्तन का एक आधार है। दूसरा यह है कि हमें अपनी भावनाएँ उनके समक्ष ही प्रस्तुत करनी चाहिए, जिनमें वे गुण रहे हुए हों। चूंकि जिनबिम्ब में प्राण प्रतिष्ठा द्वारा सजीवत्व की कल्पना करके प्राणों का आरोपण किया जाता है, उस दृष्टि से जिनबिम्ब में अरिहंत के सभी गुण समाए होते हैं। यह बात अनुमान-प्रमाण या शब्द-प्रमाण से ही सिद्ध की जा सकती है, अत: जिनबिम्ब के समक्ष प्रार्थना करना सर्वथोचित है।

समवसरण की प्रदक्षिणा क्यों?– समवसरण की तीन प्रदक्षिणा देने का उद्देश्य यह है कि सम्यक्त्वव्रतधारी जन्म-जरा-मरण से मुक्त बनें और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप धर्म की सम्प्राप्ति करें। नमस्कारमन्त्र का स्मरण करते हुए प्रदक्षिणा देने का हार्द यह है कि महान् पुरूषों के प्रति अपने-आपको समर्पित करते हुए एवं उनके गुणों का स्मरण करते हुए उत्तम कार्य के लिए आगे बढ़ें। यह अनुभूतिजन्य है कि पूज्यों के प्रति रहा हुआ समर्पण भाव एवं उनके गुणों का किया गया स्मरण व्यक्ति

की साधना को निश्चित ऊँचाईयों तक पहुँचाता है।

सम्यक्त्वसामायिक-श्रुतसामायिक का युगपत् ग्रहण क्यों?- सम्यक्त्वसामायिक और श्रुतसामायिक-दोनों एक साथ ग्रहण करने का प्रयोजन यह है कि द्रव्यसम्यक्त्व की प्राप्ति तो संभवतया द्रव्य-क्रियाओं के आधार पर हो सकती है, किन्तु भावसम्यक्त्व की उत्पत्ति विशुद्धज्ञान (श्रुतज्ञान) के आधार पर ही होती है और भावसम्यक्त्व की प्राप्ति हुए बिना भावचारित्र की उपलब्धि नहीं हो सकती तथा भावचारित्र के बिना मोक्ष की प्राप्ति असंभव है। इस प्रकार साध्य(मोक्ष) की उपलब्धि के लिए साधन (सम्यकदर्शन-सम्यकज्ञान) का युगपत् होना अनिवार्य है अत: दर्शन एवं ज्ञान का आरोपण एकसाथ किया जाता है।

व्रत ग्रहण के प्रारम्भ में ईर्यापथिक प्रतिक्रमण क्यों?- जैन परम्परा में ईर्यापथ प्रतिक्रमण धार्मिक क्रियाकलापों का एक आवश्यक तत्त्व माना गया है। आध्यात्मिक अनुष्ठान हो या धार्मिक-क्रियाकलाप, व्रतग्रहण का प्रसंग हो या उपधानतप का अवसर, अधिकांश धार्मिक क्रियाएँ ईर्यापथ प्रतिक्रमण द्वारा प्रारंभ होती हैं। इस क्रिया का उद्देश्य एक ओर साधक को हिंसाजनक प्रवृत्तियों से दूर रखना है, तो दूसरी ओर ज्ञात-अज्ञात में हुई हिंसात्मक प्रवृत्तियों द्वारा लगे हुए पाप कर्मों से आत्मा को ऊँचा उठाना है।

स्वरूपतया ईर्यापथ प्रतिक्रमण द्वारा गमनागमन में लगे हुए दोषों, अर्थात् एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक जीवों को किसी भी प्रकार से कष्ट पहुँचाया हो, उन पाप क्रियाओं से पश्चाताप पूर्वक विरत हुआ जाता है। प्राय: दोषों की संभावनाएँ शारीरिक हलन-चलन और मानसिक- दुर्विचार पर ही अवलम्बित होती हैं। इस क्रिया के माध्यम से पापबद्ध आत्मा शुद्ध बन जाती है, अत: आत्म परिणति को विशुद्ध बनाने एवं पापकर्मों से मुक्त बनने के लिए ईर्यापथिक प्रतिक्रमण किया जाता है।

व्रतग्राही को बायीं ओर क्यों बिठाएँ?- जैन परम्परा में व्रतादि-ग्रहण के समय गुरू व्रतग्राही शिष्य को अपने बायीं ओर बिठाकर ही सर्व क्रियाएँ सम्पन्न करवाते हैं। गुरू के बायीं तरफ बैठना लघुत्वभाव का सूचक है क्योंकि दाहिनी दिशा का स्थान अपेक्षाकृत ऊँचा होता है। इस प्रयोग को व्यावहारिक-तौर पर समझने का प्रयास किया जाए तो यह बात और अधिक

स्पष्ट हो सकती है।

शरीर शास्त्रियों का यह मानना है कि व्यक्ति का बायाँ भाग अधिक ग्रहणशील और सक्रिय होता है। चूंकि हृदय बाँयीं ओर होता है अत: उस दिशा की ओर उपस्थित हुआ साधक गुरूजनों के भावों को तीव्रता से ग्रहण कर सकता है इसलिए व्रतग्राही को बायीं ओर बिठाते हैं।

व्रत आदि अनुष्ठानों में देववन्दन क्रिया क्यों करें?- व्रत ग्रहण के दौरान देववन्दन का विधान तीर्थंकर परमात्मा के प्रति निष्ठा को अभिव्यक्त करने एवं उनके उपकारों का स्मरण करने के प्रयोजन से किया जाता है।

व्रत ग्रहण करते समय देवी-देवताओं की आराधना क्यों?- जैन धर्म की कुछ शाखाओं में व्रतादि ग्रहण के अवसर पर सम्यक्त्वी देवी-देवताओं का स्मरण करते हैं तथा स्तुति गान पूर्वक उनकी आराधना करते हैं। इस प्रक्रिया के पीछे यह हेतु संभव है कि वे समकितधारी होने के साथ-साथ मति आदि तीन ज्ञान के धारक होने से व्रत पालन में सहायक होते हैं।

परम्परागत मान्यता यह है कि सम्यक्त्वी देवी-देवताओं का स्मरण करने से वे आसुरी शक्तियों द्वारा होने वाले उपद्रवों को दूर करते हैं, बाहरी विघ्नों का निवारण करते हैं और प्रसन्न होकर व्रतधारियों के व्रत पालन में सहयोगी बनते हैं।

देवी-देवताओं की आराधना करने का तीसरा उद्देश्य यह माना जा सकता है कि सभी प्रकार के देवी-देवताओं का स्वभावानुसार पृथक्-पृथक् कार्य है जैसे-श्रुतदेवता सद्बुद्धि का प्रेरक है, क्षेत्रदेवता रहने योग्य क्षेत्र का ध्यान रखते हैं, भुवनदेवता अपने कुल की रक्षा करते हैं। इस तरह समग्र देवी-देवताओं के अपने-अपने दायित्वपूर्ण कार्य हैं, अत: आराधना करने से रक्षापालक देवी-देवता प्रसन्न होकर आराधना को निर्विघ्न सम्पन्न करने में सहयोगी बनते हैं।

व्रत ग्रहण काल में दो बार कायोत्सर्ग क्यों?- सम्यक्त्वव्रत स्वीकार करने से पूर्व एक लोगस्ससूत्र का कायोत्सर्ग तन-मन एवं चित्त की भूमिका को विशेष रूप से निर्दोष और निश्छल बनाने के प्रयोजन से किया जाता है तथा व्रत-ग्रहण की समाप्ति पर किया जाने वाला कायोत्सर्ग-व्रत विशेष में स्थिर रहने के निमित्त किया जाता है। इसके अन्य प्रयोजन भी हो सकते हैं।

व्रत ग्रहण हेतु नन्दीरचना आवश्यक क्यों?- नन्दीरचना (विधिपूर्वक तीर्थंकर परमात्मा की प्रतिमा को विराजमान करना) के माध्यम से तीर्थंकर परमात्मा की साक्षात् उपस्थिति का अनुभव किया जाता है। अरिहन्त परमात्मा सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हैं, सब कुछ जानते-देखते हैं। इस प्रकार उनकी ज्ञानरूप उपस्थिति को लक्ष्य में रखने से व्यक्ति व्रत सम्बन्धी स्खलनाओं से सजग बना रहता है और व्रत का नैतिकता पूर्वक आचरण करता है।

अर्द्धावनत मुद्रा में व्रत ग्रहण क्यों?- यह मुद्रा विनय गुण की द्योतक है। विनय से लघुता गुण प्रकट होता है और लघुता से प्रभुता का जन्म होता है। एक प्रसिद्ध दोहा है-

लघुता से प्रभुता मिले, प्रभुता से प्रभु दूर।
जो लघुता धारण करें, प्रभुता आप ही हजूर।।

हमारी समस्त आराधनाओं का मुख्य ध्येय प्रभुता को समुपलब्ध करना है। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि विनम्र व्यक्ति सर्वप्रकार के गुणों को अर्जित कर सकता है। वह मैत्री, करूणा, दया, प्रेम, परोपकार, अहिंसा, आदि अनेक गुणों को विकसित करता हुआ एक दिन शाश्वत् सुख का अधिकारी भी बन जाता है। एक तथ्य यह भी है कि झुके हुए या गहरे पात्र में डाली गई वस्तु अधिक समय तक टिकती है, उसके बाहर बिखरने की संभावनाएँ नहींवत् रहती हैं, उसी प्रकार विनम्र भाव से ग्रहण किया गया व्रत या नियम दीर्घ अवधिपर्यन्त अक्षुण्ण रहता है।

जिनबिम्ब पर वासदान किसलिए?- सम्यक्त्वव्रत, बारहव्रत, उपधान-प्रवेश आदि के दिन व्रत-स्वीकार की विधि करवाते समय गुरू भगवन्त चौमुखी-प्रतिमा के चरणों पर अभिमन्त्रित वासचूर्ण का निक्षेपण करते हैं। यह प्रक्रिया व्रतग्राही एवं पदग्राही की आत्मरक्षा और शरीररक्षा के लिए की जाती है।

वासाभिमन्त्रण क्यों?- वासचूर्ण या अक्षत को अभिमन्त्रित करने का उद्देश्य यह है कि मुद्रा और मन्त्र के प्रयोग से उसमें एक प्रभावी एवं अद्भुत परिवर्तन करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि वास या अक्षत को अभिमन्त्रित करते समय जिन मुद्राओं का प्रयोग किया जाता है, वे मुद्राएँ व्रतग्राही के निर्मल भावों का संपोषण करती हैं तथा जिस मन्त्र विशेष के

स्मरणपूर्वक अभिमन्त्रण की क्रिया की जाती है, वह मन्त्र भी सिद्ध होने से व्रतगाही को शीघता से सिद्धि दिलाने वाला होता है।

वास-अक्षत का आरोपण किस ध्येय से?- सम्यक्त्व व्रत ग्रहण करते समय व्रतग्राही समवसरण की तीन प्रदक्षिणा देता है। उस समय गुरू भगवन्त एवं साधु-साध्वीवर्ग वासचूर्ण का और श्रावक-श्राविकावर्ग अक्षतों का उसके मस्तक पर क्षेपण करते हैं। इसके पीछे कई कारण हैं। प्रथम तो अक्षतों को उछालना एक प्रकार से वर्द्धापन की क्रिया है। यह प्रयोग व्यावहारिक-जगत् में भी देखते हैं। यहाँ बधाने से तात्पर्य है कि उस व्यक्ति ने व्रत ग्रहण करके श्रेष्ठ कार्य किया है, क्योंकि व्रतग्रहण करने वाला बहुत सी पापक्रियाओं से विरत हो जाता है, अनावश्यक हिंसाओं का त्याग कर देता है और अनन्त जीवों को अभय दान देता है, इत्यादि कई प्रकार के गुणों का संग्रह करने वाला होने से वह महान् व्यक्तियों की कोटि में आ जाता है।

दूसरा तथ्य यह है कि सकल संघ और जिनबिम्ब की साक्षी में वासचूर्ण एवं अक्षत डालने का यह प्रयोग व्रतग्राही के मन को दृढ़ बनाता है। प्रारम्भ में व्रतग्रहण का अधिकारी कौन हो सकता है ? उस चर्चा में व्रतग्राही के जो गुण बताए गए हैं, उन गुणों से युक्त गृहस्थ के लिए प्रतिज्ञा को खण्डित कर देना बिना पापोदय के संभव नहीं है, फिर संघ के समक्ष ग्रहण की गई प्रतिज्ञा को भंग करना और भी सहज नहीं होता है।

तीसरे तथ्य के अनुसार जिस प्रकार छिलका रहित अक्षत पुनः नहीं उग सकता उसका पुनर्जन्म समाप्त हो जाता है। उसी प्रकार व्रतनिष्ठा के माध्यम से व्रतग्राही जन्म-मरणरूप परम्परा का विच्छेद कर अक्षतपद (मोक्षपद) को समुपलब्ध करें, इन भावों से भी अक्षतों का निक्षेपण किया जाता है।

इस सम्बन्ध में जैनसंघ के लोगों में यह अवधारणा भी है कि गुरूजनों द्वारा मस्तक पर वासचूर्ण डलवाया जाए, तो सद्बुद्धि का विकास होता है, सभी कार्य निर्विध्नतया सम्पन्न होते हैं, इच्छित कार्य शीघ्रमेव फलते हैं, मानसिक शांति में वृद्धि होती है तथा चित्त विकल्पों से रहित होता है।

श्वेताम्बर-मूर्तिपूजक की वर्तमान परम्परा में वास प्रदान करने का प्रचलन दिनानुदिन बढ़ता जा रहा है। सामान्य कार्य की सफलता के लिए भी वास ग्रहण करना साधारण-सी बात हो गई है, जबकि सत्यार्थ यह है

कि व्रतविशेष, तपविशेष या पदविशेष के प्रसंगों पर ही वासचूर्ण का प्रयोग किया जाना चाहिए। वर्तमान स्थिति को देखते हुए लगता है कि यह मुनियों के लिए एक आवश्यक कर्त्तव्य-सा हो गया है। आम लोगों का बढ़ता हुआ विश्वास देखकर कईं बार 'देना पड़ेगा'-इस वजह से भी वासदान किया जाता है। वासचूर्ण डालने का एक प्रयोजन यह भी समझ में आता है कि जिस प्रकार इस चूर्ण की सुगंध सर्वत्र फैल रही है, उसी प्रकार व्रतधारी का जीवन भी सुगंधित वास की तरह विकसित बनें और स्वयं के भीतर छिपे हुए शाश्वत आनन्द को समुपलब्ध करें।

धर्मदेशना क्यों सुनें?- तीर्थंकरों के शासनकाल से यह परम्परा चली आ रही है कि व्रतदान की समाप्ति के अनन्तर गुरू द्वारा धर्मदशना दी जाए और व्रतग्राही द्वारा यथाशक्ति अभिग्रह, नियम आदि स्वीकार किए जाएं। उस समय पुरूष वर्ग घुटने के बल बैठकर और स्त्रियाँ खड़ी होकर धर्मदेशना सुनें। समवसरण में भी स्त्रियाँ खड़ी रहती हैं।

विधिमार्गप्रपा में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है। इसका मुख्य कारण स्थान को पवित्र बनाए रखना, स्त्रियों की सुन्दरता आदि देखकर तज्जनित काम-वासनाओं से मुक्त रहना तथा ब्रह्मचर्य-व्रत को परिपुष्ट करना आदि है।

साधर्मीवात्सल्य किस हेतु से?- व्रतग्रहण के दिन व्रतग्राही या उनके कुटुम्बीवर्ग द्वारा यथाशक्ति स्वधर्मीवात्सल्य का आयोजन किया जाना चाहिए। इसका प्रयोजन सकल संघ एवं समस्त बन्धुवर्ग के प्रति आत्मीयता, मित्रता, सौहार्द्रता आदि गुणों को प्रकट करना एवं व्रत ग्रहण के आनंद को अभिव्यक्त करना है।

व्रत ग्रहण के दिन प्रत्याख्यान क्यों?- व्रत ग्रहण के दिन व्रतग्राही आयंबिल या उपवासादि तप का प्रत्याख्यान करता है। इसके पीछे मुख्य ध्येय व्रत को दृढ़ता के साथ ग्रहण करने एवं कठोरता के साथ पालन करने का माना गया है। दूसरा ध्येय यह है कि व्रत के साथ तप का सुमेल हो, तो वह व्रत अधिक स्थाई, प्रभावी एवं फलदायी बनता है। तीसरा कारण साधक की मनोभूमिका से सम्बन्धित हो सकता है। वह यह है कि तप पूर्वक व्रत ग्रहण करने से उसकी मनोभूमि पर ये संस्कार स्थाई बन जाते हैं और

वह साधक भी प्राणप्रण से गृहीतव्रत का अनुपालन करता है।

इस तरह हम देखते हैं कि इस व्रतारोपण से सम्बन्धित सभी विधि-विधान उद्देश्यपूर्ण और विशिष्ट तथ्यों से समन्वित हैं।

तुलनात्मक विवेचन

यदि सम्यक्त्वव्रतारोपण-विधि का तुलना की दृष्टि से अध्ययन करें तो हमारे समक्ष मुख्य रूप से तिलकाचार्य सामाचारी(12वीं शती) श्रीचन्द्रसूरिकृत सुबोधासामाचारी(14वीं शती), जिनप्रभसूरिकृत विधिमार्गप्रपा (14 वीं शती), वर्धमानसूरिरचित आचारदिनकर (15वीं शती) आदि ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं।

इस शोधकार्य में इन्हीं ग्रन्थों को मुख्य रूप से आधार बनाया है। इनके अतिरिक्त आचार्य हरिभद्ररचित पंचाशक, षोडशक, पंचवस्तुक आदि कुछ अन्य ग्रन्थ भी इस विषय का सम्यक प्रतिपादन करते हैं। विधि-विधान का प्रामाणिक, मौलिक एवं सुव्यवस्थित स्वरूप इन्हीं ग्रन्थों में प्राप्त होता है। इनके आधार पर सम्यक्त्व व्रतारोपण संस्कार विधि का तुलनापरक विवेचन इस प्रकार है-

व्रत अलापक की अपेक्षा- तिलकाचार्यसामाचारी एवं आचारदिनकर में आलापकपाठ के साथ 'नंदिकरणत्थं-नंदिकड्ढावणियं' यह शब्द भी प्रयुक्त हुआ है, जबकि विधिमार्गप्रपा और सुबोधासामाचारी में इस शब्द का प्रयोग नहीं है। यह अन्तर स्वपरम्परा या कालक्रम में आए परिवर्तन की अपेक्षा से है।

वासाभिमन्त्रण की अपेक्षा- तिलकाचार्यसामाचारी वासचूर्ण को वर्धमानविद्या द्वारा सात बार अभिमन्त्रित करने का निर्देश करती हैं।[114] सुबोधासामाचारी में किसी भी मन्त्र का नाम निर्देश नहीं हुआ है।[115] विधिमार्गप्रपा[116] में सूरिमन्त्र या वर्धमानविद्या से अभिमन्त्रित करने का निर्देश है, किन्तु वह अभिमन्त्रण की प्रक्रिया कितनी बार की जानी चाहिए? इस सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं है तथा आचारदिनकर में सूरिमन्त्र या गणधरविद्या से वास को अभिमन्त्रित करने का उल्लेख किया है।[117]

यहाँ वासचूर्ण को अभिमन्त्रित करने के सम्बन्ध में मन्त्र एवं संख्या को लेकर जो भेद दिखाई देता है, वह भी सामाचारियों की भिन्नता का ही

परिणाम है। पूर्व परम्परानुसार वास-अभिमन्त्रण की प्रक्रिया तीन या सात बार की जानी चाहिए तथा व्रतप्रदाता उपाध्याय हो, तो उन्हें वर्धमानविद्या द्वारा और आचार्य हो, तो उन्हें सूरिमन्त्र द्वारा वासचूर्ण अभिमन्त्रित करना चाहिए, क्योंकि वे उस मन्त्र के आराधक होते हैं।

स्तुतिदान की अपेक्षा- तिलकाचार्यकृत सामाचारी में बढ़ती हुई चार स्तुतियों के साथ शांतिनाथ भगवान, श्रुतदेवता, शासनदेवता एवं समस्त वैयावृत्यकर-देवता ऐसी कुल आठ स्तुतियों के साथ देववन्दन करने का उल्लेख है।[118] यहाँ 'बढ़ती हुई स्तुतियों' का अर्थ है-जिनमें स्वर और अक्षर क्रमशः बढ़ते हुए हों। इसका दूसरा नाम 'वर्द्धमानस्तुति' है क्योंकि ये स्तुतियाँ वर्धमान स्वामी से सम्बन्धित हैं। सुबोधासामाचारी में उक्त आठ स्तुतियों के साथ द्वादशांगी देवता के नाम का भी उल्लेख है। इस प्रकार इसमें नौ स्तुतियों के साथ देववन्दन करने का निर्देश है।[119] विधिमार्गप्रपा में कुल अठारह स्तुतियों के साथ देववन्दन करने का निर्देश है। इन अठारह स्तुतियों में से पहली वर्द्धमानस्वामी की, दूसरी चौबीस तीर्थंकर की, तीसरी श्रुतज्ञान की, चौथी सम्यक्त्वी देवी-देवतओं की। फिर क्रमशः श्री शांतिनाथ, शांतिदेवता, श्रुतदेवता, भुवनदेवता, क्षेत्रदेवता, अंबिकादेवी, पद्मावतीदेवी, चक्रेश्वरीदेवी, अच्छुप्तादेवी, कुबेरदेवता, ब्रह्मशांतिदेवता, गोत्रदेवता, शक्रादि वैयावृत्यकरदेवता और शासनदेवता की बोली जाती है।[120]

आचार्य जिनप्रभसूरि ने विधिमार्गप्रपा में यह भी उल्लेख किया है कि अम्बिका देवी तक की स्तुतियाँ सभी को अवश्य बोलनी चाहिए, शेष के लिए कोई नियम नहीं है। साथ ही पद्मावतीदेवी को खरतरपरम्परा की गच्छदेवी के रूप में स्वीकार किया है, अतः उनकी स्तुति बोलना भी आवश्यक माना है।

आचारदिनकर में बढ़ती हुई चार स्तुतियाँ, शान्तिनाथ, श्रुतदेवता, क्षेत्रदेवता, भुवनदेवता, शासनदेवता और शक्रादि वैयावृत्यकरदेवता-इन दस की स्तुतियाँ बोलने का सूचन है।[121]

स्तोत्रपाठ की अपेक्षा- सुबोधासामाचारी, विधिमार्गप्रपा[122] एवं आचारदिनकर में परम्परागत रूप से देववंदन के समय 'अरिहाण' नामक स्तोत्र बोला जाना चाहिए-ऐसा निर्देश है, जबकि तिलकाचार्य सामाचारी में

इस स्तोत्र के साथ पाँच गाथाओं का अन्य स्तोत्र भी उल्लिखित है।[123] विधिमार्गप्रपा में भी वैकल्पिक रूप से पंचपरमेष्ठीस्तव बोलने का निर्देश किया गया है।

व्रतदंडक की अपेक्षा- तिलकाचार्य सामाचारी[124] में व्रतग्रहण का पाठ कुछ अन्तर के साथ प्राप्त होता है और आचारदिनकर[125] में सम्यक्त्वव्रतग्रहण के दो पाठ दिए गए हैं लगभग एक पाठ स्वयं के द्वारा ग्रहण करने की अपेक्षा से है और दूसरा पाठ गुरू द्वारा ग्रहण करवाने की अपेक्षा से है। सुबोधासामाचारी[126] एवं विधिमार्गप्रपा[127] में व्रत ग्रहण का पाठ समान है।

मुद्रासंख्या की अपेक्षा- तिलकाचार्य सामाचारी[128] के अनुसार वासचूर्ण अभिमन्त्रित करते समय बारह मुद्राओं का प्रयोग किया जाना चाहिए। विधिमार्गप्रपा के अनुसार वास को सात मुद्राओं द्वारा संस्कारित करना चाहिए[129], जबकि सुबोधासामाचारी एवं आचारदिनकर में तत्सम्बन्धी कोई निर्देश नहीं है।

इस तुलनात्मक विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि सम्यक्त्व व्रतारोपण विधि को लेकर तत्सम्बन्धी ग्रन्थों में जो भी मतभेद हैं, वे मूलत: परम्परागत सामाचारी से ही सम्बन्धित हैं।

यदि सम्यक्त्वव्रतारोपण विधि की दिगम्बर-परम्परा के साथ तुलना की जाए, तो अवगत होता है कि दिगम्बर-परम्परा के आदिपुराण में व्रतावतरण नामक संस्कार अनिवार्य रूप से स्वीकारा गया है, किन्तु उसमें सम्यक्त्वव्रत ग्रहण को समाहित नहीं किया है। इस व्रतावतरण में हिंसादि पाँच स्थूल पापों का त्याग करने का निर्देश है। इससे सिद्ध होता है कि विक्रम की 9वीं-10वीं शती तक इस विधि का सुनियोजित स्वरूप प्रचलित नहीं हो पाया था, क्योंकि दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में सम्यक्त्वग्रहण सम्बन्धी उल्लेख मिलते हैं और साधना मार्ग में प्रवेश पाने के लिए सम्यक्त्व(श्रद्धा) गुण को अपरिहार्य माना है।

यदि प्रस्तुत व्रतारोपणविधि की वैदिक परम्परा के साथ तुलना की जाए, तो वैदिक-मत में यह चर्चा श्रद्धातत्त्व के रूप में परिलक्षित होती है। गीता में श्रद्धा शब्द का अर्थ प्रमुख रूप से ईश्वर के प्रति अनन्य निष्ठा किया

है। इसमें श्रद्धा के विभिन्न प्रकार हैं। यहाँ श्रद्धा कुछ पाने के लिए की जाती है। गीता में स्वयं भगवान् के द्वारा अनेक बार यह आश्वासन दिया गया है कि जो मेरे प्रति श्रद्धा रखेगा, वह बन्धनों से छूटकर अन्त में मुझे ही प्राप्त होगा। इस प्रकार भक्त कल्याण की जिम्मेदारी स्वयं भगवान् ही वहन करते हैं, जबकि जैन और बौद्ध-दर्शनों में ऐसे आश्वासनों का अभाव है। यद्यपि वैदिक अभिप्राय से व्यक्ति की जैसी श्रद्धा होती है, वह वैसा ही बन जाता है। व्यक्तित्व का निर्माण जीवन दृष्टि के आधार पर होता है। यहाँ सम्यक्त्वव्रत के सम्बन्ध में यही चर्चा उपलब्ध होती है।

यदि बौद्ध-परम्परा के अभिप्राय से कहा जाए, तो उनमें यह प्रक्रिया त्रिशरण-ग्रहण कही जाती है। डॉ. सागरमलजी जैन के अनुसार इसमें व्यक्ति बुद्ध, धर्म और संघ की शरण को अंगीकार करता है।

उपसंहार

यदि सम्यक्त्व व्रतारोपण विधि का समीक्षात्मक दृष्टि से अध्ययन करें तो यह कहा जा सकता है कि सम्यक्त्व एक आध्यात्मिक स्थिति है। आत्मा का समभाव या स्वस्वरूप में निमग्न रहना ही सम्यक्त्व का लक्षण है। प्राचीन आगमों में सम्यक्त्व या सम्यग्दर्शन का प्रयोग आत्मा के ज्ञाता-द्रष्टाभाव या साक्षीभाव की स्थिति में रहने के अर्थ में हुआ है। इस आधार पर यदि हम कहें तो सम्यक्त्वव्रत का आरोपण नहीं होता, उसका तो अभिव्यक्तिकरण या प्रगटीकरण होता है। वह बाहर से आरोपित नहीं किया जाता, अपितु आत्मा के स्वस्वरूप के विकास का ही परिणाम है। किन्तु जब सम्यग्दर्शन शब्द अपने श्रद्धापरक अर्थ में रूढ़ हुआ तब फिर चाहे तत्त्वश्रद्धा हो या देव-गुरू-धर्म के प्रति श्रद्धा हो, उसके आरोपण की विधि अस्तित्व में आई और सुदेव, सुगुरू, सुधर्म पर व्यक्ति की श्रद्धा को आरोपित करने का प्रयत्न किया गया।

विश्व की प्रत्येक साधना पद्धति अपने श्रद्धालु वर्ग से ही पहचानी जाती है और इसलिए हर साधना पद्धति अपने आराध्य के प्रति निष्ठा को मजबूत बनाने का प्रयत्न करती है। किसी आराध्य विशेष के प्रति अपनी निष्ठा या श्रद्धा की अभिव्यक्ति किसी न किसी रूप में विश्व के सभी धर्मों में पायी जाती है। उस निष्ठा का प्रस्तुतीकरण ही जैन धर्म में सम्यक्त्व

आरोपण के रूप में जाना जाता है इसे श्रद्धानग्रहण भी कहा गया है।

जिस प्रकार बौद्धधर्म में धर्मसंघ और बुद्ध के प्रति निष्ठा की अभिव्यक्ति को अर्थात उनकी शरण स्वीकार करने को धर्मसंघ में प्रविष्टि का आधार माना गया उसी प्रकार जैन धर्म में सुदेव-सुगुरू-सुधर्म के प्रति अथवा अरिहंतदेव, निर्ग्रन्थ गुरू और अहिंसामय धर्म के प्रति अपनी निष्ठा को व्यक्त करना ही सम्यक्त्वारोपण के रूप में या सम्यक्त्व ग्रहण के रूप में स्वीकृत किया गया है।

किसी भी धर्म के दो पक्ष होते हैं। एक बाह्य और दूसरा आन्तरिक। वैसे तो जैन धर्म में सम्यकत्व प्राप्ति का आधार तीव्रतम क्रोध, मान, माया एवं लोभमय प्रवृत्तियों की समाप्ति एवं मिथ्यात्व दृष्टिकोण से विरक्ति होने को माना गया है, किन्तु यह व्यक्ति की आन्तरिक स्थिति है। बाह्य अभिव्यक्ति के लिए सम्यक्त्वव्रत का आरोपण करना आवश्यक रूप में स्वीकारा गया है। जैन धर्म के आचार प्रधान होने के कारण कुछ विशिष्ट नियमों का पालन करने और अरिहंत परमात्मा में अपनी श्रद्धा को अभिव्यक्त करने के रूप में सम्यक्त्व आरोपण के कुछ विधि-विधान निर्मित हुए। इन विधि-विधानों में प्रथम तो सप्त दुर्व्यसनों के त्याग एवं अष्ट मूलगुणों की स्वीकृति के साथ जैन धर्म में अपनी निष्ठा की शाब्दिक अभिव्यक्ति को ही सम्यक्त्व आरोपण विधि के रूप में स्वीकार किया गया था किन्तु कालान्तर में विविध सम्प्रदायों में तत्सम्बन्धी विधि-विधान में आंशिक परिवर्तन भी हुए।

प्रस्तुत विवेचन में हमने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि सम्यक्त्वव्रतारोपण में उस प्रक्रिया को लेकर जो विविधताएँ आयी, वे देशकालगत परिस्थितियों एवं सहवर्ती परम्पराओं के प्रभाव के कारण आयीं, यद्यपि मूल लक्ष्य में कोई परिवर्तन नहीं आया। मूल लक्ष्य तो यही रहा कि व्यक्ति की निष्ठा सद्धर्म के प्रति अविचल रहें।

त्रिशरण-ग्रहण की प्रक्रिया जैन परम्परा के त्रिनिश्चय की प्रक्रिया से थोड़ी भिन्न है। उसमें संघ के स्थान पर गुरू का स्थान है। दूसरा, उसमें समर्पण नहीं, वरन् स्वीकृति है। जैन दर्शन में अरिहंत, सिद्ध, साधु एवं

धर्म की शरण ग्रहण करने की परम्परा तो है, लेकिन साधना के क्षेत्र में प्रविष्टि के लिए जो आवश्यक है, वह अभिस्वीकृति है। वर्तमान युग में

सम्यक्त्व-ग्रहण की प्रक्रिया साम्प्रदायिक मान्यताओं की आग्रहवृत्ति के रूप में रूढ़ हो गई है। मूलत: इसमें साम्प्रदायिक-अभिनिवेश का अभाव है। यह तो वस्तुत: साधना आदर्श, साधना के पथ प्रदर्शक और साधनामार्ग का चयन है। साधना के प्रारम्भ में इन त्रिनिश्चयों का ग्रहण इसलिए आवश्यक है कि आचरण के क्षेत्र में साधक कहीं भटक न जाए। जिस पथिक को अपने लक्ष्य और गन्तव्य मार्ग का परिज्ञान न हो, जिसके साथ कोई मार्गदर्शक न हो, वह क्या निर्विघ्न यात्रा कर पाएगा? इसी प्रकार जिस साधक को अपने आदर्श का बोध न हो, जो साधना के सम्यक्-पथ से अनभिज्ञ हो और जिसके साथ कोई पथ-प्रदर्शक न हो, वह कैसे साधना कर पाएगा? जैन विचारकों ने इसी तथ्य को सामने रखकर गृहस्थ साधक द्वारा सम्यक्-दिशा में आगे बढ़ने के लिए आदर्श के रूप में देव, साधना-पथ के रूप में धर्म और मार्गदर्शक के रूप में गुरू का चयन आवश्यक माना है।

इस तरह सम्यक्त्व-व्रत की अवधारणा प्रकारान्तर या अर्थान्तर के साथ तुलनीय-परम्पराओं में अवश्य रही हुई है।

उक्त विवरण के आधार पर यह भी सुसिद्ध है कि सम्यक्त्व अर्थात सम्यक आचरण यही एक सुदृढ़ एवं सुसंस्कृत समाज का मूल आधार है। इसी की नींव पर श्रमणाचार एवं श्रावकाचार की बहुमंजिला इमारत खड़ी होती है तथा मोक्ष प्राप्ति की यात्रा प्रारंभ होती है।

सन्दर्भ सूची

1. *तत्त्वार्थसूत्र, 1/2*
2. *उत्तराध्ययनसूत्र, 28/15*
3. *समयसार, 271. 11*
4. *पुरूषार्थसिद्धयुपाय, गा.-20-21*
5. *विशेषावश्यकभाष्य, 1787-90*
6. *उत्तराध्ययनसूत्र, 28/15*
7. *सम्मदिट्ठि अमोहो सोही, सब्भाव दंसणं बोही।*
   अविवज्जओ सुदिट्ठित्ति, एवमाई निरूत्ताइं।।
   आवश्यकनिर्युक्ति, 861
8. *आचार्य हरिभद्र के ग्रन्थों में श्रावकाचार, अपर्णा चाणोदिया, पृ.-101*

9. आचारांगसूत्र, 3/8/29
10. तत्त्वार्थसूत्र, 1/1
11. तत्त्वार्थभाष्य, पृ.-16
12. अभिधानराजेन्द्रकोश, भा.-5, पृ.-2425
13. तत्र सम्यगिति प्रशंसार्थो निपातः समंचेतर्वा भावः।
तत्त्वार्थाधिगमसभाष्य, सूत्र-1 की टीका
14. सम्यगित्युत्पन्नः शब्दो व्युत्पन्नो वा। अंचतेः क्वौ समंचतीति सम्यगिति। अस्यार्थः प्रशंसा। सर्वार्थसिद्धि, 1/1 की टीका
15. राजवार्तिक, 1/2 की टीका
16. प्रशस्तं दर्शनं सम्यग्दर्शनम्। संगतं वा दर्शनं सम्यग्दर्शनम् ।
तत्त्वार्थाधिगमसभाष्य, 1/1 की टीका
17. सर्वार्थसिद्धि, 1/1 की टीका
18. जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक विवेचन पृ.- 49-51
19. समयसार, कलश, 6मूल
20. तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। तत्त्वार्थसूत्र, 1/2
21. जैन दर्शन में सम्यग्दर्शन समालोचनात्मक अध्ययन, अनुसन्धाता विनोदकुमार जैन, शोधप्रबन्ध, पृ.-33
22. भिगहिअमणभिगहिआ-भिनिवेसिय-संसइयमणाभोगं।
पणमिच्छ बार अविरइ, मणकरणानिअमु छजिअवहो।।
कर्मग्रन्थ, देवेन्द्रसूरि, भा. 4/51
23. स्थानांगसूत्र, मधुकरमुनि, 2/1/80
24. प्रवचनसारोद्धार, गा.-942
25. अनगारधर्मामृत, 2/51
26. विशेषावश्यकभाष्य, 2675
27. सम्मत्तपरिग्गहियं, सम्मसुयं तं च पंचहा सम्मं।
उवसमियं सासाणं, खयसमजं वेययं खइयं।।
विशेषावश्यकभाष्य, 528
28. (क) उत्तराध्ययनसूत्र, 28/16-26
(ख) स्थानांगसूत्र, 10/104
(ग) प्रज्ञापनासूत्र, 1/104

29. सर्वार्थसिद्धि, 1/7 की टीका
30. स्थानांगसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 2/1/79
31. तत्त्वार्थसूत्र, 1/2
32. प्रवचनसारोद्धार 942 की टीका
33. विशेषावश्यकभाष्य, 2675
34. तत्त्वार्थसूत्र, 2/1
35. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, टीका-पं.सदासुखलालजी कासलीवाल, पृ.-58
36. श्रावकप्रज्ञप्ति, 43-48
37. श्रावकधर्मविधिप्रकरण, 14
38. अनगारधर्मामृत, 2/62
39. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, 21
40. निस्संकिय निक्कंखिय, निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य।
उववूह थिरीकरणे, वच्छल्ल पभावणे अट्ठ ॥
उत्तराध्ययनसूत्र, 28/31
41. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, 13
42. वही, 22
43. पुरूषार्थसिद्धयुपाय, 27
44. वही, 30
45. सिद्धांतसार, 1/69
46. उत्तराध्ययनसूत्र, 28/31
47. निशीथभाष्य, 1/23
48. श्रावकधर्मविधिप्रकरण, 46
49. दर्शनपाहुड (अष्टपाहुड), 8
50. पुरूषार्थसिद्धयुपाय, 23-30
51. चउसद्दहण तिलिंगं, दसविणय तिसुद्धि पंचगयदोसं।
अट्ठपभावण भूसण, लक्खण पंचविह संजुत्तं ॥
छव्विहजयणाऽगार, छब्भावण भावियं च छट्ठाणं।
इय सत्तयसट्ठिलक्खणं, मेयविसुद्धं च सम्मत्तं ॥
प्रवचनसारोद्धार, गा.-926-927

52. योगशास्त्र, 2/15
53. उत्तराध्ययनसूत्र-एक दार्शनिक अनुशीलन, पृ.-308
54. उपदेशप्रसादवृत्ति, भा.-1, पृ.-408-450
55. श्रावकप्रज्ञप्ति, गा.-53-59
56. उपासकदशासूत्र, 1/8
57. आवश्यकसूत्र, 6, पृ.-810
58. (क) दर्शनपाहुड (अष्टपाहुड), गा. 5 की टीका
(ख) रत्नकरण्डकश्रावकाचार, गा-22-27, पृ.-37-58
59. तत्त्वार्थसूत्र, 1/1
60. 'दंसण मूलो धम्मो' अष्टपाहुड, गा. 2
61. वही, गाथा 2 का भावार्थ
62. दंसण भट्टा भट्टा दंसण, भट्टस्स णत्थि णिव्वाणं।
सिज्झंति चरियभट्टा, दंसण भट्टा ण सिज्झंति।।
वही, गा. 3
63. नन्दीसूत्र, 1/12
64. उत्तराध्ययनसूत्र, 28/30
65. आचारांगसूत्र, मधुकरमुनि, 1/3/2/4
66. तम्हा कम्माणो अं जेउमणो, दंसणम्मि पजइज्जा।
दंसणवओ हि सफलाणि, हुंति तवनाणचरणाई ।।
आचारांगनिर्युक्ति, गा.-221
67. जे या बुद्धा महाभागा, वीरा असमत्तदंसिणो।
असुद्धं तेसिं परक्कंतं, सफलं होइ सव्वसो ।।
जे या बुद्धा महाभागा, वीरा समत्तदंसिणो।
सुद्धं तेसिं परक्कंतं, अफलं होइ सव्वसो ।।
सूत्रकृतांगसूत्र, मधुकरमुनि, 8/22,23
68. रत्नकरण्डक श्रावकाचार, गा. 28 की टीका
69. भावपाहुड, गा.-43
70. वही, गा. 44
71. वही, गा. 46

72. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा. 325
73. भगवतीआराधना, गा. 735
74. ज्ञानार्णव, 6/56
75. आत्मानुशासन, गा. 15
76. सागारधर्मामृत, 1/4
77. लाटीसंहिता, 2/1-6
78. जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भा.-2, पृ.-51
79. अनंतनाथ स्तवन, आनंदघन रचित
80. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, गा.-32
81. पुरूषार्थसिद्धयुपाय, गा.-21
82. वही, गा.-21 का भावार्थ
83. नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एस मग्गुत्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं ।।
उत्तराध्ययनसूत्र, 28/2
84. नादंसणिस्सनाणं, नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो,नत्थि अमोक्खस्सणिव्वाणं।।
वही, 28/30
85. ज्ञानार्णवप्रकरण, गा.- 6/54
86. वही, गा.- 6/57
87. (दर्शनपाहुड) अष्टपाहुड, गा. 4-5
88. लाटीसंहिता, गा.-1
89. वही, गा.-5
90. आचारांगसूत्र, मधुकरमुनि, 1/5/6/176
91. जैन दर्शन में सम्यग्दर्शन समालोचनात्मक अध्ययन
विनोदकुमार जैन, शोधप्रबन्ध, पृ.-260
92. मोक्षपाहुड (अष्टपाहुड), गा.-31
93. दर्शनपाहुड (अष्टपाहुड), गा.-34
94. ज्ञानार्णव, 6/56-57

95. नवतत्त्वप्रकरण, 53
96. राजवार्तिक, भा. 1, 4/25 की टीका
97. गोम्मटसार कर्मकाण्ड, 95-96
98. जैन दर्शन में सम्यग्दर्शन समालोचनात्मक अध्ययन पृ.-271-272
99. सम्यक्त्वसुधा, पृ.-10
100. 1. न्यायोपात्तं हि वित्त मुभयलोकहिताय। 2. समानकुलशीलादिभिर-गोत्रजैर्वैवाह्यमन्यत्र बहुविरूद्धेभ्यः। 3. दृष्टादृष्ट बाधा भीतता। 4. शिष्टचरित प्रशंसनम्। 5. अरिषड्वर्गत्यागेना विरूद्धार्थप्रतिपत्त्या इन्द्रियजयः। 6. उपप्लुतस्थानत्यागः 7. स्वयोग्यस्याश्रयणम्। 8. प्रधानसाधु परिग्रहः। 9. स्थाने गृहकरणम्, लक्षणोपेत गृहवासः। 10. विभवाद्यनुरूपो वेषो विरूद्धत्यागेन। 11. आयोचितो व्ययः। 12. प्रसिद्धदेशाचार पालनम्। 13. गर्हितेषु गाढमप्रवृत्ति। 14. सर्वेष्ववर्णवादत्यागो विशेषतो राजादिषु। 15. संसर्गः सदाचारैरिति। 16. मातापितृपूजा। 17. अनुद्वेजनीया प्रवृत्तिः। 18. भर्त्तव्य भरणम्। 19. देवातिथिदीन प्रतिपत्तिः। 20. सात्म्यतः कालभोजनम्। लौल्यत्यागः। अजीर्णे भोजनम्। बलापाये प्रतिक्रिया। 21. अदेशकालचर्या परिहारः। 22. यथोचित लोकयात्रा हीनेषु हीनक्रमः। 23. अतिसंग वर्जनम्। 24. वृतस्थज्ञानवृद्ध सेवा। 25. परस्परानुपघातेनान्योन्यानुबद्ध त्रिवर्ग प्रतिपत्तिः। 26. अन्यतर बाधासंभवे मूलाबाधा। 27. बलाबलापेक्षणम्। 28. अनुबंधे प्रयत्नः। 29. कालोचितपेक्षा। 30. प्रत्यहं धर्मश्रवणम्। 31. सर्वत्राभिनिवेशः। 32. गुणपक्षपातिता। 33. ऊहापोहादियोगः। धर्मबिन्दु-सटीका, प्रथम अध्याय सू. 4-58
101. न्यायसंपन्नविभवः, शिष्टाचारप्रशंसकः।
कुलशीलसमैः सार्द्धं, कृतोद्वहोऽन्यगोत्रजैः।।
पापभीरूः प्रसिद्धं च, देशाचारं समाचरन्।
अवर्णवादी न क्वापि, राजादिषु विशेषतः।।
अनतिव्यक्तगुप्ते च, स्थाने सुप्रातिवेश्मिके।
अनेकनिर्गमद्वार, विवर्जित निकेतनः।।
कृतसंगः सदाचारै, र्मातापित्रोश्च पूजकः।
त्यजन्नुपप्लुतं स्थानमप्रवृत्तश्च गर्हिते।।
व्ययमायोचितं कुर्वन्, वेषं वित्तानुसारतः।
अष्टभिर्धीगुणैर्युक्तः, शृण्वानो धर्ममन्वहम्।।

अजीर्णे भोजनत्यागी, काले भोक्ता च सात्म्यतः।
अन्योऽन्याप्रतिबंधेन, त्रिवर्गमपि साधयन्।।
यथावदतिथौ साधौ, दीने च प्रतिपत्तिकृत्।
सदानभिनिविष्टश्च, पक्षपाती गुणेषु च।।
अदेशाकालयोश्चर्या, त्यजन् जानन् बलाबलम्।
वृतस्थज्ञानवृद्धानां, पूजकः पोष्यपोषकः।।
दीर्घदर्शी विशेषज्ञः, कृतज्ञो लोकवल्लभः।।
सलज्जः सदयः सौम्यः, परोपकृतिकर्मठः।।
अंतरंगारिषड्वर्ग, परिहारपरायणः।
वशीकृतेंद्रियग्रामो, गृहिधर्माय कल्पते।।
योगशास्त्र, 1/47-56

102. *धम्मरयणस्स जोगो, अक्खुद्दो रूववं पगइसोमो।*
लोयप्पिओ अकूरो, भीरू असठो सदक्खिन्नो।।
लज्जालुओ दयालू, मज्झत्थो सोमदिट्ठि गुणरागी।
सक्कहसुपक्खजुत्तो, सुदीहदंसी विसेसन्नू।।
वुड्ढाणुगो विणीओ, कयन्नुओ परहियत्थकारी य।
तह चेव लद्धलक्खो, इगवीसगुणो हवइड्ढो।।
प्रवचनसारोद्धार, 2/1356-1358

103. *न्यायोपात्तधनो यजन्, गुणगुरून् सद्गीस्त्रिवर्ग*
भजन्नन्योन्यानुगुणं, तदर्हगृहिणीस्थानालयो हीमयः।
युक्ताहारविहार आर्यसमितिः, प्राज्ञः कृतज्ञो वशी
श्रृण्वन् धर्मविधिं दयालुरघभीः सागारधर्मं चरेत्।।
सागारधर्मामृत, 1/11

104. *विधिमार्गप्रपा, पृ.-1*
105. *आचारदिनकर, पृ.-42*
106. *गणिविद्या, गा.-15*
107. *आचारदिनकर, पृ.-43*
108. *गणिविद्या, गा.-27*
109. *वही, गा.-7, 10*

110. आचारदिनकर, पृ.-43
111. उपासकदशासूत्र, मधुकरमुनि, सू.-12
112. विधिमार्गप्रपा पर आधारित, पृ.-1-3
113. श्रीप्रव्रज्या योगादि विधि संग्रह, पृ.-156-67
114. तिलकाचार्यसामाचारी, पृ.-1
115. सुबोधासामाचारी, पृ.-2
116. विधिमार्गप्रपा, पृ.-1
117. आचारदिनकर, पृ.-44
118. तिलकाचार्यसामाचारी, पृ.-2
119. सुबोधासामाचारी, पृ.-1
120. विधिमार्गप्रपा, पृ.-1
121. आचारदिनकर, पृ.-44
122. विधिमार्गप्रपा, पृ.-33
123. तिलकाचार्यसामाचारी, पृ.-5-6
124. ईवही, पृ.-6
125. आचारदिनकर, पृ.-45
126. सुबोधासामाचारी, पृ.-1
127. विधिमार्गप्रपा, पृ.-2
128. तिलकाचार्यसामाचारी, पृ.-1
129. विधिमार्गप्रपा, पृ.-2

अध्याय- 3

बारहव्रत आरोपण विधि का सैद्धान्तिक अनुचिन्तन

बारह व्रत यह जैन श्रावक होने का License है। इन व्रतों का स्वीकार करके ही एक श्रावक सही रूप में श्रावकत्व को जागृत एवं दृढ़ कर सकता है। यह मात्र कोई धार्मिक क्रिया या संप्रदाय बंधन नहीं है अपितु जीवन जीने की एक सुसंस्कृत कला है, जिसके आचरण से व्यक्ति सुख-शांतिपूर्ण जीवन यापन कर सकता है।

बारह व्रत जैन श्रावक की साधना का एक विशिष्ट प्रकार है। बारहव्रत का अपरनाम आगार सामायिक है। आगार सामायिक तीन प्रकार की होती है- 1. सम्यक्त्व सामायिक 2. श्रुत सामायिक और 3. देशविरति सामायिक। देशविरति सामायिक का दूसरा नाम बारहव्रत आरोपण भी है। जन सामान्य में 'बारहव्रतआरोपण' यह नाम अधिक प्रचलित है। 'देशविरतिसामायिक'-यह शास्त्रीय नाम है। देशविरतिसामायिक के अन्य और भी नाम हैं।

आवश्यकनिर्युक्ति में देशविरति सामायिक के निम्न पर्यायवाची बतलाए गए हैं-विरताविरत, संवृतासंवृत, बालपंडित, देशैकदेशविरति, अणुधर्म और आगारधर्म।[1]

श्रावक-धर्म प्रतिपादन के प्रकार

जैन साहित्य में गृहस्थ के आचार-धर्म का वर्णन साधारणत: छ: प्रकार से प्राप्त होता है। किसी ने गृहस्थ धर्म का वर्णन ग्यारह प्रतिमाओं के आधार पर किया है, तो किसी ने बारह व्रतों के आधार पर और किसी ने सामान्य-विशेष धर्म के आधार पर किया है।

1. उपासकदशांगसूत्र में बारहव्रतों के साथ-साथ ग्यारह प्रतिमाओं का भी वर्णन किया गया है।

2. आचार्य कुन्दकुन्द, स्वामी कार्तिकेय और आचार्य वसुनन्दि ने श्रावकाचार का वर्णन ग्यारह प्रतिमाओं के आधार पर किया है।

3. आचार्य उमास्वाति, आचार्य समन्तभद्र और आचार्य हरिभद्र ने श्रावकाचार का विवेचन बारहव्रतों के आधार पर किया है। इन आचार्यों ने बारहव्रत के साथ सल्लेखना व्रत को भी जोड़ा है।

4. धर्मबिन्दु में सामान्यधर्म और विशेषधर्म-ऐसे दो प्रकारों के द्वारा भी श्रावक के आचार धर्म का प्रतिपादन किया गया है।[2]

5. आचार्य जिनसेन, आचार्य सोमदेव और पं. आशाधर ने श्रावक को पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक-इन तीन श्रेणियों में विभाजित कर उनकी चर्चा की है।

6. चारित्रासार में श्रावक के चार भेद किए गए हैं- पाक्षिक, चर्या, नैष्ठिक और साधक।

उपर्युक्त विवेचन से प्रतीत होता है कि देश-कालगत स्थितियों के अनुसार धर्म आराधना की पद्धतियों में परिवर्तन होता रहा है। एक समय था, जब जैन गृहस्थ के लिए ग्यारह प्रतिमाओं को स्वीकार करना अनिवार्य माना जाता था। फिर कालक्रम में बारहव्रत ग्रहण करने की आवश्यकता महसूस की जाने लगी। तदनन्तर श्रावक के अलग-अलग प्रकार कर दिए गए। इस प्रकार गृहस्थ की आचार विधि में अनुक्रमश: परिवर्तन हुए, परन्तु यह स्मरण रहे कि प्रतिपादन के प्रकारों में बदलाव होने के बावजूद भी मूल रूप में विशेष अन्तर नहीं आया है। आज सभी प्रकार के श्रावक-धर्म प्रचलित हैं। इतना अन्तर अवश्य हो सकता है कि ग्यारह प्रतिमारूप उत्कृष्ट धर्म को अंगीकार करने वाले गृहस्थ अत्यल्प रह गए हों, बारहव्रत स्वीकार करने वाले साधक उससे अधिक हों तथा नैष्ठिक आदि प्रकारों की कोटि में गिने जाने वाले श्रावक सर्वाधिक हों।

जैन साहित्य में श्रावक के बारह व्रतों का वर्णन विस्तार के साथ प्राप्त होता है और बारहव्रत स्वीकार करने वाले गृहस्थ के लिए ही 'श्रावक' शब्द का संबोधन यथार्थ माना गया है। इन बारहव्रतों में पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत का समावेश होता है।

जैन आचार ग्रन्थों में बारह व्रतों का स्वरूप

श्रावक-साधना का मूल उत्स व्रतों पर निर्भर है। इनके अभाव में श्रावक-साधना अर्थहीन है। इसीलिए जैन-वाङ्मय में श्रावक के आचार-धर्म को प्राथमिकता दी गई है। श्रावक का यह आचार-धर्म द्वादश व्रतों के रूप में निरूपित है। इन व्रतों में सर्वप्रथम अणुव्रत आते हैं, वे निम्न हैं-

पाँच अणुव्रत

अणुव्रत का अर्थ है अल्प या लघु व्रत। जैन श्रमण हिंसा, झूठ, चोरी आदि पाप कार्यों का पूर्ण रूप से परित्याग करता है अत: उसके व्रत महाव्रत कहलाते हैं, किन्तु श्रावक हिंसादि पाप कार्यों का सर्वथा त्याग नहीं कर सकता है, वह उसका सीमित या आंशिक त्याग ही करता है अत: उसके व्रत अणुव्रत कहे जाते हैं।

यद्यपि अणु का शब्दिक अर्थ 'छोटा' भी किया जा सकता है, परन्तु वास्तव में व्रत छोटा या बड़ा नहीं होता है। व्रत को अखण्ड ग्रहण नहीं कर पाने के कारण वह अपूर्ण(अणु) होता है। इस अपूर्ण से पूर्णता की सीमा को प्राप्त करना महाव्रत है। भगवती आराधना में प्राणवध, मृषावाद, चोरी, परदारागमन एवं परिग्रह के स्थूलत्याग को अणुव्रत कहा है।[3] रत्नकरण्डकश्रावकाचार में हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह-इन पाँच स्थूल पापों के त्याग को अणुव्रत कहा है।[4] आचार्य उमास्वाति आदि अनेक आचार्यों ने हिंसा आदि पाँच पापों के एक देशत्याग को अणुव्रत कहा है।[5] आचार्य हरिभद्रसूरि ने स्थूल प्राणी की हिंसा से विरत होने को अणुव्रत माना है।[6] सागार धर्मामृत के अनुसार श्रावक द्वारा अनुमोदना को छोड़कर शेष छ: भंगों द्वारा स्थूल हिंसादि से निवृत्त होना अणुव्रत है।[7] योगशास्त्र में दो करण तीन योग आदि से स्थूल हिंसा आदि दोषों के त्याग को अणुव्रत कहा है।[8] यहाँ दो करण से तात्पर्य-न स्वयं करना, न करवाना और तीन योग का तात्पर्य-मन, वचन, काया से है। सुस्पष्ट है कि हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह का देश(अंश) रूप से त्याग करना अथवा किसी भी पाप का दो करण-तीन योग से त्याग करना अणुव्रत है।

जैनधर्म के ये व्रत सार्वभौमिक और सार्वकालिक हैं। अन्य नियमों के लिए इन व्रतों को गौण नहीं किया जा सकता है जैसे-हिंसा हर परिस्थिति में पाप ही है और अहिंसा सदा धर्म ही है। झूठ हर स्थिति में गलत ही है और सत्य सदैव उत्तम ही है।

बौद्धदर्शन में आचारधर्म का नाम 'शील' है, योगदर्शन में 'यम' है एवं जैनदर्शन में 'व्रत' है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह-ये पाँच व्रत जैनाचार के मूल हैं। इन व्रतों का पालन करना मुनि और गृहस्थ-दोनों के

लिए आवश्यक माना गया है, भले ही मुनि द्वारा ये व्रत पूर्ण रूप से परिपालन किए जाते हों और गृहस्थ द्वारा आंशिक रूप में स्वीकार किए जाते हों। प्रसंगोपात्त व्रतों का स्वरूप समझने से पहले यह समझ लेना आवश्यक है कि व्रतभंग की संभावनाएँ कब, किन परिस्थितियों में बनती है? जैन दर्शन में उन संभावित दोषों को अतिचार कहा गया है।

जैन आगम स्थानांगसूत्र में व्रत के अतिक्रमण की चार कोटियाँ बताई गई हैं [9]-

1. अतिक्रम- जानबूझकर या अनजान में व्रत खण्डित करने का विचार करना अतिक्रम है।

2. व्यतिक्रम- व्रत खण्डित करने के लिए प्रवृत्ति करना व्यतिक्रम है।

3. अतिचार- गृहीत व्रत का आंशिक रूप से खण्डन करना अतिचार है।

4. अनाचार- गृहीत व्रत को पूर्णत: खण्डित कर देना अनाचार है।

व्रती श्रावक को अतिक्रम आदि चारों दोषों से अपने व्रतों की रक्षा करनी चाहिए।

1. अहिंसा अणुव्रत

इसका अपर नाम स्थूलप्राणातिपात विरमणव्रत है। उपासक दशासूत्र[10] और आवश्यकसूत्र[11] आदि में प्रथम अणुव्रत का नाम स्थूलप्राणातिपात विरमणव्रत रखा गया है। किसी भी त्रस जीव की संकल्पपूर्वक हिंसा करने का त्याग करना स्थूलप्राणातिपात विरमणव्रत है।

हिंसा का स्वरूप- आचारांगसूत्र में प्रमाद एवं काम भोगों के प्रति आसक्त रहने को हिंसा कहा है।[12] उपासकदशा और आवश्यकसूत्र में प्राणातिपात को हिंसा कहा हैं।[13] प्रश्नव्याकरण के अनुसार किसी भी जीव को प्रमाद एवं कषायवश मन, वचन, काया से बाधा पहुंचाना हिंसा है।[14] तत्त्वार्थसूत्र में प्रमाद-योग से प्राणों का व्यपरोपण करने को हिंसा कहा है।[15] रत्नकरण्डकश्रावकाचार में स्थूल-प्राणघात को हिंसा कहा है।[16] पुरूषार्थसिद्धयुपाय में कषाय के वशीभूत होकर द्रव्य एवं भाव रूप प्राणों के घात को हिंसा माना है।[17]

अत: सार रूप में यह कहा जा सकता है कि किसी के प्रति राग या कषायजन्य भावों का उत्पन्न होना हिंसा है, क्योंकि इन्हीं भावों के वशीभूत

होकर किसी के प्राणों का घात होता है। हिंसा केवल शरीर घात तक सीमित नहीं है, उसका सम्बन्ध मानसिक एवं भावनात्मक-प्राणघात से भी है। निश्चयत: पहले मानसिक हिंसा होती है, फिर शारीरिक हिंसा।

हिंसा के प्रकार- हिंसा दो प्रकार की होती है-1. स्थूल और 2.सूक्ष्म। श्रमण स्थूल और सूक्ष्म-दोनों प्रकार की हिंसा का त्यागी होता है। यहाँ स्थूलहिंसा का अर्थ है-त्रसजीवों की हिंसा। सूक्ष्महिंसा का अर्थ है स्थावर-पृथ्वी, अप्, तेउ, वायु, वनस्पतिकाय जीवों की हिंसा।

जैन मुनि स्थूल एवं सूक्ष्म-दोनों प्रकार की हिंसा का तीन करण और तीन योगपूर्वक त्याग करता है अर्थात मन, वचन, काया से न स्वयं हिंसा करता है, न दूसरों से हिंसा करवाता है और न हिंसा करने वाले का समर्थन ही करता है। उनका त्याग पूर्णत: होता है, इसलिए उन्हें सर्वविरति कहते हैं, किन्तु गृहस्थ केवल त्रसजीवों की हिंसा का ही त्यागी होता है, उसकी व्रत प्रतिज्ञा तीन योग और तीन करण पूर्वक न होकर तीन योग एवं दो करण पूर्वक होती है।

वह अहिंसा-व्रत को स्वीकार करते समय 'निरपराधी प्राणियों को मन, वचन और काया से न मारूंगा और न दूसरों से मरवाऊंगा' यह प्रतिज्ञा करता है, किन्तु परिस्थितिवश स्थूल हिंसा के समर्थन की छूट रखता है, इसलिए ही इस व्रत का नाम स्थूलप्राणातिपात विरमणव्रत है।

हिंसा के अन्य प्रकार- जैन ग्रन्थों में हिंसा के सूक्ष्म अर्थ को समझने की दृष्टि से निम्न चार प्रकार भी बताए गए हैं। इन चार प्रकार की हिंसाओं में से गृहस्थव्रती संकल्पजा-हिंसा का पूर्ण रूप से त्याग करता है, किन्तु शेष तीन हिंसाएँ वह चाहते हुए भी सर्वथा त्याग नहीं सकता है, सिर्फ मर्यादा कर सकता है। हिंसा के चार प्रकार ये हैं- 1. आरंभी हिंसा 2. उद्योगी हिंसा 3. संकल्पी हिंसा और 4. सापेक्ष हिंसा। आचार्य हरिभद्रसूरि ने संकल्पी एवं आरंभी-दो प्रकार की हिंसा कही है।[18]

1. आरंभी हिंसा- गृहस्थ जीवन का निर्वाह करने के लिए खाना पकाना, स्नान करना, साफ-सफाई करना, गृह निर्माण करना, कुआ खुदवाना आदि कार्यों में होने वाली हिंसा आरंभी हिंसा कहलाती है। इस हिंसा से बचना गृहस्थ के लिए संभव नहीं होता है, किन्तु इन कार्यों में प्रमादवश या असावधानीवश अनावश्यक हिंसा न हो, इसका गृहस्थ व्रती को पूर्ण ध्यान रखना चाहिए।

आवश्यक कार्यों हेतु की जाने वाली आरंभी हिंसा से व्रत का भंग नहीं होता है।

2. उद्योगी हिंसा- आजीविका का निर्वहन करने के लिए औद्योगिक एवं व्यावसायिक कार्य, कृषि-कर्म आदि का व्यापार इत्यादि कार्यों में होने वाली हिंसा उद्योगी हिंसा कहलाती है। आवश्यक कार्य के निमित्त होने वाली उद्योगी हिंसा से व्रत खंडित नहीं होता है, क्योंकि गृहस्थ के लिए व्यापार करना जरूरी है।

3. संकल्पी हिंसा- किसी भी जीव की संकल्पपूर्वक हिंसा करना संकल्पी हिंसा है। इस हिंसा को दो भागों में बाँट सकते हैं।

• **अपराधी हिंसा-** जो हिंसा अकारण ही अपराध या हिंसक वृत्ति की तुष्टि के लिए की जाती है, वह अपराधी हिंसा है। जैसे-किसी जीव को सताना, भयभीत करना, परतन्त्र बनाकर रखना, मिथ्या दोषारोपण करना, मर्मकारी वचनों का प्रयोग करना। ये सारी हिंसाएँ संकल्पपूर्वक होने से अपराधी हिंसा रूप हैं।

• **आत्मरक्षार्थ हिंसा-** स्वयं की आत्मरक्षा के निमित्त की जाने वाली हिंसा। जैसे-आक्रमणकारी, अपहर्ता, चोर, लंपट, हिंसकपशु आदि को मारना आत्मरक्षार्थ हिंसा है। व्रती गृहस्थ के लिए इस प्रकार की हिंसा क्षम्य होती है, किन्तु व्रती गृहस्थ को इस प्रकार की हिंसा में भी यह विवेक रखना जरूरी है कि उक्त अपराधियों को न्यायोचित दंड ही दें। इस विषय में यह जान लेना भी आवश्यक है कि यदि गृहस्थ व्रती अन्याय प्रतिकार और आत्मरक्षा के निमित्त त्रस हिंसा भी करता है, तो वह अपने साधना मार्ग से च्युत नहीं होता। शास्त्रों में इसका साक्षात उदाहरण पढ़ने को मिलता है। महाराजा चेटक और मगधाधिपति अजातशत्रु दोनों का पारस्परिक युद्ध हुआ। हजारों लोग मारे गए, यद्यपि अन्याय प्रतिकार के निमित्त की गई हिंसा के आधार पर भगवान महावीर की दृष्टि में महाराजा चेटक को आराधक माना गया, विराधक नहीं। इससे स्पष्ट होता है कि जैन विचारणा में अन्यायी और आक्रमणकारी के प्रति की गई हिंसा से गृहस्थ का व्रत खण्डित नहीं होता है। निशीथचूर्णि में तो यहाँ तक कहा गया है कि ऐसी अवस्था में गृहस्थ का तो क्या, साधु का भी व्रत खण्डित नहीं होता है, बल्कि अन्याय का प्रतिकार न करने वाला साधक स्वयं दण्ड का भागी बनता है।

4. सापेक्ष हिंसा- शरीर रक्षा, आत्मा रक्षा एवं आश्रितों की रक्षा के निमित्त की जाने वाली हिंसा सापेक्ष हिंसा है।

कईं बार गृहस्थ को न चाहते हुए भी निरपराधी जीवों की हिंसा करनी पड़ती है। जैसे– धान्य में पड़ने वाले कीड़े, पालतू जानवरों को त्रस्त करने वाले परजीवी चिचड़े आदि, जूँ, लीख, खटमल आदि से भी रक्षा करने के लिए इनका अतिपात करना आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार की हिंसा सकारण या सापेक्ष होती है, जो गृहस्थ के लिए अपरिहार्य होते हुए भी विवेक की अपेक्षा रखती है। व्रती श्रावक को इस हिंसा के विषय में यह विवेक रखना चाहिए कि वह जूँ, लीख, आदि जीवों का विसर्जन उस प्रकार से करें कि उन्हें त्रास न पहुँचे अन्यथा अहिंसा व्रत में दोष लगता है।

उक्त चार प्रकार की हिंसाओं में गृहस्थ के लिए संकल्पयुक्त त्रस प्राणियों की हिंसा का निषेध किया गया है। यह स्मरण रहे कि कई बार व्रती साधक हिंसा करता नहीं है, फिर भी हिंसा हो जाती है। इससे व्रती का व्रत भंग नहीं होता, क्योंकि गृहस्थ साधक की जाने वाली हिंसा का त्यागी होता है, लेकिन हो जाने वाली हिंसा का त्यागी नहीं होता है।

अहिंसाव्रत के दो आगार- अहिंसाव्रत के सम्बन्ध में यह समझ लेना अनिवार्य है कि श्रमण और श्रावक दोनों अहिंसाव्रत का पालन करते हैं, परन्तु उनमें एक बात का और भी अन्तर है। जैन दृष्टि से पृथ्वी, पानी, वायु, अग्नि और वनस्पति में जीव हैं और इन्हें स्थावर कहा गया है। यह सर्वविदित है कि जैन श्रमण स्वयं के लिए भोजन नहीं पकाता है, न दूसरों के लिए प्रेरित करता है और न ही भोजन बनाने वाले की अनुमोदना कर सकता है। वह भिक्षाटन द्वारा अपने जीवन का निर्वाह करता है, किन्तु श्रावक के लिए यह बात नहीं है। वह मर्यादित रूप से प्रवृत्तियाँ भी करता है। उन प्रवृत्तियों में स्थावर- जीवों की हिंसा भी होती है। वह केवल त्रसजीवों की हिंसा (स्थूल हिंसा) का त्याग करता है, पर सांसारिक व्यवहार में फँसे होने के कारण सूक्ष्म हिंसा (स्थावर जीवों की हिंसा) का सर्वथा त्याग नहीं कर सकता है, इसलिए श्रावक के अहिंसाव्रत में दो आगार रखे गए हैं- प्रथम अपराधी को दण्ड देने का और दूसरा जीवन निर्वाह के लिए सूक्ष्म हिंसा का।

इन आगारों (छूट) की वजह से भी श्रावक को सागारी कहा है और आगार

का अभाव होने से साधु को अनगार कहा है।

अहिंसाव्रत के अतिचार- गृहस्थ साधक को अहिंसा अणुव्रत का सम्यक् परिपालन करने के लिए निम्न दोषों से बचना चाहिए[19]-

1. बन्ध- किसी भी त्रस प्राणी को या क्रूर पशुओं को बन्धन में बांधना, पक्षियों को पिंजरे में बंद करना आदि।

2. वध- किसी भी व्यक्ति या पशु को अकारण मारना-पीटना, उन पर अनावश्यक भार डालना, अनैतिक ढंग से शोषण करना आदि।

3. छविच्छेद- किसी भी प्राणी के अकारण अंगोपांग काटना, अंग का छेद करना, आदि छविच्छेद है। इसका दूसरा अर्थ वृत्तिच्छेद भी कर सकते हैं। किसी की आजीविका का सम्पूर्ण छेद करना, उचित पारिश्रमिक से कम देना, आदि भी छविच्छेद हैं।

4. अतिभारारोपण- बैल, ऊँट, घोड़ा, आदि पशुओं पर या अनुचर एवं कर्मचारियों पर उनकी शक्ति से अधिक बोझ लादना, अतिभारारोपण है। किसी के द्वारा क्षमता से अधिक काम करवाना भी अतिभार है।

5. भक्तपानविच्छेद- कर्मचारी आदि अधीनस्थों को यथासमय वेतन न देना, भोजन-पानी न देना, आदि भक्तपानविच्छेद है।

अहिंसाणुव्रत की उपादेयता- जैनधर्म और दर्शन का विकास अहिंसा के आधार पर हुआ है। अहिंसा जैनधर्म का प्राण है, आत्मविकास का मुख्य सोपान है, मैत्री, करूणा, प्रमोद और माध्यस्थ भावनाओं के प्रकटीकरण का मूल स्त्रोत है, वैश्विक समस्याओं का शाश्वत समाधान है, पारिवारिक विघटनों के निराकरण का बीजमंत्र है। वस्तुत: अहिंसाणुव्रत का परिचरण करने से अनेक जीवों को अभयदान मिलता है, प्रमादाचरण से होने वाली हिंसाजन्य प्रवृत्ति अवरूद्ध हो जाती है। परिणामस्वरूप, गृहस्थधर्म में अनुप्रविष्ट होता हुआ साधक 'जीओ और जीने दो'- के सिद्धांत को आत्मचरितार्थ कर लेता है। सामान्यतया, इस व्रत के पालन से आरोग्य, अप्रतिहत उन्नति, आज्ञाकारित्व(स्वामित्व), अनुपमरूप सौन्दर्य, उज्ज्वलकीर्ति, धन, यौवन, निरूपक्रमी दीर्धायुष्य, भद्रपरिवार, आदि चराचर विश्व की श्रेष्ठ वस्तुएं प्राप्त होती हैं।[20]

हानियाँ– जैनाचार्यों के मतानुसार जीव हिंसा करने से पंगुता, कुणिता,

कुष्ठादि महारोग, प्रियवियोग, शोक, अल्प आयु, दु:ख, नरक तिर्यंच रूप दुर्गतियाँ प्राप्त होती हैं, अनंत संसार बढ़ता है अत: विवेकी पुरूष त्रसजीवों की हिंसा का ही सर्वथा त्याग न करें अपितु स्थावर जीवों की भी निरर्थक हिंसा न करें।[21]

2. सत्य अणुव्रत

इस व्रत का दूसरा नाम स्थूलमृषावाद विरमणव्रत है।[22] सत्यव्रत स्वीकार करते समय गृहस्थ यह प्रतिज्ञा करता है-"मैं स्थूल मृषावाद का यावत् जीवन के लिए मन, वचन और काया से त्याग करता हूँ। मैं न स्वयं असत्य भाषण करूंगा, न अन्य से कराऊँगा। मेरी यह प्रतिज्ञा दो करण तीन योगपूर्वक है।"

स्थूलमृषावाद विरमण से तात्पर्य है-बड़े झूठ बोलने का त्याग करना, जैसे-झूठी साक्षी लगाना, झूठा लेख लिखना, झूठा आरोप देना आदि। सूक्ष्ममृषावाद का अर्थ है- अत्यन्त आवश्यक कार्यों के लिए बोले जाने वाला झूठ। जैसे-गृह सम्बन्धी कार्यों के लिए, बाल-बच्चों को समझाने के लिए, व्यापार आदि की आवश्यक प्रवृत्तियों के लिए बोला गया असत्य वचन। कई बार माताएँ सहज ही कह देती हैं-'अरे उठ, एक प्रहर दिन चढ़ गया।' वास्तव में तो दिन घडी भर भी नहीं चढ़ा होता है, इस प्रकार के कई वचनों का प्रयोग सहज ही होता है, यह सूक्ष्म झूठ है। गृहस्थ के लिए सूक्ष्म झूठ बोलने की छूट है, क्योंकि सूक्ष्म झूठ के बिना गृहस्थ का जीवन व्यवहार चल नहीं सकता। साथ ही उस गृहस्थ पर पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय दायित्व का भार होता है, जिससे वह सूक्ष्म सत्य का पालन करने में असमर्थ होता है।

इस व्रत में साधक ऐसे असत्य से बचने की प्रतिज्ञा करता है जिसे लोकव्यवहार में असत्य कहा जाता हो, जिससे दूसरे का अहित होता हो, जो सरकार द्वारा दण्डनीय हो और समाज द्वारा निन्दनीय हो।

स्थूल असत्य के प्रकार- आवश्यकसूत्र[23], योगशास्त्र[24] आदि ग्रन्थों में स्थूल असत्य बोलने के मुख्य पाँच प्रकार बताए गए हैं, जो निम्न हैं-

1. कन्यालीक- वर-कन्या के सम्बन्ध में झूठी जानकारी देना, जैसे-बड़ी कन्या को छोटी कन्या कहना, अंगहीन कन्या को सर्वांग और सुन्दर कहना।

2. गवालीक- गौ आदि पशुओं के सम्बन्ध में झूठी जानकारी देना, जैसे-दूध नहीं देने वाली गाय को दुधारू कहना, अधिक अवस्था वाले पशु को जवान आदि बताना।

3. भूम्यालीक- भूमि दो प्रकार की होती है 1. क्षेत्रभूमि-खुली भूमि, जैसे- खेत, बाड़ी-बगीचा, तालाब, कुआ आदि। 2. वास्तुभूमि-ढंकी हुई भूमि, जैसे- महल, हवेली, दुकान, बंगला आदि। भूमि के सम्बन्ध में असत्य भाषण करना भूम्यालीक है। जैसे-कम उपज वाली भूमि को अधिक उपज वाली कहना, कम मूल्य में बने हुए मकान को अधिक मूल्य वाला बताना आदि।

4. न्यासापहार- किसी की धरोहर को दबाने के लिए असत्य बोलना। जैसे- धरोहर रखने वाला जब मांगने आए, तब स्पष्ट इन्कार कर देना,अनजान बन जाना आदि।

5. कूटसाक्ष्य- किसी को लाभ एवं किसी को हानि पहुँचाने के विचार से जानबूझकर झूठी गवाही देना।

व्रतधारी श्रावक को असत्य भाषण के इन प्रकारों का सर्वथा त्याग करना चाहिए।

सत्यव्रत के अतिचार- सत्य अणुव्रत का पालन करने में पूर्ण सावधानी रखते हुए भी जिन दोषों के लगने की सम्भावना रहती है, वे मुख्य रूप से पाँच हैं-

1. सहसाभ्याख्यान- बिना विचार किसी पर मिथ्या दोषारोपण करना।

2. रहस्याभ्याख्यान- किसी के द्वारा विश्वासपूर्वक कही गई गुप्त बात को प्रकट करना।

3. स्वदारमन्त्रभेद- स्वस्त्री अथवा स्वपुरूष की गुप्त एवं विश्वासपूर्वक कही गई बात को प्रकट करना।

4. मिथ्योपदेश- मिथ्या उपदेश देना, झूठी सलाह देना, मिथ्या वचन द्वारा किसी को कुमार्ग पर लगाना।

5. कूटलेखक्रिया- किसी को हानि पहुँचाने के इरादे से झूठे दस्तावेज लिखना, झूठे लेख लिखना, झूठे हस्ताक्षर करना आदि।[25]

तत्त्वार्थसूत्र में इस व्रत सम्बन्धी अतिचार के नाम एवं क्रम निम्न हैं-1. मिथ्योपदेश 2. असत्य दोषारोपण 3. कूटलेख क्रिया 4. न्यासापहार और 5. मर्मभेद।[26]

सत्याणुव्रत की उपादेयता- सत्य की महिमा अपार है। सत्यवादी अपने जीवन में अनेक गुणों का संग्रह करता है। समस्त प्रकार के सद्गुण सत्यवान के

प्रति आकर्षित होकर सहजतया चले आते हैं। सत्यवादी लोकप्रिय एवं विश्वसनीय बनता है। सत्यनिष्ठ व्यक्ति के समग्र कार्य अनायास और शीघ्र फलीभूत होते हैं। सत्य के प्रभाव से भंयकर रोग भी नष्ट हो जाते हैं। सत्य के प्रभाव से संग्राम में और संवाद में विजय की प्राप्ति होती है। सत्यवान् को मन्त्र, तन्त्र, यन्त्र, विद्या और औषध आदि तत्काल फलित होते हैं। सत्यवादी सदा निश्चिन्त रहता है। सत्यवादी की देवता भी रक्षा करते हैं। वह परलोक में भी इष्ट, मिष्ट, प्रिय, आदेय वचन वाला तथा मोक्ष का अधिकारी बनता है।

सत्यवक्ता महासमुद्र में नहीं डूबता, पानी के भंवर में नहीं फंसता, अग्नि में नहीं जलता, पर्वत से गिरने पर भी नहीं मरता।[27] उसकी चरणरज से पृथ्वी पावन बनती है।[28]

हानियाँ- असत्य वचन से जीव परवशता, अर्थभोगहानि, मित्ररहितता, देहविकृति, कुरूपता, अतिकर्कश स्पर्श, आभार रहितता, बधिरत्व, अंधत्व, मूकत्व, तोतलापन, लोकनिंदा, दासता, अशान्ति, अपमान, परिवार हानि आदि को प्राप्त करता है।[29] न्यासापहार से विश्वासघात एवं कूटसाक्षी से पुण्य का नाश होता है।[30] परभव में कन्दर्प आदि निम्न देवगति में जन्म मिलता है। जन्म-जन्मान्तर में मनुष्य बन भी जाए, तो भी उसका जीवन हास्यास्पद और निंदनीय बनता है।[31]

किसी के प्रति मिथ्या आरोप देने पर वह अश्रद्धा का पात्र बनता है, लोक में निन्दनीय बनता है। किसी की गुप्त बात को प्रकट करने से वह अविश्वास का भाजन बनता है। पति-पत्नी की गुप्त बात प्रकट करने पर परस्पर कलह होने की संभावनाएँ एवं एक दूसरे के प्रति अविश्वास की भावनाएँ पनपती हैं। मिथ्या उपदेश देने पर कर्मबन्ध का भागी बनता है झूंठी साक्षी देने पर दूसरों को मार्मिक वेदना देता है उसके परिणाम स्वरूप वह स्वयं दुखी बनता है। साथ ही झूठ बोलने वाले को लोग गप्पी, गवार, लुच्चा, बदमाश, ठग, धूर्त्त आदि कुनामों से सम्बोधित करते हैं। परलोक में भी उसकी दुर्दशा होती है। कर्मसिद्धान्त के अनुसार असत्य भाषी मरकर मूक, तौतला, गूंगा, दुर्गन्धित मुखवाला और अनेक प्रकार के रोगों से ग्रस्त होता है।

3. अचौर्य अणुव्रत

यह गृहस्थ का तीसरा व्रत है। इस व्रत का शास्त्रीय नाम स्थूलअदत्तादान विरमणव्रत है।[32] इस व्रत को स्वीकार करने वाला साधक स्थूल चोरी से निवृत्त होता है। वह प्रतिज्ञा करता है- ''मैं यावत् जीवन के लिए स्थूल चोरी का त्याग करता हूँ,मन-वचन-काया से न स्थूल चोरी करूंगा और न स्थूल चोरी कराऊँगा।''

अदत्तादान का सामान्य अर्थ है अदत्त-बिना दी हुई वस्तु, आदान- ग्रहण करना अर्थात किसी व्यक्ति की अधिकृत वस्तु को बिना अनुमति के ग्रहण करना अदत्तादान कहलाता है। श्रमण के लिए तो यह नियम है कि वह बिना अनुमति के दन्तशोधनार्थ तृण भी ग्रहण नहीं कर सकता है, किन्तु गृहस्थ के लिए वह सूक्ष्म चोरी होने से उस पर प्रतिबंध नहीं है।

स्थूल एवं सूक्ष्म चोरी का स्वरूप- रास्ते चलते हुए तिनका या कंकर उठा लेना, उद्यान से पुष्प और फल तोड़ लेना, किसी की रखी हुई वस्तु को देखने लगना आदि क्रियाएँ सूक्ष्म चोरी के प्रकार हैं।

स्थूल चोरी वह है जिसके करने से वह व्यक्ति समाज में चोर या बेईमान कहलाता है, जिसे लोग घृणा की दृष्टि से देखते हैं, जो अधिकारी द्वारा दण्ड (सजा) पाता है, आदि। गृहस्थ के लिए स्थूल चोरी का त्याग करना अनिवार्य माना गया है।

स्थूल चोरी के प्रकार- जैन ग्रन्थों में स्थूल चोरी के निम्न पाँच प्रकार बताये गए हैं-

1. खात खनना- सेंध लगाकर चोरी करना।
2. गाँठ काटना- किसी की जेब काटकर या पर्स आदि खोलकर वस्तुएँ निकाल लेना।
3. ताला खोलकर या तोड़कर चोरी करना।
4. दूसरों की असावधानी से गिरी हुई वस्तु को अपनी बताकर ले लेना।
5. मार्ग चलते हुए पथिकों को लूटना। इस व्रत में गृहस्थ साधक स्थूल चोरी न करने की प्रतिज्ञा करता है।

चोरी के बाह्य कारण– आचार्य देवेन्द्रमुनि के अनुसार चोरी का प्रथम कारण भोगों के प्रति आसक्ति है। जब मानव मन में भोग लालसा, वैभव लिप्सा

आदि हीन वृत्तियाँ पनपती हैं, तो वह स्तेय की ओर प्रवृत्त होता है। किसी भी बढ़िया वस्तु को प्राप्त करने की लालसा से व्यक्ति चोरी जैसा निम्न कार्य करता है।[33]

अस्तेय व्रत की सुरक्षा के लिए यह आवश्यक है कि अनावश्यक आवश्यकताएँ कम की जाएं, अनुचित एवं गलत उपायों से धन प्राप्त करने की कामना बिल्कुल न की जाए, क्योंकि अधिकांश चोरियाँ आसक्ति और लालसा से प्रेरित होकर की जाती हैं। इसका दूसरा कारण भूखमरी और बेकारी भी है। तीसरा कारण फिजूलखर्ची, चौथा कारण यश कीर्ति एवं प्रतिष्ठा की भूख है, पाँचवा कारण स्वभाव है। अशिक्षा और कुसंगति के कारण भी व्यक्ति चोरी करने के लिए विवश होता है।

अचौर्य अणुव्रत के अतिचार– गृहस्थ व्रती को न केवल स्थूल चोरी का त्याग करना चाहिए, अपितु जो प्रकट में चोरी नहीं दिखते हुए भी चोरी के ही प्रतिरूप हैं, उन दोषों का भी परित्याग करना चाहिए। वे दोष (अतिचार) पाँच प्रकार के कहे गए हैं[34]-

1. स्तेनाहृत- चोर द्वारा चुराई गई वस्तु खरीदना।

2. स्तेनप्रयोग- चोर को चोरी करने की प्रेरणा देना या उसके कार्यों में सहयोग देना।

3. विरूद्धराज्यातिक्रम- राज्य द्वारा निषिद्ध व्यापार करना, राजकीय नियमों का उल्लंघन करना, कर वंचन करना आदि।

4. कूटतुलाकूटमान- वस्तु के लेन-देन में झूठा माप-तौल करना, अथवा ग्राहक से अधिक मूल्य लेकर तौल में कम देना।

5. तत्प्रतिरूपक व्यवहार- वस्तु में मिलावट करके देना, नकली को असली बताकर देना जैसे-गेहूँ में कंकर, कालीमिर्च में पपीते के बीज, जीरे में रेत, दूध में पानी आदि मिलाना।

श्रावक को इन अतिचारों से बचना चाहिए।

अचौर्यव्रत की उपादेयता- स्थूल चोरी का परित्याग करने पर श्रावक का जीवन लोक व्यवहार की दृष्टि से विश्वस्त और प्रामाणिक बनता है, उसके चारित्रिक बल में वृद्धि होती है, एवं वह अनेकों का प्रिय पात्र और उसका जीवन सर्वत्र सम्माननीय बनता है। वह सदैव नि:शंक रहता है, इससे लोभ वृत्ति पर

नियन्त्रण होता है, व्रती का कल्याण होता है, जीवन शुद्ध बनता है और सरलता प्राप्त होती है। वह शीघ्र ही समस्त दु:ख और पाप कर्मों का क्षय करता है।[35]

योगशास्त्र में कहा गया है कि अचौर्यव्रती के पास लक्ष्मी स्वयंवरा की तरह चली आती है। उनके समस्त अनर्थ दूर हो जाते हैं। सर्वत्र उसकी प्रशंसा होती है और स्वर्गादि सुख प्राप्त होते हैं।[36]

हानियाँ- संयोगवश सेंध लगाकर चोरी करते हुए चोर पकड़ा जाए तो उसे कारागार भुगतना पड़ता है, मार-पीट, ताड़ना-तर्जना, आदि अनेक प्रकार के कष्ट सहने होते हैं। कभी-कभी इन भयानक कष्टों के कारण अकालमृत्यु का ग्रास भी बनना पड़ता है। अन्य प्रकार की चोरियाँ करते हुए भी कोई व्यक्ति पकड़ा जाए, तो वह धन के साथ प्राणों से भी हाथ धो बैठता है, राजदण्ड का अधिकारी बन सकता है, लोकनिन्दा का पात्र बनता है। लोकविरूद्ध और धर्मविरूद्ध कार्य करने से व्यक्ति सामाजिक, पारिवारिक, आर्थिक एवं धार्मिक दृष्टि से भी गिर जाता है, परलोक में भी दुष्कर्मों के परिणामस्वरूप अनेक प्रकार के दु:ख भोगता है अत: श्रावक को स्थूल चोरी का सर्वथा परिहार करना चाहिए।

योगशास्त्र के अनुसार चोरी करने से अथवा चोर की सहायता करने से यह जीव इस भव में राजदण्ड, वध, अंगछेदन, कारावास, देशनिकाला, स्वजन का वियोग, लोकनिंदा, वेदना, अकालवृद्धत्व, कुत्सितदेह और नरकगति को प्राप्त करता है तथा परभव में अनार्यत्व, हीनकुल, नीचगोत्र, जड़बुद्धि, धर्महीनता, मिथ्यात्व और गहन दु:खों के साथ अनंत संसार वृद्धि को प्राप्त होता है।[37]

4. ब्रह्मचर्य अणुव्रत

यह श्रावक का चौथा अणुव्रत है। इसे स्वदारासंतोषव्रत या स्वपतिसंतोषव्रत भी कहा जाता है। इस व्रत को स्वीकार करने वाला साधक स्वपत्नी के अतिरिक्त शेष मैथुन से विरत हो जाता है।

वह प्रतिज्ञा करता है-"मैं विधिपूर्वक विवाहित स्वपत्नी के सिवाय शेष सभी स्त्री जाति के साथ मैथुन का परित्याग करता हूँ, यावज्जीवन के लिए देव-देवी सम्बन्धी मैथुन का दो करण और तीन योगपूर्वक, इसी तरह पुरुष-स्त्री और तिर्यंच-तिर्यंचणी सम्बन्धी मैथुन सेवन का एक करण एक योग पूर्वक त्याग करता हूँ।"

यहाँ उल्लेखनीय है कि इस व्रत की प्रतिज्ञा में स्वपत्नी या स्वपति के अतिरिक्त अन्य मानव और पशु जगत् के प्रति मैथुन त्याग में दो करण तीन योग शब्द का निर्देश नहीं हुआ है, मात्र एक करण और एक योग(काया) पूर्वक स्वपत्नी के अतिरिक्त शेष मैथुन का त्याग किया गया है, जबकि इसके पूर्व अहिंसा आदि व्रतों की प्रतिज्ञा में दो करण और तीन योग का स्पष्ट उल्लेख है।

डॉ. सागरमल जैन के शब्दों में इसका कारण यह माना जा सकता है कि गृहस्थ जीवन में सन्तान आदि का विवाह करना आवश्यक होता है। इसी प्रकार पशु पालन करने वाले गृहस्थ के लिए उनका भी परस्पर सम्बन्ध कराना आवश्यक हो जाता है अत: इसमें दो करण तीन योग न कहकर श्रावक को अपनी परिस्थिति एवं मन स्थिति के आधार पर स्वतंत्रता दी गई है, यद्यपि देव-देवी के सम्बन्ध में दो करण और तीन योग का निर्देश है।

उपासकदशासूत्र में इस व्रत का प्रतिज्ञासूत्र इस प्रकार है-आनन्द श्रावक कहता है– 'मैं स्वपत्नीसंतोषव्रत ग्रहण करता हूँ, शिवानन्दा नामक अपनी पत्नी के अतिरिक्त अवशिष्ट मैथुन का त्याग करता हूँ।'[38] आवश्यकसूत्र में भी स्वपत्नी में संतोष रखकर अन्य सभी से मैथुन प्रवृत्तियों का त्याग बताया गया है। वहाँ मूलपाठ में योग और करण का उल्लेख नहीं है।[39]

ब्रह्मचर्य अणुव्रत के अतिचार- साधक को इस व्रत की सुरक्षा के लिए निम्न पाँच दोषों से बचना चाहिए-

1. इत्वरिकापरिगृहीतागमन-जैनाचार्यों ने इत्वरिका शब्द के दो अर्थ किए हैं-1. अल्पकाल और 2. अल्पवयस्क। इसका स्पष्टार्थ यह है कि कुछ समय के लिए पैसे देकर या किसी तरह से अपने पास रही हुई अल्पवयवाली स्त्री के साथ गमन करना।

2. अपरिगृहीतागमन- अपरिगृहीता का अर्थ है- किसी के द्वारा ग्रहण न की गई कन्या या वैश्य आदि के साथ संसर्ग करना। इसका एक अर्थ यह भी है कि जिस कन्या की सगाई हो चुकी है, किन्तु विधिवत् विवाह नहीं हुआ है, उसके साथ गमन करना।

3. अनंगक्रीड़ा- मैथुन के स्वाभाविक अंगों से काम-वासना की पूर्ति न करके अप्राकृतिक अंगों, जैसे-हाथ, मुख, गुदादि द्वारा कामवासना की पूर्ति करना अनंगक्रीड़ा है, अथवा कामक्रीड़ा को उद्दीप्त करने वाली, जैसे-चुम्बन,

आलिंगन आदि कामचेष्टाएँ करना अनंगक्रीड़ा है।

4. परविवाहकरण- अपनी पारिवारिक जिम्मेदारियों के अतिरिक्त अन्यों के विवाह सम्बन्ध करवाना।

5. कामभोगतीव्राभिलाषा- विषयभोग और कामक्रीड़ा में तीव्र आसक्ति भाव रखना, अथवा कामोद्दीपन करने वाली औषधियों का सेवन कर विषय वासना में प्रवृत्त होना।[40]

बौद्ध ग्रन्थों में भी गृहस्थ साधक के लिए स्वपत्नी या स्वपति संतोषव्रत का विधान है। सुत्तनिपात में बुद्ध ने कहा है-यदि ब्रह्मचर्य का पालन न हो सकें, तो कम से कम परस्त्री का अतिक्रमण न करें।[41]

ब्रह्मचर्य की महिमा- भारतीय मूर्धन्य मनीषियों ने ब्रह्मचर्य को मानव जीवन के उत्थान का मेरूदण्ड कहा है। साधना का मूल आधार ब्रह्मचर्य है। सभी व्रतों का मूल स्तम्भ भी ब्रह्मव्रत है। सभी तपों में ब्रह्मचर्य को उत्तम तप कहा गया है। इस तप शक्ति को जाग्रत करके अनेकानेक

साधकों ने विविध लब्धियों एवं ऋद्धियों को प्राप्त किया है। इसकी महिमा अपरम्पार है। एक जगह लिखा गया है कि प्रतिदिन करोड़ों मोहरों का दान करने की अपेक्षा एक दिन ब्रह्मव्रत पालन करने का फल अधिक है।

ब्रह्मचर्य व्रत की उपादेयता– ब्रह्मचर्य आत्मा की आन्तरिक शक्ति है। इस शक्ति के विकसित होने पर विश्व की अन्य शक्तियाँ ब्रह्मचारी के चरणों में स्वत: लौटने लगती हैं। ब्रह्मचारी को देवराज इन्द्र भी नमन करते हैं। उसकी कीर्ति विश्वव्यापी हो जाती है। उसका बुद्धिबल, रूपबल आदि उत्तरोत्तर बढ़ता रहता है। दुष्टों एवं शत्रुओं द्वारा किए जाने वाले मंत्र, तंत्र, कामण आदि का उस पर यत्किंचित् भी असर नहीं होता है। मनोविज्ञान की दृष्टि से देखें, तो ब्रह्मचारी के मन में स्वपत्नी के सिवाय अन्य स्त्रियों के प्रति मातृभाव और भगिनीभाव ही रहता है उसकी वासनाओं के द्वार बन्द हो जाते हैं तथा यावज्जीवन वेश्यागमन, परस्त्रीगमन जैसे व्यसन समाप्त हो जाते हैं। इसके फलस्वरूप उसका जीवन सदाचार और सात्त्विक वृत्ति के साथ आगे बढ़ता हुआ परम आनन्द के साथ गुजरता है। आध्यात्मिक दृष्टि से वह निश्चित ही मोक्षपद को उपलब्ध करता है। व्यावहारिक दृष्टि से विचार करें, तो समाज में प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है। लोग उसे आदर्श पुरूष के रूप में मानते हैं। धार्मिक स्थलों पर वह अनुकरणीय

व्यक्तित्व के रूप में जाना जाता है।

हानियाँ– स्वपत्नीसंतोषव्रत का पालन न करने से तथा परस्त्री, विधवा सेवन, हस्तमैथुन आदि का त्याग न करने से वीर्य शक्ति की अत्यन्त हानि होती है। पापकर्मों का प्रगाढ़ बन्धन, कुल का नाश, पृथ्वीकाय आदि षट्कायिक जीवों की हिंसा एवं नरकगति प्राप्त होती है। परलोक में नपुंसकत्व, विरूपत्व, प्रियवियोग आदि दोष प्राप्त होते हैं।

जैनाचार्यों ने कहा है- परस्त्रीगमन और अमर्यादित काम सेवन दुर्गतिदायक, अधर्म का मूल और संसारवृद्धि का कारण है अत: सज्जन पुरूषों को विषाक्त अन्नवत् इसका त्याग करना चाहिए।[42]

5. परिग्रह परिमाणव्रत

यह श्रावक का पांचवाँ अणुव्रत है। इसका दूसरा नाम इच्छा-परिमाणव्रत भी है।[43] इसका शाब्दिक अर्थ है-परिग्रह की मर्यादा करने से पूर्व इच्छाओं पर नियन्त्रण करना। इच्छाओं का निरोध किए बिना परिग्रह से विरत होना असंभव है, इसलिए इच्छा परिमाण ही परिग्रह परिमाण है।

श्रमण के लिए तो सम्पूर्ण परिग्रह के परित्याग का विधान है, किन्तु गृहस्थ के लिए सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग करना संभव नहीं है अत: गृहस्थ को परिग्रह के ममत्व से बचने का प्रयास करना चाहिए, यही परिग्रह-परिमाणव्रत है। यह व्रत दो करण और तीन योग से स्व-इच्छा के अनुसार ग्रहण किया जाता है। इस व्रतग्रहण की प्रतिज्ञा करता हुआ व्यक्ति यथेच्छा विकल्पपूर्वक नौ प्रकार के परिग्रह की मर्यादा रखता है। यहाँ इच्छा का सम्बन्ध बाह्य-परिग्रह से है, किन्तु उसकी सीमा करना भी अत्यावश्यक है।

परिग्रह के प्रकार- जैन ग्रन्थों में निम्न नौ प्रकार के परिग्रह माने गए हैं [44]-

1. क्षेत्र- खुला हुआ भूमिभाग जैसे खेत, खलिहान, बाग, पहाड़, खान, जंगल, आदि।

2. वास्तु- ढका हुआ भूमि भाग जैसे-मकान, दुकान, गोदाम, बंगला, कारखाने आदि।

3. हिरण्य- चाँदी अथवा चाँदी के आभूषण आदि।

4. सुवर्ण- स्वर्ण, अथवा स्वर्ण के आभूषण और उपकरण आदि।

5. धन- रूपए, पैसे, सिक्के, नोट, चेक, बैंक-बेलेंस आदि।

6. धान्य- अन्न, गेहूँ, चावल, उड़द, मूंग, तिल आदि।

7. द्विपद- दो पाँव वाले प्राणी जैसे– दास-दासी, नौकर, कर्मचारी आदि।

8. चतुष्पद- चार पाँव वाले प्राणी जैसे– हाथी, घोड़ा, बैल, बकरी, गाय आदि।

9. कुप्य- घर-गृहस्थी में उपयोग आने वाली सभी प्रकार की सामग्री जैसे- बर्तन, वस्त्र, सोफासेट, मेज, कुर्सी, अलमारी, पंखे, टेलीविजन, वाहन आदि समस्त उपभोग परिभोग की सामग्री।

इन नौ प्रकार के परिग्रह की परिसीमा करना बाह्य परिग्रह परिमाणव्रत है तथा राग-द्वेष, कषाय आदि का संकोच करना आभ्यन्तर परिग्रह परिमाणव्रत है। इस प्रकार इच्छाओं एवं कषायों को मर्यादित करना परिग्रह परिमाणव्रत कहा जाता है।

परिग्रह परिमाणव्रत के अतिचार- परिग्रह परिमाणव्रत की रक्षा के लिए कुछ दोषों से निवृत्त रहने का निर्देश किया गया है। वे दोष निम्न हैं[45]-

1. क्षेत्र एवं वास्तु के परिमाण का अतिक्रमण करना।
2. हिरण्य-स्वर्ण के परिमाण का अतिक्रमण करना।
3. द्विपद-चतुष्पद के परिमाण का अतिक्रमण करना।
4. धन-धान्य की सीमा का अतिक्रमण करना।
5. गृहस्थी के अन्य सामान की मर्यादा का अतिक्रमण करना।

यदि मर्यादा से अधिक परिग्रह की प्राप्ति हो जाए, तो उसका दानादि में उपयोग कर लेना चाहिए, जिससे इस व्रत की आसानी से रक्षा हो जाती है।

आचार्य समन्तभद्र ने अतिवाहन, अतिसंग्रह, विस्मय, लोभ और अतिभारवाहन-ये पाँच परिग्रह परिमाणव्रत के विक्षेप कहे हैं।[46]

परिग्रह परिमाणव्रत की उपादेयता- परिग्रह की मर्यादा करने से इच्छाएँ एवं तृष्णाएँ न्यूनतर हो जाती हैं। इसी के साथ अनावश्यक प्रवृत्तियाँ अवरूद्ध हो जाती हैं। इच्छाओं के न्यून होने पर आसक्ति, ममत्व, रागादि का विस्तृत दायरा सिमटता चला जाता है। इस व्रत का यथार्थ मूल्यांकन करने वाला व्यक्ति सादगी, सदाशयता एवं मितव्ययता का अनुकरण करता है।

परिग्रह परिमाण मानव को आत्मसंतोष एवं शान्ति प्रदान करता है। अनन्त

इच्छाओं के सीमित होने के कारण व्यक्ति मनोजयी, इन्द्रियजेता एवं आत्मविजेता बनता है। परिमाण से अधिक धन-सम्पदा होने पर उसका जनहित में उपयोग कर सकता है। वह जगत् में अनेक लोकोपकारी कार्य कर पुण्य का संचय कर सकता है। आरम्भ, मिथ्याभाषण, चौर्य, लोभ आदि दोषों से बचने के कारण आस्रव का निरोध कर कर्मबंधन से बचता है। परिग्रह-परिमाण करने वाला व्यक्ति निर्धन वर्ग की ईर्ष्या का भाजन बनने से बच जाता है। शास्त्रों में कहा गया है-'लोहो सव्वविणासणो' लोभ सर्वगुणों का विनाशक है। दुनियाँ में अधिकांश पाप लोभ के कारण पनपते हैं। परिग्रह परिमाण से लोभवृत्ति का द्वार बन्द हो जाता है। परिग्रह का परिमाण 'सर्वजनहिताय, सर्वजनसुखाय' होता है क्योंकि उसमें सम्पदा पर एकाधिपत्य की भावना समाप्त हो जाती है। अपनी पूर्ति होने के पश्चात् सर्वकल्याण का भाव विकसित हो उठता है।

इस व्रत के पालन से असत् आरम्भ (निंदनीय हिंसादि व्यापार) से निवृत्ति और आरम्भमय (हीन व्यापारादि) प्रवृत्ति का त्याग होता है। इससे अल्प आरंभ एवं अल्प परिग्रह होने के कारण सुख वृद्धि, धर्म की संसिद्धि, लोकप्रशंसा, देवताओं की समृद्धि और परंपरा से मोक्ष प्राप्त होता है।[47] योगशास्त्र में भी वर्णन है कि परिग्रह परिमाणव्रती के लिए संतोष भूषण बन जाता है, समृद्धि उसके पास रहती है। उस कारण से कामधेनु चली आती है और देवता दास की भाँति आज्ञा मानते हैं।[48]

हानियाँ- परिग्रह को पाप का मूल माना है। परिग्रह के कारण अनेक पाप पनपते हैं। प्रश्नव्याकरणसूत्र में स्पष्ट कहा गया है कि परिग्रह के लिए लोग हिंसा करते हैं, झूठ बोलते हैं,चोरियाँ करते हैं, मिलावट और धोखेबाजी करते हैं और दूसरों को अपमानित करते हैं। परिग्रह के कारण ही महाशिलाकंटक महायुद्ध हुआ था।[49] इतिहास के पृष्ठों पर ऐसे सैकड़ों व्यक्तियों के उदाहरण मिलते हैं, जिन्होंने परिग्रह के लिए महापाप किए। माता-पिता, भाई और बहन के मधुर सम्बन्ध भी परिग्रह के कारण अत्यन्त कटु हो गए, यहाँ तक कि वे एक-दूसरे के संहारक भी बने।

उपदेशमाला में कहा है कि अपरिमित परिग्रह अनंत तृष्णा का कारण है और दोष युक्त होने से नरकगति का मार्ग है।[50] भक्तपरिज्ञा में उल्लेख है-''जीव परिग्रह के निमित्त हिंसा करता है, झूठ बोलता है, चोरी करता है और

अत्यधिक मूर्च्छा करता है।''[51] इस प्रकार परिग्रह पाँचों पापों की जड़ है। योगशास्त्र में बताया है कि परिग्रह के कारण अनुदित राग-द्वेष भी उदय में आते हैं तथा जीवहिंसा जनित कार्य जन्म-मरण के मूल हैं और इनका कारण परिग्रह है।[52]

परिग्रह दोषों का आगार है, विषमता का कारण है, पाप का जनक है, दु:खों का मूल है, असन्तोष की खान है। इस पर नियन्त्रण पाने के उद्देश्य से परिग्रह-परिमाणव्रत का विधान किया गया है।

पाँच अणुव्रत के अन्य प्रकार

आचार्य हरिभद्रसूरि ने पंच अणुव्रतों के इच्छायम, प्रवृत्तियम, स्थिरयम और सिद्धियम के रूप में चार-चार भेद किए हैं।[53] इस प्रकार बीस भेद बताए गए हैं। ये चारों भेद अहिंसा आदि की तरतमता या स्तर भेद की दृष्टि से हैं तथा क्रमिक-अभिवर्द्धन के सूचक हैं। इन भेदों के आधार पर यम के बीस प्रकारों की तालिका इस प्रकार है–

अहिंसा

1. इच्छा-अहिंसा
2. प्रवृत्ति-अहिंसा
3. स्थिर-अहिंसा
4. सिद्धि-अहिंसा

सत्य

1. इच्छा-सत्य
2. प्रवृत्ति-सत्य
3. स्थिर-सत्य
4. सिद्धि-सत्य

अस्तेय

1. इच्छा-अस्तेय
2. प्रवृत्ति-अस्तेय
3. स्थिर-अस्तेय
4. सिद्धि-अस्तेय

ब्रह्मचर्य

1. इच्छा-ब्रह्मचर्य
2. प्रवृत्ति-ब्रह्मचर्य
3. स्थिर-ब्रह्मचर्य
4. सिद्धि-ब्रह्मचर्य

अपरिग्रह

1. इच्छा-अपरिग्रह
2. प्रवृत्ति-अपरिग्रह
3. स्थिर-अपरिग्रह
4. सिद्धि-अपरिग्रह

इच्छायम द्वारा अहिंसा, सत्य आदि के प्रति उत्कंठा जागृत होती है। अन्तरात्मा में उन्हें अधिकृत करने की तीव्र भावना उत्पन्न होती है। परिणामस्वरूप साधक उन्हें जीवन में क्रियान्वित करने का प्रयास करता है। उससे योग-अवंचक की प्राप्ति होती है, क्रियापक्ष पारमार्थिक बन जाता है और महापाप की निर्जरा का क्रम अनवरत रूप से आरम्भ हो जाता है। साथ ही अहिंसा द्वारा पारस्परिक सहयोग एवं सहकार की भावना उत्पन्न होती है। सत्यवचन से छल, कपट आदि व्यभिचारों का नाश होता है। अचौर्य-व्रत द्वारा समाज के अधिकारों की रक्षा की जाती है। ब्रह्मचर्य द्वारा इन्द्रियों को नियंत्रित किया जाता है और अपरिग्रह से शोषण-वृत्ति पर अंकुश लगाया जाता है, अतएव व्रतधारी गृहस्थ को गृहीत व्रतों का नियमपूर्वक पालन करना चाहिए।

तीन गुणव्रत

जो अणुव्रतों के उत्कर्ष में सहयोगी बनते हैं, वे गुणव्रत कहलाते हैं। जिस प्रकार कोठार में रखा हुआ धान्य नष्ट नहीं होता है, उसी प्रकार तीन गुणव्रतों का पालन करने से पाँच अणुव्रतों की सुरक्षा होती है। इन्हें गुणव्रत कहने का दूसरा प्रयोजन यह है कि ये अणुव्रतरूपी मूलगुणों की रक्षा करते हैं। पुरूषार्थसिद्धयुपाय में कहा गया है कि जैसे परकोटा नगर की रक्षा करता है, उसी प्रकार शीलव्रत अणुव्रतों की रक्षा करते हैं।[54] यहाँ शीलव्रत का तात्पर्य गुणव्रत एवं शिक्षाव्रत से है। दोनों के संयुक्त रूप को शीलव्रत की अभिधा प्रदान की गई है। संख्या की दृष्टि से गुणव्रत तीन और शिक्षाव्रत चार माने गए हैं। अणुव्रत स्वर्ण के सदृश हैं और गुणव्रत स्वर्ण की चमक-दमक बढ़ाने के लिए पॉलिश के समान हैं। अणुव्रत खुली पुस्तक है और गुणव्रत जिल्द बांधने के सदृश हैं। इस तरह गुणव्रत अणुव्रत की सुरक्षा करने में परकोटे के समान हैं।

उपासकदशासूत्र में गुणव्रत एवं शिक्षाव्रत को संयुक्त रूप से सात शिक्षाव्रत कहा गया है[55] और उपासकदशा की टीका में व्रतपालन में सहयोगी व्रतों को गुणव्रत की संज्ञा दी गई है एवं परमपद प्राप्त करने की कारणभूत क्रिया को शिक्षाव्रत कहा है।[56]

ये अणुव्रतों में शक्ति का संचार करते हैं। गुणव्रत द्वारा अणुव्रत में की गई मर्यादा को अधिक संकुचित किया जाता है, जिससे अणुव्रतों का पालन करने में कठिनाइयों का सामना न करना पड़े। अणुव्रतों में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से

हिंसा के द्वार खुले रहते हैं। उन द्वारों को गुणव्रत के द्वारा द्रव्य आदि की अपेक्षा से बन्द किया जाता है। इस प्रकार गुणव्रत अणुव्रत के रक्षा-कवच हैं। वे तीन गुणव्रत निम्न प्रकार हैं–

1. दिशापरिमाण व्रत 2. उपभोग परिभोगपरिमाण व्रत 3. अनर्थदण्ड विरमण व्रत।

6. दिशापरिमाण व्रत

यह श्रावक का प्रथम गुणव्रत है। दस प्रकार की दिशाओं में गमनागमन की मर्यादा निश्चित करना दिग्परिमाण-व्रत है।

इस व्रतोच्चारणकाल में गृहस्थ साधक यह प्रतिज्ञा करता है-"मैं चारों दिशाओं में एवं ऊपर-नीचे ऐसे छहों दिशाओं में तथा उपलक्षण से चारों विदिशाओं में (दसों दिशाओं में) निश्चित सीमा से आगे बढ़कर किंचित् मात्र भी स्वार्थमूलक प्रवृत्ति नहीं करूँगा।"

शास्त्रों में अनेक प्रकार की दिशाएँ निर्दिष्ट की गई हैं। उनमें पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण-ये चार प्रमुख दिशाएँ हैं। इनके मध्यक्रम से आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य और ईशान-ये चार विदिशाएँ मानी गईं हैं। एक ऊपर की और एक नीचे की इन दो दिशाओं के मिलने से कुल दस दिशाएँ हो जाती है। इन सभी दिशाओं के लिए नियमित परिमाण करके उससे आगे पाप प्रवृत्ति न करना यानी आवागमन- प्रवृत्ति रोक देना दिग्व्रत है।

पाँचवें अणुव्रत में सम्पत्ति आदि की मर्यादा की जाती है, किन्तु दिग्व्रत में उन प्रवृत्तियों का क्षेत्र सीमित किया जाता है।

यहाँ ध्यातव्य है कि श्रमण के लिए क्षेत्र की मर्यादा का कोई विधान नहीं है, क्योंकि उनकी कोई भी प्रवृत्ति स्वार्थमूलक या हिंसात्मक नहीं होती है। वे किसी भी प्राणी को कष्ट पहुँचाए बिना जन-जन के कल्याणार्थ विहार करते हैं, परन्तु श्रावक की प्रवृत्ति हिंसामूलक होती है अतः उसे मर्यादा करना आवश्यक है।

इस व्रत के सम्बन्ध में यह ज्ञात करना भी आवश्यक है कि दिग्व्रत को स्वीकार करने वाला साधक किसी एक स्थान(निवासस्थान आदि) को केन्द्र बनाता है और उस स्थान से प्रत्येक दिशा के लिए मर्यादा स्थिर करता है कि अमुक केन्द्रस्थान से दसों दिशाओं में इतनी दूर तक जाएगा। इस प्रकार

गमनागमन के क्षेत्र को स्वेच्छापूर्वक सीमित किया जाता है। यह मर्यादा कोस, मील, किलोमीटर, आदि किसी भी पैमाने में निर्धारित की जा सकती है। इसी के साथ स्वेच्छापूर्वक किसी दिशा में अधिक, किस दिशा में कम मर्यादा भी रखी जा सकती है, किन्तु आवश्यकता से अधिक क्षेत्र की मर्यादा नहीं रखनी चाहिए।

दूसरे, दिशापरिमाण व्रत का संकल्प जीवन भर के लिए होता है, जबकि उससे कम समय के लिए मर्यादा करना देशावगासिक व्रत है।

दिशापरिमाण व्रत के अतिचार- दिशापरिमाण व्रत में की गई मर्यादा का उल्लंघन करना अतिचार कहलाता है। इस व्रत में निम्न पाँच प्रकार के अतिचार लगते हैं [57]-

1. ऊर्ध्वदिशा परिमाणातिक्रम- ऊर्ध्वदिशा में गमनागमन के लिए की गई क्षेत्र-मर्यादा का उल्लंघन करना।

2. अधोदिशा परिमाणातिक्रम- अधोदिशा में रखी गई गमनागमन की मर्यादा का उल्लंघन करना।

3. तिर्यग्दिशा परिमाणातिक्रम- चार दिशाओं और चार विदिशाओं में रखी गई क्षेत्र-मर्यादा का अतिक्रमण हो जाना।

4. क्षेत्रवृद्धि- एक दिशा के लिए की गई मर्यादा को कम करके दूसरी दिशा की मर्यादा बढ़ा देना।

5. स्मृतिभ्रंश- निश्चित की गई मर्यादा का विस्मृतिवश अतिक्रमण हो जाना अथवा पुन: स्मृति का विषय बनने पर भी मर्यादित क्षेत्र से आगे बढ़ना है।

दिशापरिमाण व्रत की उपादेयता- वर्तमान युग में इस व्रत की अत्यधिक प्रासंगिकता है। यदि प्रत्येक राष्ट्र अपनी-अपनी राजनीतिक और आर्थिक सीमाएँ निश्चित कर ले, तो बहुत से संघर्ष स्वत: मिट सकते हैं और अनेकों अन्तराष्ट्रीय-समस्याओं का समाधान हो सकता है। भारत के भूतपूर्व प्रधानमन्त्री पं. जवाहरलाल नेहरू ने राष्ट्रों की पारस्परिक सौहार्द्रता को बनाए रखने के लिए पंचशील के रूप में आचार संहिता निर्मित की थी, उसमें इस पर अधिक बल दिया गया था कि एक राज्य दूसरे राज्य में हस्तक्षेप न करें। यह व्रत अन्य दृष्टियों से भी महत्वपूर्ण प्रतीत होता है।

दिशाओं की मर्यादा निर्धारित हो जाने से तृष्णा पर स्वत: नियंत्रण हो

जाता है। तृष्णा पर नियन्त्रण होने से संग्रह भावना का मूल बीज नष्ट हो जाता है। इससे व्यक्ति की चंचलवृत्तियों पर अंकुश लगता है।

आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार दिग्व्रती श्रावक जगत् पर आक्रमण करने वाले अभिवृद्ध लोभ रूपी समुद्र को आगे बढ़ने से रोक देता है।[58] इस तरह इस व्रत के माध्यम से लोभवृत्ति और लोभवृत्ति के कारण होने वाली हिंसा को सीमित किया जाता है।

इससे व्यापार-क्षेत्र की सीमा निर्धारित हो जाने से भागमभाग की जिन्दगी एवं अन्याय-छल आदि की प्रवृत्तियाँ न्यूनतम हो जाती हैं।

चौदह रज्जु-परिमित सम्पूर्णलोक का पापास्रव रूककर मर्यादित क्षेत्र जितना खुला रहता है। अनावश्यक गमनागमन से होने वाले कर्मबन्धन से बच जाता है। हलचल कम होने से मानसिक शान्ति में वृद्धि होती है तथा सन्तोषवृत्ति का गुण उत्तरोत्तर विकसित होता है।

7. उपभोगपरिभोग परिमाण व्रत

'उपभुज्यते इति उपभोग:'- इस निरूक्ति के अनुसार उपभोग शब्द का अर्थ है एक बार भोगा जाने वाला पदार्थ जैसे-भोजन, पानी, अंगविलेपन आदि। 'परिभुज्यते इति परिभोग:'- इस निरूक्ति के अनुसार परिभोग शब्द का अर्थ है बार-बार भोगा जाने वाला पदार्थ जैसे-वस्त्र, पात्र, शय्या आदि। उपभोग और परिभोग में आने वाली वस्तुओं की मर्यादा निश्चित करना उपभोगपरिभोग परिमाण-व्रत है।[59]

जैन साहित्य में उपभोग-परिभोग के उपर्युक्त अर्थ के अतिरिक्त अन्य अर्थ भी किए गए हैं। भगवतीसूत्र[60] और हरिभद्रीय आवश्यकटीका[61] में पदार्थ के एक बार भोग करने को परिभोग कहा है। अभिधानराजेन्द्रकोष,[62] धर्मसंग्रह[63] और उपासकदशाटीका में उपभोग का अर्थ बार-बार उपयोग में आने वाली सामग्री और परिभोग का अर्थ एक बार उपयोग में आने वाली सामग्री किया है।

रत्नकरण्डक श्रावकाचार में भोग का अर्थ एक बार भोगने योग्य पदार्थ और उपभोग का अर्थ पुन:-पुन: भोगने योग्य पदार्थ किया है। इस दृष्टि से इस व्रत का नाम भोगोपभोगपरिमाणव्रत ऐसा भी प्रसिद्ध है।

उपभोग-परिभोगव्रत की एक अन्य व्याख्या इस प्रकार उपलब्ध होती है- जो पदार्थ शरीर के आन्तरिक भाग से भोगे जाते हैं वे उपभोग हैं तथा जो पदार्थ

शरीर के बाह्यभाग से भोगे जाते हैं वे परिभोग हैं।

प्रस्तुत व्रत को स्वीकार करने वाला व्यक्ति प्रतिज्ञा करता है-"मैं उपभोग परिभोग सम्बन्धी पदार्थों का इतने परिमाण में एवं इतनी संख्या में उपभोग परिभोग करूंगा।" इस प्रकार उपभोग और परिभोग की मर्यादा निश्चित करना उपभोगपरिभोग परिमाणव्रत कहलाता है।

यह व्रत मुख्य रूप से दो प्रकार का है- 1. भोजनसम्बन्धी और 2. कर्मसम्बन्धी।[64]

उपासकदशासूत्र में भोजन-सम्बन्धी इक्कीस वस्तुओं के परिमाण का उल्लेख है।[65] श्रावकप्रतिक्रमणसूत्र में उपभोगपरिभोग सम्बन्धी छब्बीस प्रकार की वस्तुओं के परिमाण का निर्देश है। जो इस प्रकार हैं [66]-

1. **उदद्रवणिका विधि-** शरीर आदि पोंछने में उपयोग आने वाले रूमाल, तौलिया की संख्या रखना।
2. **दन्तधावन विधि-** दाँत साफ करने के लिए मंजन आदि की मर्यादा करना। प्राचीन युग में बबूल, नीम, मुलैठी आदि की लकड़ी से दातुन करते थे। वर्तमान युग में टूथपेस्ट, दन्तमंजन आदि से दंतधावन करते हैं।
3. **फल विधि-** केश, नेत्र आदि धोने के लिए विशेष उपयोग में आने वाले फल की मर्यादा करना।
4. **अभ्यंगन विधि-** मालिश हेतु काम आने वाले तेलों की संख्या एवं मात्रा निश्चित करना।
5. **उद्वर्त्तन विधि-** शरीर पर लगाने वाले उबटन आदि का परिमाण करना।
6. **स्नान विधि-** स्नान हेतु जल की मर्यादा निश्चित करना।
7. **वस्त्र विधि-** पहनने योग्य वस्त्रों के प्रकार, जैसे-ऊनी, रेशमी, सूती आदि की संख्या तथा मर्यादा रखना।
8. **विलेपन विधि-** शरीर पर लेप करने योग्य पदार्थ, जैसे-चंदन, अगर आदि की सीमा निर्धारित करना।
9. **पुष्प विधि-** पुष्पों के प्रकार की संख्या एवं सीमा का निर्धारण करना।
10. **आभरण विधि-** आभूषणों के प्रकार की संख्या एवं मर्यादा रखना।
11. **धूप विधि-** अगरबत्ती आदि धूप योग्य सामग्री की मर्यादा रखना।

12. **पेय विधि-** दूध, शर्बत, मट्ठा आदि की मर्यादा रखना।
13. **भोजन विधि-** विभिन्न प्रकार के भोज्य पदार्थों में से स्वयं के लिए योग्य भोज्य-पदार्थों की संख्या एवं मात्रा की मर्यादा रखना।
14. **ओदन विधि-** चावल के प्रकार की संख्या एवं मात्रा निश्चित करना।
15. **सूप विधि-** दालों की संख्या एवं उनकी मात्रा निश्चित करना।
16. **घृत विधि-** भोजन को सुस्वादु बनाने वाले घृत, दूध, दही, तेल, मिष्ठान्न आदि विगय पदार्थ की संख्या एवं मर्यादा रखना।
17. **शाक विधि-** भोजन के साथ व्यंजन के रूप में खाए जाने वाले पदार्थ जैसे-बथुआ, ककड़ी, घीया आदि की संख्या निश्चित करना।
18. **माधुरक विधि-** मीठे फल, इसमें दो प्रकार के फल आते हैं। हरे फलों में आम, केला, पपीता, नारंगी, सेव आदि की संख्या और सूखे फलों में बादाम, पिस्ता, किशमिश आदि की संख्या निश्चित करना।
19. **जेमण विधि-** क्षुधा निवारणार्थ खाए जाने वाले रोटी, पूड़ी, बाटी आदि की मर्यादा रखना।
20. **पानी विधि-** विविध प्रकार के उष्णोदक, शीतोदक, गन्धोदक आदि पेय पदार्थ की मर्यादा रखना।
21. **मुखवास विधि-** पान, सुपारी, इलायची आदि की संख्या एवं मर्यादा रखना।
22. **वाहन विधि-** घोड़ा, गाड़ी, नाव, जहाज आदि सवारी के साधनों की जातियाँ एवं संख्या का निर्धारण करना।
23. **उपानह विधि-** बूट, चप्पल, जूते आदि की संख्या रखना।
24. **शय्यासन विधि-** पलंग, पाट, गद्दा, तकिया आदि की संख्या रखना।
25. **सचित्तद्रव्य-** सचित्त वस्तुओं की मर्यादा करना।
26. **द्रव्य-** खाने योग्य विविध प्रकार की वस्तुओं की संख्या एवं उनकी मर्यादा करना।

दिगम्बर परम्परावर्ती साहित्य में यम एवं नियम-दो प्रकार के त्याग का निर्देश है। अल्पकाल के लिए जो त्याग किया जाता है, वह नियम तथा यावज्जीवन के लिए जो त्याग किया जाता है, वह यम कहलाता है।[67] सर्वार्थसिद्धि में उपभोग-परिभोग के तीन प्रकार बताए गए हैं- 1. दिन, रात,

पक्ष, मास, दो मास आदि 2. भोजन, वाहन, शयन, स्नान आदि 3. पुष्प, वस्त्र, आभूषण, गीतश्रवण आदि।[68]

उपभोग-परिभोगव्रत पालन हेतु कुछ आवश्यक बातें- इस व्रत का पालन करने वाले श्रावक को निम्न पाँच प्रकार की वस्तुओं का सेवन नहीं करना चाहिए, जो व्रत को दूषित एवं खंडित करती हैं-

1. त्रसवध- जिन पदार्थों में त्रसजीवों का अतिमात्रा में वध होता हो, जैसे- रेशमी वस्त्र, कॉडलिवर आइल आदि।
2. बहुवध- जिन पदार्थों के निर्माण में त्रसजीवों का उपघात तो नहीं होता, किन्तु निर्मित होने पर त्रसजीव पैदा हो जाते हैं अथवा असंख्य स्थावरजीवों की हिंसा होती है जैसे मदिरा आदि।
3. प्रमाद- जिन वस्तुओं का सेवन करने से प्रमाद की अभिवृद्धि होती हो, ऐसे गरिष्ठ और तामसिक-भोजन, अति मात्रा में विकृतियों का सेवन, आदि।
4. अनिष्ट- जिन वस्तुओं के सेवन से स्वास्थ्य बिगड़ता हो जैसे- अधपकी वस्तुएँ, चलित रस आदि।
5. अनुपसेव्य- जिन वस्तुओं का सेवन जैन-गृहस्थ के लिए सर्वथा त्याज्य है जैसे- मांस, मछली, अण्डे आदि।[69]

उपभोगपरिभोग परिमाण व्रत के अतिचार- इस व्रत में पाँच तरह के अतिचार लगते हैं। गृहस्थ-व्रती को इन अतिचारों से बचने का प्रयत्न करना चाहिए। वे निम्न हैं [70]-

1. सचित्ताहार- मर्यादा से अधिक सचित्त आहार करना।
2. सचित्त प्रतिबद्धाहार- सचित्त वस्तु के साथ सटी हुई या लगी हुई वस्तु खाना, जैसे-खजूर, आम आदि गुठली सहित खाना।
3. अपक्वाहार- बिना पका हुआ आहार करना, जैसे-कच्चे शाक, फल, आदि।
4. दुष्पक्वाहार- अच्छी तरह नहीं पका हुआ आहार करना।
5. तुच्छोषधि भक्षण- यहाँ औषधि का अर्थ वनस्पति है। जो खाने योग्य नहीं है, ऐसे पदार्थों का भक्षण करना, अथवा जिस वस्तु में खाने का भाग कम और फेंकने का भाग अधिक हो, जैसे-सीताफल आदि का सेवन करना।

रत्नकरण्डकश्रावकाचार में इस व्रत सम्बन्धी पाँच अतिचार निम्नोक्त बताए गए हैं- 1. विषयरूपी विष के प्रति आदर रखना 2. बार-बार भोग्य पदार्थों का स्मरण करना 3. पदार्थों के प्रति अत्यधिक लोलुपता रखना 4. भविष्य के भोगों की लालसा रखना 5. भोगों में अत्यधिक तल्लीन होना।[71]

ये उपर्युक्त अतिचार भोजन-सम्बन्धी कहे गए हैं। इन अतिचारों में अस्वादवृत्ति पर अधिक बल दिया गया है। स्वादवृत्ति से मर्यादा भंग होती है, अत: श्रावक को उपभोग-परिभोग संबंधी और व्यवसाय संबंधी मर्यादा को ध्यान में रखते हुए पन्द्रह कर्मादानों एवं उक्त पाँच अतिचारों ऐसे कुल 20 अतिचारों से बचना चाहिए।

कर्मादान- जैन आगम ग्रन्थों में व्रतधारी श्रावक के लिए पन्द्रह प्रकार के व्यवसायों का निषेध किया गया है, जो महारम्भ एवं महाहिंसा के कारण हैं।[72] ये निषिद्ध व्यवसाय 'कर्मादान' के नाम से प्रसिद्ध हैं। कर्मादान का अर्थ है- उत्कट(गाढ़)। जिस व्यापार प्रवृत्ति से घने, गहरे, चिकने पापकर्मों का आदान (ग्रहण) होता है, वे कर्मादान कहलाते हैं। उपासकदशासूत्र एवं आवश्यकसूत्र में पन्द्रह कर्मादानों का केवल नाम निर्देश है।[73] सागारधर्मामृत[74] एवं योगशास्त्र[75] आदि में इनका स्वरूप भी प्रतिपादित है। पन्द्रह कर्मादानों का सामान्य वर्णन इस प्रकार है-

1. अंगारकर्म- अग्नि सम्बन्धी व्यापार करना जैसे- कोयले बनाना, ईंटे बनाना, आदि।
2. वनकर्म- वनस्पति सम्बन्धी व्यापार करना जैसे- वृक्ष काटना, घास काटना और उनको बेचना आदि।
3. शकटकर्म- वाहन सम्बन्धी व्यापार करना जैसे- गाड़ी, मोटर, तांगा, रिक्शा आदि बनाना।
4. भाटकर्म- वाहन एवं पशु आदि किराए पर देने का व्यापार करना।
5. स्फोटककर्म- भूमि फोड़ने का व्यापार करना जैसे-खान खुदवाना, नहरें बनवाना, मकान बनवाना आदि।
6. दन्तवाणिज्य- हाथीदाँत आदि का व्यापार करना। उपासकदशा की टीका में चमड़े, हड्डी संबंधी व्यापार को भी इसमें सम्मिलित किया गया है।

7. लाक्षावाणिज्य- लाख आदि का व्यापार करना।
8. रसवाणिज्य- मदिरा आदि मादक रसों का व्यापार करना।
9. केशवाणिज्य- केश (बालों) एवं केशवाले प्राणियों को बेचने का व्यापार करना।
10. विषवाणिज्य- जहरीले पदार्थ एवं हिंसक अस्त्र-शस्त्रों का व्यापार करना।
11. यन्त्रपीलनकर्म- घानी, कोल्हू, आदि यंत्रों द्वारा तैलीय पदार्थ को पीसने का धंधा करना।
12. निर्लांछनकर्म- प्राणियों के अंग-उपांगों को छेदने, काटने आदि का व्यवसाय करना।
13. दावाग्नि दानकर्म- जंगल,खेत आदि में आग लगाने का व्यापार करना।
14. सर द्रह तड़ाग शोषणकर्म- सरोवर, तालाब, झील आदि सुखाने का व्यापार करना।
15. असती जनपोषणकर्म- दुराचारीणी स्त्रियों का पोषण करना, उनके द्वारा दुराचार करवाकर अर्थोपार्जन करना,चूहे आदि हिंसक प्राणियों का पालन करना आदि।

इन पन्द्रह कर्मादान के व्यवसाय का श्रावक को तीन करण और तीन योगपूर्वक त्याग करना चाहिए। इन व्यवसायों के अतिरिक्त ऐसे अनेक व्यवसाय हैं जिनसे महापाप होता है, वे भी गृहस्थ के लिए निषिद्ध कहे गए हैं। जैसे-कसाईखाना, शिकारखाना, द्यूतक्रीडाकेन्द्र, चौर्यकर्म, मांसविक्रय केन्द्र, मदिरालय, वेश्यालय, आदि। पूर्वोक्त प्रकार के व्यवसाय से मिलते-जुलते अन्य सभी प्रकार के व्यवसाय भी श्रावक को नहीं करने चाहिए, क्योंकि इन व्यापार कर्मों से त्रसजीवों की विशेष हिंसा होती है तथा इनमें से कुछ कर्म समाजविरोधी और निन्दनीय भी हैं।

उपभोग-परिभोगव्रत की उपादेयता- इस व्रत का पालन करने से जीवन में सादगी एवं सरलता का गुण उत्पन्न होता है। व्यक्ति की भोगवृत्ति पर अंकुश लगता है तथा संयमित जीवन जीने का अभ्यास होता है। अनावश्यक पदार्थों का उपभोग न करने से शरीर स्वस्थ रहता है। शरीर की स्वस्थता से बुद्धि, मन एवं चेतना की गतिविधियाँ भी सम्यक् बनी रहती हैं। अनावश्यक पदार्थों का

परिभोग न करने से ममत्ववृत्ति का ह्रास एवं वैराग्यभाव का उत्कर्ष होता है।

8. अनर्थदण्डविरमण व्रत

अनर्थ + दण्ड इन दो पदों के योग से अनर्थदण्ड शब्द निष्पन्न है। अनर्थ का अर्थ है-निष्प्रयोजन, दण्ड का अर्थ है-हिंसाजन्य प्रवृत्ति यानी निष्प्रयोजन हिंसात्मक प्रवृत्ति करना अनर्थदण्ड है तथा अनावश्यक हिंसात्मक कार्यों से विरत होना अनर्थदण्ड विरमण व्रत है।

आचार्य हरिभद्रसूरि के अनुसार स्वयं के लिए या अपने पारिवारिक व्यक्तियों के जीवन निर्वाह के लिए अनिवार्य सावद्य प्रवृत्तियों के अतिरिक्त शेष समस्त पापपूर्ण प्रवृत्तियों से निवृत्त होना अनर्थदण्डविरमण व्रत है।[76]

इस व्रत की प्रतिज्ञा करने वाला साधक अनावश्यक हिंसाकारी कुछ प्रवृत्तियों का परित्याग करता है और अपरिहार्य स्थिति की अपेक्षा कुछ प्रवृत्तियों की मर्यादा निश्चित करता है।

दण्ड के प्रकार- जैन ग्रन्थों में दण्ड के दो प्रकार प्रज्ञप्त हैं-

1. अर्थदण्ड और 2. अनर्थदण्ड। अर्थ का अभिप्राय प्रयोजन से है। गृहस्थ कृषिकर्म, गृहकर्म, व्यापारकर्म आदि जो आवश्यक प्रवृत्तियाँ करता है उन प्रवृत्तियों द्वारा होने वाली हिंसा को अर्थदण्ड कहते हैं तथा निष्प्रयोजन प्रवृत्तियाँ जैसे-सरकस देखना, सिनेमा देखना, ताश खेलना आदि द्वारा होने वाली हिंसा को अनर्थदण्ड कहते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो आवश्यक कार्य के निमित्त जो हिंसा होती है, वह अर्थदण्ड है और अनावश्यक कार्य, प्रमाद, कौतूहल, अविवेक आदि के निमित्त होने वाली हिंसा अनर्थदण्ड है। आवश्यकता से अधिक वस्तु का उपयोग एवं संग्रह करना भी अनर्थदण्ड है।

इस विवरण से अवगत होता है कि श्रावक को अनावश्यक आरम्भ-समारम्भ के कार्य, कौतूहलप्रिय सरकस आदि के नाटक, मनोरंजन के निमित्त चलते हुए पत्तियों को तोड़ना, कुत्ते आदि पशुओं को छेड़ना, तालाब में पत्थर फेंकना आदि पापकारी प्रवृत्तियों का सेवन नहीं करना चाहिए।

अनर्थदण्ड के प्रकार- उपासकदशासूत्र में अनर्थदण्ड चार प्रकार का बताया गया है-[77]

1. अपध्यान- अपध्यान का अर्थ है दुश्चिंतन करना।

दुश्चिंतन भी एक प्रकार की हिंसा है। वह आत्मगुणों का घात करता है। मूलत: आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान करना अपध्यानचरित है। बुरे विचारों में मन को एकाग्र करना अपध्यान है।

2. प्रमादाचरण- अपने धर्म, दायित्व एवं कर्त्तव्य के प्रति अजागरूक रहना प्रमाद है। आचार्य हेमचन्द्रसूरि ने कहा है- कौतूहलवश अश्लील गीत गाना, नाटक देखना, विषय कषायवर्द्धक साहित्य पढ़ना, जुआ खेलना, मद्यपान करना, कलहवर्द्धक विनोद करना, प्राणियों को परस्पर लड़ाना, बिना वजह आलस्यादि करना-ये सब प्रमादाचरण हैं।[78] आचार्य समन्तभद्र ने लिखा है- निरर्थक जमीन खोदना, अग्निप्रज्वलित करना, घृत, तेल, दूध आदि के बर्तन खुले रखना, लकड़ी आदि बिना देखें उपयोग में लेना प्रमादचर्या है।[79]

3. हिंसाप्रदान- हिंसक उपकरण या साधन जैसे-शस्त्र, आग, विष आदि दूसरों को देना हिंसाप्रदान अनर्थदण्ड है।

4. पापोपदेश- पापकर्म का उपदेश देना पापोपदेश अनर्थदण्ड है। आचार्य समन्तभद्र ने अनर्थदण्ड के पाँच प्रकारों का उल्लेख किया है उनमें चार प्रकार उपर्युक्त ही हैं पांचवाँ प्रकार दु:श्रुति नामक है। आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है- ऐसे उपन्यास, कहानियाँ, नाटक या वार्ताएँ सुनना या पढ़ना, जिनसे कामादि विकार उत्पन्न होते हों, दु:श्रुति अनर्थदण्ड है।[80]

सुस्पष्ट है कि गृहस्थ साधक को इस व्रत का निर्दोष पालन करने के लिए उक्त दोषों से बचते रहना चाहिए। गृहस्थ-जीवन में ये दोष अनायासरूप से भी लगते रहते हैं, अत: हर पल सचेत रहते हुए इस व्रत का निष्ठापूर्वक पालन करना चाहिए।

अनर्थदण्डव्रत के अतिचार- अनर्थदण्डविरमण व्रत के विकास हेतु निम्न पाँच दुष्कृत्यों का परिहार करना आवश्यक है[81]-

1. कन्दर्प- काम-वासना को उद्दीप्त करने वाली चेष्टाएँ करना।

2. कौत्कुच्य- अश्लील एवं विकृत चेष्टाएँ करना।

3. मौखर्य- बढ़ा-चढ़ाकर बोलना, व्यर्थ बोलना, बकवास करना आदि।

4. संयुक्ताधिकरण- बिना आवश्यकता के हिंसक-साधनों का संयोग करके रखना जैसे-बन्दूक के साथ कारतूस, धनुष के साथ तीर रखना।

5. उपभोग-परिभोगातिरेक- उपभोग (धान्य आदि वस्तुएँ) और परिभोग (मकान, वस्त्र आदि) सम्बन्धी साधनों का आवश्यकता से अधिक संचय करके रखना।

अनर्थदण्डविरमण व्रत की उपादेयता- इस गुणव्रत से प्रधानतया अहिंसा और अपरिग्रह का पोषण होता है तथा निष्प्रयोजन किए जाने वाले पापकर्मों का संवरण होता है। निरर्थक प्रवृत्तियों का निषेध होने से अर्थव्यय, कलहयुक्त एवं संघर्षमयी स्थितियों से रक्षण होता है। परिणामस्वरूप अविवेकपूर्ण एवं अनुशासनहीन वृत्तियों का निरोध होता है। इससे निरर्थक-हिंसा एवं निरर्थक-संग्रह का भी अवरोध होता है।

चार शिक्षाव्रत

शिक्षा का सामान्य अर्थ है अभ्यास करना। जिस प्रकार विद्यार्थी बार-बार अभ्यास करता है, उसी प्रकार गृहस्थव्रती द्वारा जिन व्रतों का बहुत बार अभ्यास किया जाता है, वे शिक्षाव्रत कहलाते हैं। अणुव्रत और गुणव्रत जीवन में दीर्घ समय के लिए ग्रहण किए जाते हैं,[82] किन्तु शिक्षाव्रत बार-बार ग्रहण किए जाते हैं और कुछ निर्धारित समय के लिए ही होते हैं। शिक्षाव्रत के नाम ये हैं- 1. सामायिक 2. देशावगासिक 3. पौषधोपवास और 4. अतिथिसंविभाग।

9. सामायिक व्रत

सामायिक पहला शिक्षाव्रत है। आचार्य हरिभद्र ने सामायिक शब्द का निरूक्तिपरक अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा है कि जो राग-द्वेष से रहित होकर समस्त प्राणियों को अपने समान ही देखता है, उसका नाम 'सम' है और इसी का पृष्ठीय भाग 'आय' शब्द का अर्थ 'प्राप्ति' है, तदनुसार सम जीव, जो प्रतिसमय अनुपम सुख की कारणभूत अपूर्व ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप पर्यायों से संयुक्त होता है, उसे 'समाय' कहते हैं। समाय सम्बन्धी भाव या क्रिया को सामायिक कहते हैं।[83] कहा भी गया है- 'समाय भवम् सामायिकम्'-इस विग्रह के अनुसार समाय होने पर जो अवस्था होती है, वह सामायिक है। सामायिक में समभाव की साधना होती है। आसन, मुखवस्त्रिका, चरवला, आदि बाह्य-उपकरणों द्वारा विधिपूर्वक सामायिक ग्रहण करना द्रव्य-सामायिक है और कषाय- विषयादिरूप अध्यवसायों से दूर हटना एवं आत्मस्थ बनना भाव सामायिक है।

यह व्रत ग्रहण करते समय श्रावक प्रतिज्ञा करता है-"मैं निश्चित अवधि के लिए दो करण और तीन योगपूर्वक सावद्य (हिंसादि) कार्यों का त्याग करता हूँ।" इस प्रतिज्ञासूत्र से स्पष्ट है कि कषाय (हिंसात्मक) भावों से विरत होना ही सामायिक है अत: साधक को सामायिक-व्रत का पालन करते समय समत्वभाव में रहने का प्रयास करना चाहिए।

सामायिकव्रत के अतिचार- सामायिक-व्रत की साधना में सावधानी रखने के बावजूद भी जिन दोषों के लगने की संभावनाएँ रहती हैं, वे निम्न हैं [84]-

1. मन:दुष्प्रणिधान- मन में अशुभ विचार करना।
2. वचन दुष्प्रणिधान- वचन से अशुभ बोलना।
3. काय दुष्प्रणिधान- शरीर से अशुभ प्रवृत्ति करना, जैसे- बार-बार शरीर को हिलाना, सिकोड़ना, पसारना आदि।
4. स्मृत्यकरण- सामायिक में एकाग्रचित्त न रहना अथवा सामायिक की मर्यादा को विस्मृत करना।
5. अनवस्थिता- सामायिक को निश्चित विधि के अनुसार नहीं करना अथवा अव्यवस्थित रूप से सामायिक करना।

सामायिकव्रत की उपादेयता- सामायिक जैन आचार दर्शन की साधना का केन्द्रबिन्दु है। यह श्रमण जीवन का प्राथमिक धर्म एवं श्रावक जीवन का अति आवश्यक कृत्य माना गया है। सामायिक साधना से एक ओर आत्मजागृति होती है, तो दूसरी ओर समत्वपूर्ण व्यवहार का प्रादुर्भाव होता है। सामायिक का निरन्तर अभ्यास करने से साधकीय जीवन के समग्र पक्षों में समता विकसित हो उठती है। समभाव की प्राप्ति से प्रतिकूल परिस्थितियाँ भी अनुकूल हो जाती हैं। इसके आचरण से मन, वचन और कर्म त्रियोग की शुद्धि होती है। फलत: व्रती अयोगी अवस्था को उपलब्ध कर लेता है।

10. देशावगासिक व्रत

दिशापरिमाण व्रत में गृहीत परिमाण को किसी नियत समय के लिए पुन: मर्यादित करना देशावगासिक व्रत है। यह व्रत दिशापरिमाण-व्रत का सूक्ष्मरूप है। दिशापरिमाण-व्रत में दसों दिशाओं की मर्यादा की जाती है, उसी मर्यादा में कुछ काल या घंटों के लिए विशेष मर्यादा निश्चित करना देशावगासिक व्रत

कहलाता है। देशावगासिक व्रत में देश और अवकाश-ये दो शब्द हैं। इसके दो अर्थ किए जा सकते हैं- 1. देश-कुछ, अवगास-स्थान अर्थात विस्तृत दायरे को संक्षिप्त करना देशावगास है।

2. स्थानविशेष-जीवन पर्यन्त के लिए गृहीत दिशापरिमाण अर्थात क्षेत्रमर्यादा के एक अंशरूप स्थान की कुछ समय के लिए विशेष सीमा निर्धारित करना देशावगास है। यह व्रत क्षेत्र मर्यादा को सीमित करने के साथ-साथ उपलक्षण से उपभोग-परिभोग की अन्य मर्यादाओं को भी निर्धारित करता है। इस व्रत में न्यूनतम निवृत्ति ली जाती है। यह व्रत प्रहर, मुहूर्त्त और दिनभर के लिए किया जाता है।

उपासकदशासूत्र में देशावगासिक की परिभाषा करते हुए लिखा है- निश्चित समय के लिए क्षेत्र की मर्यादा कर उससे बाहर किसी प्रकार की प्रवृत्ति नहीं करना देशावगासिक-व्रत है।[85] यह छठवें व्रत का संक्षेप है।

योगशास्त्र में कहा है-दिगव्रत में किए गए परिमाण को कुछ घण्टों के लिए या दिनों के लिए विशेष मर्यादित करना देशावगासिक -व्रत है।[86] जैनेन्द्रसिद्धांतकोश के अनुसार दिग्व्रत में रखी गई मर्यादा में काल के विभाग से प्रतिदिन क्षेत्र का त्याग करना अथवा दिशापरिमाण-व्रत का प्रतिदिन संकोच करना देशावगासिक व्रत है।[87]

उपर्युक्त परिभाषाओं से फलित होता है कि यह दिशापरिमाण व्रत का संक्षिप्त रूप है। दिग्व्रत में दिशाओं का परिमाण यावज्जीवन किया जाता है, किन्तु देशावगासिक व्रत नियत काल के लिए स्वीकार किया जाता है। दिग्व्रत में केवल क्षेत्र की मर्यादा की जाती है, जबकि देशावगासिक-व्रत में देश, काल एवं उपभोग परिभोग तीनों की मर्यादाएँ की जाती है।

स्थानकवासी परम्परा में इसे संवर करना कहते हैं। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक की वर्तमान परम्परा में चौविहार उपवासपूर्वक तेरह या पन्द्रह सामायिक एक साथ ग्रहण करने को देशावगासिक-व्रत कहा गया है। आज देशावगासिक-व्रत का यही स्वरूप प्रचलन में है। मूलत: इस व्रत की आराधना के लिए निश्चित अवधि का कोई निर्देश नहीं है। जैसे सामायिक के लिए कम से कम अड़तालीस मिनिट का समय अपेक्षित है, वैसे देशावगासिक व्रत के लिए समय का निर्धारण नहीं है। यह व्रत सामायिक से कम या अधिक अवधि के लिए ग्रहण

किया जा सकता है।

व्रतधारी गृहस्थ के द्वारा इस व्रत का नियमित रूप से पालन किया जा सके, तद्हेतु चौदह नियम की व्यवस्था की गई है। वे चौदह नियम ये हैं-

1. सचित्त- फल, साग, आदि की संख्या या मात्रा निश्चित करना।
2. द्रव्य- खाने-पीने सम्बन्धी वस्तुओं की मर्यादा करना। जैसे भोजन के समय अमुक संख्या से अधिक वस्तुओं का उपभोग नहीं करूंगा।
3. विगय- घी, तेल, दूध, दही, गुड़(शक्कर) एवं तले हुए पदार्थ इन छः की मर्यादा करना।
4. उपानह- जूते, चप्पल, मौजे, आदि पाँव में पहनी जाने वाली वस्तुओं की संख्या निश्चित करना।
5. तंबोल- पान, सुपारी, इलायची, आदि मुख को सुगन्धित करने वाली वस्तुओं की संख्या एवं वजन का परिमाण रखना।
6. वस्त्र- प्रतिदिन पहने जाने वाले वस्त्रों की संख्या रखना।
7. कुसुम- पुष्प, इत्र, आदि सुगन्धित पदार्थों की संख्या एवं वजन निश्चित करना।
8. वाहन- स्कूटर, बस, ट्रेन, आदि सवारी वाले वाहनों की संख्या का निर्धारण करना।
9. शयन- पलंग, खाट, गादी, चटाई, आदि बिछाने योग्य वस्तुओं एवं स्थान की सीमा करना।
10. विलेपन- शरीर पर लगाने योग्य केसर, चंदन, तेल आदि पदार्थों की मर्यादा करना।
11. ब्रह्मचर्य- मैथुन सेवन की मर्यादा करना।
12. दिशा- दिशाओं में गमनागमन एवं तत्सम्बन्धी प्रवृत्तियों की मर्यादा करना।
13. स्नान- स्नान एवं जल की मर्यादा करना।
14. भक्त- अशन, पान, खादिम, स्वादिम- इन चार प्रकार के आहार की संख्या एवं सीमा निश्चित करना।

इन चौदह नियमों का चिन्तन करके प्रत्येक नियम के सम्बन्ध में प्रतिदिन मर्यादा निश्चित की जाती है। इन नियमों के विषय में ऐसी परम्परा है

कि नियम ग्रहण करने वाला साधक रात्रि को पुन: उसका चिंतन करे कि गृहीत मर्यादा का भूलवश उल्लंघन तो नहीं हुआ है ? यदि हुआ हो, तो प्रायश्चित्त ग्रहण करें। इन नियमों के आधार पर सातवें व्रत में जो मर्यादाएँ स्वीकारी गईं थीं, उनका और भी संकोच किया जाता है। इसी तरह अन्य व्रतों की मर्यादाओं का भी संकोच किया जाता है। स्थानकवासी परम्परा में 'चौदह नियम' स्वीकार करने को दयाव्रत या छ:कायव्रत कहते हैं।

यह नियम-विधि एक बार गुरूगमपूर्वक समझनी चाहिए। इस व्रत में गमनागमन की जितनी सीमाएँ रखी जाती है, उसके अतिरिक्त श्रावक के स्थूल और सूक्ष्म-सभी पापों का त्याग हो जाता है।[88]

इस प्रकार देश यानी दिशाव्रत में रखा हुआ जो विभाग- अवकाश या क्षेत्र-सीमा है उसे और भी कम करना देशावकाश है। इसे व्रतरूप में स्वीकारना देशावगासिक-व्रत है।

देशावगासिक व्रत के अतिचार- इस व्रत का निर्दोष पालन करने के लिए निम्न पाँच प्रकार के अतिचारों का सेवन नहीं करना चाहिए[89]-

1. आनयन प्रयोग- अपने लिए मर्यादित क्षेत्र के बाहर से वस्तु लाना या मंगवाना।
2. प्रेष्य प्रयोग- सेवक आदि के द्वारा मर्यादित क्षेत्र के बाहर वस्तु भेजना।
3. शब्दानुपात- मर्यादित क्षेत्र के बाहर शब्द आदि के द्वारा अपना कार्य करवाना।
4. रूपानुपात- संकेत, इशारे, आदि के द्वारा मर्यादित क्षेत्र के बाहर खड़े व्यक्ति से कार्य करवाना।
5. पुद्गल प्रक्षेप- मर्यादित क्षेत्र के बाहर कंकर, पत्थर आदि फेंककर किसी को अपनी ओर बुलाना, अपना अभिप्राय समझाना।

इस प्रकार संकेत, आदेश या कंकर आदि के द्वारा अपने कार्यों को पूर्ण करना देशावगासिक-व्रत के दोष हैं।

देशावगासिक व्रत की उपादेयता- इस व्रत का अनुपालन करने से अल्पकाल के लिए गृहस्थ जीवन से निवृत्ति मिलती है, जिसके फलस्वरूप श्रावक हिंसादि-पापों से बचता है। आचार्य हरिभद्रसूरि ने इस व्रत की उपादेयता बताते हुए कहा है-जिस प्रकार विषैले सर्प आदि के काट लेने पर उसका विष

समस्त शरीर में फैल जाता है, फिर भी मान्त्रिक अपनी मन्त्रशक्ति द्वारा उसे क्रमशः उतारते हुए केवल अंगुली में स्थापित कर देता है, उसी प्रकार देशावगासिक व्रतधारी दिग्व्रत में स्वीकृत विस्तृत क्षेत्र को कालपरिमाण के आश्रय से प्रतिदिन संक्षिप्त करता जाता है। इससे प्रमादवृत्ति न्यून होती है अतएव इस व्रत का पालन प्रयत्नपूर्वक करना चाहिए।

11. पौषधोपवास व्रत

पौषधव्रत का सामान्य अर्थ है- पोषना, तृप्त करना अर्थात आत्म-भावों में रहने का अभ्यास करना पौषधव्रत है।

श्रावकप्रतिक्रमणसूत्र के अनुसार एक अहोरात्र के लिए चारों प्रकार के आहार का त्याग करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना, शरीर का सत्कार नहीं करना, सावद्य-व्यापार का त्याग करना पौषधोपवास-व्रत है। इसके व्युत्पत्तिपरक अर्थ के अनुसार अपने आपके निकट रहना पौषध है।

आचार्य हरिभद्रसूरिजी ने इसे परिभाषित करते हुए कहा है-विशेष नियमपूर्वक उपवास करना अर्थात आत्मचिन्तन के निमित्त सर्वसावद्य क्रिया का त्याग कर एवं शान्तिपूर्ण स्थान पर बैठकर उपवासपूर्वक नियत समय व्यतीत करना पौषधोपवास-व्रत है।[90]

रत्नकरण्डक श्रावकाचार में चारों प्रकार के आहार-त्याग को उपवास तथा एक बार भोजन करने को पौषध कहा है।[91] कार्तिकेयानुप्रेक्षा में पर्व के दिनों में स्नान, विलेपन, स्त्री-संसर्ग, गंध, धूप, आदि का परिहार करते हुए उपवास, एकासन या विकार रहित नीरस भोजन करने को पौषधोपवास कहा है।[92] उपासकाध्ययन में पौषध का अर्थ 'पर्व' किया गया है। ये पर्व प्रत्येक मास में चार आते हैं। इन पर्व-दिनों में रसत्याग, एकासन, एकान्त-निवास आदि करना पौषधोपवास है।[93]

योगशास्त्र के अनुसार पर्व के दिनों में उपवास आदि तप करना, पापमय क्रियाओं का त्याग करना, शरीर शोभा का त्याग करना पौषधोपवास है।[94]

श्वेताम्बर-मूर्तिपूजक की वर्तमान परम्परानुसार चार प्रहर अथवा आठ प्रहर तक पौषधशाला या उपाश्रय में उपवास पूर्वक रहना पौषधोपवास है।

यह व्रत स्वीकार करते हुए श्रावक प्रतिज्ञा करता है-'मैं आहार पौषध का देश से, शरीरसत्कार पौषध, ब्रह्मचर्य पौषध, अव्यापार पौषध का सुबह से दिन

पर्यन्त अथवा अहोरात्रि पर्यन्त दो करण एवं तीन योगपूर्वक त्याग करता हूँ।'

इस प्रकार पौषधव्रत में आहार, शरीर विभूषा, अब्रह्मसेवन और व्यापार- इन चार प्रकार की प्रवृत्तियों का निश्चित अवधि के लिए त्याग किया जाता है।

पौषधव्रत के अतिचार- इस व्रत के पाँच अतिचार निम्नलिखित हैं[95]-

1. अप्रतिलेखित दुष्प्रतिलेखित शय्यासंस्तारक- बैठने-सोने योग्य स्थान एवं साधनों का देखे बिना ही उपयोग करना।

2. अप्रमार्जित दुष्प्रमार्जित शय्यासंस्तारक- पौषध में उपयोगी आसन आदि का प्रमार्जन किए बिना ही उपयोग करना।

3. अप्रमार्जित दुष्प्रमार्जित उच्चारप्रस्रवणभूमि- मल-मूत्र के स्थानों का भलीभाँति निरीक्षण किए बिना ही उपयोग करना।

4. अप्रतिलेखित दुष्प्रतिलेखित उच्चारप्रस्रवणभूमि- मल-मूत्र के स्थानों का सम्यक् प्रमार्जन किए बिना ही उपयोग करना।

5. पौषध सम्यगननुपालनता- पौषध के नियमों का विधिवत पालन नहीं करते हुए प्रमाद आदि करना।

पौषधोपवास व्रत की उपादेयता- यह व्रत मुख्य रूप से निवृत्तिपरक-जीवन की साधना के निमित्त किया जाता है। इस व्रत की प्राथमिक उपादेयता विषय-वासनाओं पर नियन्त्रण करना है। उपवास द्वारा विषय-वासनाओं पर स्वयमेव नियन्त्रण हो जाता है। एक अहोरात्रि के लिए सांसारिक-व्यापारों से मुक्त होकर निरन्तर धर्मक्रिया में दत्तचित्त रहने के कारण श्रमणतुल्य जीवन का परिपालन होता है।

आहार पौषध (आहार त्याग) करने से धर्म का उपचय होता है। शरीरसत्कार पौषध करने से धर्म का संचय होता है। ब्रह्मचर्य पौषध से शीलव्रत का पालन होता है और अव्यापार पौषध से सावद्य क्रियाओं का निरोध एवं सामायिकव्रत का प्रवर्तन होता है।

12. अतिथिसंविभाग व्रत

यह श्रावक का बारहवाँ व्रत है तथा शिक्षाव्रतों में भी अंतिम शिक्षाव्रत है। अतिथि का अर्थ है- जिसके आने की तिथि निश्चित न हो। जो अनायास आता है, वह अतिथि कहलाता है। साधु को अतिथि कहा गया है। जिस प्रकार अतिथि का समय निर्धारित नहीं होता, उसी प्रकार निर्ग्रन्थ-श्रमण का भी कोई पूर्व

नियोजित कार्यक्रम नहीं होता। जिसने आध्यात्मिक साधना के लिए स्वगृह का त्याग कर अनगार-धर्म ग्रहण किया है, उस भिक्षुक को न्यायोपार्जित निर्दोष वस्तुओं का निस्वार्थभाव से श्रद्धापूर्वक दान देना अतिथिसंविभाग व्रत है।

उपासकटीका में चारित्र सम्पन्न योग्य पात्रों के लिए अन्न, वस्त्र, आदि के यथाशक्ति विभाजन को अतिथिसंविभाग-व्रत कहा गया है।[96] उपासकदशा सूत्र की अभयदेवटीका में कहा गया है कि श्रावक ने अपने लिए जो आहार आदि बनाया है उनमें से साधु-साध्वियों को कल्पनीय आहार आदि देने के लिए विभाग करना यथासंविभागव्रत है।[97]

श्रावकप्रतिक्रमणसूत्र में साधुओं के योग्य निर्दोष अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य-आहार देने को अतिथि संविभाग व्रत कहा है।[98] पुरूषार्थसिद्धयुपाय के अनुसार दाता के गुणों से युक्त श्रावक को स्वपर अनुग्रह के हेतु विधिपूर्वक यथाजातरूप अतिथि साधु के लिए द्रव्य विशेष का संविभाग अतिथिसंविभाग है।[99]

उपासकाध्ययन में गृहस्थों को विधि, देश, आगम, पात्र एवं काल के अनुसार दान देना चाहिए-ऐसा कहा गया है।[100] चारित्रसार आदि में संयम के रक्षार्थ विहार करने वाले अतिथि के लिए आहार आदि का जो विभाग किया जाता है, उसे अतिथिसंविभाग-व्रत कहा है। योगशास्त्र में अतिथियों को चार प्रकार का आहार, वस्त्र, मकान आदि देना उसे अंतिथिसंविभाग बताया है।[101] लाटीसंहिता में इसे दान कहकर उत्तम, मध्यम एवं जघन्य पात्रों में से जो भी मिल जाए, उसे विधिपूर्वक दान देने को अतिथिसंविभाग कहा है।[102]

श्वेताम्बर-मूर्तिपूजक की वर्तमान परम्परा में अतिथिसंविभागी श्रावक प्रथम दिन पौषध करता है, दूसरे दिन एकासना करके अपने गृहांगन में साधु-साध्वी एवं श्रावक-श्राविका को आमंत्रित कर उन्हें आहार आदि प्रदान करता है, इसे अतिथिसंविभाग व्रत माना है।

अतिथिसंविभाग के प्रकार- अतिथिसंविभागी को आहार आदि प्रदान करते समय मुख्य रूप से चार बातों का ध्यान रखना आवश्यक है- 1. विधि 2. द्रव्य 3. दाता और 4. पात्र। जो दान इन चार विशेषताओं से युक्त हो, वही सुपात्रदान है।

1. विधि- किसी भी प्रकार के स्वार्थ या अपेक्षा भाव से रहित होकर दान देना।

2. द्रव्य- जो आहार मुनि के तप और संयम में सहायक हो वह शुद्ध द्रव्य कहलाता है।
3. दाता- जिसके हृदय में भक्ति की भावना बह रही हो, वह दाता कहलाता है।
4. पात्र- जिसके जीवन में यम-नियम-संयम की गंगा बह रही हो, वह पात्र कहा गया है।[103]

उक्त चारों प्रकारों से शुद्धतापूर्वक दान देना चाहिए। यही शुद्ध, श्रेष्ठ और उत्तम दान है।

अतिथिसंविभाग व्रत के अतिचार- इस व्रत में पाँच प्रकार के दोष लगते हैं[104]-

1. सचित्त निक्षेपण- दान न देने की भावना से प्रासुक आहार के ऊपर सचित्त-वस्तुओं का निक्षेप करना, ताकि साधु उस आहार को ग्रहण न कर सके।
2. सचित्त पिधान- दान न देने की बुद्धि से अचित्त वस्तु के ऊपर सचित्त वस्तु ढ़क देना।
3. कालातिक्रम- भिक्षाग्रहण का समय बीत जाने पर भोजनादि खाद्य-सामग्री तैयार करना।
4. परव्यपदेश- दान देने की इच्छा न होने पर अपनी वस्तु को दूसरों की बताना।
5. मत्सरता- ईर्ष्या एवं अहंकार की भावना से दान देना।

इन अतिचारों में लोभ, अहंकार, ईर्ष्या और द्वेषवृत्ति रही हुई है, जिससे श्रावक का व्रत दूषित या खण्डित होता है अत: व्रतधारी श्रावक को इन दोषों से बचकर रहना चाहिए।

अतिथिसंविभाग व्रत की उपादेयता- यह व्रत गृहस्थ के सामाजिक-दायित्व का सूचक है। इसमें व्रतधारी श्रावक स्व की भावना से ऊपर उठकर पर-कल्याण के बारे में विचार करता है। इस व्रत के परिपालन से सेवा, दान, करूणा का भाव जागृत होता है। इस व्रत के माध्यम से गृहस्थ एवं श्रमण वर्ग के पारस्परिक सहयोग के रूप में गृहस्थ उपासक के महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्यों की सीमा अपने और अपने परिजनों की पूर्ति तक ही नहीं, वरन् नि:स्वार्थ-भाव से समाज

और राष्ट्र-सेवा तक व्याप्त हो जाती है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि जो गृहस्थ साधक बारहव्रतों का अतिचाररहित पालन करता है, उसके क्लिष्ट कर्मों का क्षय हो जाता है और वह आध्यात्मिक-पथ पर आगे बढ़ता हुआ सिद्धत्व-पद के सन्निकट पहुँच जाता है। आचार्य हरिभद्रसूरि के मतानुसार पाँच अणुव्रतों एवं तीन गुणव्रतों का यावज्जीवन पालन करना चाहिए, जबकि शिक्षाव्रत निश्चित समय अथवा दिनों के लिए ही ग्रहण किए जाते हैं।

श्रावक के एक सौ चौबीस अतिचारों की गणना

गृहीतव्रत या नियम में अंशत: दोष लगना अतिचार कहलाता है। जैन श्रावक के जीवन में सम्यक्त्व, संलेखना, पंचाचार एवं बारहव्रत सम्बन्धी 124 अतिचार लगते हैं यानी इन व्रतों में 124 प्रकार से दूषण लगने की संभावना रहती है।

अतिचारों की संख्या निम्न हैं-

सम्यक्त्व के पाँच, संलेखना के पाँच, ज्ञानाचार के आठ, दर्शनाचार के आठ, चारित्राचार के आठ, तपाचार के बारह, वीर्याचार के तीन, कर्मादान के पन्द्रह, बारहव्रत में प्रत्येक के पाँच-पाँच इस प्रकार 5 + 5 + 8 + 8 + 8 + 12 + 3 + 15 + 60 = एक सौ चौबीस अतिचार होते हैं।[105]

श्रावक व्रत एक मनोवैज्ञानिक-क्रम

जैनधर्म में श्रावक के व्रत-स्वीकार का क्रम बड़ा वैज्ञानिक है। व्रत ग्रहण करते समय व्रतग्राही अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह को आंशिक रूप से ग्रहण करता है। दूसरे शब्दों में कहें, तो व्यक्ति आत्मबल और स्वयं के सामर्थ्य के अनुसार कुछ अपवादों के साथ द्वादशव्रतों को ग्रहण करता है।

श्रावक द्वारा स्वीकार किए जाने वाले व्रत श्रमण के व्रतों से परिपालन की दृष्टि से न्यून होते हैं, इसलिए उन्हें अणुव्रत कहा जाता है। व्रत अपने-आप में महत् या अणु नहीं होता, महत् या अणु विशेषण व्रत के साथ पालक की क्षमता या सामर्थ्य के कारण लगता है। जहाँ साधक अपने आत्मबल में कमी या न्यूनता नहीं देखता, वहाँ वह उस व्रत का पालन सम्पूर्ण रूप से करता है और वे व्रत महाव्रत की संज्ञा पा लेते हैं। जहाँ साधक सीमा और अपवादों के साथ

व्रत का पालन करता है, वहाँ वे व्रत अणुव्रत की संज्ञा प्राप्त करते हैं।

जैनधर्म की एक बहुत बड़ी विशेषता यह है कि श्रावकों के व्रतों में अपवादों का कोई इत्थंभूत या एक रूप नहीं है। एक ही अहिंसाव्रत अनेक आराधकों द्वारा अनेक प्रकार के अपवादों के साथ स्वीकार किया जा सकता है। विभिन्न व्यक्तियों की क्षमता एवं सामर्थ्य भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं, उत्साह या आत्मबल भी एक जैसा नहीं होता है। अतएव अपवाद स्वीकार करने में प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण स्वातन्त्रय है उस पर अपवाद बलात् आरोपित नहीं किए जा सकते। इससे कम–अधिक सभी तरह की शक्तिवाले साधनोत्सुक व्यक्तियों को साधना में आने का अवसर मिल जाता है। फिर साधक धीरे-धीरे अपनी शक्तियों को विकसित करता हुआ आगे बढ़ता जाता है और अपवादों को कम करता जाता है। इस तरह की साधना करता हुआ साधक शनैः-शनैः श्रमणोपासक की भूमिका से श्रमण की भूमिका में प्रवेश कर लेता है। यह गहरा मनोवैज्ञानिक-तथ्य है।

गृहस्थ साधना में जैन धर्म की यह पद्धति निःसन्देह बेजोड़ है। अतिचार-वर्जन आदि द्वारा उसकी मनोवैज्ञानिकता और गहरी हो जाती है, जिससे व्रती का जीवन एक पवित्र रूप लेकर निखार पाता है।[106]

द्वादशव्रत के सम्बन्ध में श्वेताम्बर और दिगम्बर- परम्पराओं के मतभेद

श्वेताम्बर और दिगम्बर-दोनों परम्पराएँ जैन श्रावक के लिए बारहव्रत का विधान करती हैं। व्रतों की संख्या के सम्बन्ध में दोनों एकमत हैं। यदि बारहव्रत के नामों एवं गणनाक्रम को लेकर विचार करें, तो गुणव्रतों एवं शिक्षाव्रतों में किंचित् भिन्नता ज्ञात होती है। सामान्यतया श्रावक के बारहव्रतों का विभाजन निम्न रूप में हुआ है- पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत।

श्वेताम्बर-परम्परा की दृष्टि से उपासकदशांगसूत्र में पाँच अणुव्रतों और सात शिक्षाव्रतों का उल्लेख है। गुणव्रतों का शिक्षाव्रतों में ही समावेश कर लिया गया है। आचार्य हेमचन्द्र के योगशास्त्र में भी बारहव्रतों का विभाजन तत्त्वार्थसूत्र के समान ही किया गया है। दिगम्बर-परम्परा की दृष्टि से आचार्य कुन्दकुन्द का चारित्रपाहुड़, आचार्य अमृतचन्द्र का पुरूषार्थसिद्धयुपाय, पं.आशाधर का सागारधर्मामृत आदि में द्वादशव्रतों का विभाजन अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत

के आधार पर किया है।

हम देखते हैं कि बारहव्रतों की संख्या एवं बारह-व्रतों के विभाजन को लेकर दोनों परम्पराओं में कोई मतवैभिन्य नहीं है, फिर भी श्वेताम्बर-परम्परा में पाँच अणुव्रतों का स्थान मूलगुण में है ओर शेष सात व्रत उत्तरगुण के रूप में हैं, किन्तु दिगम्बर-परम्परा में श्रावकों के मूलगुण आठ माने हैं और उत्तरगुण बारह माने हैं। दिगम्बर-परम्परा में मद्य, मांस, मधु और पाँच उदुम्बर फलों-इन आठ वस्तुओं के त्याग करने को मूलगुण बताया है और बारहव्रतों को उत्तरगुण कहा है।

पाँच अणुव्रतों के सम्बन्ध में कहीं भी मतभेद नहीं है, उनमें केवल नाम भेद ही है। आचार्य कुन्दकुन्द के चारित्रप्राभृत में पाँचवें अणुव्रत का नाम 'परिग्गहारंभ परिमाण' रखा है एवं चतुर्थ अणुव्रत का नाम 'परपिम्म परिहार', जिसका अर्थ परस्त्रीत्याग है तथा प्रथम अणुव्रत का नाम 'स्थूलत्रसकायवध-परिहार' रखा है।[107] आचार्य समन्तभद्र ने रत्नकरण्डकश्रावकाचार में चौथे अणुव्रत का नाम 'परदारनिवृत्ति' और 'स्वदार सन्तोष' रखा है एवं पाँचवें अणुव्रत का नाम 'परिग्रहपरिमाण' के साथ 'इच्छापरिमाण' भी रखा है।[108] आचार्य रविषेण ने चौथे व्रत का नाम 'परदारसमागम विरति' एवं पाँचवें का 'अनन्तगर्द्धाविरति' दिया है।[109] आदिपुराण में चौथे व्रत का नाम परस्त्रीसेवन-निवृत्ति एवं पाँचवें का नाम 'तृष्णाप्रकर्षनिवृत्ति' रखा है।[110] इस प्रकार अणुव्रतों में नामभेद अवश्य है, परन्तु क्रम के सम्बन्ध में मतैक्य है।

तीन गुणव्रतों में नाम की एकरूपता होते हुए भी क्रम में अन्तर है। श्वेताम्बर-परम्परा में गुणव्रतों का क्रम इस प्रकार है- 6. दिशा परिमाण व्रत 7. उपभोगपरिभोगपरिमाण व्रत 8. अनर्थदण्डविरमण व्रत।

दिगम्बर-परम्परा में गुणव्रतों का क्रम निम्न है-6. दिशापरिमाण व्रत 7. अनर्थदण्डविरमण व्रत 8. उपभोगपरिभोग परिमाण व्रत।

दोनों परम्पराओं में महत्त्वपूर्ण अन्तर शिक्षाव्रतों के सम्बन्ध में है। श्वेताम्बर-परम्परा में शिक्षाव्रतों का यह क्रम माना गया है- 9. सामायिक व्रत 10. देशावगासिक व्रत 11. पौषधोपवास व्रत और 12. अतिथिसंविभाग व्रत

दिगम्बर-परम्परा में शिक्षाव्रतों का क्रम इस प्रकार है- 9. सामायिकव्रत 10. पौषधव्रत 11. अतिथिसंविभागव्रत और 12. संलेखनाव्रत।

दिगम्बर-परम्परा में देशावकाशिक और पौषधव्रत को एक में मिला लिया गया है तथा उस रिक्त स्थान की पूर्ति करने हेतु संलेखनाव्रत का समावेश किया गया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने चारित्रप्राभृत[111] में, रविषेण ने पद्मचरित्त[112] में, प्राकृत भावसंग्रह एवं सावयधम्मदोहा में उक्त क्रम ही बतलाया है। आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र[113] में गुणव्रत और शिक्षाव्रत-यह भेद नहीं करके सात शीलव्रत बतलाए हैं। उनका क्रम इस प्रकार माना है-6. दिग्विरति 7. देशविरति 8. अनर्थदण्ड 9. सामायिक 10. पौषधव्रत 11. उपभोग परिभोगपरिमाण और 12. अतिथिसंविभाग।

इन्होंने संलेखनाव्रत को सम्मिलित नहीं किया है। इससे ज्ञात होता है कि तत्त्वार्थसूत्र की श्वेताम्बर-परम्परा के नामों के साथ साम्यता है, मात्र क्रम का अन्तर है।

सुस्पष्ट है कि तत्त्वार्थसूत्र में श्वेताम्बर-परम्परा के दसवें देशावगासिकव्रत को दूसरा गुणव्रत मानकर सातवाँ स्थान दिया गया है तथा श्वेताम्बर-परम्परा के सातवें उपभोग-परिभोगव्रत को तीसरा शिक्षाव्रत मानकर ग्यारहवाँ स्थान दिया गया है तथा श्वेताम्बर-परम्परा के ग्यारहवें पौषधव्रत को दूसरा शिक्षाव्रत मानकर दसवाँ स्थान दिया गया है। आचार्य अमृतचन्द्रकृत पुरूषार्थसिद्धयुपाय, सोमदेवकृत उपासकाध्ययन, अमितगतिकृत उपासकाचार, पद्मनन्दिकृत पंचविंशतिका और लाटीसंहिता में भी उपर्युक्त सात शील ही बताए हैं।

दिगम्बर-परम्परा में इस सम्बन्ध में और भी आंतरिक मतभेद हैं। जैसे रत्नकरण्डकश्रावकाचार में देशावगासिक, सामायिक, पौषधोपवास और वैयावृत्य-ये चार शिक्षाव्रत बतलाए हैं।[114]

हरिवंशपुराण में गुणव्रतों का स्वरूप तो तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार ही है, परन्तु शिक्षाव्रतों में भोगोपभोगपरिमाण के स्थान पर संलेखना को जोड़ा है।[115]

स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा और सागारधर्मामृत में शिक्षाव्रतों का क्रम रत्नकरण्डकश्रावकाचार के अनुसार अपनाया गया है।

इस प्रकार विभिन्न ग्रन्थों में गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों का जो क्रम वर्णित है उसका स्पष्टीकरण निम्न तालिका से भी हो जाता है।

तालिका

	गुणव्रत			शिक्षाव्रत			
	1	2	3	4	5	6	7
उपासकदशांग सूत्र, श्रावक प्रतिक्रमणसूत्र, श्रावकप्रज्ञप्ति, योगशस्त्र	दिग्व्रत	उपभोग परिभोग-परिमाणव्रत	अनर्थदण्ड	सामायिक	देशावगासिक	पौषध	अतिथि संविभाग व्रत
उमास्वाति-तत्त्वार्थसूत्र	दिग्व्रत	देशव्रत	अनर्थदण्ड	सामायिक	पौषधोपवास	उपभोग परिभोग	अतिथि संविभाग व्रत
कुन्दकुन्द चारित्रपाहुड	दिग्व्रत	अनर्थदण्ड	भोगोपभोग	सामायिक	पौषधोपवास	अतिथि संविभाग	संलेखना संलेखना
तत्त्वार्थसूत्र, पुरुषार्थ-सिद्धयुपाय, उपासकाध्ययन, अमितगति श्रावकाचार	दिग्व्रत	देशव्रत	अनर्थदण्ड	सामायिक	पौषधोपवास	भोगोपभोग परिमाण	अतिथि संविभाग व्रत
रत्नरण्डक-श्रावकाचार, सागारधर्मामृत	दिग्व्रत	अनर्थदण्ड	भोगोपभोग	देशव्रत	सामायिक	पौषधो-पवास	वैयावृत्य
कार्तिकेयानु-प्रेक्षा	दिग्व्रत	अनर्थदण्ड	भोगोपभोग	सामायिक	पौषधोपवास	अतिथि संविभाग	देशव्रत
वसुनन्दि श्रावकाचार	दिग्व्रत	देशव्रत	अनर्थदण्ड	भोगविरति	परिभोग विरति	अतिथि-संविभाग	संलेखना

बारहव्रत स्वीकार एवं प्रदान करने का अधिकारी कौन

बारहव्रत स्वीकार करने से पूर्व यह समझ लेना जरूरी है कि व्रत को ग्रहण करने एवं प्रदान करने का अधिकारी कौन हो सकता है? इस सम्बन्ध में पृथक् रूप से कहीं कोई विवेचन पढ़ने में नहीं आया है, किन्तु इतना निश्चित है कि बारहव्रत स्वीकार करने वाला गृहस्थ सम्यक्त्व-व्रतधारी के लिए जिन योग्यताओं का निर्देश दिया गया है, उन गुणों से युक्त होना चाहिए, क्योंकि सम्यक्त्वव्रत के अनन्तर या कुछ अवधि के पश्चात् यह व्रत ग्रहण किया जाता है। इसी लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए बारहव्रतधारी की योग्यता का पृथक्

विवरण नहीं दिया गया हो।

इससे यह बात भी पुष्ट हो जाती है कि बारहव्रत प्रदान करने वाला गुरू भी सम्यक्त्वव्रत प्रदाता की योग्यता से युक्त होना चाहिए। यद्यपि प्रसिद्ध जैनाचार्य हरिभद्रसूरिजी के उल्लेखानुसार द्वादशव्रत स्वीकार करने वाला गृहस्थ अग्रलिखित पन्द्रह लक्षणों से युक्त होना चाहिए-

1. वह श्रावक अनुष्ठान में प्रीति रखता हो।
2. किसी की निन्दा नहीं सुनता हो।
3. निंदकों पर भी अनुकम्पा या करूणाभाव रखता हो।
4. ज्ञान प्राप्त करने की विशेष रूप से जिज्ञासा रखता हो।
5. धर्म में चित्त की एकाग्रता हो।
6. धर्माचार्य एवं गुरूजनों का विनय करता हो।
7. नियतकाल (त्रिकाल) में चैत्यवन्दन आदि करणीय अनुष्ठान करता हो।
8. धर्म-श्रवणादि कार्यों में उचित आसन पर बैठता हो।
9. युक्त (माध्यम) स्वर से स्वाध्याय करता हो।
10. सतत उपयोगवन्त रहता हो।
11. सम्यक् आचरण से समस्त जनों का वल्लभ(प्रिय) हो।
12. जीविकोपार्जन में अनिंदित-कर्म करता हो।
13. आपत्ति में वीरता (अदैन्यभाव) रखता हो।
14. यथाशक्ति त्याग और तप करता हो।
15. सुलब्ध धर्म में लक्ष्य रखता हो।

इन पन्द्रह लक्षणों में से आदि के पाँच धर्म संबंधी, मध्य के पाँच उपासना संबंधी और अन्त के पाँच सद्गृहस्थ संबंधी लक्षण हैं।

श्रावकधर्म विधिप्रकरण में उक्त लक्षणों को अत्यावश्यक मानते हुए यह निर्देश भी दिया गया है कि गृहस्थ कथित लक्षणों को आत्मसात कर, फिर श्रावकधर्म को अंगीकार करें, अन्यथा वह सर्वज्ञ की आज्ञा का उल्लंघन करने वाला होता है।[116]

इस व्रत के लिए शुभमुहूर्त्त आदि का विचार सम्यक्त्व व्रत के समान जानना चाहिए। सम्यक्त्वव्रतारोपण के लिए जो नक्षत्र आदि शुभ माने गए हैं उन्हें इस व्रतारोपण के लिए भी उत्तम समझना चाहिए।

बारहव्रतारोपण विधि में प्रयुक्त सामग्री

इस व्रतारोपण के लिए कौनसी सामग्री आवश्यक कही गई है? इस विषय से सम्बन्धित कोई विवरण प्राप्त नहीं होता है। एक तो परिग्रह आदि के परिमाण का लेखन पत्रक होना चाहिए। इसके सिवाय अपेक्षित सामग्री हेतु द्वितीय अध्याय देखना चाहिए।

श्रावकव्रत-ग्रहण सम्बन्धी आवश्यक शुद्धियाँ

अभिधानराजेन्द्रकोश में द्वादशव्रत ग्रहण करते समय ध्यान रखने योग्य शुद्धियों का वर्णन इस प्रकार किया है-

1. योगशुद्धि- मन से शुभ विचार करना, वचन से निरवद्य भाषण करना एवं काया से उपयोग-पूर्वक गमनागमनादि प्रवृत्ति करना योग शुद्धि है।
2. वंदनशुद्धि- आन्तरिक उत्साह एवं भावविशुद्धि पूर्वक खमासमण, वंदन, कायोत्सर्गादि करना वंदनशुद्धि है।
3. निमित्तशुद्धि- व्रतग्रहण काल में पूर्णकलश, भृंगार (जलधारा युक्त) कलश, छत्र, ध्वजा, चामर, सुगन्धित द्रव्य (पुष्पादि) की स्थापना करना एवं शंख ध्वनि और मंगल वाद्य का निनाद करवाना निमित्त शुद्धि है।
4. दिक्शुद्धि- पूर्वदिशा, उत्तरदिशा या जिनचैत्य के सम्मुख होकर व्रतोच्चारण करना दिक्शुद्धि है।
5. नियमशुद्धि- द्वादश व्रत पालन का प्रत्याख्यान करते समय राजाभियोग आदि छः आगार खुले रखना नियमशुद्धि है।
6. व्रतशुद्धि- व्रत ग्रहण के दिन जिन प्रतिमा की पूजा करना, वस्त्रोपकरण आदि के द्वारा गुरू की भक्ति करना, दीन-अनाथों के प्रति अनुकम्पा करना, स्वजन एवं साधर्मिक-बन्धुओं का यथाशक्ति सत्कार करना व्रतशुद्धि है।[117]

श्रावक के बारहव्रत संबंधी विकल्प

सामान्यतया गृहस्थ श्रावक का प्रत्याख्यान दो करण-तीन योग से होता है, परन्तु सभी जीवों का सामर्थ्य एवं परिस्थिति एक समान नहीं होती। अतः सभी कोई चाहते हुए भी दो करण-तीन योग से द्वादशव्रत को स्वीकार नहीं कर सकते। समस्त आत्माएँ यथाशक्ति श्रावकव्रत अंगीकार कर सकें, इस अपेक्षा से

व्रत ग्रहण के कई विकल्प बताये गये हैं। तदनुसार श्रावक के भी अनेक भेद होते हैं।

प्रवचनसारोद्धार(1322-1350) में द्वादशव्रत ग्रहण के दो, आठ, बत्तीस, सात सौ पैंतीस एवं सोलह हजार आठ सौ आठ विकल्प बतलाये हैं। विकल्पात्मक दृष्टि से व्रतधारी श्रावक भी उतने ही प्रकार के होते हैं।

1. व्रती श्रावक के दो भेद

1. देशविरति श्रावक
2. औपशमिक, क्षायिक आदि सम्यक्त्वधारी श्रावक जैसे श्रेणिक, कृष्ण आदि।

2. व्रती श्रावक के आठ भेद

1. **द्विविध-त्रिविध-** दो करण एवं तीन योग से प्रत्याख्यान करने वाला श्रावक। जैसे स्थूल हिंसा मन से, वचन से, काया से न स्वयं करना और न अन्य से करवाना। इसमें व्रती को अनुमोदन करने की छूट रहती है।

2. **द्विविध-द्विविध-** दो करण एवं दो योग से प्रत्याख्यान करने वाला श्रावक। यह तीन प्रकार से होता है-

- स्थूल हिंसा आदि मन से एवं वचन से न स्वयं करना, न करवाना। इस विकल्प से व्रत ग्रहण करने वाला श्रावक मात्र काया से हिंसादि पाप करता है।
- मन से एवं काया से स्थूल हिंसा आदि न करना, न करवाना। इस विकल्प से व्रतग्रहण करने वाला श्रावक जाने-अनजाने वचन हिंसा करता है, परन्तु मानसिक एवं कायिक दुष्प्रवृत्ति से रहित होता है।
- वचन एवं काया से स्थूल हिंसा आदि न करना, न करवाना। इस विकल्प से व्रत धारण करने वाला गृहस्थ मात्र मन से हिंसादि करने या करवाने का दुर्विचार करता है। उक्त तीनों विकल्पों में अनुमोदन की छूट रहती है।

3. **द्विविध-एकविध-** दो करण एवं एक योग से प्रत्याख्यान करने वाला श्रावक। यह विकल्प तीन प्रकार से ग्रहण किया जाता है-

- स्थूल हिंसादि न करना, न करवाना मन से।
- स्थूल हिंसादि न करना, न करवाना वचन से।
- स्थूल हिंसादि न करना, न करवाना काया से।

4. **एकविध-त्रिविध-** एक करण एवं तीन योग से प्रत्याख्यान करने

वाला श्रावक। यह विकल्प दो प्रकार से ग्राह्य है-

- स्थूलहिंसादि न करना, मन से, वचन से, काया से
- स्थूलहिंसादि न करवाना, मन से, वचन से, काया से

• एकविध-द्विविध- एक करण एवं दो योग से प्रत्याख्यान करने वाला श्रावक। यह विकल्प छ:भेदवाला है-

- स्थूलहिंसादि न करवाना, मन-वचन से
- स्थूलहिंसादि न करवाना, मन-काया से
- स्थूलहिंसादि न करवाना, वचन-काया से
- स्थूलहिंसादि न कराना, मन-वचन से
- स्थूलहिंसादि न कराना, मन-काया से
- स्थूलहिंसादि न कराना, वचन-काया से

6. **एकविध-एकविध-** एक करण एवं एक योग से प्रत्याख्यान करने वाला श्रावक। यह विकल्प छ: भेदवाला है।

- स्थूलहिंसादि न करना, मन से
- स्थूलहिंसादि न करना, वचन से
- स्थूलहिंसादि न करना, काया से
- स्थूलहिंसादि न करवाना, मन से
- स्थूलहिंसादि न करवाना, वचन से
- स्थूलहिंसादि न करवाना, काया से

इस प्रकार पाँच अणुव्रत ग्रहण करने वाले प्रत्याख्यानी श्रावक के मूल भंग छ: और उत्तर भंग इक्कीस हैं।

7. **उत्तरगुण-** तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत उत्तरगुण कहलाते हैं। इन सात व्रतों को अनेक प्रकार से ग्रहण किया जा सकता है यद्यपि उत्तरगुणों को सामान्यतया एक ही मान लिया गया है। इस प्रकार उत्तरगुण सम्बन्धी प्रत्याख्यान करने वाला श्रावक।

8. **अविरतसम्यग्दृष्टि-** क्षायिक आदि सम्यक्त्व से युक्त श्रावक।

3. व्रती श्रावक के बत्तीस भेद

साध्वी हेमप्रभाश्रीजी द्वारा अनुवादित प्रवचनसारोद्धार के अनुसार अहिंसादि पाँच व्रतों में से प्रत्येक व्रत छ: प्रकार से ग्रहण किया जा सकता है

जैसे द्विविध-द्विविध, द्विविध-एकविध आदि इस प्रकार पाँच व्रत के 5 × 6 = 30 प्रकार होते हैं। इसमें उत्तरगुण एवं अविरत सम्यग्दृष्टि- ये दो भेद जोड़ने से व्रतग्रहण के 30 + 2 = 32 प्रकार होते हैं। इसके अनुसार व्रतग्राही श्रावक भी 32 प्रकार के होते हैं।

आवश्यकनिर्युक्ति (गा. 1558-1559) में भी व्रतग्राही श्रावक के बत्तीस प्रकार बताये गये हैं।

4. व्रती श्रावक के सात सौ पैंतीस भेद

इस विकल्प में क्रमशः 49, 147 एवं 735 भेद भी इसी रीति से बनते हैं। सर्वप्रथम 49 भेदों को समझने के लिए निम्न नौ विकल्प समझना आवश्यक है-

1. त्रिविध-त्रिविध- स्थूलहिंसादि सावद्य पाप न करना, न करवाना, न करने वाले का अनुमोदन करना, मन-वचन और काया से। अग्रिम भेदों को इसी तरह समझें।
2. त्रिविध-द्विविध- यह विकल्प तीन भेद वाला है, शेष पूर्ववत् समझें।
3. त्रिविध-एकविध- इस विकल्प के उत्तरभेद तीन हैं।
4. द्विविध-द्विविध- इस विकल्प के उत्तरभेद तीन हैं।
5. द्विविध-द्विविध- इसके उत्तरभेद नौ हैं।
6. द्विविध-एकविध- इसके उत्तरभेद नौ हैं।
7. एकविध-द्विविध- इसके उत्तरभेद तीन हैं।
8. एकविध-द्विविध- इस विकल्प के नौ भेद हैं।
9. एकविध-एकविध- इस विकल्प के भी नौ भेद हैं।

इस प्रकार 9 भेद के उत्तरभेद कुल 49 होते हैं

147 भेद- पूर्वोक्त 49 भेदों को भूत, भविष्य और वर्तमान इन तीन काल से गुणा करने पर श्रावक व्रत के 49 × 3 = 147 भेद होते हैं।

यह ज्ञातव्य है कि प्रत्याख्यान त्रैकालिक होता है। अतीत के पापों का निन्दा द्वारा, वर्तमान के पापों का संवर द्वारा और भावी के पापों का त्याग द्वारा प्रत्याख्यान किया जाता है।

735 भेद- पाँच अणुव्रत 147 विकल्प से ग्रहण किये जा सकते हैं अतः 147 × 5 से गुणा करने पर 735 भेद होते हैं।

5. व्रती श्रावक के सोलह हजार आठ सौ आठ भेद

इन भेदों के लिए पाँच अणुव्रत सम्बन्धी देवकुलिका एवं उसके लिये पाँच अणुव्रतों के सांयोगिक भांगों का ज्ञान आवश्यक है।

विस्तार भय से पूर्वोक्त भेदों का स्पष्टीकरण नहीं किया जा रहा है। जिज्ञासुवर्ग इस संबंधी सम्यक् जानकारी हेतु प्रवचनसारोद्धार, धर्मसंग्रह आदि ग्रन्थों का अध्ययन करें।

श्रावक की व्रत व्यवस्था का ऐतिहासिक विकासक्रम

किसी व्यक्ति को जैन श्रावक की कोटि में स्थापित करने के लिए सामान्यत: बारहव्रतारोपण की विधि की जाती है। इस विधि से यह सुनिश्चित किया जाता है, कि यह व्यक्ति तीर्थंकर परमात्मा द्वारा उपदिष्ट देशविरति (आंशिक संयम) के मार्ग पर चलने के लिए आरूढ़ हुआ है।

द्वादशव्रत धारण करने वाला उपासक हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह-इन पाँच प्रकार के पाप सम्बन्धी कार्यों को स्थूल रूप से न करने की मर्यादाएँ स्वीकार करता है। यह गृहस्थ की अणुव्रत साधना कहलाती है। इसके साथ ही दिशा सम्बन्धी, उपभोगपरिभोग सम्बन्धी एवं अनर्थदण्ड (निष्प्रयोजन हिंसा) सम्बन्धी पाप कार्यों को न करने का एकदेश त्याग करता है। यह उपासक की गुणव्रत साधना कही जाती है। इस व्रतारोपण संस्कार में सामायिकव्रत, देशावगासिकव्रत, पौषधव्रत एवं अतिथिसंविभागव्रत-इन चार प्रकार के आत्मिक अनुष्ठान को यथानियम करने की प्रतिज्ञा धारण करता है। इन व्रतों का स्वीकार करना शिक्षाव्रत कहलाता है।

जैन परम्परा में बारहव्रतधारी गृहस्थ ही उत्कृष्ट श्रावक कहलाने का अधिकारी है, अत: इस व्रत को स्वीकार करने के बाद वह गृहस्थ जैन श्रावक की कोटि में आ जाता है। यहाँ विचारणीय बिन्दु यह है कि बारह व्रत ग्रहण करने की विधि सम्बन्धी चर्चा कहाँ, किस रूप में उपलब्ध होती है?

यदि इस सम्बन्ध में मनन करें, तो जहाँ तक जैन आगम साहित्य का प्रश्न है वहाँ उपासकदशा आदि कुछ आगमों में श्रमण जीवन की आचार-संहिता पर विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है। उन आगम-ग्रन्थों का आलोडन करने से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जितना व्यापक चिन्तन श्रमण जीवन के सम्बन्ध में हुआ है, उतना श्रावक जीवन के सम्बन्ध में नहीं हुआ है, क्योंकि श्रमण-जीवन

ही साधक का लक्ष्य है। यदि साधक उतनी उत्कृष्ट साधना नहीं कर पाता है, तो वह गृहस्थाश्रम में रहकर व्रतों का पालन कर सकता है। वैदिक-परम्परा की तरह जैनधर्म ने गृहस्थधर्म को प्रमुख धर्म नहीं माना, बल्कि श्रमणधर्म की ओर बढ़ने का लक्ष्य लिए एक मध्य-विश्राम मात्र माना है। आनन्द श्रावक ने व्रत ग्रहण करते समय श्रमण भगवान् महावीर से कहा-"भगवन् ! मुझे निर्ग्रन्थ धर्म पर अपार श्रद्धा है। आपके उपदेश को श्रवण कर अनेक राजा, युवराज, सेठ, सेनापति, सार्थवाह मुण्डित होकर गृहस्थाश्रम का त्याग कर श्रमण बने हैं, किन्तु मैं श्रमण बनने में असमर्थ हूँ, अत: गृहस्थधर्म को स्वीकार करता हूँ।"[118]

तात्पर्य यह है कि जैन-श्रमणोपासक गृहस्थाश्रम में रहना अपनी कमजोरी मानता है, उसे वैदिक-परम्परा की भाँति आदर्श नहीं मानता। यही वजह है कि श्रमणधर्म का विशेष रूप से प्रतिपादन हुआ है। आगम साहित्य में अनेक स्थलों पर कहीं संक्षिप्त तो कहीं विस्तृत रूप से श्रावक धर्म के सम्बन्ध में भी चिन्तन किया गया है।

आगम साहित्य के परिप्रेक्ष्य में देखा जाए, तो सर्वप्रथम आचारांगसूत्र में आचारधर्म का जो विश्लेषण है, वह श्रमण-जीवन को ध्यान में रखकर किया गया है। गृहस्थ-जीवन के सम्बन्ध में वर्णन नहीं के समान है। इसी तरह सूत्रकृतांगसूत्र में भी लगभग श्रमणधर्म से सम्बन्धित विषयों पर प्रकाश ड़ाला गया है, कहीं-कहीं श्रावकों के व्रतों पर किंचित् वर्णन हुआ है। इसके द्वितीय श्रुतस्कन्ध के सप्तम अध्ययन 'नालंदीय' में श्रावक के प्रत्याख्यान आदि विषयों पर महत्वपूर्ण चिन्तन किया गया है।

स्थानांगसूत्र में अनेक स्थलों पर चारित्रधर्म के सम्बन्ध में चिन्तन-सूत्र मिलते हैं। इसमें चारित्रधर्म को आगार और अणगार-ऐसे दो भागों में विभक्त किया है। आगार-चारित्रधर्म का अधिकारी गृहस्थ को कहा है। इसके साथ ही गृहस्थ साधक के लिए प्रतिदिन चिन्तन करने योग्य तीन मनोरथ बताए गए हैं जैसे- 1. मैं कब अल्प या बहुत परिग्रह का त्याग करूँगा? 2. मैं कब मुण्डित होकर आगारधर्म से अणगारधर्म में प्रव्रजित होऊँगा ? 3. मैं कब संलेखनाव्रत की आराधना करता हुआ समाधिमरण को प्राप्त करूँगा?[119]

इसमें श्रमणोपासक के निम्न चार प्रकार भी बताए हैं[120]-

1. कुछ रात्निक उपासक महाकर्मा, महाक्रिय, अनातापी (अतपस्वी) और

असामित होने के कारण धर्म की सम्यक् आराधना करने वाले नहीं होते हैं।

2. कुछ रात्निक उपासक अल्पकर्मा, अल्पक्रिय, आतापी और सामित होने के कारण धर्म की सम्यक् आराधना करने वाले होते हैं।
3. कुछ अवमरात्निक (अल्पकालिक श्रावकपर्यायवाला) गृहस्थ महाकर्मा, महाक्रिय, अनातापी और असामित होने के कारण धर्म की सम्यक् आराधना करने वाले नहीं होते हैं।
4. कुछ अवमरात्निक गृहस्थ अल्पकर्मा, अल्पक्रिय, आतापी और सामित होने के कारण धर्म की सम्यक् आराधना करने वाले होते हैं।

इसी प्रकार श्रमणोपासिका के सम्बन्ध में भी चार वस्तुएँ बताई गईं हैं। यहाँ श्रद्धा और वृत्ति के आधार पर भी श्रमणोपासक के चार प्रकार बताए हैं।[121] पुन: श्रमणोपासकों की योग्यता और अयोग्यता को संलक्ष्य रखकर चार विभाग किए गए हैं। इसके पाँचवें स्थान (5/1/389) में पाँच अणुव्रतों का नामोल्लेख मात्र हुआ है।

इस तरह स्थानांगसूत्र में श्रमणोपासक के जीवन से सम्बन्धित चिन्तन बिखरा हुआ मिलता है।

समवायांगसूत्र[122] में श्रावकों की ग्यारह प्रतिमाओं का उल्लेख किया गया है, इसके अतिरिक्त श्रावकधर्म सम्बन्धी कोई चर्चा लगभग नहीं हुई है। इसी अनुक्रम में भगवतीसूत्र में, जो सभी आगमों में विराट्काय आगम है। वहाँ 36,000 प्रश्नोत्तरों के माध्यम से विविध विषयों पर चिन्तन किया गया है। इसके अन्तर्गत श्रावक-जीवन की महत्ता पर भी प्रकाश डालने वाले कुछ विशिष्ट प्रसंग चर्चित हुए हैं। द्वितीय शतक में तुंगिया नगरी के श्रावकों के आदर्श जीवन का अंकन करते हुए कहा गया है कि वे स्वभाव से बहुत उदार थे, तत्त्वज्ञ थे तथा उनका जीवन जन-जन के लिए आदर्श था।

भगवती के सातवें शतक में मद्दुक श्रमणोपासक का वर्णन है। वह राजगृह का रहने वाला था, जैन दर्शन का मर्मज्ञ विद्वान् था। भगवान महावीर ने भी उसके गंभीर ज्ञान की प्रशंसा की थी।[123]

भगवतीसूत्र के बारहवें शतक में भगवान महावीर के परम भक्त शंख और पोखली श्रावकों का वर्णन है जो श्रावस्ती के निवासी थे, जिन्होंने सामूहिक रूप

से खा-पीकर पाक्षिक पौषध किया था।124 इसी शतक में जयन्ती श्रमणोपासिका का भी उल्लेख है। उसके मकानों में श्रमण और श्रमणियाँ ठहरती थीं, इसलिए वह 'शय्यातर' के रूप में विश्रुत थी। वह तत्त्वों के मर्म की ज्ञाता थी। उसने भगवान् महावीर से अनेक जिज्ञासाएँ प्रस्तुत की थी। इस सूत्र में कार्तिक श्रेष्ठी द्वारा सौ बार पाँचवी प्रतिमा धारण करने का वर्णन आया है। इस तरह भगवती सूत्र में कई जगह श्रावक-आचार एवं श्रावक-जीवन पर चिन्तन किया गया है, परन्तु श्रावकों के व्रत और प्रतिमाओं पर स्वतन्त्र रूप से कोई विवरण प्राप्त नहीं होता है। इतना अवश्य संभव है कि ये श्रावक-श्राविकाएँ बारहव्रतधारी होने चाहिए।

ज्ञाताधर्मकथासूत्र में श्रावक जीवन का वर्णन कथाओं के माध्यम से किया गया है, किन्तु उसमें भी पृथक् रूप से श्रावकधर्म का कोई विवेचन नहीं है।

हमें पूर्ववर्ती आगम-ग्रन्थों की अपेक्षा सर्वप्रथम उपासकदशांगसूत्र में बारहव्रत-ग्रहण की विधि का प्रारम्भिक स्वरूप उपलब्ध होता है। इसमें भगवान महावीर के दस श्रावकों का जीवन चरित्र वर्णित है। उनमें सर्वप्रथम आनन्द श्रावक ने भगवान महावीर की वैराग्यामृत- वाणी को सुनकर बारहव्रत ग्रहण किए। अत: इसमें बारहव्रतों के आलापक, उनके अतिचार, ग्यारह प्रतिमाओं का स्वरूप और जीवन की अन्तिमवेला में संलेखना ग्रहण करने का वर्णन है।[125] इससे सुनिश्चित है कि बारहव्रत आरोपण की विधि का प्रारम्भिक एवं अपेक्षित स्वरूप प्रथमत: उपासकदशा में ही उपलब्ध होता है।

अन्तकृत्दशासूत्र में सुदर्शन श्रेष्ठी का वर्णन है। वह श्रमणोपासक जीवाजीव का परिज्ञाता था परन्तु इस आगम में उसके द्वारा व्रत ग्रहण करने का उल्लेख नहीं मिलता है, तथापि एक श्रावक की जिनधर्म के प्रति कितनी गहरी निष्ठा होनी चाहिए? इसका सजीव चित्रण हुआ है।[126]

प्रश्नव्याकरणसूत्र में श्रावकधर्म की दृष्टि से कोई वर्णन नहीं है, फिर भी श्रावक-धर्म के मूल अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। अणुव्रतों का सही स्वरूप समझने के लिए यह वर्णन सर्चलाइट के समान है।

विपाकसूत्र के द्वितीय श्रुतस्कंध में सुबाहुकुमार का वर्णन है। वह श्रावक के बारह व्रतों को ग्रहण करता है। इसके अतिरिक्त भद्रनन्दी, सुजात आदि कुमार

भी श्रावक के बारहव्रत स्वीकार करते हैं, ऐसा निर्देश है।[127]

राजप्रश्नीयसूत्र में प्रदेशी राजा के क्रूर एवं शान्त दोनों पक्षों का चित्रण करते हुए केशीश्रमण मुनि के सत्संग से वह उत्कृष्ट कोटि का श्रावक बन जाता है, यह वर्णन किया गया है।[128]

उत्तराध्ययनसूत्र में गृहस्थ-धर्म के सम्बन्ध में कोई विस्तृत चर्चा नहीं है, परन्तु जो गृहस्थ जीवन को हेय समझते हैं और कहते हैं कि उनका प्रत्येक आचरण पापमय है, उसका भगवान महावीर ने समुचित उत्तर दिया है। वे गृहस्थ श्रावकों को श्रमणभूत शब्द से सम्बोधित करते हैं और कहते हैं कि कुछ श्रावक श्रमण की अपेक्षा भी उत्तम संयम का पालन करते हैं।

दशाश्रुतस्कंध के छठवें उद्देशक में बारहव्रत की चर्चा तो नहीं की गई है, किन्तु उपासक की ग्यारह प्रतिमाओं का नाम सहित उल्लेख किया गया है।

आवश्यकसूत्र में षडावश्यक की चर्चा करते हुए सम्यक्त्व के साथ बारहव्रतों के अतिचारों का वर्णन किया गया है और साथ ही संलेखना के अतिचारों का भी वर्णन प्राप्त होता है।

आगम साहित्य के पूर्व विवेचन के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि आगम साहित्य में जैन श्रावक बनने के लिए एक निश्चित विधि सम्पन्न करने का वर्णन प्राप्त नहीं होता है, केवल उपासकदशासूत्र में व्रत ग्रहण के आलापक(दंडक) दिए गए हैं। इस आधार पर कहा जा सकता है कि आगम-युग में पूर्वोक्त हिंसादि पापकार्यों का एक-देश त्याग करने की प्रतिज्ञा करने वाले तथा सामायिक आदि चार शिक्षाव्रतों को धारण करने वाले व्यक्ति को जैन-धर्म में श्रावक मान लिया जाता था।

आगम युग के अनन्तर निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णि-साहित्य में भी व्रत विषयक विधि-विधान के सम्बन्ध में कोई विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं होती है, केवल कुछ स्थलों पर यत्किंचित् प्रकाश डाला गया है।

जहाँ तक मध्यकालीन जैन साहित्य का प्रश्न है, वहाँ श्वेताम्बर- परम्परा सम्बन्धी ग्रन्थों में सर्वप्रथम आचार्य उमास्वातिकृत तत्त्वार्थसूत्र (पहली से तीसरी शती) के सातवें अध्याय में बहुत ही संक्षेप में श्रावकों के व्रत, उनके अतिचार एवं संलेखना सम्बन्धी अतिचारों का प्रतिपादन किया गया है। उसके बाद आचार्य हरिभद्रसूरि कृत (8वीं शती) धर्मबिन्दु प्रकरण में श्रावक के सामान्य

और विशेष धर्म की चर्चा प्राप्त होती है। इसमें श्रावक बनने के पूर्व गृहस्थ को मार्गानुसारी के पैंतीस गुणों से युक्त होना आवश्यक माना है। इन्हीं के द्वारा रचित श्रावकधर्मविधि प्रकरण, श्रावक प्रज्ञप्ति, पंचाशक प्रकरण आदि ग्रन्थों में भी श्रावक-आचार का सम्यक् प्रतिपादन किया गया है।

तदनन्तर जिनेश्वरसूरि (11वीं शती) कृत षट्स्थानप्रकरण उपलब्ध होता है। इस ग्रन्थ का दूसरा नाम 'श्रावक वक्तव्यता' है। इसमें वृत्तपरिकर्मत्व, शीलत्व, गुणत्व, ऋजुव्यवहार, गुरूशुश्रुषा और प्रवचन कौशल्य-इन छः स्थानों का वर्णन है। ये गुण श्रावक जीवन के लिए आवश्यक माने गए हैं। इसी क्रम में देवेन्द्रसूरि (14वीं शती) कृत श्राद्धदिनकृत्य, जिनमण्डनगणि (15 वीं शती) रचित श्राद्धगुण विवरण, रत्नशेखरसूरि (15वीं शती) कृत श्राद्धविधि आदि ग्रन्थ दृष्टिगत होते हैं। इनमें श्रावक का अर्थ, श्रावक के आवश्यक गुण, श्रावक के कर्त्तव्य, श्रावक की चर्या आदि विषयों का निरूपण हैं, किन्तु व्रत ग्रहण सम्बन्धी विधि-विधान की कोई चर्चा नहीं की गई है। कुछ ग्रन्थों में बारहव्रतों का कथानक आदि के माध्यम से विश्लेषण किया गया है। देवभद्रसूरि ने कथाकोश में, देवगुप्तसूरि ने नवपदप्रकरण टीका में, आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में कहीं विस्तृत, तो कहीं संक्षेप में श्रावकधर्म पर चिन्तन किया है और उन्हीं ग्रन्थों के आधार से हिन्दी और गुजराती में भी अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं।

दिगम्बर-परम्परा में श्रावक के आचार धर्म पर चिन्तन करने वाले सर्वप्रथम आचार्य कुन्दकुन्द हुए हैं। उनके द्वारा चारित्रप्राभृत (गा.-20 से 25) में केवल छः गाथाओं द्वारा श्रावक-धर्म का वर्णन किया गया है। इसमें ग्यारह प्रतिमा, बारहव्रत आदि के नाम ही बताए हैं। उनके रयणसार ग्रन्थ में भी श्रावकाचार का सुन्दर निरूपण हुआ है।

तदनन्तर स्वामी कार्तिकेय (5वीं शती) रचित अनुप्रेक्षा ग्रन्थ में गृहस्थ धर्म के बारह भेद प्राप्त होते हैं। इन बारह नामों में ग्यारह नाम प्रतिमाओं के हैं। स्वामी समंतभद्र (4-5वीं शती) रचित रत्नकरण्डकश्रावकाचार में सम्यग्दर्शन, बारहव्रत, आठमूलगुण एवं ग्यारह प्रतिमाओं का वर्णन हुआ है। आचार्य जिनसेन (8वीं-9वीं शती) के आदिपुराण में पक्ष, चर्या और साधना के रूप में श्रावक धर्म का प्रतिपादन हुआ है। इनके हरिवंशपुराण (58/77) में बारहव्रत,

संलेखना आदि के अतिचारों का वर्णन है। इसी के साथ आचार्य सोमदेव(10वीं शती) के यशस्तिलकचम्पू के छठवें, सातवें एवं आठवें अध्याय में, आचार्य देवसेन (10 वीं शती) के भावसंग्रह में, आचार्य अमितगति (10वी शती) कृत उपासकाध्ययन में, आचार्य अमृतचन्द्र (10वीं-11वीं शती) रचित पुरूषार्थसिद्धयुपाय में, आचार्य वसुनन्दि (11-12 वीं शती) के श्रावकाचार में भी श्रावकधर्म का न्यूनाधिक रूप से प्रतिपादन हुआ है। इसके अतिरिक्त पं. आशाधर (1239 ई.) रचित सागारधर्मामृत, सावयधम्मदोहा, मेधावी (वि.सं. 1541) रचित धर्मसंग्रहश्रावकाचार, आचार्य सकलकीर्ति (वि.सं.15वीं-16वीं शती) विरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचार, गुणभूषण (14वीं-15वीं शती) का श्रावकाचार, नेमिदत्त (वि.सं.16वीं शती) रचित धर्मोपदेश-पीयूषवर्ष नामक श्रावकाचार, लाटीसंहिता, पूज्यपादकृत श्रावकाचार, पद्मनन्दि (वि.सं.14वीं शती) विरचित श्रावकाचार, व्रतसारश्रावकाचार, अभ्रदेव (वि.सं.1556-1593) कृत व्रतोद्योतन श्रावकाचार, जिनदेवविरचित भव्यमार्गोपदेश उपासकाध्ययन, शिवकोटि रचित रत्नमाला आदि भी श्रावकधर्म के प्रतिपादक ग्रन्थ हैं। दिगम्बर मान्य पद्मचरित्र के चौदहवें पर्व में, वरांगचारित्र के पन्द्रहवें सर्ग में, वामदेवरचित संस्कृत भावसंग्रह में भी श्रावकधर्म पर विचार किया गया है।

उपर्युक्त श्वेताम्बर और दिगम्बर-दोनों परम्पराओं के श्रावकाचार सम्बन्धी ग्रन्थों के विषय में यह बात उल्लेखनीय है कि इन ग्रन्थों में प्राय: सम्यक्त्व का स्वरूप, सम्यक्त्व के लिंग, सम्यक्त्व की महिमा, अष्टमूलगुण, बारहव्रत, बारहव्रत के अतिचार, ग्यारह प्रतिमा, सप्तव्यसन-त्याग आदि का भावगर्भित प्रतिपादन किया गया है। साथ ही बारहव्रत ग्रहण करने वाले साधक को किन-किन पाप कार्यों का पूर्णत: त्याग करना चाहिए एवं किन-किन प्रवृत्तियों में मर्यादा रखनी चाहिए? आदि का उल्लेख भी किया है। किन्तु बारहव्रत किस विधि पूर्वक अंगीकार किये जाने चाहिए इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा गया है, केवल बारह व्रतों के स्वरूप आदि पर प्रकाश डाला गया है। अनुसंधानात्मक दृष्टिकोण से हमें प्रस्तुत विवरण नवीं-दसवीं शती तक उपलब्ध नहीं होता है। कालान्तर में संभवत: हिन्दू- धर्म के प्रभाव से जैनधर्म में भी विधि-विधान का बाहुल्य बढ़ा। परिणामस्वरूप इस व्रत विधि का सुव्यवस्थित और सुविकसित स्वरूप क्रमश: तिलकाचार्यसामाचारी, सुबोधासामाचारी, विधिमार्गप्रपा,

आचारदिनकर आदि ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। ये रचनाएँ वैधानिक-ग्रन्थों में अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं। यद्यपि इन ग्रन्थों में यह विधि किंचित् अन्तर के साथ उल्लिखित है, किन्तु मूलविधि प्राय: समान है। इससे परवर्ती ग्रन्थों में उक्त कृतियों के आधार पर किया गया संकलित संग्रह ही देखने में आया है। कहीं-कहीं गच्छीय परम्परा के अनुसार उनमें यत्किंचित् परिवर्तन अवश्य किया गया है।

बारहव्रत आरोपण विधि

• विधिमार्गप्रपा के अनुसार बारहव्रत ग्रहण करने का इच्छुक गृहस्थ सर्वप्रथम शुभदिन में जिनमन्दिर या समवसरण की पूजा करें। • फिर बढ़ती हुई अक्षत की तीन मुट्ठियों द्वारा उसकी अंजली को भरा जाए। उसके बाद व्रतग्राही एक-एक नमस्कारमन्त्र का स्मरण करते हुए समवसरण की तीन प्रदक्षिणा दें। • फिर एक खमासमणसूत्रपूर्वक वन्दन कर ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करें। • पुन: एक खमासमणपूर्वक देशविरति स्वीकार करने के निमित्त गुरू से देववन्दन करवाने और वासचूर्ण डालने का निवेदन करें। तब गुरू अभिमन्त्रित वास को व्रतग्राही के मस्तक पर डालें और संघसहित देववन्दन करवाएं।

यहाँ देववन्दन-विधि 'सम्यक्त्वारोपणविधि' के समान जाननी चाहिए।

• तदनन्तर व्रतग्राही एक खमासमणपूर्वक देशविरति-सामायिकव्रत को सम्यक् प्रकार से ग्रहण करवाने के लिए गुरू से निवेदन करें। फिर गुरू की आज्ञापूर्वक सत्ताईस श्वासोश्वास परिमाण लोगस्ससूत्र का चिंतन करें। किन्हीं परम्परा में यहाँ गुरू भी कायोत्सर्ग करते हैं। • उसके बाद व्रतग्राही एक खमासमणसूत्र-पूर्वक वन्दन कर देशविरतिव्रत (बारहव्रत) ग्रहण करवाने एवं ग्रहण करने के लिए गुरू महाराज से निवेदन करें। तब गुरू तीन बार नमस्कारमन्त्र के स्मरणपूर्वक बारहव्रत सम्बन्धी आलापक पाठ को तीन-तीन बार बुलवाएं।

उस समय व्रतग्राही शिष्य करयुगल में मुखवस्त्रिका और चरवला ग्रहण करके संपुटमय दोनों हाथों को ललाट पर रखते हुए और अर्द्धावनत मुद्रा में स्थित होकर आलापक-पाठ को त्रियोगपूर्वक ग्रहण करें। बारहव्रत के प्रतिज्ञा-पाठ निम्न हैं-

1. ***स्थूलप्राणातिपातविरमण व्रत*- 'अहं णं भंते तुम्हाणं समीवे थूलगं**

पाणाइवायं संकप्पओ निरवराहं पच्चक्खामि। जावज्जीवाए दुविहं तिविहेणं, मणेणं, वायाए, काएणं, न करेमि न कारवेमि। तस्स भंते पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।'

भावार्थ- हे भगवन् ! मैं आपके समीप दो करण-तीन योग पूर्वक यावज्जीवन के लिए निरपराधी त्रसजीवों की हिंसा न करने का प्रत्याख्यान करता हूँ तथा अतीतकाल में की गई हिंसा का प्रतिक्रमण करता हूँ, निन्दा करता हूँ और अपनी आत्मा को उस हिंसा से दूर हटाता हूँ।

2. *स्थूलमृषावादविरमण व्रत*- 'अहं णं भंते तुम्हाणं समीवे थूलगं मुसावायं जीहाच्छेयाइहेउयं कन्नालियाइपंचविहं पच्चक्खामि। दक्खिन्नाइअविसए अहागहियभंगएणं, जावज्जीवाए दुविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि तस्स भंते पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।'

भावार्थ- हे भगवन् ! मै आपके समीप में कन्यालीक आदि पाँच प्रकार के स्थूल असत्य का यावज्जीवन के लिए दो करण तीन योगपूर्वक त्याग करता हूँ। यह प्रतिज्ञा दाक्षिण्यतादि के कारणों को छोड़कर है।

3. *स्थूलअदत्तादानविरमण व्रत*- 'अहं णं भंते तुम्हाणं समीवे थूलगं अदिन्नादाणं खत्तखणणाइयं चोरंकारकरं रायनिग्गहकारयं सचित्ता-चित्तवत्थुविसयं पच्चक्खामि, जावज्जीवाए.....वोसिरामि।'

भावार्थ- हे भगवन् ! मैं आपके समीप सेंध लगाकर, ताला खोलकर आदि स्थूल चोरी करने का यावज्जीवन के लिए दो करण तीन योगपूर्वक त्याग करता हूँ।

4. *स्वदारासन्तोष व्रत*- 'अहं णं भंते तुम्हाणं समीवे ओरालियवेउव्वियभेयं थूलगं मेहुणं पच्चक्खामि, अहागहियभंगएणं। तत्थ दुविहं तिविहेणं दिव्वं, तेरिच्छं एगविह तिविहेणं, माणुस्सयं एगविह एगविहेणं वोसिरामि।'

भावार्थ- हे भगवन् ! मैं आपके समीप देवता सम्बन्धी मैथुन का दो करण तीन योगपूर्वक, तिर्यन्च सम्बन्धी मैथुन न करने का एक करण तीन योगपूर्वक, और मनुष्य सम्बन्धी मैथुन न करने का एक करण एक योगपूर्वक त्याग करता हूँ।

5. *स्थूलपरिग्रहपरिमाण व्रत*- 'अहं णं भंते तुम्हाणं समीवे परिग्गहं पडुच्च अपरिमियपरिग्गहं पच्चक्खामि। धणधन्नाइ-नवविह-वत्थुविसयं इच्छापरिमाणं उवसंपज्जामि, अहागहियभंगएणं, जावज्जीवाए..... वोसिरामि।'

भावार्थ- हे भगवन् ! मै आपके समीप धन-धान्यादि नौ प्रकार के परिग्रह का यावज्जीवन के लिए यथाशक्तिपूर्वक परिमाण करता हूँ।

6. *दिशापरिमाण व्रत*- 'अहं णं भंते तुम्हाणं समीवे गुणव्वयतिए उड्ढअहोतिरियगमणाविसयं दिसिपरिमाणं पडिवज्जामि, जावज्जीवाए दुविहं तिविहेणं अहागहिय भंगेणं मणेणं ..... वोसिरामि।'

भावार्थ- हे भगवन् ! मैं आपके समीप ऊर्ध्व, अधो एवं तिर्यक्-कुल दस प्रकार की दिशाओं में आने-जाने का यावज्जीवन के लिए यथाशक्तिपूर्वक परिमाण करता हूँ।

7. *उपभोगपरिभोगपरिमाण व्रत*- 'अहं णं भंते ! तुम्हाणं समीवे उवभोग-परिभोगवए भोयणओ अणंतकाय-बहुवीय-रायभोयणाइं परिहरामि! कम्मओणं पन्नरसकम्मदाणाइं इंगालकम्माइयाइं बहुसावज्जाइं खरकम्माइयं रायनिओगं च परिहरामि, जावज्जीवाए ..... वोसिरामि।'

भावार्थ- हे भगवन् ! मैं आपके समीप भोजन सम्बन्धी अनन्तकाय, बहुबीज, रात्रिभोजन आदि न करने का और पन्द्रह प्रकार के कर्मादानादि व्यापार न करने का यावज्जीवन के लिए त्याग करता हूँ।

8. *अनर्थदण्डविरमण व्रत*- 'अहं णं भंते ! तुम्हाणं समीवे अणत्थदंडे अवझाण-पावोवएस-हिंसोवकरणदाण-पमायायरियरूवं चउविहं अणत्थदंडं जहासत्तीए परिहरामि। जावज्जीवाए ..... वोसिरामि।'

भावार्थ- हे भगवन् ! मैं आपके समीप अपध्यान, पापोपदेश, हिंसा उपकरण-दान एवं प्रमादाचरण-इन चार प्रकार के अनर्थदण्ड का यावज्जीवन के लिए यथाशक्तिपूर्वक त्याग करता हूँ।

9. *सामायिक देशावगासिक पौषधोपवास अतिथिसंविभाग व्रत*- 'अहं णं भंते ! तुम्हाणं समीवे सामाइयं देसावगासियं पोसहोववासं अतिहिसंविभागवयं च जहासत्तीए पडिवज्जामि, जावज्जीवाए अहागहियभंगएणं दुविहं ..... वोसिरामि।'

भावार्थ- हे भगवन् ! मैं आपके समीप सामायिक, देशावगासिक, पौषधोपवास एवं अतिथिसंविभागव्रत धारण करने का नियम यावज्जीवन के लिए यथाशक्तिपूर्वक स्वीकार करता हूँ।

• उक्त विधिपूर्वक बारहव्रत का उच्चारण करवाने के बाद शुभलग्न का समय आ जाने पर "इच्चेयं सम्मत्तमूलं पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं दुवालसविहं सावगधम्मं उवसंपज्जित्ताणं विहरामि" इतना पाठ तीन बार बुलवाएं।

• उसके बाद गुरू व्रतग्राही के मस्तक पर वासचूर्ण डालें। फिर वास-अक्षत को पूर्ववत् अभिमन्त्रित कर जिनबिम्ब के चरणों में निक्षेपित करें। • तदनन्तर व्रतग्राही सात बार खमासमणसूत्र-पूर्वक वंदन करें। इस वंदन क्रिया के दौरान व्रतग्राही श्रावक गृहीत व्रत के विषय में अन्यों को सूचित करने की अनुमति ग्रहण करता है, चतुर्विध-संघ द्वारा व्रतधारी को अक्षतों से बधाया जाता है, गुरू द्वारा मंगलवचन कहे जाते हैं, देशविरतिव्रत में स्थिर होने के निमित्त कायोत्सर्ग करवाया जाता है। • तदनन्तर व्रतग्राही उपवास आदि तप का प्रत्याख्यान करें। उसके बाद गुरू से धर्मदेशना हेतु निवेदन करें। तब गुरू व्रत की महिमा एवं उसकी सार्थकता के सम्बन्ध में प्रवचन करें और व्रतधारी को विशेष अभिग्रह दिलाएं।

इस व्रतारोपण संस्कार-विधि के सम्बन्ध में यह ज्ञात करना आवश्यक है कि साधक बारहव्रत के दंडक का उच्चारण करने के बाद अपने हाथ में परिमाण-पत्रक ग्रहण करें और प्रत्येक व्रत के बारे में यथाशक्ति मर्यादा धारण करें। जिन पापकार्यों आदि का त्याग न कर सके, उनके विषय में विवेक रखने का संकल्प करें। जिन पापकार्यों का सर्वथा त्याग कर सकें, उनका पूर्णत: परित्याग करें। जिन पदार्थों के विषय में संख्या, वजन, पल आदि का निर्धारण करना संभव हो, वहाँ वैसा करें। इस प्रकार परिमाण-पत्रक में उल्लिखित नियमों की यथासंभव परिसीमाएँ बांधें।[129]

पूर्वोक्त बारह व्रतारोपणविधि खरतरगच्छ आम्नाय के अनुसार उल्लिखित की गई है।

तपागच्छ परम्परा में यह विधि लगभग पूर्ववत् की जाती है, केवल देववन्दन के अवसर पर बोले जाने वाले स्तोत्र, स्तुति के पाठों एवं कायोत्सर्ग

की संख्याओं को लेकर किंचिद् भिन्नता है। इस अन्तर का स्पष्टीकरण सम्यक्त्वव्रतारोपणविधि में कर चुके हैं।[130]

अचलगच्छ आदि परम्पराओं में यह विधि किस प्रकार सम्पन्न की जाती है? हमें इस विषय से सम्बन्धित न तो मौलिक और न ही संकलित ग्रन्थ उपलब्ध हो पाए हैं, किन्तु अचलगच्छ परम्परा के आचार्य गुणसागरसूरीश्वरजी म.सा., पायच्छंदगच्छीय साध्वी ऊँकारश्रीजी म.सा. की सुशिष्या साध्वी सिद्धांतरसाजी, त्रिस्तुतिकगच्छीय साध्वी मयूरकलाजी के साथ हुई मौखिक चर्चा के आधार पर इतना कहा जा सकता है कि इनमें स्तुति-स्तोत्र आदि पाठ भेद एवं सामान्य अन्तर के साथ खरतरगच्छ की परम्परानुसार ही यह विधि की जाती है।

स्थानकवासी और तेरापंथी परम्पराओं में नन्दी, कायोत्सर्ग, वासदान, प्रदक्षिणा आदि विधान नहीं किए जाते हैं, केवल व्रतधारी को प्रतिज्ञा-पाठ का उच्चारण करवाया जाता है। प्रतिज्ञा पाठ इस आम्नाय में प्रचलित 'श्रावकव्रतआराधना' आदि पुस्तकों में उल्लिखित हैं। सम्यक्त्वव्रत ग्रहण करवाते समय काष्ठ, पत्थर, लेप्य आदि की प्रतिमाओं को देवरूप मानने का परित्याग करवाते हैं।

दिगम्बर परम्परा में प्रचलित बारहव्रत विधि से सम्बन्धित कोई कृति सम्प्राप्त नहीं हो पाई है, किन्तु मुनि प्रवर श्री तरूणसागरजी म.सा. के साथ हुई चर्चा से इतना स्पष्ट होता है कि इनमें श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा की तरह नन्दिरचना, वासदान, कायोत्सर्ग, प्रदक्षिणा आदि की क्रियाएँ नहीं होती है, केवल व्रतग्राही की संकल्पनापूर्वक व्रतदंडक के उच्चारण करवाए जाते हैं। वन्दन, प्रत्याख्यान आदि की सामान्य विधि अवश्य होती है।

बारहव्रतारोपण सम्बन्धी विधि-विधानों के प्रयोजन

बारहव्रत आरोपण विधि के समय मुख्यतया जिनप्रतिमा की पूजा, अक्षतयुक्त अंजलिपूर्वक प्रदक्षिणा, वासचूर्ण का अभिमन्त्रण, व्रतग्राही के उत्तमांग(मस्तक) पर वासदान, देववन्दन, कायोत्सर्ग, थोभवंदन, प्रत्याख्यान आदि अनुष्ठान किए जाते हैं। तत्संबंधी सामान्य प्रयोजन द्वितीय अध्याय में कह चुके हैं।

यदि बारहव्रत के मूलभूत प्रयोजनों को लेकर विचार करें, तो साररूप में

कहा जा सकता है कि अहिंसा व्रत का पालन वैर और विरोधवृत्ति का उच्छेद करने हेतु किया जाता है। सत्यव्रत छल-कपट आदि कुसंस्कारों का विनाश करने के उद्देश्य से स्वीकारा जाता है। अचौर्यव्रत का परिपालन शरीर पर से अपने स्वामित्वभाव को हटाने एवं सामाजिक-स्तर को उन्नत बनाने के दृष्टिकोण से किया जाता है। अचौर्य का अर्थ किसी भी वस्तु को बिना आज्ञा ग्रहण नहीं करना इतना मात्र नहीं, अपितु स्व एवं पर के भेद को समझना भी है। अचौर्यव्रत का सम्बन्ध अध्यात्म से जुड़ा हुआ है। यदि सत्यदृष्टि से आकलन करें तो हम बहुत पुराने चोर हैं, क्योंकि जन्म-जन्मान्तरों से हम शरीर को अपना मानते हुए चले आ रहे हैं। शरीर एवं आत्मा में भेदबुद्धि करना ही अचौर्यव्रत है। ब्रह्मचर्य-व्रत का उद्देश्य अध्यात्म शक्तियों को संगृहित कर ब्रह्म(परमात्म) स्वरूप को उपलब्ध करना है। अपरिग्रह-व्रत का प्रयोजन इच्छाओं एवं तृष्णाओं का अन्त करना तथा निर्भयता एवं चैतसिक प्रसन्नता को प्रकट करना है।

दिग्व्रत (दिशाओं का परिमाण) इच्छाओं को सीमित करने के लिए स्वीकारा जाता है। भोगोपभोगपरिमाणव्रत पदार्थजन्य आसक्ति को न्यून करने के लिए ग्रहण किया जाता है। अनर्थदण्डविरमणव्रत निरर्थक एवं हिंसक कार्यों से बचने के लिए स्वीकार किया जाता है। जड़-चेतनमय समस्त पदार्थों के प्रति समभाव बना रहे, इस प्रयोजन से सामायिकव्रत की आराधना की जाती है। सामायिक की स्थिरता एवं सांसारिक-व्यापारों से निवृत्त होने के लिए पौषधोपवासव्रत किया जाता है। कषायों को क्षीण करने एवं अनावश्यक पापास्त्रवों का अवरोध करने के लक्ष्य से देशावगासिकव्रत स्वीकारा जाता है तथा मुनियों की शुश्रुषा, गृहस्थ धर्म का कर्त्तव्य एवं सामाजिक धर्म का दायित्व निर्वहन करने के लक्ष्य से अतिथिसंविभागव्रत किया जाता है।

इस व्रतारोपण संस्कार में परिमाण-पत्रक के माध्यम से परिग्रह आदि की विशेष मर्यादाएँ करवाई जाती है इसे टिप्पणक, टिप्पणी या परिमाणटिप्पनक कहते हैं। यहाँ टिप्पनक का तात्पर्य परिग्रह के सम्बन्ध में की जाने वाली मर्यादा के सूची पत्र से है। प्राचीनकाल में हस्तलिखित प्रतियों के पृष्ठ रहते थे। आज भी प्राचीन भंडारों में ये पत्र मौजूद हैं। आजकल परिग्रहपरिमाण की छपी किताबें होती हैं, और उसमें खाने बने हुए होते हैं। व्रतग्राही स्वेच्छानुसार मर्यादाएँ निर्धारित करता है। यह मर्यादापत्र गुरू के समक्ष भरा जाता है। सुस्पष्ट है कि

व्रतग्राही अपने हिसाब से परिग्रहादि व्रतों की नोंध (पुस्तक) बनाता है जो टिप्पनक कहलाता है।

इस टिप्पनक का प्रयोजन हिंसा, परिग्रह, दिशा आदि के अनावश्यक पापकार्यों से विरत होने हेतु यथाशक्ति मर्यादा का सूचीपत्र तैयार करना है, ताकि आगामीकाल के लिए गृहीत व्रत का भंग न हो। यदि किसी को गृहीत मर्यादाएँ विस्मृत हो जाए तो पुन: टिप्पनक द्वारा स्मरण की जा सकती हैं। परिग्रह का दायरा व्यापक होने से प्रत्येक वस्तु की मर्यादा लिखना आवश्यक होता है। इस तरह टिप्पनक की अनिवार्यता स्वयमेव सुसिद्ध है।

तुलनात्मक विवेचन

यदि बारह व्रतारोपणसंस्कार-विधि का तुलनापरक दृष्टि से विचार करें तो ज्ञात होता है कि जैन परम्परा में गृहस्थ को श्रावकत्व की दीक्षा देने हेतु एक सुनिश्चित विधि अस्तित्व में आई है। यह विकास-यात्रा प्रमुखत: विक्रम की बारहवीं शती से लेकर सोलहवीं शती पर्यन्त के ग्रन्थों में दृष्टिगत होती है। मेरी शोध यात्रा के आधारभूत ग्रन्थ भी ये ही हैं। इन ग्रन्थों के परिप्रेक्ष्य में इस व्रतारोपण विधि का तुलनात्मक विवेचन इस प्रकार है-

नाम की दृष्टि से- यह व्रतारोपण विधि तिलकाचार्य सामाचारी[131] में देशविरतिनन्दीविधि के नाम से वर्णित है। इसी प्रकार सुबोधासामाचारी[132] में देशविरतिसामायिकविधि के नाम से, विधिमार्गप्रपा[133] में परिग्रहपरिमाण सामायिकव्रतारोपण विधि के नाम से एवं आचारदिनकर[134] में देशविरतिसामायिक आरोपणविधि- इस नाम से उल्लिखित है। इससे ज्ञात होता है कि पूर्वोक्त ग्रन्थों में इस विधि की चर्चा भिन्न-भिन्न नामों को लेकर की गई है। यद्यपि इनमें नाम-साम्यता नहीं है, किन्तु इस विधि का मूल प्रतिपादन सभी ग्रन्थों में समान रूप से किया गया है।

नन्दीरचना की दृष्टि से- इस व्रतारोपण के प्रारम्भ में विधिपूर्वक जिन प्रतिमा की स्थापना की जाती है, इसे नन्दीरचना कहते हैं। इस व्रतारोपण-संस्कार के लिए नन्दीरचना की जानी चाहिए या नहीं ? इस विषय को लेकर सुबोधासामाचारी में विशेष रूप से नन्दी करने का निर्देश है।[135] विधिमार्गप्रपाकार ने इसका स्पष्ट संकेत नहीं दिया है किन्तु शेष विधि हेतु सम्यक्त्वव्रतारोपण विधि का सूचन किया है।[136] इससे लगता है कि इस

व्रतारोपण संस्कार में नन्दी रचना अवश्य की जानी चाहिए। आचारदिनकर में नन्दीक्रिया का निर्देश दो बार है।[137] प्रथम नन्दीक्रिया का आशय नन्दीरचना से है और दूसरी नन्दीक्रिया का आशय नंदीपाठ से है। दूसरी बार की नन्दिक्रिया के समय तीन बार नमस्कारमन्त्र का उच्चारण किया जाता है। इस प्रकार नन्दिरचना संबंधी सामान्य अन्तर देखे जाते हैं।

प्रतिज्ञापाठ की दृष्टि से- तिलकाचार्य सामाचारी में बारहव्रत स्वीकार करने संबंधी दो प्रकार के प्रतिज्ञा पाठ दिए गए हैं। प्रथम प्रकार का प्रतिज्ञापाठ विकल्प रहित व्रतग्रहण करने वाले साधकों की अपेक्षा से कहा गया है। दूसरे प्रकार का प्रतिज्ञा पाठ ऐसे आराधक वर्ग की अपेक्षा से बतलाया गया है, जो एक साथ बारहव्रत को स्वीकार करने में असमर्थ हैं। ये प्रतिज्ञा पाठ वैकल्पिक हैं। इसमें यह भी निर्देश दिया गया है कि वैकल्पिक रूप से व्रतग्रहण करने वाले गृहस्थों के लिए नन्दीरचना करने की आवश्यकता नहीं है।[138]

फलित है कि विवेच्य ग्रन्थों में इस विधि को लेकर कहीं समानता तो कहीं असमानता परिलक्षित होती है।

यदि हम बारहव्रत आरोपण विधि का श्रमण एवं वैदिक परम्परा के दृष्टिकोण से अध्ययन करें तो यह ज्ञात होता कि जैन धर्म की श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों परम्पराओं में बारहव्रत की अवधारणा को लेकर समरूपता है। दिगम्बर-परम्परा के आदिपुराण में पन्द्रहवाँ संस्कार 'व्रतावतरण' नाम का माना गया है। यद्यपि व्रतावतरण संस्कार में हिंसाजनित पांच स्थूल पापों का ही त्याग करने का निर्देश दिया गया है, तथापि दिगम्बर-परम्परा के अनेक ग्रन्थों में श्रावक के द्वादशव्रतों का उल्लेख है। सागारधर्मामृत आदि विभिन्न श्रावकाचारों में इन व्रतों का अतिचारसहित विस्तृत विवेचन किया गया है। इस प्रकार बारहव्रतों की संख्या के सम्बन्ध में श्वेताम्बर एवं दिगम्बर-परम्पराएँ एकमत हैं, किन्तु दोनों परम्पराओं में महत्त्वपूर्ण अन्तर शिक्षाव्रतों के सम्बन्ध में है।

श्वेताम्बर-परम्परा में शिक्षाव्रतों का क्रम इस प्रकार है- 9. सामायिकव्रकत 10. देशावगासिकव्रत 11. पौषधव्रत 12. अतिथि- संविभागव्रत।

दिगम्बर-परम्परा के कुछ ग्रन्थों में देशावगासिक के स्थान पर संलेखना को शिक्षाव्रत के रूप में स्वीकार किया है और उनका क्रम इस प्रकार है- 9. सामायिकव्रत 10. पौषधव्रत 11. अतिथिसंविभागव्रत और 12. संलेखनाव्रत।

दिगम्बर-परम्परा में देशावगासिक और पौषधव्रत को एक में मिला लिया गया है तथा उस रिक्त संख्या की पूर्ति संलेखना को व्रत में समावेश कर की गई है। इस प्रकार दोनों परम्पराओं में आंशिक मतभेद दृष्टिगत होता है। स्वरूपत: श्वेताम्बर-परम्परा के व्रतारोपण-संस्कार में सम्यक्त्वव्रत, बारहव्रत, सामायिकव्रत आदि गृहस्थ संबंधी छ: प्रकार के विधि-विधान समाहित किए गए हैं, जबकि दिगम्बर-परम्परा के व्रतावतरण संस्कार में हिंसादि पाँच पापों के त्याग को ही अन्तर्निहित किया गया है।[139]

वैदिक-परम्परा में 'व्रतारोपण' नाम से किसी तरह की व्रतविधियों का उल्लेख प्राप्त नहीं होता है, केवल धर्मशास्त्रों में वेदव्रतों के सम्बन्ध में उल्लेख मिलते हैं। साथ ही संस्कार-संख्या में चार वेद-व्रत को भी स्थान दिया गया है। बहुत-सी स्मृतियों ने सोलह संस्कार में इनकी भी गणना की है। वह विवरण इस प्रकार है[140]-

आश्वलायनस्मृति के अनुसार चार वेदव्रत ये हैं- 1. महानाम्नीव्रत 2.महाव्रत 3. उपनिषद् व्रत और 4. गोदान।

आश्वलायनगृह्यसूत्र के अनुसार व्रतों में चौलकर्म से परिदान तक के सभी कृत्य, जो उपनयन के समय किए जाते हैं, प्रत्येक व्रत के समय दोहराए जाते हैं। शांखायनगृह्यसूत्र के अनुसार पवित्र गायत्री से दीक्षित होने के उपरान्त चार व्रत किए जाते थें यथा-शुक्रिय, शाक्वर, व्रातिक और औपनिषदिक। इनमें शुक्रियव्रत तीन या बारह दिन या एक वर्ष तक चलता था तथा अन्य तीन कम से कम वर्ष-वर्ष भर किए जाते थे। अन्तिम तीन व्रतों के प्रारम्भ में अलग-अलग उपनयन किया जाता था तथा इसके उपरान्त उद्दीक्षणिका नामक कृत्य किया जाता था। उद्दीक्षणिका का तात्पर्य है-आरम्भिक व्रतों को छोड़ देना। आरण्यक का अध्ययन गांव के बाहर वन में किया जाता था। मनु के अनुसार इन चारों व्रतों में प्रत्येक व्रत के आरम्भ में ब्रह्मचारी को नवीन मृगचर्म, यज्ञोपवीत एवं मेखला धारण करनी पड़ती थी। गोभिलगृह्यसूत्र में गोदानिक, व्रातिक, आदित्य, औपनिषद्, ज्येष्ठसामिक नामक व्रतों का वर्णन मिलता है। इनमें से प्रत्येक व्रत एक वर्ष तक चलता है। गोदानव्रत का सम्बन्ध गोदान-संस्कार से है। इस व्रताचरण काल में सिर, दाढ़ी-मूंछे मुंड़ा ली जाती है, झूठ, क्रोध, सम्भोग, नाच, गान, मधु, मांस, आदि का परित्याग किया जाता है और उस गांव में

जूता नहीं पहना जाता है।

गोभिल के अनुसार मेखला धारण, भिक्षा प्राप्त भोजन, दण्डग्रहण, प्रतिदिन स्नान, समिधा-अर्पण, गुरूवन्दन आदि कृत्य सभी व्रतों में किए जाते हैं। गोदानिकव्रत से सामवेद के पूर्वार्चिक का आरम्भ किया जाता था। इसी प्रकार व्रातिक से आरण्यक का, आदित्य से शुक्रिया का, औपनिषद् से उपनिषद्-ब्राह्मण एवं ज्येष्ठ-सामिक से आज्य-दोह का आरम्भ किया जाता था। यदि कोई विद्यार्थी विशिष्ट व्रतों को नहीं करता, तो उसे प्राजापत्य नामक तप तीन, छः या बारह बार करके प्रायश्चित्त करना पड़ता था। यदि ब्रह्मचारी नित्यक्रम के कर्त्तव्याचार में गड़बड़ी करता अथवा शौच, आचमन, प्रार्थना, भिक्षा, छत्रवर्जन आदि नियमों का यथावत् परिपालन न करता, तो उसे तीन कृच्छों का प्रायश्चित्त दिया जाता था। इस प्रकार वेदव्रतों का अनुसरण अनिवार्य एवं अपरिहार्य स्थिति के रूप में किया जाता था। इससे वैदिक मत में व्रत विचारणा की पुष्टि निर्विवादतः सिद्ध होती है। आज के समय में यह व्रत व्यवस्था विलुप्त नजर आती है।

यदि हिन्दू का सर्वमान्य ग्रन्थ गीता का अध्ययन करें, तो उसमें जैन-परम्परातुल्य गृहस्थ साधक के व्रतों का स्पष्ट वर्णन तो उपलब्ध नहीं होता है, किन्तु अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह का सामान्य निर्देश अवश्य दृष्टिगत होता है। गीता में मात्र सद्गुणों के रूप में उनका उल्लेख किया गया है। वह इन्हें सैद्धान्तिक रूप में ही स्वीकारती है, व्यावहारिक-रूप में नहीं।[141]

डॉ. सागरमलजी जैन के अभिमतानुसार जैन गृहस्थ के सात शिक्षाव्रतों के पीछे जिस अनासक्ति की भावना के विकास का दृष्टिकोण है, वही अनासक्त-वृत्ति गीता का मूल उद्देश्य है। जैन साधना में वर्णित सामायिक व्रत की तुलना गीता के ध्यान-योग के साथ की जा सकती है। इसी प्रकार अतिथिसंविभागव्रत का उल्लेख भी गीता में उपलब्ध हो जाता है। उसमें दान गृहस्थ का आवश्यक कर्त्तव्य माना गया है। महाभारत का अवलोकन करें, तो उसमें गृहस्थ-धर्म के सम्बन्ध में ऐसे अनेक निर्देश हैं, जो जैन अचार में वर्णित गृहस्थ-धर्म के बारहव्रत से साम्य रखते हैं।[142] इस वर्णन से फलित होता है कि वैदिक विचारणा में भी न्यूनाधिक रूप से बारहव्रत का विवेचन मिल जाता है।

बौद्ध परम्परा में बारहव्रत के नाम से तो कोई उल्लेख नहीं मिलता है,

किन्तु पाँच अणुव्रतों के समान ही गृहस्थ उपासकों के लिए पंचशील का उपदेश दिया गया है। बौद्ध विचारणा के गृहस्थ-जीवन के पंचशील जैन-विचारणा के अणुव्रतों के समान ही है, अन्तर केवल यह है कि भगवान् बुद्ध ने पाँचवां शील 'मद्य-निषेध' कहा है, जबकि जैन-विचारणा का पाँचवां अणुव्रत परिग्रह-परिमाण है। बौद्ध परम्परा में भी गृहस्थ साधक के लिए परिग्रह-मर्यादा को महत्त्व दिया गया है, बुद्ध के अनेक वचन परिग्रह की मर्यादा का संकेत करते हैं। भगवान् बुद्ध कहते हैं- "जो मनुष्य खेती, वास्तु(मकान), हिरण्य (स्वर्ण-चांदी), अश्व, दास, बन्धु, इत्यादि की कामना करता है, उसे वासनाएँ दबाती हैं और बाधाएँ मर्दन करती हैं, तब वह पानी में टूटी नाव की तरह दुःख में पड़ता है।"[143]

बौद्ध-विचारणा में मद्यनिषेध को सातवें उपभोग-परिभोग नामक गुणव्रत के अन्तर्गत स्वीकारा गया है। यदि हम बौद्धसम्मत गृहस्थ धर्म का विवेचन करें, तो जैन विचारसम्मत गृहस्थ जीवन के बारहव्रतों की धारणा के स्थान पर अष्टशील एवं भिक्षुसंघ संविभाग की धारणा मिलती है।

1. हिंसा परित्याग (प्राणातिपात विरमण) 2. चोरी परित्याग (अदत्तादान विरमण) 3. अब्रह्मचर्य परित्याग(मैथुन विरमण) 4. असत्य परित्याग (मृषावाद विरमण) 5. मद्यपान परित्याग 6. रात्रिभोजन एवं विकाल भोजन परित्याग 7. माल्य-गन्ध धारण परित्याग 8. उच्चशय्या परित्याग 9. भिक्षुसंघ-संविभाग (अतिथिसंविभाग व्रत)।

डॉ. सागरमलजी जैन के अनुसार जैन विचारणा सम्मत परिग्रहपरिमाणव्रत एवं दिशापरिमाणव्रत का विवेचन बौद्ध विचारणा में स्पष्ट रूप से उपलब्ध नहीं होता है। जैन विचारणा के शेष व्रतों में सामायिकव्रत को सम्यक् समाधि के अन्तर्गत माना जा सकता है, यद्यपि उसका शिक्षाव्रत के रूप में वहाँ निर्देश नहीं है। इसी प्रकार जैन-देशावगासिकव्रत को तीन उपोषथशील के अन्तर्गत और बौद्ध सम्मत मद्यपान एवं रात्रिभोजन परित्याग को जैन भोग-परिभोग व्रत का आंशिक रूप माना जा सकता है तथा विकाल भोजन, माल्यगन्धधारण और उच्चशय्या परित्याग-तीनों शील उपोषथ के विशेष अंग होने से जैन पौषधव्रत से तुलनीय हैं। बौद्ध परम्परा में जैन अभिमत निषिद्ध व्यवसायों का भी उल्लेख है। अन्तर यही है कि जैन विचारणा में उनकी संख्या 15 है और बौद्धमत में

केवल 5 है। 1. अस्त्रशस्त्रों का व्यापार 2. प्राणियों का व्यापार 3. मांस का व्यापार 4. मद्य का व्यापार 5. विष का व्यापार।[144]

इस प्रकार हम पाते हैं कि जैन एवं बौद्ध-परम्परा में वर्णित गृहस्थ आचार में बहुत कुछ साम्य है, फिर भी दोनों में मूलभूत अन्तर यह है कि बौद्ध विचारणा में भिक्षु एवं गृहस्थ उपासक के लिए आचरणीय पंचशील में कोई अन्तर नहीं है। गृहस्थ जीवन की सीमाओं का ध्यान रखकर उनमें किसी तरह का संशोधन नहीं किया गया है, जबकि जैन विचारणा में भिक्षु के पंचशील एवं गृहस्थ के पंचशील में नाम साम्य होने पर भी प्रतिज्ञा के विकल्पों में अन्तर है। इसी कारण भिक्षु के पंचशील महाव्रत और गृहस्थ के पंचशील अणुव्रत कहे गए हैं। भिक्षु के लिए पंचशील(महाव्रत) की प्रतिज्ञा नवकोटि पूर्वक की जाती है जबकि गृहस्थ उपासक के लिए यह प्रतिज्ञा छः कोटि पूर्वक की जाती है।

यदि समय निर्धारण की दृष्टि से विचार करें, तो जैन-परम्परा में पाँच अणुव्रतों और तीन गुणव्रतों की प्रतिज्ञा जीवनपर्यन्त के लिए होती है, बौद्ध धर्म में भी पंचशील यावज्जीवन के लिए ग्रहण किए जाते हैं। शेष तीन शील (उपोषथशील) शिक्षाव्रतों के समान एक निश्चित समयावधि (एक दिन) के लिए ही ग्रहण किए जाते हैं।

उपसंहार

जैन विचारणा में श्रावकत्व की दीक्षा स्वीकार करने हेतु बारहव्रत ग्रहण करना अत्यावश्यक माना गया है। इसे गृहस्थधर्म की दीक्षा भी कह सकते हैं। इस संस्कार के माध्यम से गृहस्थ भोगों से काफी-कुछ ऊपर उठ जाता है।

सामान्यतया यह उपक्रम गृहस्थ के आध्यात्मिक विकास-क्रम का द्वितीय सोपान है। इसके पूर्व सम्यक्त्वव्रत ग्रहण किया जाता है। उसे विकासक्रम का प्रथम सोपान कह सकते हैं। तदनन्तर गृहस्थ-जीवन की उच्चतम भूमिका पर आरूढ़ होने के लिए क्रमशः ग्यारह प्रतिमाओं को धारण करना होता है, यह तृतीय सोपान है। इस प्रकार जैन-गृहस्थ के सम्यक् आचरण-विकास की ये तीन श्रेणियाँ प्रमुख रूप से निर्दिष्ट हैं। इनके आधार पर गृहस्थव्रती मुनि जीवन की ओर क्रमशः विकास करता है।

जब हम बारहव्रत स्वीकार करने की उपादेयता पर विचार करते हैं, तो पाते हैं कि इसके माध्यम से व्यक्ति के हृदय में वैराग्य का अंकुर प्रस्फुटित होकर

पल्लवित होने लगता है, विरतिभाव का पोषण होता है, विवेक का दीप प्रज्वलित होकर ज्ञानावरणीयादि कर्मों का क्षय होता है। इस व्रत के उपरान्त व्यक्ति की आकांक्षाएँ एवं इच्छाएँ सीमित हो जाती हैं, निरर्थक क्रियाओं का अवरोध हो जाता है। सद्धर्म का सामान्य अवबोध होने से सत्यासत्य का बोध होने लगता है। अस्तु, व्रतारोपण के प्रसंग पर परिग्रह सम्बन्धी विभिन्न प्रकार की मर्यादाएँ निश्चित की जाती हैं। इससे लोभवृत्ति एवं संग्रहवृत्ति का निरोध होता है, ममत्व का विलय और निर्ममत्व जीवन जीने की कला का अभ्यास होता है। एक अवधि के पश्चात् व्यक्ति एवं वस्तुओं पर मूर्च्छाभाव न्यूनतम अवस्था तक पहुँच जाता है। स्वामीत्व को लेकर होने वाले संघर्ष समाप्त हो जाते हैं।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में भी इस व्रतारोपण की सर्वाधिक प्रासंगिकता है। सारांश रूप में देशव्रती-उपासक बाह्य से आभ्यन्तर, बहिरात्मा से अन्तरात्मा की ओर जीवन यात्रा को गतिशील बनाता है।

सन्दर्भ-सूची

1. *आवश्यकनिर्युक्ति, गा.-863*
2. *धर्मबिन्दुप्रकरण(सटीका), पृ.-2*
3. *भगवती आराधना, गा.-2080*
4. *रत्नकरण्डकश्रावकाचार, गा.-52*
5. *(क) तत्त्वार्थसूत्र, 7/1-2*
   (ख) तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति, 7/2
   (ग) तत्त्वार्थभाष्य, 7/2
6. *श्रावकप्रज्ञप्ति, 107*
7. *सागारधर्मामृत, 4/5*
8. *योगशास्त्र, 2/18*
9. *स्थानांगसूत्र, मधुकरमुनि, 3/4/175*
10. *उपासकदशा, मधुकरमुनि, 1/11*
11. *आवश्यकसूत्र, मधुकरमुनि, पृ. 99*
12. *आचारांगसूत्र, मधुकरमुनि, 1/4/34*
13. *(क) तप्पढमाए थूलगं पाणाइवाय उवासगदसाओ, 1/13*
    (ख) थूलगं पाणाइवाय समणोवासओ पच्चक्खाइ।
    आवश्यकसूत्र, पहला अणुव्रत

14. प्रश्नव्याकरणसूत्र, 1/5/1
15. प्रमत्तयोगात् प्राण व्यपरोपणं हिंसा-तत्वार्थसूत्रसूत्र, 7/13
16. प्राणातिपात.....स्थूलेभ्यः पापेभ्यो व्युपरमणमणुव्रत भवति। रत्नकरण्डकश्रावकाचार 1/52
17. पुरूषार्थसिद्धयुपाय, गा. 43
18. पंचाशकप्रकरण, 1/8
19. उपासकदशा, मधुकरमुनि, 1/45
20. अभिधानराजेन्द्रकोश, भा. 5, पृ.-846
21. योगशास्त्र, 2/19-21
22. उपासकदशा, मधुकरमुनि, 1/11
23. आवश्यकसूत्र, मधुकरमुनि, 4/पृ.11
24. योगशास्त्र, 2/54-55
25. उपासकदशा, मधुकरमुनि, 1/46
26. तत्त्वार्थसूत्र, 7/21
27. अभिधानराजेन्द्रकोश, भा.-6, पृ.228
28. योगशास्त्र, 2/63
29. अभिधानराजेन्द्रकोश, भा.-1, पृ.783-784
30. योगशास्त्र, 2/55
31. अभिधानराजेन्द्रकोश, भा.-6, पृ.-332
32. (क) उपासकदशा, मधुकरमुनि
    (ख) आवश्यकसूत्र, मधुकरमुनि, 4/पृ.-100
33. जैन आचार सिद्धान्त और स्वरूप, पृ.-308
34. (क) उपासकदशा, मधुकरमुनि, 1/47, (ख)वंदित्तुसूत्र, गा.-14
35. अभिधानराजेन्द्रकोश, भा.-1, पृ.543
36. योगशास्त्र, 2/74-75
37. (क) योगशास्त्र, 2/68-73
    (ख) अभिधानराजेन्द्रकोश, भा.-1, पृ.-535-536
38. उपासकदशा, 1/47
39. आवश्यकसूत्र, मधुकरमुनि, पृ.-100

40. उपासकदशा, मधुकरमुनि, 1/48
41. सुत्तनिपात, 26/21
42. अभिधानराजेन्द्रकोश, भा.-6, पृ.427, 429. भा.-5/526, 528
43. उपासकदशा, मधुकरमुनि, 1/17
44. वंदित्तुसूत्र, गा.-18
45. उपासकदशा, मधुकरमुनि, 1/49
46. रत्नकरण्डक श्रावकाचार, 62
47. अभिधानराजेन्द्रकोश, भा.-2, पृ.-278
48. योगशास्त्र, 2/115
49. प्रश्नव्याकरणसूत्र-परिग्रहद्वार
50. उपदेशमाला, गा.-243
51. भक्तपरिज्ञा, गा.-132
52. योगशास्त्र, 2/109-110
53. योगदृष्टिसमुच्चय, श्लो. 214-216
54. परिघय इव नगराणि व्रतानि किल पालयन्ति शीलानि।
पुरूषार्थसिद्धयुपाय, 136
55. अहं णं देवाणुप्पियाणं पंचाणुवइयं सत्त सिक्खावइयं दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवज्जिसामि। उवासगदसाओ-1/12
56. (क) व्रतान्तरयपरिपालनेन साधकतमानि व्रतानि गुणव्रतान्युच्यन्ते।
उपासकदशांगटीका-मुनि घासीलाल, पृ-232
(ख) परमपद प्राप्तिसाधनीभूता क्रियातस्यै
उपासकदशांगटीका, मुनि घासीलाल, पृ-244
57. उपासकदशा, मधुकरमुनि, 1/50
58. योगशास्त्र, 2/3
59. श्रावकप्रज्ञप्ति टीका, पृ.-168
60. भगवतीसूत्र, 7/2
61. हारिभद्रीयावश्यकटीका, 6/7
62. अभिधानराजेन्द्रकोश, भा.-2, पृ. 899
63. जैन आचार:सिद्धान्त और स्वरूप, पृ-420

64. उपासकदशा, मधुकरमुनि, 1/51
65. उपासकदशा, पृ.22-38
66. उपासकदशा के प्रथम अध्याय में इनमें से इक्कीस वस्तुओं का निर्देश मिलता है। उपासकदशा, मधुकरमुनि, 1/22-38
67. (क) रत्नकरण्डक श्रावकाचार, गा.-87
    (ख) उपासकदशा, 728 (ग) सागारधर्मामृत, 5/14
68. सर्वार्थसिद्धि, 7/2
69. जैन आचार:सिद्धान्त और स्वरूप, देवेन्द्रमुनि, पृ.323
70. उपासकदशा, 1/51
71. रत्नकरण्डक श्रावकाचार, 90
72. उपासकदशा, 1/51
73. (क) उवासगदसाओ, 1/47
    (ख) श्रावकप्रतिक्रमणसूत्र-अणुव्रत
74. सागारधर्मामृत, 5/21, 23
75. योगशास्त्र, 3/98-100
76. श्रावकप्रज्ञप्ति, गा.-289
77. उपासकदशा, 1/43
78. योगशास्त्र, 3/78-80
79. रत्नकरण्डक श्रावकाचार, 80
80. वही, 75
81. पुरूषार्थसिद्धयुपाय, 145
82. आजकल कुछ लोग एक-एक वर्ष की मर्यादापूर्वक भी बारहव्रत ग्रहण करते हैं। संभवत:यह अपवादमार्ग है।
83. श्रावकप्रज्ञप्ति, गा.-292
84. उपासकदशा, 1/53
85. उपासकदशा, 1/41
86. योगशास्त्र, 3/84
87. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भा.-2, पृ.-450
88. रत्नकरण्डक श्रावकाचार, 95
89. उपासकदशा, 1/54

90. श्रावकप्रज्ञप्ति, गा.-321
91. रत्नकरण्डक श्रावकाचार, 109
92. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा.-57
93. उपासकदशा, गा. 718-19
94. योगशास्त्र, 3/85
95. उपासकदशा, 1/55
96. उपासकदशा-टीका, मुनि घासीलाल, पृ.261
97. उपासकदशा-टीका, आचार्य अभयदेव, पृ.46
98. श्रावकप्रतिक्रमणसूत्र-अणुव्रत, 12
99. पुरूषार्थसिद्धयुपाय, 168
100. उपासकाध्ययन, 735
101. योगशास्त्र, 3/87
102. लाटीसंहिता, 222
103. तत्त्वार्थसूत्र, 7/34
104. उपासकदशा, 1/56
105. प्रवचनसारोद्धार, गा.-263-86
106. उपासकदशा, मधुकरमुनि, प्रस्तावना, पृ.-21-22
107. चारित्रासारप्राभृत, 23
108. रत्नकरण्डक श्रावकाचार,
109. पद्मचरित, 14/184-185
110. आदिपुराण, 10/63
111. चारित्रप्राभृत, 24-25
112. पद्मचरित, 14/118-119
113. तत्त्वार्थसूत्र, 7/21
114. रत्नकरण्डक श्रावकाचार, 67-91
115. हरिवंशपुराण, 18/46-47
116. श्रावकधर्मविधिप्रकरण, गा.9-11
117. अभिधानराजेन्द्रकोश, भा.-1, पृ.-417-418
118. उपासकदशा, मधुकरमुनि, 1/14
119. (क) स्थानांगसूत्र, 2/1/109
(ख) वही, 3/4/497

120. स्थानांगसूत्र, मधुकरमुनि, 4/3/428-29
121. वही, 4/3/430
122. समवायांगसूत्र, मधुकरमुनि, 11/71
123. भगवतीसूत्र, 7/10
124. भगवतीसूत्र, 12/2
125. उपासकदशा, मधुकरमुनि, 1/14-75
126. अन्तकृत्दशासूत्र, अ.-6
127. विपाकसूत्र, 2/1 से 10 अध्ययन
128. राजप्रश्नीयसूत्र, भाग-2, राजाप्रदेशी अधिकार
129. विधिमार्गप्रपा, पृ.-10-16
130. श्रीप्रव्रज्यायोगादिविधिसंग्रह, पृ.156-67
131. तिलकाचार्यसामाचारी, पृ.-8
132. सुबोधासामाचारी, पृ.-4
133. विधिमार्गप्रपा, पृ-4
134. आचारदिनकर, पृ.48(I)
135. सुबोधासामाचारी, पृ.-2
136. विधिमार्गप्रपा, पृ.-4
137. आचारदिनकर, पृ.-48-49
138. तिलकाचार्यसामाचारी, पृ-8-9
139. आदिपुराण, पर्व-48, पृ.-250
140. धर्मशास्त्र का इतिहास, भा.-1, पृ.-251-252
141. जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन भा.-2, पृ.-306
142. वही, पृ.-307
143. सुत्तनिपात, 39/4-5
144. जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन पृ.-304-305

अध्याय-4

सामायिक व्रतारोपण विधि का प्रयोगात्मक अनुसंधान

मानव जीवन का लक्ष्य है श्रेयस् की साधना। श्रेयस् की साधना ही आत्मा की आराधना है। ज्ञान एवं चारित्र आत्मा के धर्म हैं। इन्हें आगम भाषा में श्रुतधर्म और चारित्रधर्म की संज्ञा दी है। श्रेयस् की साधना सम्यग्दर्शन, सम्यगज्ञान और सम्यक्चारित्र से होती है। श्रेयस साधना का सरलतम उपाय है-सामायिक। इसे जैन साधना का प्राण तत्त्व माना गया है। यह जैन आचार का सारभूत कर्त्तव्य है। सामायिक का प्रावधान श्रमण और श्रावक दोनों के लिए परमावश्यक है। जो भी आत्माएँ साधना मार्ग पर आरूढ़ होती हैं, वे चाहे श्रावक हो या मुनि, सर्वप्रथम सामायिकव्रत को ही अंगीकार करती हैं। यहाँ तक कि तीर्थंकर बनने वाली आत्माएँ भी सामायिक चारित्र के द्वारा ही कर्मों की निर्जरा करती हैं।

जैन दर्शन में पाँच प्रकार के चारित्र कहे गए हैं, उनमें प्रथम सामायिक चारित्र है।[1] यह चारित्र सभी तीर्थंकरों के शासनकाल में विद्यमान रहता है, शेष चार चारित्र में छेदोपस्थापनीय चारित्र विद्यमान नहीं भी रहता है। जैन-श्रमण के लिए सामायिक प्रथम चारित्र है और जैन गृहस्थ साधकों के लिए सामायिक चार शिक्षाव्रतों में प्रथम शिक्षाव्रत है। जैनधर्म में इस साधना के लिए सभी को समान स्थान प्राप्त है। यह साधना किसी व्यक्ति विशेष की धरोहर नहीं है।

जैन परम्परा की यह साधना इतनी उत्तम और उत्कृष्ट है कि सभी साधनाओं का इसमें समावेश हो जाता है। इस साधना का मुख्य उद्देश्य है राग-द्वेष पर विजय प्राप्त करना, समस्त जीवों के प्रति समभाव रखना और क्रोधादि कषायभावों को क्रमशः मन्द करना। यह साधना जब सध जाती है, आत्मा परमात्मा बन जाती है। हम प्रत्यक्ष में सुनते हैं, पढ़ते हैं कि भगवान् महावीर ने साढ़े बारह वर्ष तक समत्व की साधना की थी। उस साधना काल

में प्रतिकूल प्रसंगों के आने पर अपने आप को तटस्थ बनाए रखा, विचलित नहीं हुए तथा संगम, चण्डकौशिक, शूलपाणियक्ष जैसे भयंकर उपसर्ग करने वाले जीवों के प्रति भी करूणा, दया एवं मैत्री भाव से परिपूर्ण रहे। यही सामायिक की सच्ची साधना है।

सामायिक शब्द का अर्थ

जैनाचार्यों ने सामायिक के विभिन्न अर्थ किए हैं[1]- 'सम' उपसर्ग पूर्वक, गति अर्थ वाली 'इण्' धातु से 'समय' शब्द निष्पन्न हुआ है। सम्-एकीभाव, अय-गमन अर्थात एकीभाव द्वारा बाह्य-परिणति से पुनः मुड़कर आत्मा की ओर गमन करना सामायिक है।[2]

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के अनुसार राग-द्वेष के कारणों में मध्यस्थ रहना सम है। मध्यस्थ भावयुक्त साधक की मोक्ष के अभिमुख जो प्रवृत्ति है, वही सामायिक है।[3]

सम का अर्थ है-आत्मभाव और अय का अर्थ है-गमन। जिसके द्वारा परपरिणति से आत्मपरिणति की ओर जाया जाता है, वही सामायिक है।[4]

सम्+अयन+इक् से भी सामायिक शब्द निष्पन्न होता है। मोक्षमार्ग के साधन ज्ञान, दर्शन और चारित्र 'सम' हैं तथा उसमें 'अयन'- प्रवृत्ति करना सामायिक है।

सम् शब्द सम्यक् का द्योतक भी है और अयन का एक अर्थ आचरण है। इस दृष्टि से श्रेष्ठ या सम्यक आचरण सामायिक है।

उत्तराध्ययनसूत्र में सुख-दुःख, जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, निन्दा-प्रशंसा में समभाव रखने को सामायिक कहा है।[5] यही बात मूलाचार में भी कही गई है।[5]

वर्तमान परम्परा के अनुसार सावद्ययोग का परित्याग कर शुद्ध स्वभाव में रमण करना 'सम' है और जिस साधना के द्वारा उस 'सम' की प्राप्ति हो, वह सामायिक है।[7]

भगवद्गीता में समता को योग कहा गया है-समत्वं योगमुच्यते।[8]

निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा ही सामायिक है और आत्मोपलब्धि होना ही सामायिक का अर्थ है। भगवतीसूत्र में वर्णन आता है कि प्रभु पार्श्वनाथ की परम्परा का पालन करने वाले श्री कालास्यवेषी अणगार के

समक्ष तुंगिया नगरी में रहने वाले भगवान् महावीर के श्रमणोपासकों ने जिज्ञासा प्रस्तुत की थी, कि सामायिक क्या है ? और सामायिक का अर्थ क्या है ? उस अणगार ने कहा- आत्मा ही सामायिक है और आत्मा ही सामायिक का अर्थ है।[9] आत्मा की स्वाभाविक स्थिति को प्राप्त करना, उसमें तल्लीन होना-यही सामायिक है। आचार्य भद्रबाहु ने आवश्यकनिर्युक्ति में कहा है- जिसकी आत्मा संयम, तप और नियम में संलग्न रहती है, वही शुद्ध सामायिक है।[10]

आचार्य हरिभद्रसूरिजी ने लिखा है कि मोक्ष का प्रधान कारण सामायिक है। जिस प्रकार काटने वाली कुल्हाड़ी को चन्दन सुगन्धित बना देता है, उसी प्रकार जो साधना विरोधी के प्रति भी समभाव की सुगन्ध पैदा करती है, वही शुद्ध सामायिक है।[11] आवश्यकमलयगिरि टीका के अनुसार सावद्ययोग(पाप-व्यापार) से रहित, तीन गुप्तियों से युक्त, षड्जीवनिकायों में संयत, उपयोगवान्, यतनाशील आत्मा ही सामायिक है।[12]

इस तरह आत्मा ही सामायिक है अथवा सामायिक आत्मा की शुद्ध अवस्था का नाम है।

सामायिक की मौलिक परिभाषाएँ

सामायिक की कतिपय परिभाषाएँ निम्न हैं-सामायिक अर्थात राग-द्वेष रहित अवस्था • पीड़ा का परिहार स समभाव की प्राप्ति • सर्वत्र तुल्य व्यवहार • ज्ञान-दर्शन-चारित्र का पालन • चित्तवृत्तियों के उपशमन का अभ्यास • समभाव में स्थिर रहने का अभ्यास • सर्वजीवों के प्रति समान वृत्ति का अभ्यास • सर्वात्मभाव का अभ्यास • 48 मिनट का श्रमण जीवन • संवर की क्रिया, आस्रव का वियोग • सद्व्यवहार • आगमानुसारी शुद्ध जीवन जीने का अनुपम प्रयास स समस्थिति स विषमता का अभाव • बन्धुत्वभाव का शिक्षण • शान्ति की साधना • अहिंसा की उपासना • श्रुतज्ञान की सात्त्विक आराधना • अन्तर्दृष्टि का आविर्भाव • उच्चकोटि का आध्यात्मिक अनुष्ठान • अन्तर्चेतना में निहित स्वाभाविक गुणों का प्रकटीकरण • स्वयं की सहज पर्यायों को स्वयं में अनुभूत कर देखने की सहज क्रिया • ममत्वयोग से हटकर अन्त:करण को समत्वयोग में नियोजित करना।

इस तरह स्व-स्वभाव में स्थित होना सामायिक है।

सामायिक के लक्षण

सामायिक तीन प्रकार की बताई गई है। प्रथम सम्यक्त्व सामायिक का लक्षण है-तत्त्वश्रद्धा, श्रुतसामायिक का लक्षण है-तत्त्वपरिज्ञान, चारित्रसामायिक का लक्षण है-सावद्ययोगविरति।[13]

सामायिक का रूढ़ार्थ

सामायिक एक पवित्र और विशुद्ध क्रिया है। इसका रूढ़ार्थ यह है कि पवित्र-एकान्त स्थल पर, ऊनी आसन बिछाकर एवं शुद्धवस्त्र पहन कर कम से कम दो घड़ी (48 मिनट) तक 'करेंमिभंते' के पाठपूर्वक सावद्य-व्यापारों का त्याग करना तथा स्वाध्याय-जाप-धर्म आदि का चिंतन करना सामायिक है। वर्तमान युग में सामायिक का यही अर्थ प्रचलित है।

सामायिक के पर्यायवाची

जैन ग्रन्थों में सामायिक के आठ पर्यायवाची बतलाए गए हैं- 1. सामायिक-समताभाव रखना 2. समयिक-सभी जीवों के प्रति दयाभाव रखना 3. सम्यवाद-विषमता और ममत्व का त्याग कर यथास्थित रहना 4. समास-थोड़े अक्षरों से अर्थ को जानना 5. संक्षेप-संक्षिप्त अक्षरों से अधिक कर्मनाश हो ऐसी अर्थ विचारणा करना 6. अनवद्य-निष्पाप आचरण करना 7. परिज्ञा-सम्यक् प्रकार से पाप प्रवृत्ति का त्याग करना 8. प्रत्याख्यान-छोड़ने योग्य वस्तुओं का त्याग करना।[14]

उक्त सभी अर्थ सामायिक के सम्बन्ध में घटित होते हैं।

सामायिक के भेद, प्रभेद एवं प्रकार

द्विविधभेद– जैन-परम्परा में सामायिक के पात्र की अपेक्षा से दो भेद किए हैं- 1. गृहस्थ की सामायिक और 2. श्रमण की सामायिक। एक अन्य प्रकार से भी सामायिक के द्रव्य और भाव-ये दो भेद बतलाए गए हैं-

1. द्रव्य सामायिक– सामायिक में स्थित होने के लिए आसन बिछाना, चरवला, मुखवस्त्रिका आदि धार्मिक-उपकरण एकत्रित करना और एक स्थान पर अवस्थित होना यह द्रव्य सामायिक है।

2. भाव सामायिक– द्रव्य आराधनापूर्वक आत्मभावों में लीन रहना भाव

सामायिक है। परम्परानुसार गृहस्थ की सामायिक 48 मिनट (एक मुहूर्त्त) की होती है। वह अपनी शक्ति एवं स्थिति के अनुसार क्रमशः एक से अधिक सामायिक कर सकता है। श्रमण की सामायिक यावज्जीवन के लिए होती है।

त्रिविधभेद– आचार्य भद्रबाहु ने सामायिक के तीन भेद किए हैं-

1. सम्यक्त्व सामायिक 2. श्रुत सामायिक और 3. चारित्र सामायिक।[15]

सम्यक्त्व सामायिक का अर्थ- सम्यग्दर्शन, श्रुतसामायिक का अर्थ-सम्यगज्ञान और चारित्रसामायिक का अर्थ-सम्यक् चारित्र है। समभाव की साधना के लिए सम्यक्त्व और श्रुत-ये दोनों आवश्यक माने गए हैं। सम्यक्त्व के बिना श्रुत सम्यक् नहीं होता तथा इन दोनों के बिना चारित्र सम्यक् नहीं होता।

जैन आचार की दृष्टि से सम्यक्त्वव्रत ग्रहण करना सम्यक्त्व सामायिक और श्रुत सामायिक है, बारहव्रत स्वीकार करना देशविरति सामायिक है और दीक्षा अंगीकार करना चारित्र सामायिक है। जैन इतिहास की दृष्टि से देखा जाए तो आगमग्रन्थों, मूलसूत्रों एवं छेदसूत्रों में सामायिक के त्रिविध भेद की चर्चा लगभग उपलब्ध नहीं होती है, केवल आवश्यकसूत्र पर लिखा गया टीका-साहित्य ही इस चर्चा का प्रतिपादन करता है। इसके परवर्तीकालीन ग्रन्थकारों ने इन्हें व्रत विशेष में समाहित कर लिया है।

षड्विधभेद– जैन ग्रन्थों में सामायिक के छः प्रकार भी बताए गए हैं। वे निम्न हैं-

1. नाम सामायिक- कोई हमें शुभनाम से बुलाए या अशुभ नाम से पुकारे, उस नाम का श्रवण कर अन्तर्मानस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ना, अथवा सामने वाले के प्रति राग-द्वेष का भाव न आना नाम सामायिक है।

2. स्थापना सामायिक- आकर्षक वस्तुओं को देखकर राग नहीं करना और घृणित वस्तुओं को देखकर द्वेष नहीं करना स्थापना सामायिक है।

3. द्रव्य सामायिक- स्वर्ण और मिट्टी-दोनों प्रकार के पदार्थों में समभाव रखना द्रव्य सामायिक है यानी सुवर्ण के प्रति आसक्त नहीं बनना और मिट्टी के प्रति निर्लेप नहीं रहना दोनों में समान बुद्धि रखना द्रव्य सामायिक है।

4. क्षेत्र सामायिक- चाहे महल हो या उपवन, समतल भूमि हो या

बंजर भूमि, वातावरण शान्त हो या कोलाहल भरा, प्रत्येक स्थिति में प्रसन्न रहना, तनावमुक्त रहना, चित्त को शांत रखना क्षेत्र सामायिक है।

5. काल सामायिक- शीतकाल हो या उष्णकाल, अनुकूल प्रसंग हो या प्रतिकूल, उनका मानसपटल पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ना, उनसे व्याकुल नहीं होना काल सामायिक है।

6. भाव सामायिक- शत्रु हो या मित्र, स्वजन हो या अन्यजन, सभी के प्रति एक-सा भाव रखना, समान आचरण करना, हृदय में प्रमोदभाव उत्पन्न होना तथा आत्मभाव में विचरण करना भाव सामायिक है।

यहाँ सामायिक के छः प्रकारों का जो उल्लेख किया गया है, उसका तात्पर्य यह है कि 'करेमिभंते' के पाठपूर्वक एक आसन पर बैठना ही सामायिक नहीं है, अपितु प्रतिकूल पदार्थों का संयोग होने पर, प्रतिकूल स्थान मिलने पर, प्रतिकूल प्रसंगों के उपस्थित होने पर द्वेष नहीं करना और अनुकूल संयोगादि के होने पर राग नहीं करना ही सामायिक है। इस प्रकार की सामायिक साधना कभी भी की जा सकती है। वर्तमान युग में द्रव्य सामायिक का प्रचलन विशेष है। आत्मजिज्ञासु साधकों को भाव सामायिक के प्रति भी ध्यान देना चाहिए।

निष्पत्ति– यदि ऐतिहासिक दृष्टि से अवलोकन करें, तो पूर्वोक्त प्रकारों की विस्तृत चर्चा आवश्यकचूर्णि में उपलब्ध होती है। आवश्यकचूर्णिकार जिनदासगणिमहत्तर ने भावसामायिक का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए सामायिक को आद्यमंगल माना है।[16] इस विश्व में जितने भी द्रव्यमंगल हैं, वे सभी अमंगल के रूप में परिवर्तित हो सकते हैं, परन्तु सामायिक ऐसा भावमंगल है जो कभी भी अमंगल नहीं हो सकता। समभाव की साधना सभी मंगलों का मूल केन्द्र है। संसार में कार्य करने का उतना महत्त्व नहीं है, जितना महत्त्व कार्य को सही तरीके से किया जाए, उस पद्धति का है। सही रूप में किया गया थोड़ा कार्य भी अच्छे परिणाम ला देता है अतः सामायिक के सम्बन्ध में भी यही बात है।

सामायिक शुद्धि के प्रकार

जैनाचार्यों ने द्रव्य-सामायिक सम्बन्धी छः प्रकार की शुद्धियाँ बताई हैं। सामायिक अंगीकार करते समय इन शुद्धियों का होना अनिवार्य माना है। ये

शुद्धियाँ सामायिक व्रत को सफल बनाने में निमित्तभूत बनती हैं अत: प्रत्येक साधक को निम्न छ: प्रकार की शुद्धिपूर्वक ही सामायिक करनी चाहिए-

1. द्रव्यशुद्धि- वस्त्र एवं उपकरण का शुद्ध होना द्रव्यशुद्धि है।

उपासकदशासूत्र एवं उसकी टीकाओं में वस्त्रशुद्धि के विषय में यह निर्देश प्राप्त होता है कि सामायिक में सामान्य वेशभूषा और आभूषण आदि का त्याग करना चाहिए। उस युग में मात्र अधोवस्त्र (धोती) ही सामायिक की वेशभूषा थी, जबकि वर्तमान में उत्तरीय (ऊपर ओढ़ने का वस्त्र) भी ग्रहण किया जाता है। वस्त्र शुद्धि के सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिए कि वस्त्र गंदे न हों, चटकीले-भड़कीले न हों, मल-मूत्र में उपयोग लिए हुए न हों, सादे हों और लोकविरूद्ध न हों।

आसन, चरवला, मुखवस्त्रिका, माला आदि द्रव्य उपकरण माने जाते हैं। ये उपकरण शुद्ध हों, उसके विषय में यह जानना जरूरी है कि जो अधिक हिंसा से निर्मित न हुए हों, सौन्दर्य की बुद्धि से न रखे गए हों, संयम की अभिवृद्धि में सहायक हों, जिनके द्वारा जीवरक्षा भलीभाँति की जा सकती हो, ऐसे द्रव्य रखना उपकरण शुद्धि है।

वर्तमान स्थिति में द्रव्यशुद्धि अवश्य ही विचारणीय है। कितने ही साधक सामायिक में कोमल रोएं वाले गुदगुदे आसन रखते हैं अथवा सुन्दरता के लिए रंग-बिरंगे फूलदार आसन बना लेते हैं, किन्तु इस तरह के आसनों की सम्यक् प्रतिलेखना नहीं की जा सकती अत: आसन सादा होना चाहिए। कुछ बहनें मुखवस्त्रिका को गहना बनाकर ही रख देती हैं, गोटा लगाती हैं, सलमे से सजाती हैं, धागा डालती हैं। ऐसा करना सामायिक के शान्त वातावरण को कलुषित करना है अत: मुखवस्त्रिका सादी-सफेद-स्वच्छ होनी चाहिए। माला सूत की होनी चाहिए। प्लास्टिक की माला अशुद्ध मानी गई है। ऐसी मालाओं पर किया गया जाप प्रभावकारी नहीं होता है।

2. क्षेत्रशुद्धि- क्षेत्रशुद्धि से तात्पर्य है-सामायिक योग्य उत्तम स्थान। जिन स्थानों पर बैठने से चित्त चंचल न बनता हो, विषय-विकार उत्पन्न न होते हों, क्लेश होने की संभावना न बनती हो, मन स्थिर रहता हो, वह क्षेत्र शुद्ध है। पौषधशाला, उपाश्रय, एकान्तस्थल आदि शुद्ध क्षेत्र माने गए हैं। ये स्थान आराधना के लिए निर्जरा प्रधान कहे गए हैं। इनके सिवाय भी जहाँ

मन स्थिर बनता हो, विधायक सोच उत्पन्न होती हो, सामायिक के लिए वह शुद्ध क्षेत्र है।

3. कालशुद्धि- जैन मुनि की सामायिक सर्वकालिक होती है अत: उसकी सामायिक के विषय में काल शुद्धि का प्रश्न नहीं हो सकता है, लेकिन गृहस्थ साधक के लिए इसकी काल-मर्यादा निश्चित की गई है। काल का अर्थ समय है। योग्य समय पर सामायिक करना काल शुद्धि है जैसे- प्रात:काल, सायंकाल, गृह का आवश्यक कार्य निपट गया हो, वह काल, पर्व काल आदि। इन कालों में की गई सामायिक काल की अपेक्षा शुद्ध मानी गई है। अपने निमित्त से पारिवारिक कार्य रूकता हो, क्लेश बढता हो, चित्त अशान्त बनता हो, धर्म की निन्दा होती हो, उस समय सामायिक लेकर बैठ जाना अशुद्धकाल है।

बहुत से साधक जब जी चाहा, सामायिक करने बैठ जाते हैं। ऐसी सामायिक पूर्ण फलदायी नहीं होती है अत: 'काले कालं समायरे'-जिस कार्य का जो समय हो, उस समय वही कार्य करना चाहिए, यही कालशुद्धि है। सामायिक की साधना का काल दिवस एवं रात्रि की दोनों सन्धिवेलाएँ मानी गई हैं। आचार्य अमृतचन्द्र ने भी इस मत का समर्थन किया है।[17] दोनों सन्धिकालों में सामायिक करना निम्नतम सीमा है। अधिकतम कितनी की जाए, यह साधक की क्षमता पर निर्भर है। यद्यपि आगम-साहित्य में समयावधि का विधान नहीं है, तथापि श्वेताम्बर एवं दिगम्बर के परवर्तीकालीन ग्रन्थों में सामायिक-व्रत की समयावधि एक मुहूर्त्त(48 मिनिट) स्वीकारी गई है।[18]

4. मन:शुद्धि- मन की अशुभ प्रवृत्ति को रोकना मन:शुद्धि है। यह सभी जानते हैं कि मन का कार्य विचार करना है। फलत: आकर्षण, विकर्षण, कार्याकार्य आदि सब कुछ विचारशक्ति पर ही निर्भर हैं। और तो क्या, हमारा सारा जीवन ही विचार है। विचार ही हमारा जन्म है, मृत्यु है, उत्थान है, पतन है, सब कुछ है। विचारों का वेग अन्य सब वेगों की अपेक्षा तीव्र है। आधुनिक विज्ञान कहता है कि प्रकाश की गति एक सेकण्ड में 1,80,000 मील है, विद्युत की गति 2,88,000 मील है, जबकि विचारों की गति 22,65,120 मील है।

प्रश्न हो सकता है कि तीव्र वेगगामी मन को नियंत्रित कैसे करें ? मन पवन से भी सूक्ष्म है। मन की गति बड़ी विचित्र है। जैन ग्रन्थों में कहा गया है-'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयो:' अर्थात मन ही मनुष्य के बन्ध और मोक्ष का कारण है। इसका समाधान यही है कि व्यक्ति संकल्प शक्ति के बल पर मन को नियंत्रित कर सकता है।

5. वचनशुद्धि- सामायिक साधना की सफलता के लिए वचन-शुद्धि भी अनिवार्य मानी गई है। जहाँ तक हो, मौन रखना, यदि न बन सके तो उचित, सीमित, परिमित बोलना ही वचनशुद्धि है। घर- गृहस्थी की बातें करना, अनावश्यक धर्मचर्चा (तर्क-वितर्क) करना, किसी की निन्दा-चुगली करना वचन की अशुद्धि है।

6. कायशुद्धि- यहाँ कायशुद्धि का अभिप्राय कायिकशुद्धि से है, न कि शरीर को सजा-धजाकर रखने से। आन्तरिक आचार का भार मन पर है और बाह्य-आचार का भार शरीर पर। जो मनुष्य उठने में, बैठने में, खड़े होने में, अंगों को हिलाने-डुलाने में विवेक रखता है वही कायशुद्धि है।

सामायिक करते समय भूमि की शुद्धता का ध्यान रखना भी आवश्यक है। जिस प्रकार शुद्धभूमि में वपन किया गया बीज फलदायक होता है, उसी प्रकार सामायिक की साधना भी फलवती बनती है।

ऐतिहासिक और तुलनात्मक दृष्टि से उक्त शुद्धियों का विवेचन करने पर यह ज्ञात होता है कि जैन आगम में इस प्रकार का अलग से कोई विवरण नहीं है। यह व्यवस्था परवर्ती आचार्यों की है। यद्यपि द्रव्यसामायिक की अपेक्षा ये शुद्धियाँ सभी परम्पराओं में अनिवार्य अंग के रूप में स्वीकार की गई हैं।

सामायिक सुखासन में ही क्यों

योग के आठ अंगों में आसन का तीसरा स्थान है। योग्य आसन से रक्तशुद्धि होती है। परिणामत: देह स्वस्थ तथा निरोगी रहता है। देह के निरोग रहने से विचार-शक्ति को वेग मिलता है। दृढ़ आसन का मन पर अच्छा प्रभाव पड़ता है एतदर्थ सामायिक में आसनपूर्वक बैठना चाहिए। आसन के विभिन्न प्रकार हैं। उनमें सामायिक के लिए पर्यंकासन उत्तम माना गया है। इसे सुखासन भी कहते हैं। लोकभाषा में इसे पालथी मारकर बैठना

भी कहा जाता है। इस प्रकार सामायिक में साधक को आसन का ध्यान अवश्य रखना चाहिए।

सामायिक पूर्वाभिमुख या उत्तराभिमुख क्यों करें ?

सामायिक करते समय दिशा का ध्यान रखना भी अत्यावश्यक है। यह साधना पूर्व या उत्तर दिशा की ओर मुख करके करनी चाहिए। इसमें विशिष्ट रहस्य समाहित है। पूर्व दिशा की ओर मुख करके सामायिक करने का यह प्रयोजन है कि सूर्य पूर्व दिशा में उदित होता है, इससे पूर्व दिशा उदय मार्ग की सूचना देती है, स्वयं की तेजस्विता को बढ़ाने की प्रेरणा करती है तथा मानवमात्र को स्व- सामर्थ्य के अनुसार अभ्युदय करने का संकेत करती है।

उत्तर दिशा-उच्च भाव की द्योतक है। उत्तरदिशा का अर्थ है-उच्च जीवन, उच्च विचार, उच्च आचार, उच्च गति। इस तरह यह उच्चता को प्राप्त करने का संकेत देती है। मानव का हृदय बाईं तरफ होने से वह उत्तर दिशा की ओर है। मनुष्य-देह में हृदय का सर्वोच्च स्थान स्वीकारा गया है। वह आत्मा का केन्द्र स्थान है। यह कहावत है-'जो जैसे हृदय का होता है वह वैसा बनता है।' यदि हृदय में उच्च भावनाएँ हैं, तो वह महान बनता है। लोक मान्यतानुसार व्यक्ति के पास श्रद्धा, निष्ठा, भक्ति-भावना का जो हिस्सा है, वह हृदय में है तथा हृदय उत्तर-दिशा की ओर रहा हुआ है। इस तरह उत्तर दिशा श्रेष्ठ एवं पवित्र बनने का संकेत करती है।

प्रसिद्ध ध्रुवतारा भी उत्तरदिशा में स्थित है। यह उत्तरदिशा के केन्द्रिय स्थल पर स्थिर दिखाई देता है, इधर-उधर गतिमान प्रतीत नहीं होता है। जहाँ पूर्वदिशा प्रगति, अभ्युदय, गतिशीलता का संदेश देती है वहीं उत्तरदिशा स्थिरता, दृढ़ता, निश्चयात्मकता की प्रेरणा करती है। केवल गति या स्थिरता जीवन को पूर्ण नहीं बना सकती, परन्तु दोनों का सुमेल हो तो व्यक्ति उच्चता के आदर्श शिखर पर स्थापित हो सकता है।

उत्तरदिशा की महत्ता को उजागर करने का एक प्रत्यक्ष प्रमाण है- दिशासूचक यन्त्र। इस यन्त्र में लोह चुंबक की एक सूचिका होती है, जो हमेशा उत्तरदिशा की ओर ही घूमती रहती है। वह लोह सूचिका जड़ है, फिर भी उत्तर दिशा की ओर ही चलती रहती है अत: मानना होगा कि उत्तरदिशा की ओर ऐसी कोई आकर्षण-शक्ति है, जो लोहचुंबक को अपनी ओर

खींचती जाती है। मानवीय खान-पान, हलन-चलन, रहन-सहन आदि पर उत्तर या दक्षिण-दिशा का विशेष प्रभाव पड़ता है।

एतदर्थ सामायिक पूर्व या उत्तर दिशा के सम्मुख होकर करनी चाहिए।

सामायिक का सामान्य काल दो घड़ी ही क्यों

यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि सामायिक की काल मर्यादा दो घड़ी ही क्यों ? संभवत: यह काल मर्यादा गृहस्थ-जीवन की मर्यादाओं और मनुष्य की चित्तशक्ति को लक्ष्य में रखकर निश्चित की गई है। सामायिक का काल इतना लंबा न हो कि जिससे दैनिक उत्तरदायित्व और कार्यों से निवृत्त होकर उतने समय के लिए भी अवकाश पाना गृहस्थों के लिए मुश्किल हो। तदुपरान्त सामायिक में स्थिरकाय होकर एक आसन पर बैठना अत्यावश्यक है। भूख, प्यास, शौचादि व्यापारों को लक्ष्य में रखकर और देह भी जकड़ न जाए, उसे ध्यान में रखकर यह कालमर्यादा निश्चित की गई है। सामायिक में बैठने वालों को सामायिक प्रोत्साहक होना चाहिए, शरीर के लिए वह दंड नहीं बनना चाहिए।

एक अन्य दृष्टि से भी यह काल उचित माना गया है। सामायिक का महत्त्वपूर्ण पक्ष है-चित्त को समभाव में रखना। सामान्य मानव का मन एक विचार, एक विषय या एक चिंतन पर दो घड़ी से अधिक स्थिर नहीं रह सकता है। दो घड़ी के बाद चित्त में चंचलता और विषयांतर का प्रवेश होता ही है। इसी प्रसंग में भद्रबाहुस्वामी ने आवश्यकनिर्युक्ति में कहा है- 'अंतोमुहुत्तकालं चित्तस्सेगग्गया हवइ झाणं' अर्थात चित्त किसी भी एक विषय पर एक मुहूर्त्त तक ही ध्यान कर सकता है।

आधुनिक मानसशास्त्री और शिक्षाशास्त्रियों ने भी इस बात का समर्थन किया है। इस काल मर्यादा के पीछे तीसरा तथ्य यह है कि यदि गृहस्थों के लिए ऐसी कोई काल मर्यादा रखी नहीं होती, तो इस क्रिया- विधि का कोई गौरव न रहता और अनवस्था प्रवर्तमान होती। निश्चित काल मर्यादा न होने पर कोई दो घड़ी सामायिक करता, तो कोई घड़ी भर ही, तो कोई पाँच-दस मिनिटों में ही किनारा कर लेता अत: सामायिक करने की वृत्ति बढ़ती जाए, एक- दूसरे का अनुकरण भी होने लगे और अंत में सामायिक के प्रति अभाव भी उत्पन्न न हो-इस दृष्टिकोण से भी सामायिक का कालमान निश्चित होना

आवश्यक प्रतीत होता है। इसी के साथ वैयक्तिक क्रियाविधियों में एकरूपता बनी रहे और सामान्य जनसमुदाय में वादविवाद, संशय आदि को स्थान न मिले, यह भी आवश्यक है। अत: इन दृष्टियों से भी सामायिक की कालमर्यादा मनोवैज्ञानिक सिद्ध होती है।

जहाँ तक आगम साहित्य का प्रश्न है, उसमें सामायिक के लिए निश्चित काल का कोई उल्लेख नहीं है। सामायिक के पाठ में भी काल मर्यादा के लिए 'जावनियमं' शब्द का ही प्रयोग हुआ है 'मुहूर्त्त' आदि का नहीं। इस सम्बन्ध में योगशास्त्र ही एक ऐसा उपलब्ध ग्रन्थ है, जिसमें एक मुहूर्त्त तक समभाव में रहने को सामायिक कहा है।[19]

यहाँ प्रसंगवश यह उल्लेखनीय है कि ज़ो लोग दो या तीन सामायिक एक साथ ग्रहण करते हैं, उनकी वह सामायिक काल की अपेक्षा उचित नहीं है। पौषधव्रत और देशावगासिकव्रत की बात अलग है, क्योंकि इन व्रतों का काल पूर्व से ही अधिक बताया गया है, किन्तु सामायिक एक-एक करके ग्रहण करना चाहिए। वर्तमान में दो या तीन सामायिक एक साथ ग्रहण करने का विशेष प्रचलन है, परन्तु वह कितना उचित है यह विचारणीय है?

सामायिक काल के संदर्भ जिनलाभसूरि ने आत्मप्रबोध में लिखा है कि इस सावद्ययोग के प्रत्याख्यानरूप सामायिक का मुहूर्त्तकाल शास्त्र सिद्धान्तों में नहीं है, लेकिन किसी भी प्रत्याख्यान का जघन्यकाल नवकारसी के प्रत्याख्यान के समान एक मुहूर्त्त का होना चाहिए।

सामायिक के सम्बन्ध में यह भी समझने योग्य है कि सामायिक लेने का पाठ उच्चारित करने के बाद ही 48 मिनट गिनना चाहिए और उतना समय पूर्ण होने पर ही सामायिक पूर्ण करने की विधि करनी चाहिए।

विविध दृष्टियों से सामायिक का महत्त्व

सामायिक मोक्षप्राप्ति का प्रमुख अंग है। सिद्ध-अवस्था में भी सामायिक सदैव प्रवर्तित रहती है। जैन-ग्रन्थों में सामायिक के महत्व को आंकने वाले बहुत से उद्धरण हैं। आचार्य जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण ने सामायिक को चौदह पूर्व का अर्थपिण्ड कहा है।[20] उपाध्याय यशोविजयजी ने सामायिक को सम्पूर्ण द्वादशांगीरूप जिनवाणी का साररूप बताया है। जिस प्रकार पुष्पों का सार गंध है, दूध का सार घृत है, तिल का सार तेल है, इक्षुखण्ड का सार

रस है, उसी प्रकार साधना का सार समता है। यदि पुष्प से गंध, दूध से घृत, तिल से तेल निकल जाए, तो वे निस्सार बन जाते हैं, वैसे ही साधना से सामायिक निकल जाए, तो साधना निस्सार हो जाती है। समता के अभाव में उपासना उपहास है।

जैनाचार्यों ने सामायिक के महत्व का प्रतिपादन करते हुए व्याख्यायित किया है कि आवश्यकसूत्र का प्रथम अध्ययन सामायिक है। सामायिक का लक्षण है-समभाव। जैसे आकाश सब द्रव्यों का आधार है, वैसे ही यह चारित्र आदि गुणों का आधार है। यह सभी प्रकार की विशिष्ट लब्धियों की प्राप्ति में हेतुभूत है। इससे पापों पर अंकुश लगता है।[21]

• षडावश्यक में सामायिक प्रथम आवश्यक है। चतुर्विंशति आदि शेष पाँच आवश्यक एक अपेक्षा से सामायिक के ही भेद हैं, क्योंकि सामायिक ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप है और चतुर्विंशति आदि में इन्हीं गुणों का समावेश है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र को प्रधान गुण माना गया है।[22]

• सामायिक से सावद्ययोग यानी असत् प्रवृत्ति से विरति होती है।[23]

• सामायिक मूल्यवान रत्न के समान है। रत्न को जितना तराशा जाए, उसमें उतना ही अधिक निखार आता है, उसी प्रकार मानसिक-वाचिक एवं कायिक सावद्य व्यापारों को जितना-जितना दूर किया जाए, उतना-उतना आत्मप्रकाश बढ़ता है।

• सामायिक की तुलना करते हुए यह भी कहा गया है कि कोई व्यक्ति प्रतिदिन एक लाख स्वर्णमुद्रा का दान करें और कोई एक सामायिक करें, इसमें एक सामायिक करने वाले का महत्व अधिक आंका गया है। कहीं-कहीं पर ऐसा भी उल्लेख है कि कोई लाख वर्ष तक प्रतिदिन एक लाख मुद्राओं का दान करता रहे, तो भी एक सामायिक की बराबरी नहीं हो सकती है।[24]

• एक जगह कहा गया है कि करोड़ों जन्मों तक निरन्तर उग्र तपश्चर्या करने वाला साधक जितने कर्मों को नष्ट नहीं कर सकता, उतने कर्मों को समताभावपूर्वक सामायिक करने वाला साधक मात्र अल्प क्षणों में नष्ट कर डालता है।[25]

• जो भी साधक अतीतकाल में मोक्ष गए हैं, वर्तमान में जा रहे हैं

और भविष्य मे जाएंगे। उन सभी जीवों के मुक्ति का आधार सामायिक था, है और रहेगा।[26]

• शास्त्रों में यह भी निर्दिष्ट है कि चाहे कोई कितना ही तीव्र तप तपे, जप जपे, चारित्र पाले, परन्तु समताभावरूप सामायिक के बिना न किसी को मोक्ष हुआ है और न कभी भविष्य में होगा।

• सामायिक को समता का क्षीरसमुद्र भी कहा है। जो इसमें स्नान करता है, वह श्रावक भी साधु के समान हो जाता है।

• जैन आचार्यों ने इसे शुद्ध यौगिक-क्रिया के रूप में मान्य किया है। यौगिक क्रिया मुख्य रूप से चार प्रकार की वर्णित हैं- 1. मंत्रयोग 2. लययोग 3. राजयोग और 4. हठयोग। ये चारों योग अभ्यास एवं सद्गुरू के उपदेश से सिद्ध होते हैं। इनमें से सामायिकव्रत को राजयोग के समतुल्य कहा गया है।

सामायिक का फल मोक्ष कैसे?

सामायिक का फल क्या है? यह प्रश्न जितना गंभीर है, उतना ही रहस्यपूर्ण इसका उत्तर है। सामायिक का एकमात्र फल मोक्ष है। कुछ साधक सामायिक से सांसारिक-सिद्धियाँ प्राप्त करने की इच्छा करते हैं। कोई व्यक्ति सामायिक के द्वारा पैसा, पद, प्रतिष्ठा या स्वर्गीय-सुखों को प्राप्त करने की कामना रखता है, जबकि यह आध्यात्मिक समृद्धि की प्रदाता है। जिसके समक्ष संसार की समस्त समृद्धियाँ नगण्य हैं, जो यह तथ्य जानता है वही सामायिक के उत्कृष्ट फल को प्राप्त कर सकता है।

जैन इतिहास में इस विषय को लेकर एक मार्मिक कथानक है कि एकदा मगध सम्राट श्रेणिक ने भगवान महावीर से पूछा-"मेरा नरकायु का बंधन हो चुका है, उसके निवारण का उपाय क्या है?" परमात्मा ने समझाया- शुभाशुभकृत कर्मों को अवश्य भोगना पड़ता है, उससे छुटकारा देने के लिए देव-दानव भी असहायक हैं। श्रेणिक का अत्याग्रह होने पर प्रभु ने नरक निवारण के चार उपाय बताए-उसमें से एक उपाय पूणिया श्रावक की एक सामायिक खरीदना था। श्रेणिक का मन नाच उठा। वह पूणिया की कुटिया में पहुँचा और उससे पूछा-"एक सामायिक का मूल्य क्या?" पूणिया ने कहा-"राजन् ! सामायिक का मूल्य क्या हो सकता है, मैं स्वयं अनभिज्ञ

हूँ। प्रभु महावीर जो मूल्य निश्चित करें, वह दे देना।'' श्रेणिक पुनः लौटा और उसने परमात्मा के चरणों में निवेदन किया- ''पूणिया श्रावक सामायिक देने को तत्पर है, शीघ्र बताईए, एक सामायिक की क्या कीमत दूँ?'' कृपालुदेव बोले- ''श्रेणिक! सामायिक का मूल्य चुकाना तुम्हारे वश की बात नहीं है, मगध देश का समग्र राज्य देकर भी सामायिक का मूल्य नहीं चुकाया जा सकता।''

उपर्युक्त घटना सामायिक का वास्तविक मूल्य प्रस्तुत करती है। एक सामायिक के फल के समक्ष संसार की सम्पूर्ण भौतिक- समृद्धि हीन है, तुच्छ है। अतः सामायिक द्वारा सांसारिक-फल प्राप्त करना हाथी देकर गधा खरीदने के समान है, चिंतामणि रत्न फेंककर काँच का टुकड़ा लेने के बराबर है।

शास्त्रों में सामायिक फल की चर्चा करते हुए बताया गया है कि सामायिक द्वारा विशुद्ध बनी हुई आत्मा सर्वघाती कर्मों का क्षय करके लोक-आलोक में प्रकाश करने वाला केवलज्ञान प्राप्त करती है। देवतागण भी सामायिक की इच्छा रखते हैं। वे दिन-रात एक ही चिन्तन करते हैं-'एक मुहूर्त्तभर के लिए सामायिक की सामग्री मिल जाए तो हमारा देवभव सफल हुआ मानेंगे।'

सामायिक फल का मूल्यांकन करते हुए शास्त्रकारों ने कहा है कि एक सामायिक करने वाला बानवे करोड़, उनसठ लाख, पच्चीस हजार, नौ सौ पच्चीस पल्योपम तथा एक पल्योपम के एक तृतीयांश अधिक आठ भाग का देव आयुष्य बांधता है।

आचार्य हरिभद्रसूरिजी के अष्टकप्रकरण के अनुसार 'संक्लेश जननोराग' अर्थात समस्त क्लेशों-दुःखों का मूल राग है। जहाँ राग होता है वहाँ द्वेष भी होता है, किन्तु जहाँ द्वेष हो, वहाँ राग का होना निश्चित नहीं है। इसलिए राग को दूर करना आवश्यक है, क्योंकि मूल का नाश होने से शाखाओं का अस्तित्व स्वतः समाप्त हो जाता है। यहाँ राग मूल है और द्वेष शाखाएँ। राग और द्वेष के परिणाम को समान करने वाला अनुष्ठान सामायिक है।

संबोधसित्तरी प्रकरण में समभाव को मुक्ति का द्वार कहा है। समभाव से भावित हुई आत्मा ही मोक्ष को प्राप्त करती है।

निष्कर्ष रूप में सामायिक एक अमूल्य एवं विराट् साधना है।

सामायिक से होने वाले लाभ

सामायिक एक विशुद्ध साधना है।

• गृहस्थ जीवन में इस सामायिकव्रत का बार-बार अभ्यास करने से आत्मा सर्वविरति अर्थात चारित्रधर्म के लिए योग्य बनती है।

• अहर्निश कम से कम एक सामायिक करने से शास्त्रवृत्ति, संतोषवृत्ति व समतावृत्ति का उत्तम अभ्यास होता है। इस सामायिक साधना के माध्यम से चित्तवृत्तियों के उपशमन का, माध्यस्थभाव में स्थिर रहने का, समस्त जीवों के प्रति समानवृत्ति का और सर्वात्मभाव का भी अभ्यास होता है।

• सामायिक में साधक की चित्तवृत्ति क्षीरसमुद्र की भाँति एकदम शान्त रहती है, इससे नवीन कर्मों का बन्ध नहीं होता है।

• आत्मस्वरूप में स्थित रहने के कारण जो कर्म शेष रहे हुए हैं, उनकी वह निर्जरा कर लेता है, इसीलिए आचार्य हरिभद्रसूरि ने लिखा है- सामायिक की विशुद्ध साधना से जीव घाती कर्मों को नष्ट कर केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है।[27]

• सामायिक का अभ्यासी साधक मन, वचन और काय को वश में कर लेता है।

• वह विषय-कषाय और राग-द्वेष से विमुक्त हुआ सदैव समभाव में स्थित रहता है।

• सामायिक अभ्यासी के अन्तर्मानस में विरोधी को देखकर न क्रोध की ज्वाला भड़कती है और न ही हितैषी को देखकर वह राग से आह्लादित होता है। वह समता के गहन सागर में डुबकी लगाता रहता है। वह न तो निन्दक से डरता है और न ही ईर्ष्याभाव से ग्रसित होता है। उसका चिन्तन सदा जागृत रहता है वह सोचता है कि संयोग और वियोग-ये दोनों ही आत्मा के स्वभाव नहीं हैं। ये तो शुभाशुभ कर्मों के उदय का फल है।

• समता का अभ्यास होते-होते मानसिक एवं वैचारिक बीमारियाँ भी दूर होने लगती हैं।

• रत्नसंचयप्रकरण के अनुसार त्रियोग की शुद्धिपूर्वक एवं बत्तीस दोषरहित सामायिक करने से मोक्षसुख की प्राप्ति होती है।[28]

सामायिक के उपकरणों का स्वरूप एवं प्रयोजन

सामायिक-साधना में मुख्यतया आसन, चरवला एवं मुखवस्त्रिका का उपयोग होता है। इनका सामान्य वर्णन निम्नानुसार है-

आसन– शास्त्रीय परिभाषा में इसे काष्ठासन कहते हैं। इसका एक अन्य नाम पादप्रोंछन भी है। वर्तमान में यह आसन के नाम से रूढ़ है। आसन ऊन का होना चाहिए। सूती या टेरीकोट आदि का आसन निषिद्ध माना है। ऊनी वस्त्र में ग्राहकता का गुण है, अतएव ऊनी आसन पर बैठकर साधना करने से शक्तियाँ जागृत होती हैं तथा वह ऊर्जा स्रोत साधक के अपने दायरे में ही सीमित रहता है। क्रमशः वे शक्तियाँ बलवती बनती हैं और साधक उन संचित शक्तियों के माध्यम से विविध सिद्धियाँ प्राप्त कर सकता है। भूमि पर बैठकर साधना करने से अर्जित शक्तियाँ समाप्त हो जाती हैं, क्योंकि भूमि में गुरूत्वाकर्षण का गुण है। इस प्रकार आसन का प्रयोजन आत्मिक एवं भावनात्मक शक्तियों का संग्रह करना है।

दूसरा कारण यह है कि साधना के लिए बिना आसन बैठने पर अन्य व्यक्ति यह समझ नहीं पाएगा कि वह सामायिक में बैठा हुआ है या ऐसे ही बैठा है। यह ज्ञात न होने पर वह व्यक्ति उससे अनावश्यक वार्तालाप कर सकता है अथवा बिना आसन के वह स्वयं भी सामायिक को विस्मृत कर सकता है, इधर-उधर आ-जा सकता है, ऐसे कईं दोषों की संभावनाएँ बनी रहती है।

गृहस्थ श्रावक का आसन लगभग डेढ़ हाथ लम्बा और सवा हाथ चौड़ा होना चाहिए।

मुखवस्त्रिका– इसका सीधा सा अर्थ है मुख पर लगाने का वस्त्र। मुखवस्त्रिका का प्रयोग मुख्यतः जीवरक्षा एवं आशातना से बचने के लिए किया जाता है, जैसे-स्वाध्याय करते समय पुस्तक पर थूंकादि न उछल जाए, गुरू भगवन्त से धर्म चर्चा करते समय उन पर थूंकादि के छींटे न लग जाए, सूत्रादि का उच्चारण करते समय थूंक आदि से स्थापनाचार्य की आशातना न हो जाए। संपातिम त्रस जीव जो सर्वत्र उड़ते रहते हैं, वे इतने

सूक्ष्म होते हैं कि उन्हें प्रत्यक्ष में देखना असंभव है। खुले मुँह बोलने पर व्यक्ति की उष्ण श्वास उन जीवों के लिए प्राण घाती भी बन जाती है अतः जीव रक्षा और आशातना से बचने के लिए मुखवस्त्रिका का उपयोग करते हैं। दूसरा अनुभूतिजन्य हेतु यह है कि इसे मुख के आगे रखने पर व्यक्ति सावद्य, कठोर या अप्रियवचन नहीं बोल सकता है। यह इस उपकरण का निसर्गज प्रभाव है।

इस तरह मुखवस्त्रिका पारमार्थिक-बोध देते हुए हित, मित, परिमित बोलने का संदेश देती है तथा गृहीत व्रत में स्थिर रहने का आह्वान करती है। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा के अनुसार इसे मुख से चार अंगुल दूर रखना चाहिए। स्थानकवासी एवं तेरापंथी परम्परा में इसे मुख पर बांधते हैं। दिगम्बर-परम्परा में मुखवस्त्रिका का उपयोग ही नहीं होता है।

मुखवस्त्रिका 16 अंगुल लम्बी और 16 अंगुल चौड़ी होनी चाहिए।

चरवला- यह शब्द चर+वला इन दो शब्दों से संयोजित है। 'चर' का अर्थ है– चलना, फिरना, उठना आदि गतिशील क्रियाएँ और 'वला' का अर्थ है– पूंजना, प्रमार्जना। सामायिक सम्बन्धी प्रत्येक क्रिया प्रमार्जनापूर्वक होनी चाहिए। प्रमार्जना करने से जीवरक्षा होती है। जीवरक्षा द्वारा अहिंसा का पालन होता है। अहिंसा का पालन करना ही यथार्थ धर्म है, साधना है, आराधना है अतएव चरवला का उपयोग जीवरक्षा के लिए होता है। सामायिकव्रती को खमासमण, वंदन, सज्झाय आदि आदेश के निमित्त या अन्य आवश्यक कार्यों के लिए उठना-बैठना हो, तब चरवला द्वारा पाँव एवं आसन की प्रमार्जना अवश्य करें। हमें प्रत्यक्षतः कोई जीव न भी दिखाई दें, परन्तु यतनापूर्वक प्रवृत्ति करना जिनाज्ञा है।

चरवला ऊन के गुच्छों से बनता है। इसका परिमाण बत्तीस अंगुल कहा गया है। इसमें 24 अंगुल की डण्डी और 8 अंगुल ऊन की फलियाँ होनी चाहिए।

• श्वेताम्बर-मूर्तिपूजक की सभी परम्पराओं में आसन आदि उपकरणों का प्रयोजन एवं प्रमाण पूर्वोक्त ही स्वीकारा गया है। स्थानकवासी एवं तेरापंथी-परम्परा में चरवले का प्रयोजन और उसकी उपयोगिता तो उसी रूप में स्वीकार्य है, परन्तु माप आदि के सम्बन्ध में कुछ भिन्नता आ गई है।

सामायिक में कितने दोष लग सकते हैं?

सामायिकव्रत स्वीकार कर लेने के पश्चात् भी ज्ञात-अज्ञात रूप से बत्तीस दोषों के लगने की संभावनाएँ रहती हैं। इनमें दस मन सम्बन्धी, दस वचन सम्बन्धी और बारह काया सम्बन्धी दोष लगते हैं। साधक को इन दोषों से रहित सामायिक करनी चाहिए, वही शुद्ध सामायिक कही गई है। सामायिक से सम्बन्धित दोष निम्न प्रकार हैं-

1. मन सम्बन्धी दस दोष

1. **अविवेक-** सामायिक के प्रयोजन और स्वरूप के ज्ञान से वंचित रहकर सामायिक करना।
2. **यशोवांछा-** स्वयं को यश मिले, अपनी वाह-वाह हो ऐसे प्रयोजन से सामायिक करना।
3. **लाभ-** सामायिक करूँगा, तो धन-लाभ मिलेगा, अन्य भौतिक लाभ भी होंगे-इस भाव से सामायिक करना।
4. **गर्व-** 'मैं बहुत सामायिक करने वाला हूँ,' 'मेरी बराबरी कौन कर सकता है' इत्यादि गर्वपूर्वक सामायिक करना।
5. **भय-** मैं अपनी जाति में ऊँचे घराने का व्यक्ति हूँ, यदि सामायिक न करूँ, तो लोग क्या कहेंगे ? इस प्रकार लोक-निन्दा के भय से सामायिक करना।
6. **निदान-** नियाणा करना, प्रतिफल की कामना करना। जैसे- धन, स्त्री अथवा व्यापार में खास लाभ प्राप्त करने के प्रयोजनपूर्वक सामायिक करना।
7. **संशय-** मैं जो सामायिक करता हूँ, उसका फल मुझे मिलेगा या नहीं ? सामायिक करते-करते इतने दिन हो गए, फिर भी कुछ फल नहीं मिला, इस तरह सामायिक फल के सम्बन्ध में संशय रखते हुए सामायिक करना।
8. **रोष-** क्रोधपूर्वक सामायिक करना।
9. **अविनय दोष-** सामायिक के प्रति अविनय या अनादर भाव रखते हुए सामायिक करना।
10. **अबहुमान-** आन्तरिक उत्साह के बिना या किसी दबाव के कारण सामायिक करना।

ये दस दोष मन द्वारा लगते हैं।[29]

2. वचन सम्बन्धी दस दोष

1. **कुवचन-** सामायिक में असभ्य, अपमानजनक, कुत्सित, वीभत्स शब्द बोलना।
2. **सहसाकार-** बिना सोचे-विचारे, मन में जैसा आए, वैसे वचन बोलना।
3. **स्वच्छंद-** शास्त्र सिद्धान्त के विरूद्ध कामवृद्धि करने वाले वचन बोलना।
4. **संक्षेप-** सूत्रपाठ आदि का उच्चारण पूर्णतया न करके उसका संक्षेप करना, यथार्थ रूप में न पढ़ना, आधा-अधूरा बोलना।
5. **कलह-** सामायिक में कलह पैदा करने वाले शब्द बोलना।
6. **विकथा-** वह वार्त्ता जो चित्त को अशुभ भाव या अशुभ ध्यान की ओर प्रवृत्त करती हो, विकथा कहलाती है। विकथा चार प्रकार की होती है-स्त्रीकथा, भक्तकथा, राजकथा और देशकथा। सामायिक में विकथा करना।
7. **हास्य-** सामायिक में किसी की मजाक-मसखरी करना, कटाक्ष वचन बोलना, कौतूहल करना, जानबूझकर ऊंची-नीची आवाज में बोलना आदि।
8. **अशुद्ध-** सामायिक के सूत्र पाठों या अन्य स्वाध्याय आदि के सूत्रों को जल्दी-जल्दी बोलना, उच्चारण पर ध्यान न देना आदि।
9. **निरपेक्ष-** सूत्र सिद्धान्त की उपेक्षा करना अथवा बिना समझे उल्टी-पुल्टी बातें प्रस्तुत करना।
10. **मुणमुण-** सामायिक के पाठादि का स्पष्ट उच्चारण न करना, सूत्र पाठों को गुनगुनाते हुए बोलना अर्थात नाक से आधे अक्षरों का उच्चारण कर जैसे-तैसे पाठोच्चारण करना।

ये दस दोष वचन द्वारा लगते हैं।[30]

3. काया सम्बन्धी बारह दोष

1. **कुआसन-** सामायिक में पैर पर पैर चढ़ाकर अभिमान पूर्वक बैठना।
2. **चलासन-** अस्थिर और झूलते आसन पर बैठना अथवा बैठने की जगह पुनः-पुनः बदलना।

3. **चलदृष्टि-** सामायिक में इधर-उधर देखना अथवा दृष्टि को स्थिर न रखना।
4. **सावद्यक्रिया-** सामायिक में बैठने के बाद हिंसाजनक कार्यों को स्वयं करना या दूसरों से करवाना।
5. **आलंबन-** दीवार या पलंग आदि का अवलंबन (सहारा) लेकर बैठना।
6. **आकुंचन प्रसारण-** निष्प्रयोजन हाथ-पैर लंबे करना।
7. **आलस्य-** सामायिक में बैठे हुए आलस्य करना, अंगडाई लेना।
8. **मोड़न-** सामायिक में बैठे-बैठे हाथ और पैरों की अंगुलियाँ चटकाना, दबाकर आवाज करना।
9. **मल-** शरीर को खौर-खूंजकर मैल निकालना।
10. **विमासन-** गाल पर हाथ रखकर शोकग्रस्त की तरह बैठना अथवा बिना पूँजे शरीर खुजलाना।
11. **निद्रा-** सामायिक में नींद के झटके खाना या सो जाना।
12. **वैयावच्च-** सामायिक में दूसरों से सिर या पैर दबवाना, मालिश करवाना, इस तरह दूसरों से सेवाएँ लेना।[31]

सामायिक के उक्त बत्तीस दोष किंचित नामान्तर के साथ रत्नसंचयप्रकरण में भी उल्लिखित हैं।[32]

सामायिकव्रती को निम्न चार दोषों का भी अवश्य वर्जन करना चाहिए[33]- 1. अविधिदोष 2. अतिप्रवृत्ति-न्यूनप्रवृत्तिदोष 3. दग्धदोष 4. शून्यदोष।

1. **अविधि दोष-** शास्त्रोक्त विधिपूर्वक सामायिक न करना।
2. **अतिप्रवृत्ति न्यूनप्रवृत्ति दोष-** सामायिक में रहते हुए जो कुछ करना चाहिए, उसमें अधिक या न्यून प्रवृत्ति करना।
3. **दग्ध दोष-** सामायिकव्रत में रहते हुए इहलोक-परलोक, सांसारिक तथा भौतिक सुख की चर्चा करना।
4. **शून्य दोष-** सामायिक में सजग नहीं रहना, उपयोग अस्थिर रखना।

सामायिकव्रती को इन दोषों की सम्यक् जानकारी अवश्य होना चाहिए, तभी वह इन दोषों से बच सकता है।

निष्पत्ति– यदि ऐतिहासिक दृष्टि से इन दोषों का अध्ययन करते हैं तो आगम ग्रन्थों, टीका साहित्यों एवं पूर्वकालीन ग्रन्थों में लगभग बत्तीस दोषों का वर्णन उपलब्ध नहीं होता है, मात्र शुद्ध सामायिक करने का निर्देश मिलता है। अर्वाचीन संकलित ग्रन्थों में ही पूर्वोक्त निर्देश प्राप्त होता है। इन दोषों से सम्बन्धित प्राकृत गाथाएँ भी उल्लिखित हैं, किन्तु वे गाथाएँ किस ग्रन्थ से उद्धृत की गई हैं, कोई सूचन नहीं है। इससे ज्ञात होता है कि सामायिक सम्बन्धी बत्तीस दोषों का वर्णन आगमेतर कालीन है। तुलनात्मक दृष्टि से पर्यावलोकन करें, तो श्वेताम्बर की सभी परम्पराएँ उक्त दोषों को स्वीकार करती हैं। दिगम्बर ग्रन्थों में इन दोषों की विस्तृत चर्चा का अभाव है।

सामायिकव्रती की आवश्यक योग्यताएँ

सामायिक एक अन्तर्मुखी साधना है। यह साधना परम्परामूलक नहीं है, अतः सामायिक का अधिकारी प्रत्येक व्यक्ति को माना गया है। इसके लिए लिंग, वय, वर्ण, जाति या राष्ट्र की मर्यादाएँ भी बाधक नहीं हैं।

जैन साहित्य में सामायिक की योग्यता रखने वाले व्यक्ति के लिए कुछ गुण आवश्यक माने गए हैं। विशेषावश्यकभाष्य के अनुसार प्रियधर्मा, दृढ़धर्मा, संविग्न, पापभीरू, अशठ, क्षान्त, दान्त, गुप्त, स्थिरव्रती, जितेन्द्रिय, ऋजु, मध्यस्थ, समित और साधु संगति में रत-इन गुणों से सम्पन्न गृहस्थ सामायिक करने का अधिकारी होता है।[34]

अनुयोगद्वार के अनुसार जिस व्यक्ति की आत्मा संयम, नियम और तप में जागरूक है तथा जो त्रस और स्थावर, सब प्राणियों के प्रति समभाव रखता है, उसे ही सामायिक व्रत होता है।[35]

जैनाचार्यों की दृष्टि से निम्न योग्यताएँ भी सामायिकधारी के लिए आवश्यक मानी गई हैं-

- सामायिक करने वाला व्यक्ति देशविरति या सर्वविरति(व्रत) का पालन करने वाला होना चाहिए।
- निरन्तर सामायिक का अभ्यासी होना चाहिए। सामायिक के प्रति पुरूषार्थ करने वाला होना चाहिए।
- देव, गुरू और धर्म के प्रति अनन्य श्रद्धा रखने वाला होना चाहिए।
- पाँच अणुव्रतों और तीन गुणव्रतों का धारक होना चाहिए।

इससे ध्वनित होता है कि सामायिक की फलवत्ता प्राप्त करने के लिए सामायिकव्रती को अपेक्षित गुणों से युक्त होना चाहिए। जिस व्यक्ति को सामान्य व्रत का भी अभ्यास न हो, वह सामायिक जैसी उत्कृष्ट विरति की साधना कैसे कर सकता है?

सामायिक का कर्त्ता कौन?

सामायिक का निर्माता कौन है ? इस सम्बन्ध में विचार किया जाए तो व्यावहारिक दृष्टि से सामायिक का प्रतिपादन तीर्थंकर और गणधर पुरूषों ने किया है। निश्चय दृष्टि के अनुसार सामायिक का अनुष्ठान करने वाला सामायिक का कर्त्ता है, क्योंकि सामायिक का परिणाम उस अनुष्ठाता से भिन्न नहीं रहता है। इससे स्पष्ट है कि सामायिक का वास्तविक कर्त्ता सामायिक करने वाला ही है।[36]

सामायिक में चिन्तन योग्य भावनाएँ

जो साधक सामायिक करने के लिए तत्पर है, वह 48 मिनट के काल में समभाव की वृद्धि हेतु 10 मिनट आत्मा का विचार करे। जैसे- मैं कहाँ से आया हूँ , मैं कहाँ जाऊँगा, मैं क्या लेकर आया हूँ , क्या लेकर जाऊँगा, मेरे देव कौन हैं, मेरे गुरू कौन हैं, मेरा धर्म कौनसा है, मेरा कुल क्या है, मेरे कर्त्तव्य कौनसे हैं ? 10 मिनट महामंत्र नवकार का स्मरण करे। 10 मिनट तीर्थ यात्रा की भावना करे। 10 मिनट नया पाठ याद करे तथा अन्तिम 8 मिनट कायोत्सर्ग अथवा स्वाध्याय करें इस तरह सामायिक के श्रेष्ठ काल को पूर्णत: सफल बनाएं।

मन चंचल है, यदि इसे सही मार्ग में न जोड़ा जाए तो समभाव के स्थान पर राग-द्वेष के झंझावात आ सकते हैं अत: भावनाओं को उक्त रीति से सतत जोड़े रखना चाहिए।

सामायिक की उपस्थिति किन जीवों में?

कौन से जीव किस सामायिक के आराधक हो सकते हैं? आवश्यकनिर्युक्ति के अनुसार सम्यक्त्व-सामायिक और श्रुत-सामायिक के अधिकारी चारों गतियों के जीव हो सकते हैं। सर्वविरतिसामायिक के अनुष्ठाता केवल मनुष्य तथा देशविरति-सामायिक के प्रतिपत्ता मनुष्य और

तिर्यंच-दोनों होते हैं। ये सामायिक के स्तर जीवों की तरतम योग्यता के आधार पर बतलाए गए हैं।[37]

सामायिक का उद्देश्य

आवश्यकनिर्युक्तिकार के मतानुसार सामायिक एकमात्र पूर्ण और पवित्र अनुष्ठान है। यह गृहस्थ के अन्यान्य धर्मों में प्रधान हैं, उत्कृष्ट है, आत्महितकारी और मोक्षप्रदाता है अतः इसकी आराधना सावद्ययोग से बचने के लिए की जाती है।[38]

सामायिक का साध्य

सामायिक की साधना का मुख्य ध्येय समभाव है। समभाव को समत्व, समता, उदासीनता या मध्यस्थता कहते हैं। समभाव को प्राप्त करने वाला साधक भाव समाधि में प्रवेश करता है और अत्यन्त उत्कृष्ट स्थिति मुक्ति पथ का वरण भी कर लेता है। इस तरह समभाव का परिणाम निराबाध सुख, परम आनंद और आत्मिक शांति है।

साध्य-साधक और साधना का परस्पर सम्बन्ध

प्रत्येक अनुष्ठान की सिद्धि साध्य, साधक और साधना-इन तीनों की योग्यता एवं शुद्धि पर रही हुई है। यदि साध्य योग्य न हो, तो उसके लिए की गई साधना निष्फल है। यदि साधक योग्य न हो, तो वह समुचित साधना कर नहीं सकता। यदि साधना सम्यक् न हो, तो सिद्धि प्राप्त होना असंभव है। अतएव कार्यसिद्धि के लिए साध्य, साधक और साधना की योग्यता (विशुद्धि) होना जरूरी है।

यहाँ मोक्षप्राप्ति होना साध्य है, व्रत का पालन करने वाला साधक है और सामायिक साधना है। सामायिकधारी को साध्य, साधक एवं साधना का पूर्ण ज्ञान रखना चाहिए।

सामायिक में चित्त शांति के उपाय

साधना की सिद्धि में मन की चंचलता प्रमुख बाधक तत्त्व है। सामायिक में मन की स्थिरता बनी रहे, तद्हेतु कुछ उपाय कहे गए हैं। जैसे कि 1. वातावरण निर्मल हो, क्योंकि वातावरण का प्रभाव अधिक असरकारक होता है 2. आसन स्थिर हो-शरीर को अधिक हिलाए-डुलाए नहीं, एक

आसन में बैठने का प्रयास हो 3. अनानुपूर्वी का पठन हो-यह मन स्थिर करने का सरलतम उपाय है 4. नमस्कारमंत्र का जाप हो 5. स्वाध्याय हो-धार्मिक ग्रन्थों का पठन या श्रवण हो 6. कायोत्सर्ग की साधना हो और 7. ध्यान हो।

ये उपाय चित्त को स्थिर बनाए रखते हैं। वस्तुत: सामायिक करने वाले व्यक्ति को सामायिक में स्वाध्याय-जाप आदि ही करने चाहिए। ये सामायिक के कृत्य भी हैं।[39]

सामायिकव्रत में प्रयुक्त सामग्री

सामायिकव्रत स्वीकार करने के लिए निम्न वस्तुएँ अनिवार्य मानी गईं हैं- 1. आसन 2.चरवला 3. मुखवस्त्रिका 4. स्थापनाचार्य 5. ठवणी 6. पुस्तक और 7. माला।

सामायिक की ऐतिहासिक विकास यात्रा

जैन धर्म का सामायिक धर्म अत्यन्त विराट् एवं व्यापक है। वह आत्मा का धर्म है, अत: इसकी आराधना किसी भी जाति, देश, मत या पंथ का व्यक्ति कर सकता है। निर्ग्रन्थ-धर्म में सामायिक व्रत की उपासना हेतु विशुद्ध परिणति को महत्त्व दिया गया है। यही कारण है कि माता मरूदेवी को हाथी पर बैठे हुए ही समभाव द्वारा मोक्ष की प्राप्ति हो गई। इलायची कुमार नट पुत्र था, बांस पर चढ़ा हुआ नाच रहा था। सहसा उसके अन्तर्जीवन में समत्व की नन्हीं-सी लहर पैदा हुई, वह इतनी फैली कि उसे अन्तर्मुहूर्त्त में बांस पर खड़े-खड़े ही केवलज्ञान हो गया। यह सामायिक का चमत्कार है। इसलिए यह मानना होगा कि सामायिक किसी अमुक वेश-विशेष में नहीं होती, उसका प्रादुर्भाव समभाव में, माध्यस्थभाव में से होता है, इसलिए राग-द्वेष के प्रसंग पर मध्यस्थ रहना ही सामायिक है और यह मध्यस्थता अन्तर्चेतना की ज्योति है। भगवतीसूत्र में इसी चर्चा को लेकर एक महत्त्वपूर्ण प्रश्नोत्तर है, जो द्रव्यलिंग की अपेक्षा भावलिंग को अधिक महत्त्व देता है।[40]

जैन धर्म में किसी व्यक्ति को जैन श्रावक की विशिष्टतर दीक्षा ग्रहण करनी हो या करवानी हो, उसके लिए छ:मासिक सामायिकव्रत-आरोपण की विधि की जाती है। इस विषय की चर्चा करने से पूर्व यह समझ लेना जरूरी

है कि जैन धर्म की श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा में सामायिक ग्रहण को लेकर दो प्रकार के विधान हैं- 1. **षाण्मासिक सामायिक आरोपण विधि-** इस विधान के द्वारा छः माह तक उभय सन्ध्याओं में सामायिक करने की प्रतिज्ञा करवायी जाती है 2. **सामायिक ग्रहण विधि-** इस प्रक्रिया द्वारा विधिपूर्वक सामायिक ग्रहण की जाती है। हम यहाँ द्विविधसामायिक विधि के उद्भव विकास की चर्चा करेंगे।

षाण्मासिक सामायिक आरोपण-विधि से यह तात्पर्य है कि जिस श्रावक की अन्तर्चेतना में सामायिकधर्मरूप विशुद्ध चारित्रपालन की भावना उत्पन्न हो जाए, वह श्रावक चारित्रमोहनीयकर्म का क्षयोपशम होने पर सर्वविरतिचारित्र ग्रहण करने के लिए भी उद्यत हो सकता है। इस दृष्टि से यह कह सकते हैं कि सर्वविरतिधर्म अंगीकार करने से पहले की यह मुख्य भूमिका है। इस व्रतारोपण द्वारा व्यक्ति छः माह तक उभय सन्ध्याओं में सामायिकव्रत करने का नियम स्वीकार करता है तथा इस प्रतिज्ञा द्वारा सामायिकधर्म में अधिक से अधिक रहने का अभ्यास किया जाता है। साथ ही यह अभ्यास सर्वविरतिधर्म अंगीकार करने का कारण भी बन सकता है। अस्तु, जैन धर्म में देशविरतिचारित्र में प्रवेश देने के लिए व्यक्ति को सामायिकव्रत का आरोपण करवाया जाता है। यों तो बारहव्रत का आरोपण भी देशविरतिचारित्र में प्रवेश देने हेतु ही किया जाता है। सामायिक बारहव्रत का ही एक प्रकार है। यह सामायिक छः माह के लिए भी स्वीकार की जा सकती है। सम्यक्त्वव्रत एवं बारहव्रत की भाँति ही इसकी विधि-प्रक्रिया होती है।

यहाँ यह भी उल्लेख्य है कि सामायिकग्रहण विधि जैन धर्म की सभी परम्पराओं में अपनी-अपनी मान्यतानुसार प्रचलित है, किन्तु छः माह के लिए सामायिकव्रत का आरोपण करना एवं छः माह के लिए उभय सन्ध्याओं में सामायिकव्रत की प्रतिज्ञा धारण करना-इस प्रकार की विधिप्रक्रिया का उल्लेख श्वेताम्बर मूर्तिपूजक खरतरगच्छीय परम्परा के सामाचारी ग्रन्थों सुबोधासामाचारी[41], विधिमार्गप्रपा[42], आचारदिनकर[43] आदि में ही उपलब्ध होता है। इसके अतिरिक्त आगमग्रन्थों एवं आगमेतरग्रन्थों में तत्सम्बन्धी कोई विवरण पढ़ने में नहीं आया है। विक्रम की 12वीं शती से लेकर 16वीं

शताब्दी तक के ग्रन्थों में ही यह विधि वर्णित है। उस काल में छः मासिक सामायिक विधि का प्रचलन किन स्थितियों में हुआ, यह कहना असंभव है। वर्तमान परम्परा में यह विधि प्रचलित नहीं है। अतः कहा जा सकता है कि इस विधि का अस्तित्व 12वीं से 16वीं शती के बीच ही रहा होगा।

संभवतया बौद्ध-धर्म में यह परम्परा रही है कि जब व्यक्ति 12 वर्ष का हो जाए, उसके बाद एक वर्ष के लिए संन्यास लेना जरूरी है। वही परम्परा जैन धर्म में भी रही होगी कि जो जैन श्रावक संयमव्रत (सर्वविरतिचारित्र) अंगीकार करना नहीं चाहता है, किन्तु संयम का आस्वादन करना चाहता है, वह छः मासिक सामायिकव्रत को अवश्यमेव स्वीकार करें। नियमतः इस व्रत का आरोपण बारहव्रतधारी श्रावक के लिए ही किया जाता है अतः यह व्रतारोपण सर्वविरतिचारित्र धर्म (साधु धर्म) की पूर्व भूमिका से सम्बन्धित प्रतीत होता है।

समष्टि रूप में कहा जा सकता है कि भले ही यह व्रतारोपण संस्कार वर्तमान परम्परा में विच्छिन्न हो गया हो, परन्तु श्रावक को विशिष्टतर भूमिका में उपस्थित करता है और व्रतग्राही को क्रमशः सर्वविरतिचारित्र धर्म की ओर अग्रसर करने में प्रबल निमित्तभूत बनता है।

यदि सामायिकग्रहण विधि की अपेक्षा ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया जाए, तो जहाँ तक प्राचीन आगम ग्रन्थों का सवाल है, उनमें सूत्रकृतांगसूत्र, भगवतीसूत्र, उपासकदशासूत्र, अंतकृतदशासूत्र, अणुत्तरोपपातिकसूत्र और विपाकसूत्र में सामायिकव्रत स्वीकार किया, सामायिक(आचारांग) आदि ग्यारह अंगों का अध्ययन किया, सात शिक्षाव्रतों को अंगीकार किया इत्यादि चर्चाएँ तो उपलब्ध होती है, किन्तु विधि-विधान का किंचित् निर्देश भी दृष्टिगत नहीं होता है।

भगवतीसूत्र में वर्णन आता है कि भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा के शिष्य वैश्यपुत्र कालास नामक अणगार ने भगवान् महावीर से कहा-"स्थविर सामायिक को नहीं जानते, सामायिक का अर्थ नहीं जानते।" तब भगवान ने उसे कहा-"हम सामायिक को जानते हैं, सामायिक का अर्थ जानते हैं।" कालास अणगार द्वारा पुनः प्रश्न करने पर प्रभु महावीर ने कहा-"आत्मा हमारी सामायिक है और आत्मा ही सामायिक का अर्थ है।"[44]

ज्ञाताधर्मकथासूत्र[45] में उल्लेख है कि अणगार मेघ ने श्रमण भगवान् महावीर के तथारूप[46] स्थविरों के पास सामायिक[47] आदि ग्यारह अंगों का अध्ययन किया, इसके सिवाय कोई चर्चा नहीं है। उपासकदशासूत्र[48] में यह वर्णन आता है कि आनन्द श्रावक ने श्रमण भगवान महावीर के समीप पाँच अणुव्रत एवं सात शिक्षाव्रत- ऐसे बारहव्रतरूप श्रावक धर्म को स्वीकार किया। इस पाठांश से सामायिकव्रत स्वीकार करने का उल्लेख तो मिल जाता है, किन्तु किस विधिपूर्वक स्वीकार किया, इसकी चर्चा उपलब्ध नहीं होती है। अन्तकृद्दशासूत्र[49] में सामायिक आदि ग्यारह अंगों को पढ़ने का उल्लेख है। अनुत्तरोपपातिकदशासूत्र भी सामायिक आदि ग्यारह अंगों के अध्ययन का ही विवेचन करता है। विपाकसूत्र में कहा गया है कि सुबाहुकुमार ने पाँच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत सम्बन्धी बारह प्रकार के गृहस्थधर्म का यथाविधि पालन करने का नियम ग्रहण किया।[50]

इन आगमगत उद्धरणों का अध्ययन करने से यह सिद्ध होता है कि आगमग्रन्थों में मात्र सामायिक अंगीकार करने की चर्चा है, किन्तु सामायिक किस प्रकार अंगीकार करनी चाहिए, तत्सम्बन्धी कोई सूचन नहीं है।

जहाँ तक आगमेतरकालीन निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीका ग्रन्थों का प्रश्न है, उनमें आवश्यकनिर्युक्ति, भाष्य एवं चूर्णिपरक साहित्य में सामायिक की विस्तृत चर्चा पढ़ने को मिलती है। आवश्यकनिर्युक्ति[51] सामायिक अध्ययन पर ही लिखी गई है। इसमें सामायिक का स्वरूप, सामायिक के भेद, उसके अधिकारी की योग्यता, सामायिक कहाँ, सामायिक स्थिति, सामायिक की उपलब्धि, सामायिक कब-कितनी बार ? इत्यादि विषयों का प्रतिपादन २६ द्वारों के आधार पर किया गया है। विशेषावश्यकभाष्य[52] यह भी सामायिक विवेचन पर ही निर्मित है। इसे सामायिकभाष्य भी कहते हैं। इसमें सामायिक स्वरूप की विविध रूपों में चर्चा की गई है, किन्तु सामायिक ग्रहण करने के लिए अन्य कौन-कौन सी क्रियाएँ की जाती हैं? उसका स्वरूप अनुपलब्ध है। इस भाष्य पर 1. स्वोपज्ञ-टीका 2. कोट्याचार्यकृत-टीका 3. मलधारी हेमचन्द्रकृत टीकाएँ भी मिलती हैं। उनमें भी प्रमुख रूप से सामायिक आवश्यक का ही प्रतिपादन किया गया है। इसके सिवाय जिनदासकृत चूर्णि भी सामायिक आवश्यक पर

विशेष प्रकाश डालती है।

इसी तरह टीका ग्रन्थों का अवलोकन करते हैं, तो हमें सामायिक के प्रकारों, अधिकारों एवं उपायों आदि का निरूपण तो देखा जाता है, किन्तु तत्सम्बन्धी विधि का सूचन प्राप्त नहीं होता है। इससे सुनिश्चित है कि विक्रम की 7वीं-8वीं शती तक सामायिक-विधि का एक सुव्यवस्थित विकास नहीं हो पाया था। तदनन्तर आचार्य हरिभद्रसूरि के ग्रन्थों से लेकर 10वीं-11वीं शती तक के ग्रन्थों में भी यह विधि सुगठित रूप से उपलब्ध नहीं होती है। यद्यपि हरिभद्रसूरिकृत एवं हेमचन्द्रसूरिकृत श्रावकधर्म विषयक ग्रन्थों में सामायिकव्रत को लेकर काफी कुछ कहा गया है, किन्तु तत्सम्बन्धी विधि-विधान का उनमें अभाव है।

ऐतिहासिक-दृष्टि से अवलोकन करने पर सामायिक विधि का क्रमबद्ध स्वरूप पूर्णिमागच्छीय तिलकाचार्यकृत सामाचारी[53] एवं खरतरगच्छीय विधिमार्गप्रपा[54] आदि ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। इसके अनन्तर अभयदेवसूरिकृत पंचाशकवृत्ति, विजयसिंहाचार्यकृत वंदित्तुसूत्रचूर्णि, हेमचन्द्राचार्यकृत योगशास्त्रटीका, कुलमंडनसूरिकृत विचारामृतसंग्रह, मानविजयजीकृत धर्मसंग्रह आदि ग्रन्थों में करेमिभंते सूत्र (सामायिकग्रहण-दंडक) पर विचार किया गया है।

इस आधार पर कहा जा सकता है कि सामायिक का एक सुनियोजित स्वरूप सर्वप्रथम तिलकाचार्य सामाचारी एवं विधिमार्गप्रपा इन ग्रन्थों में ही उपलब्ध होता है। यद्यपि सुबोधासामाचारी एवं आचारदिनकर में षाण्मासिक सामायिक आरोपणविधि की चर्चा अवश्य की गई है किन्तु सामायिक किस क्रम एवं आलापकपूर्वक ग्रहण करनी चाहिए? उसका कोई निर्देश नहीं है। अतएव सामायिक विधि के सम्बन्ध में तिलकाचार्यकृत सामाचारी और जिनप्रभरचित विधिमार्गप्रपा-ये दोनों ग्रन्थ विशिष्ट स्थान रखते हैं।

षाण्मासिक सामायिकआरोपण-विधि

षाण्मासिक सामायिक आरोपण की यह विधि है[55]-

• सर्वप्रथम शुभमुहूर्त्त आदि के दिन विशिष्ट श्रद्धावान् एवं बारहव्रत अंगीकार किया हुआ श्रावक छ:मासिक सामायिकव्रत को अंगीकार करने के लिए जिनबिम्ब की पूजा करें। • फिर पूर्वनिर्दिष्ट सम्यक्त्वव्रतारोपण-विधि के

समान समवसरण (नन्दीरचना) की तीन प्रदक्षिणा दें। • फिर छ:मासिकव्रत-आरोपण के लिए वासग्रहणपूर्वक गुरू के साथ 18 स्तुतियाँ पूर्वक चैत्यवन्दन (देववन्दन) करें। छ:मासिक सामायिकव्रत स्वीकार करने के निमित्त एक लोगस्ससूत्र का कायोत्सर्ग करें। इस प्रकार नन्दी आदि की सम्पूर्ण विधि पूर्ववत् ही करें।

• प्रस्तुत व्रतारोपण-विधि में विशेष इतना है कि छ:मासिक सामायिकव्रत का पाठ उच्चारण करने से पूर्व गुरु महाराज नूतन मुखवस्त्रिका को वासदानपूर्वक अभिमन्त्रित कर व्रतग्राही को प्रदान करें। व्रतग्राही उसी मुखवस्त्रिका द्वारा छ: माह तक उभयकाल सामायिक करने की प्रतिज्ञा ग्रहण करें तथा उसी मुखवस्त्रिका से छ: महीने तक सामायिक भी ग्रहण करें।

• फिर लग्नवेला (शुभमुहूर्त्त) के आ जाने पर व्रतग्राही शिष्य सामायिक आरोपित करने का निवेदन करें। तब गुरु भगवन्त तीन बार 'नमस्कारमन्त्र' का स्मरण एवं निम्न पाठ को तीन बार उच्चारित करवाएं-

करेंमि भंते सामाइयं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि, जाव नियमं पज्जुवासामि, दुविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेंमि न कारवेमि, तस्स भंते पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि। तहा दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ। तत्थ दव्वओ सामाइयदव्वाइं अहिगिच्च, खेत्तओणं इहेव वा अन्नत्थ वा, कालओणं जाव छम्मासं, भावओणं जाव रोगायंकाइणा परिणामो न परिवडइ ताव मे एसा सामाइयपडिवत्ती।

भावार्थ- हे भगवन् ! मैं सामायिक करने की प्रतिज्ञा करता हूँ और सावद्य कार्यों को दो करण-तीन योगपूर्वक न करने का प्रत्याख्यान करता हूँ। हे भगवन् ! गुरू साक्षी से अतीतकाल में किए गए सावद्यकार्यों का प्रतिक्रमण करता हूँ, निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ, अपनी आत्मा को उससे विरत करता हूँ। मेरी यह सामायिक प्रतिज्ञा द्रव्य से- सामायिक के उपकरणों को ग्रहण करना है, क्षेत्र से-यहाँ और अन्यत्र, काल से-छ: माह तक, भाव से-रोगादि से ग्रसित होने पर जब तक परिणाम नहीं गिरते हैं, तब तक के लिए है।

• तदनन्तर गुरू सामायिक-व्रतग्राही के मस्तक पर वास प्रदान करें। • तदनन्तर सात बार थोभवन्दन, प्रदक्षिणा, प्रत्याख्यान आदि विधान सम्यक्त्वव्रतारोपण के समान ही किए-करवाए जाते हैं।

जैन धर्म की विभिन्न परम्पराओं में सामायिक-ग्रहण एवं पारण-विधि

सामायिक-साधना के लिए आबालवृद्ध सभी को एवं प्रत्येक जातिवर्ग को समान अधिकार है, किन्तु सामायिक-साधना का विधिवत् स्वरूप श्वेताम्बर-दिगम्बर आदि परम्पराओं में अपनी-अपनी सामाचारी के अनुसार प्रचलित है। यहाँ यह समझना आवश्यक है कि छ:मासिक सामायिकआरोपण विधि एवं सामायिकग्रहणविधि- इन दोनों में मुख्य अन्तर स्वरूप की दृष्टि से है। छ:मासिक सामायिकआरोपण विधि के समय व्रतग्राही छ: माह आदि के लिए सामायिक करने की प्रतिज्ञा मात्र स्वीकार करता है, उसकी संख्या का निर्धारण करता है, परन्तु वह सामायिक किस प्रकार ग्रहण की जानी चाहिए और सामायिकव्रत को किस क्रम-पूर्वक पूर्ण करना चाहिए, यह दूसरी विधि है। यहाँ सामायिक ग्रहण एवं उसे पूर्ण करने की विधि प्रस्तुत की जा रही है।

खरतरगच्छ की वर्तमान परम्परा में सामायिक ग्रहण की विधि यह है[56]-

सामायिक ग्रहण से पूर्व की विधि- • सर्वप्रथम सामायिक ग्रहण करने का इच्छुक श्रावक या श्राविका शुद्ध वस्त्र पहनें।

• फिर पौषधशाला (उपाश्रय) में साधु के समीप में या गृह के एकान्तस्थान में उच्च आसन चौकी आदि पर ज्ञान या दर्शन के प्रतीकस्वरूप पुस्तक, माला आदि की स्थापना करें। यदि गुरू महाराज के स्थापनाचार्य हों, तो अलग से स्थापना करने की जरूरत नहीं है।

• फिर सामायिक हेतु बैठने की जगह का चरवले द्वारा प्रमार्जन करें यानी उस भूमि को जीव-जन्तु रहित बनाएं।

स्थापनाचार्य की स्थापना विधि- • फिर कटासन (ऊनी वस्त्रखण्ड) को अपने समीप रखकर यदि पुस्तक-माला आदि की स्थापना करनी हो, तो घुटने के बल बैठकर बाएं हाथ में मुखवस्त्रिका ग्रहण करें और दाहिने हाथ को पहले से स्थापित की गई पुस्तक आदि के सम्मुख करके तीन बार नमस्कारमन्त्र बोलें। इसी के साथ 'शुद्धस्वरूप' का पाठ बोलकर पुस्तक आदि

में आचार्य की स्थापना करें। यदि गुरू के स्थापनाचार्य हों, तो यह विधि नहीं करनी चाहिए।

गुरूवन्दन विधि- • उसके बाद स्थापनाचार्य को स्तोभवंदन करें। प्रथम दो खमासमणपूर्वक अर्द्धावनत मुद्रा में 'सुहराईसूत्र' बोलें। फिर दाएं हाथ को नीचे स्थापित करते हुए एवं बाएं हाथ को मुखवस्त्रिकासहित मुख के आगे रखते हुए अवनत सिर से 'अब्भुट्ठिओमिसूत्र' बोलें।

सामायिकग्रहण विधि- • तदनन्तर एक खमासमणसूत्रपूर्वक वंदन कर **'इच्छा. संदि. भगवन्! सामाइय मुँहपत्ति पडिलेहूं? इच्छं'** कहकर सामायिक ग्रहण करने के निमित्त नीचे बैठकर पच्चीस बोलपूर्वक मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करें और पच्चीस बोलपूर्वक शरीर की प्रतिलेखना करें।

• तदनन्तर पुनः एक खमासमणपूर्वक वन्दन करके **'इच्छा. संदि. भगवन्! सामाइयं संदिसावेमि'** - पुनः दूसरा खमासमण देकर **'इच्छा. सदि. भगवन्! सामाइयं ठामि'** - इस प्रकार सामायिक में प्रवेश करने की अनुमति ग्रहण करें।

• उसके बाद पुनः एक खमासमणपूर्वक वन्दन करें। फिर खड़े होकर दोनों हाथों में चरवला एवं मुखवस्त्रिका ग्रहण कर एवं मस्तक झुकाकर तीन नमस्कारमन्त्र बोलें और तीन बार उच्चारणपूर्वक सामायिकदंडक बोलकर सामायिक की प्रतिज्ञा स्वीकार करें। ❋ यदि गुरू भगवन्त हों, तो उनसे सामायिकदंडक उच्चरित करने का निवेदन करें। सामायिक ग्रहण का पाठ निम्न है-

करेमि भंते सामाइयं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि, जाव नियमं पज्जुवासामि, दुविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेंमि, कारवेमि तस्स भंते पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।

भावार्थ- हे भगवन् ! मैं दो करण तीन योगपूर्वक सावद्य योग (हिंसामय व्यापारप्रवृत्ति) का यथानियम त्याग करता हूँ और आत्मभावरूप सामायिक साधना में स्थिर होता हूँ। हे भगवन! सामायिक साधना में स्थिर होने के साथ ही अतीतकृत सावद्यकार्यों का प्रतिक्रमण करता हूँ, निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ, अपनी आत्मा को उस पाप-व्यापार से निवृत्त करता हूँ।

ईर्यापथिकप्रतिक्रमण विधि- • तदनन्तर एक खमासमणसूत्र पूर्वक ईर्यापथिक प्रतिक्रमण अर्थात ईरियावहि०, तस्स उत्तरी०, अन्नत्थसूत्र बोलकर चार नमस्कारमन्त्र का कायोत्सर्ग करें। कायोत्सर्ग पूर्णकर प्रकट में लोगस्ससूत्र बोलें। • उसके बाद वर्षावास का समय हो, तो एक खमासमण पूर्वक **'बइसणं संदिसावेमि'**। पुन: एक खमासमण देकर **'बइसणं ठामि'** बोलकर आसन पर बैठने का आदेश ग्रहण करें। • यदि चातुर्मास का समय न हो, तो पूर्ववत दो खमासमणपूर्वक **'पाउंछणं संदिसावेमि' 'पाउंछणं ठामि'** कहकर पादप्रोंछन का आदेश लें। वर्तमान में 'पाउंछणं' का आदेश लेने की परम्परा नहींवत् है।

• उसके पश्चात पूर्ववत दो खमासमण पूर्वक क्रमश: **'सज्झायं संदिसावेमि' 'सज्झायं करेमि'** कहकर स्वाध्याय करने की अनुज्ञा ग्रहण करें और स्वाध्यायरूप में आठ नमस्कारमन्त्र का स्मरण करें। यहाँ तक सामायिकग्रहण की विधि पूर्ण हो जाती है।

विधिमार्गप्रपा में सामायिकव्रत के सम्बन्ध में कुछ विशेष निर्देश हैं। जैसा कि कहा गया है यदि शीतकाल हो, तो पंगुरणं (ऊनी शाल ओढ़ने) का आदेश लेना चाहिए। वर्तमान में यह परम्परा नहींवत रह गई है, पौषधव्रत में आज भी 'पंगुरणं' का आदेश लेते हैं। यदि सन्ध्याकाल में सामायिक ग्रहण करनी हो, तो प्रथम स्वाध्याय का आदेश लें, फिर कटासन का आदेश लेना चाहिए।

यहाँ प्रात:कालीन एवं सायंकालीन सामायिक की अपेक्षा 'सज्झाय' और 'कटासन' इन दो आदेशों में क्रम परिवर्तन का जो निर्देश किया गया है उसका मुख्य कारण क्या हो सकता है ? यह विद्वद्जनों के लिए अन्वेषणीय है। विधिप्रपा में यह भी सूचित किया गया है कि यदि कोई गृहस्थ सामायिक या पौषधव्रत ग्रहण करके बैठा हुआ है, उसे सामायिक या पौषध ग्रहण किया हुआ अन्य व्यक्ति वंदन करें (हाथ जोड़ें), तो उन्हें 'वंदामो' शब्द बोलना चाहिए। यदि सामायिक या पौषध ग्रहण नहीं किया हुआ व्यक्ति हाथ जोड़कर वंदन करें, तो व्रती को अव्रती से 'सज्झायं करेह' ऐसा कहना चाहिए।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि खरतरगच्छ की वर्तमान परम्परा में

सायंकालीन प्रतिक्रमण करने के पूर्व जब सामायिकविधि ग्रहण करते हैं, उस समय 'कटासन' और 'सज्झाय' का आदेश लेने के पूर्व एक खमासमणसूत्र पूर्वक 'प्रत्याख्यान लेवा मुँहपत्ति पडिलेहूँ?' बोलकर मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करते हैं। इसमें भी यह नियम है कि जिसने चौविहार उपवास किया हो, वह मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन न करें, जिसने तिविहार उपवास किया हो अर्थात पानी पीया हो, वह मात्र मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करें तथा जिसने भोजन किया हो वह मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करके दो बार द्वादशावर्त्त वन्दन करें। इस विधि में चौविहार-उपवासी, तिविहार-उपवासी एवं भोजनग्राही की अपेक्षा से जो विधिभेद बतलाया गया है, वह गीतार्थों के लिए अन्वेषणीय है। यह विधि अर्वाचीन ग्रन्थों के आधार से कही गई है।

सामायिक पारने की विधि- • सामायिक की अवधि पूर्ण होने पर यदि बिजली आदि का प्रकाश शरीर पर पड़ा हो या गमनागमन सम्बन्धी किसी प्रकार का दोष लगा हो, तो सर्वप्रथम ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करें।

• फिर एक खमासमण देकर प्रचलित परम्परा के अनुसार मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करें।

• फिर एक खमासमण देकर 'इच्छा संदि. भगवन्! सामाइयं पारावेह'- हे भगवन् ! आपकी आज्ञापूर्वक सामायिक पूर्ण करूँ? ऐसा कहे। यदि गुरू महाराज हों, तो 'पुणोवि कायव्वं'- सामायिक की साधना पुनः करनी चाहिए-ऐसा कहें। (तब शिष्य 'यथाशक्ति' कहे-यह वर्तमान परम्परा है, विधि ग्रन्थों में इसका उल्लेख नहीं है)

• फिर से एक खमासमण देकर 'इच्छा. संदि. भगवन्! सामाइयं पारेमि'-हे भगवन् ! आपकी आज्ञापूर्वक सामायिक पूर्ण करता हूँ-ऐसा बोलें। तब गुरू विद्यमान हो, तो 'आयारो न मोतव्वो'-तुम्हें समतामय आचार का त्याग नहीं करना चाहिए-ऐसा कहें।

(तब सामायिक पारने वाला श्रावक 'तहत्ति' शब्द कहे- यह परम्परा भी वर्तमान में है)

• उसके बाद दोनों हाथ जोड़कर तीन बार नमस्कारमन्त्र बोलें। फिर दाएं हाथ को नीचे और बाएं हाथ को मुख के आगे रखकर तथा मस्तक से

भूमि स्पर्श करते हुए 'भयवंदसण्णभद्दो सूत्र' बोलें।[57]

यदि पुस्तक आदि की स्थापना की हो, तो दाएं हाथ को उसके सम्मुख करते हुए तीन नमस्कारमन्त्र बोलें और उसके स्मरण-पूर्वक स्थापना को उत्थापित करें।

तपागच्छ परम्परा में सामायिकग्रहण एवं सामायिकपारण विधि लगभग पूर्ववत् ही है। विशेष अन्तर यह है कि

1. यहाँ पुस्तक आदि की स्थापनाचार्य के रूप में स्थापना करनी हो, तो एक नमस्कारमन्त्र और 'पंचिंदियसंवरणो सूत्र' बोलते हैं।

2. खरतरगच्छ में पहले सामायिक लेने का पाठ बोलते हैं, फिर ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करते हैं, जबकि तपागच्छ में पहले ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करते हैं, फिर सामायिकदंडक उच्चरते हैं।

3. खरतर परम्परा में सामायिकदंडक का उच्चारण करने से पूर्व नमस्कार मन्त्र एवं सामायिकदंडक तीन-तीन बार बोलते हैं, जबकि तपागच्छ परम्परा में नमस्कार मन्त्र एवं दंडक एक बार बोलते हैं।

4. खरतर सामाचारी के अनुसार सामायिक पूर्ण करते समय 'भयवंदसण्णभद्दो सूत्र' बोला जाता है,[58] किन्तु तपागच्छ परम्परा में 'सामाइयवयजुत्तो' नाम का पाठ बोलते हैं तथा सामायिकग्रहण-विधि के अन्त में 'सज्झाय' का आदेश लेकर तीन नमस्कारमन्त्र बोलते हैं।

शेष विधि लगभग समान ही है।

सायंकालीन प्रतिक्रमण में 'चउक्कसाय' का चैत्यवंदन करने के बाद सामायिक पूर्ण करते हैं।

अचलगच्छ परम्परा में सामायिक ग्रहण एवं पारण विधि का स्वरूप यह है[59]-

1. सर्वप्रथम नमस्कारमन्त्र एवं पंचिदियसूत्र[60] पूर्वक पुस्तक आदि की स्थापना करते हैं।

2. फिर पूर्ववत् गुरूवन्दन करते हैं।

3. उसके बाद गमनागमन की आलोचना का आदेश लेकर 'गमनागमन' का पाठ बोलते हैं।

4. फिर एक खमासमणपूर्वक **'इच्छा. संदि.! सामायिक संदिसाहुं'**

कहकर सामायिक का आदेश लेते हैं।

5. पुनः एक खमासमणपूर्वक **'इच्छा. संदि. भगवन् ! सामायिक ठावा तीन नवकार गिणुंजी'**-ऐसा कहकर, उत्कटासन मुद्रा में बैठकर एवं दाएं हाथ को नीचे स्थापित करते हुए तीन नमस्कारमन्त्र का स्मरण करते हैं।

6. फिर खड़े होकर **'इच्छा. संदि. भगवन्! जीवराशि खमाऊँजी'** कहकर गुरू हों, तो उनकी अनुमतिपूर्वक पाठ बोलते हैं।[61]

7. उसके बाद पुनः एक खमासमण देकर **'इच्छा. संदि. भगवन्! अढार पापस्थानक आलोऊंजी'**-ऐसा कहकर अनुमतिपूर्वक 'अठारह पापस्थानक' पाठ बोलते हैं।

8. तदनन्तर एक खमासमणपूर्वक उत्कटासन में बैठकर **'इच्छा. संदि. भगवन् ! द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, धारूँ जी'**-ऐसी अनुमति प्राप्त कर यह सूत्रपाठ बोलते हैं।[62]

9. उसके बाद खड़े होकर मौन पूर्वक एक नमस्कारमन्त्र का स्मरण करते हैं। फिर अर्द्धावनत मुद्रा में गुरू न हों, तो स्वयं ही एक बार सामायिक दंडक का उच्चारण करते हैं। यहाँ 'बइसणं' 'सज्झाय' 'पंगुरणं' के आदेश नहीं लिए जाते हैं और न मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना की जाती है। मुखवस्त्रिका के स्थान पर उत्तरासंग का छेड़ा (दुपट्टे की एक तरफ की किनारी) प्रतिलेखित करते हैं। इस परम्परा में मुखवस्त्रिका रखने की परिपाटी नहीं है। मुखवस्त्रिका द्वारा सम्पन्न की जाने वाली सभी क्रियाएँ वस्त्र के छेड़े से करते हैं। वर्तमान में मुखवस्त्रिका रखने लगे हैं।

10. सामायिक पूर्ण करते समय पहले ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करते हैं। फिर पूर्ववत् दो खमासमण के द्वारा 'सामायिक पारूँ' 'सामायिक पार्युं'-ऐसे दो आदेश लेते हैं।

11. उसके बाद उत्कटासन में बैठकर तीन नमस्कारमन्त्र बोलते हैं। फिर अनुमति लेकर सामायिक पारने का पाठ कहते हैं।[63]

12. तत्पश्चात् तीन नमस्कारमन्त्र का स्मरण करते हैं और दो खमासमण देकर गुरू सुखशाता पूछते हैं।

पायच्छंदगच्छ की परम्परा में सामायिकग्रहण एवं सामायिकपारण-विधि तपागच्छ सामाचारी के अनुसार जाननी चाहिए। केवल सामायिक लेते

समय 'पडिलेहणं संदिसावेमि' 'पडिलेहणं करेमि'-ये दो आदेश लेकर मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करते हैं, शेष सर्वविधि- उनके समान ही है।[64]

त्रिस्तुतिक परम्परा में सामायिक लेने एवं सामायिक पारने की विधि का क्रम इस प्रकार है[65]- 1. पूर्ववत् पुस्तकादि की स्थापना करते हैं 2. फिर ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करते हैं 3. फिर द्वादशावर्त्तरूप दो वांदणा देते हैं 4. फिर खमासमणसूत्रपूर्वक सुहराई एवं अब्भुट्ठिओमिसूत्र बोलते हैं 5. फिर मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करके 'सामायिक संदिसावेमि' 'सामायिक ठामि'-ये आदेश लेते हैं तथा एक बार नमस्कारमन्त्र बोलकर एक बार 'करेमिभंतेसूत्र' कहते हैं 6. पुन: ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करके 'बइसणं' आदि के चार आदेश लेते हैं फिर अन्त में स्वाध्यायरूप तीन नमस्कारमन्त्र का स्मरण करते हैं 7. सामायिक पारने की विधि तपागच्छीय परम्परा के समान ही है।

स्थानकवासी परम्परा में सामायिक लेने एवं पारने की विधि निम्नानुसार है [66]- 1. यहाँ वस्त्र, भूमि आदि की शुद्धि पूर्ववत समझनी चाहिए। गुरूवन्दनसूत्र के स्थान पर तीन बार तिक्खुत्तोपाठ बोलते हैं 2. फिर खड़े होकर एक बार नमस्कारमन्त्र बोलते हैं 3. उसके बाद एक बार आलोचनासूत्र (इरियावहिपाठ), एक बार तस्सउत्तरी का पाठ, फिर इरियावहि के दो पाठ ध्यान में बोलते हैं 4. ध्यान पूर्ण होने पर 'णमोअरिहंताणं' बोलते हैं 5. फिर एक बार कायोत्सर्गशुद्धि का पाठ, एक बार उत्कीर्त्तनसूत्र (लोगस्स का पाठ), एक बार प्रतिज्ञासूत्र (करेमिभंते का पाठ), दो बार शक्रस्तव बोलते हैं। शक्रस्तव कहते समय बायाँ घुटना खड़ा करके अंजलिबद्ध दोनों हाथों को उस पर रखते हैं। इतनी विधि सामायिक ग्रहण करते हुए की जाती है 6. सामायिक पूर्ण करते समय एक बार नमस्कारमन्त्र, एक बार आलोचनासूत्र(इच्छाकारेणं का पाठ), एक बार तस्सउत्तरी का पाठ बोलकर दो लोगस्ससूत्र का विधिपूर्वक ध्यान करते हैं 7. फिर एक बार कायोत्सर्गशुद्धि का पाठ, एक बार लोगस्ससूत्र का पाठ, दो बार शक्रस्तव का पाठ, एक बार समाप्तिसूत्र कहकर तीन नमस्कारमन्त्र बोलते हैं।[67]

तेरापंथी परम्परा में सामायिकग्रहण एवं पारणविधि लगभग

स्थानकवासी आम्नाय के समान ही है।[68]

दिगम्बर परम्परा में सामायिक के पूर्व कुछ क्रियाएँ होती हैं। जैसे- 1. प्रत्येक दिशा में नौ बार या तीन बार नमस्कारमंत्र का स्मरण करते हैं, फिर इर्यापथ शोधन पूर्वक पूर्वादि क्रम से चारों दिशाओं में तीन आवर्त्त और एक शिरोनति करते हुए श्लोक बोलकर वन्दना करते हैं।

2. फिर वन्दना मुद्रा में बैठकर प्रतिज्ञा करते हैं। वह प्रतिज्ञापाठ इस प्रकार है-

तीर्थंकरकेवलि-सामान्यकेवलि-समुद्घातकेवलि-उपसर्गकेवलि-मूककेवलि-अन्तःकृतकेवलिभ्यो नमो नमः। तीर्थंकरोपदिष्ट-श्रुताय नमो नमः। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रधारकाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्योनमो नमः।

जम्बूद्वीपे, भरतक्षेत्रे, आर्यखण्डे, भारतदेशे ..... प्रान्ते ..... नगरे 1008 श्री-जिन-चैत्यालयमध्ये, अद्यवीरनिर्वाण ..... मैं सामायिक के कालपर्यन्त के लिए समस्त पापों का त्याग करता हूँ।[69]

3. उसके बाद सामायिकग्रहण के लिए पवित्रभूमि पर आसन बिछाकर पूर्व या उत्तर दिशा की ओर मुख करके खड़े होते हैं। अंजलिबद्ध हाथ जोड़कर बारह आवर्त्त[70], चार शिरोनति[71], दो निषद्या और मन, वचन, काया की शुद्धिपूर्वक कृतिकर्म[72] करते हैं।

4. उसके बाद प्रतिज्ञा करते हैं-

'अथपौर्वाह्णिक, मध्याह्णिक, अपराह्णिक काले घटिकाद्वयपर्यन्तं सर्वसावद्ययोगात् विरतोऽस्मि'।

तदनन्तर स्वाध्याय-ध्यान आदि में तल्लीन होकर अमितगति विरचित सामायिकपाठ बोलते हैं।

सामायिक पूर्ण करने की विधि प्राप्त नहीं हो पाई है।

तुलनात्मक विवेचन

यदि हम पूर्वोल्लिखित विषय वस्तु का तुलनात्मक पक्ष से विचार करें, तो यह कह सकते हैं कि श्वेताम्बर मूर्तिपूजक की सभी परम्पराओं में सामायिकदंडक का पाठ एक समान हैं, जबकि सामायिक पारने के पाठों में भिन्नता है। खरतरगच्छ, तपागच्छ, पायच्छंदगच्छ एवं त्रिस्तुतिक-इन परम्पराओं में पारस्परिक रूप से सामायिक क्रम को लेकर भी भिन्नताएँ हैं,

शेष सूत्रपाठ समान हैं। अचलगच्छ की सामायिक-विधि कुछ हटकर है। मूल विधि एवं तत्सम्बन्धी सूत्रों की अपेक्षा से देखा जाए तो स्थानक एवं तेरापंथ परम्परा की श्रावक सामायिक विधि मूर्तिपूजक परम्पराओं से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराओं में सामायिक पाठ भिन्न-भिन्न हैं।

श्वेताम्बर परम्परा में नमस्कारमंत्र, गुरूवन्दनसूत्र, ईर्यापथ-आलोचनासूत्र, कायोत्सर्गआगारसूत्र, स्तुतिसूत्र, प्रतिज्ञासूत्र, प्रणिपातसूत्र और समाप्तिसूत्र- इतने पाठ सामायिक के माने गए हैं। दिगम्बर-परम्परा में पूर्वनिर्दिष्ट सामायिक विधि के साथ-साथ आचार्य अमितगतिविरचित बत्तीस श्लोकों का सामायिक-पाठ भी प्रचलित है, जिसमें मैत्री, करूणा, प्रमोद एवं माध्यस्थ भावनाओं का सुन्दर वर्णन किया गया है।

यदि विधि-विधानमूलक ग्रन्थों की दृष्टि से सामायिकग्रहण एवं पारणविधि का तुलनात्मक अध्ययन किया जाए तो कुछ भिन्नताएँ इस प्रकार कही जा सकती हैं जैसे-तिलकाचार्यकृत सामाचारी में काष्ठासन और पादप्रोंछन का आदेश लेने के बाद ईर्यापथप्रतिक्रमण करने का निर्देश है। संभवत: यह विधि वर्तमान की किसी भी परम्परा में मौजूद नहीं है।[73]

तिलकाचार्यकृत सामाचारी में स्वाध्याय के रूप में तीन नमस्कारमन्त्र बोलने का उल्लेख है, जबकि खरतरगच्छ की सामाचारी में आठ नमस्कारमन्त्र का स्वाध्याय करते हैं, किन्तु तपागच्छ आदि परम्पराएँ उक्त सामाचारीग्रन्थ का ही अनुकरण करती हैं। उनमें स्वाध्यायरूप में तीन नमस्कारमन्त्र का स्मरण किया जाता है।[74]

सामायिकव्रत सम्बन्धी विधि-विधानों के प्रयोजन

जैन धर्म की श्वेताम्बर-परम्परा में सामायिकव्रत स्वीकार-विधि का जो क्रम है, वह सप्रयोजन एवं सोद्देश्य है।

जिनशासन की यह सनातन परम्परा रही है कि इसमें सभी प्रकार के धार्मिक अनुष्ठान देव-गुरू-धर्म की उपासनापूर्वक प्रारम्भ किए जाते हैं। सामायिक-व्रतानुष्ठान मुख्यत: गुरू की सन्निधि एवं उनके आदेश अनुमतिपूर्वक सम्पन्न होता है। कदाचित् गुरू की साक्षात् उपस्थिति न भी हो, तो भी पुस्तकादि के माध्यम से गुरू स्थापना करते हैं। फिर सामायिकव्रत

में प्रवेश करने के लिए गुरू को स्तोभवंदन (लघुवंदन) करते हैं। गुरूवन्दन करने का उद्देश्य व्रत साधना की निर्विध्नता हेतु अनुज्ञा प्राप्त करना और गुरू के प्रति विनय भाव प्रकट करना है।

सामायिक जैसी शुद्ध, निरवद्य एवं अध्यात्म-क्रिया में प्रवेश करने और भाव-परिमार्जन करने के निमित्त वस्त्र, उपकरण, शरीर आदि की प्रतिलेखना एवं प्रमार्जना की जानी चाहिए, किन्तु उस समय सभी की प्रतिलेखना असंभव होने के कारण उपलक्षण से मुखवस्त्रिका एवं शरीर के आवश्यक अंगों की ही प्रतिलेखना करते हैं। वह प्रतिलेखन-क्रिया चित्तशुद्धि के निमित्त की जाती है।

सामायिक-साधना में उपस्थित रहने की प्रतिज्ञा हेतु अर्द्धावनत-मुद्रा में 'करेमिभंते' सूत्र बोलते हैं। यह प्रतिज्ञासूत्र समभाव की साधना में स्थिर रहने, सावद्यकार्यों का त्याग करने एवं मन:संकल्प को टिकाए रखने के उद्देश्य से बोला जाता है, क्योंकि प्रतिज्ञाबल से तन और मन-दोनों स्थिर बनते हैं।

सामायिक लेते समय 'ईर्यापथिक प्रतिक्रमण' करते हैं। यह प्रतिक्रमण घर से उपाश्रय आदि के लिए आते समय लगे दोषों से निवृत्त होने, हिंसादि पापों से विरत होने एवं हृदय को शल्यादि से रहित करने के लिए किया जाता है। इसका मुख्य उद्देश्य गमनागमन में लगे दोषों से विरत होना है।

सामायिकव्रत स्वीकार करने के पश्चात गुरू भगवन्त से पंचांगप्रणिपात(वन्दन) पूर्वक दो बार आसन पर बैठने की एवं दो बार स्वाध्याय करने की अनुज्ञा लेते हैं-यह आदेश विधि स्वच्छंदवृत्ति का निरोध करने, अपराधवृत्ति के प्रति सजग रहने एवं संकल्पित साधना के प्रति संलग्न बने रहने के प्रयोजन से की जाती है।

यदि मनोविज्ञान एवं शरीरविज्ञान की अपेक्षा मनन किया जाए तो इस विधि-प्रक्रिया के माध्यम से मस्तिष्क, उदर, हृदय, पाँव आदि से सम्बन्धित अनेक प्रकार की बीमारियाँ दूर होती हैं। शुभभावों की धारा का सतत प्रवाह होते रहने के कारण तथा हिंसादि पापमय प्रवृत्तियों से विलग रहने के कारण शाता वेदनीय का बंध होता है और अशाता वेदनीय कर्मों की निर्जरा हो जाती है। निश्चित अवधि के लिए बाह्य-प्रपंचों से दूर रहने के कारण बौद्धिक क्षमता में विकास होता है, चिन्ताएँ समाप्त होती हैं तथा पूर्व संचित पापकर्म

विनष्ट हो जाते हैं।

अर्द्धावनत-मुद्रा में खड़े रहने से विनयगुण का संवर्द्धन होता है। परिणामत: मनोयोग स्थिर बनता है, क्रोध-अहंकार आदि के भाव न्यून होते हैं और सामायिक साधना पूर्णरूपेण फलवती बनती है।

सामायिक पूर्ण करते समय सर्वप्रथम ईर्यापथिक-प्रतिक्रमण करते हैं। वह प्रतिक्रमण सामायिक काल में लगे हुए गमनागमन सम्बन्धी दोषों की आलोचना एवं उसकी शुद्धि के निमित्त किया जाता है।

सामायिकव्रत पूर्ण करते समय दो प्रकार के आदेश गुरू के प्रति बहुमान प्रदर्शित करने एवं गुरू के स्थान को सर्वोच्च बनाए रखने के प्रयोजन से लिए जाते हैं।

सामायिक पूर्ण करने का पाठ मस्तक को भूमितल पर स्पर्शित करते हुए बोला जाता है। जो सामायिकव्रत में हुई पापकारी-प्रवृत्तियों का पश्चाताप करने एवं उन प्रवृत्तियों से अलग हटने का प्रतीक है। लोक व्यवहार में भी अपराध स्वीकार करने के लिए मस्तक झुकाते हैं।

यहाँ विधि-सूत्रों के सम्बन्ध में एक महत्त्व की बात यह है कि भारतीय परंपरा की उपासना पद्धति में कुछ मंत्र, स्तोत्र, सूत्र आदि एक, दो, तीन या अधिक बार भी बोले जाते हैं। इसका प्रयोजन संभवत: यह है कि पहली बार के उच्चारण में त्वरा के कारण, अनवधान के कारण या अन्य किसी कारण से उसके अर्थ एवं हेतु में चित्त एकाग्र न हुआ हो, तो अधिक उच्चारण से एकाग्र हो जाता है। इसे अनुभव एवं अनुमान के आधार पर सिद्ध किया जा सकता है। कुछ अनुष्ठान क्रियाओं में मंत्र-सूत्रादि को अधिक बार दोहराने की पद्धति सर्वमान्य रही है। लौकिक-जीवन में शपथविधि लेने हेतु या विधायक को अनुमोदना देने हेतु प्राय: वह विधि तीन बार की जाती है अत: सामायिक स्वीकार करने का प्रतिज्ञासूत्र सर्वाधिक महत्वपूर्ण होने से तीन बार बोलते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सामायिक-विधि की क्रमिकता और उसके प्रयोजन अर्थपूर्ण भावों को लिए हुए हैं।

उपसंहार

आत्मा की शुद्ध अवस्था का नाम सामायिक है। सामायिक द्वारा न केवल मानसिक-सन्तापों से शान्ति मिलती है अपितु इससे बाह्य और आभ्यन्तरिक नानाविध पीडाओं एवं आधिभौतिक, आधिदैविक, आधिदैहिक-समस्त प्रकार की बाधाओं का सहज रूप में उपशमन भी होता है। जन साधारण में मैत्री, करूणा और अहिंसारूप नवचेतना का प्राण फूंकने में सामायिक के समान विश्व में अन्य कोई भी अनुभवसिद्ध उपाय नहीं है।

सामायिक की साधना का मुख्य ध्येय 'आत्मवत् सर्वभूतेषु'-इस सिद्धांत को चरितार्थ करना है।

इस साधना के महत्त्व को व्यावहारिक तौर पर समझ पाना मुश्किल है। उसके लिए स्वानुभूत ज्ञान का सामर्थ्य चाहिए, अतएव इस साधना का महत्त्व एवं रहस्य भावनात्मक-बल, आध्यात्मिक-शक्ति और अनुभूति के स्तर पर ही जाना जा सकता है।

जैन धर्म यह कहता है कि विश्व में समभाव से बढ़कर कोई साधना नहीं है। व्यक्ति समता भाव के आधार पर बड़े से बड़े दुश्मनों को पराजित कर सकता है। इस सम्बन्ध में भगवान महावीर का जीवन प्रत्यक्ष उदाहरण रूप है। जैन आगम साहित्य इस बात के साक्षी हैं कि सामायिक की उत्कृष्ट साधना करने वाला एक मुहूर्त्त में केवलज्ञान-केवलदर्शन को उपलब्ध कर सकता है। यदि जघन्य रूप से भी समभाव का स्पर्श हो जाए, तो साधक सात-आठ भव में ही संसार का अन्त कर देता है- **'सत्तट्ठभवग्गहणाइं पुण नाइक्कमइ।'**

सामायिकव्रत से मुनि जीवन की शिक्षा का अभ्यास होता है, चारित्रमोहनीयकर्म का क्षयोपशम होता है, सर्वविरति चारित्र का उदय होता है, संसार के त्रस-स्थावर समस्त जीवों को उतने समय के लिए अभयदान मिलता है तथा अहिंसा-सत्य-अचौर्य-बह्मचर्य-अपरिग्रह आदि आवश्यक व्रतों का परिपालन होता है। इससे सुसंस्कारों का अभ्यास होता है। जिसके फलस्वरूप व्यक्ति धीरे-धीरे सन्मार्ग की ओर बढ़ता हुआ सिद्धत्व ज्योति को समुपलब्ध कर लेता है।

इस साधना की तुलना अन्य धर्मों की साधना पद्धति से भी की जा

सकती है। जिस प्रकार सामायिकव्रत में पवित्र स्थान पर सम आसन से मन, वाक् और शरीर का संयम किया जाता है, उसी प्रकार गीता के अनुसार ध्यानयोग की साधना में भी शुद्ध भूमि पर स्थिर आसन में बैठकर शरीरचेष्टा और चित्तवृत्तियों का संयम किया जाता है।

इसमें सभी प्राणियों के प्रति आत्मवत् दृष्टि, सुख-दुख, लौह-कांचन, प्रिय-अप्रिय, निन्दा-स्तुति, मान-अपमान, शत्रु-मित्र में समभाव और सावद्य का परित्याग करने को नैतिक-जीवन का लक्षण माना गया है। श्रीकृष्ण अर्जुन को यही उपदेश देते हैं- हे अर्जुन ! तू अनुकूल और प्रतिकूल सभी स्थितियों में समभाव धारण कर।[75] बौद्धदर्शन में भी यह समत्ववृत्ति स्वीकृत है। धम्मपद में कहा गया है कि सब पापों को नहीं करना और चित्त को समत्ववृत्ति में स्थापित करना ही बुद्ध का उपदेश है।[76]

इस प्रकार जैन साधना में वर्णित सामायिकव्रत की तुलना गीता के ध्यानयोग आदि की साधना एवं बौद्ध की उपदेश-विधि के साथ की जा सकती है। इतना ही नहीं, वैदिक धर्मानुयायियों में सन्ध्या, मुसलमानों में नमाज, ईसाईयों में प्रार्थना, योगियों में प्राणायाम की भाँति ही जैन धर्म में सामायिक-साधना अवश्य करणीय है। इसमें चित्तविशुद्धि और समभाव की साधना की जाती है, जो वर्तमान युग में अधिक प्रासंगिक है। जैन परम्परा में गृहस्थ के लिए यह व्रत साधना दैनिक कृत्य के रूप में भी बतलाई गई हैं।

सन्दर्भ-सूची

1. *तत्त्वार्थसूत्र, 9/18*
2. *सर्वार्थसिद्धि, 7/21/703, पृ. 279*
3. *रागद्दोसविरहिओ समो त्ति, अयणं अयो त्ति गमणंति।*
   समगमणं ति समाओ, स एव सामाइयं नाम।।
   विशेषावश्यकभाष्य, गा. 3478
4. *गोम्मटसार-जीवकाण्डटीका, गा.-368, पृ.-612*
5. *उत्तराध्ययनसूत्र, 19/90*
6. *मूलाचार, 1/23*
7. *'अहवा समस्स आओ गुणाण लाभो त्ति जो समाओ सो'।*
   विशेषावश्यकभाष्य, गा.-3480

8. भगवद्गीता, 2/48
9. भगवतीसूत्र, 1/9
10. (जस्स सामाणिओ अप्पा, संजमे नियमे तवे।
तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलि भासियं।।
(क) आवश्यकनिर्युक्ति, गा.- 797, निर्युक्तिसंग्रह पृ.-78
(ख) नयमसार, 127
11. अष्टकप्रकरण, 29/1
12. सावज्जजोगविरओ, विगुत्ते छसु संजओ।
उवउत्तो जयमाणो, आया सामाइयं होइ।।
आवश्यक मलयगिरिटीका-49
13. विशेषावश्यकभाष्य, गा.-2635-36
14. सामाइयं समइयं, सम्मावाओ समास संखेवो।
अणवज्जं य परिण्णा, पच्चक्खाणे य ते अट्ठ।।
आवश्यकनिर्युक्ति, गा. 864
15. वही, 796
16. आदिमंगलं सामाइयज्झयणं, सव्वमंगलं निहाणंनिव्वाणं।
पाविहितित्ति काऊण, सामाइयज्झयणं भवति।।
आवश्यकचूर्णि, भा.1, पृ.3
17. पुरूषार्थसिद्धयुपाय, 149
18. वही, 148
19. त्यक्तार्त्तरौद्रध्यानस्य, त्यक्त सावद्य कर्मणः।
मुहूर्त्त समता या तां, विदुःसामायिकम् व्रतम्।।
योगशास्त्र, 3/82
20. संखिवणं संखेवो, सो जं थोवक्खरं महत्थं च।
सामाइयं संखेवा, चोद्दसपुव्वत्थपिंडोत्ति।।
विशेषावश्यकभाष्य गा.-2796
21. तत्थज्झयणं सामाइयं ति, समभावलक्खणं पढमं।
जं सव्वगुणाहारो, वोमं पिव सव्वदव्वाणं।।
विशेषावश्यकभाष्य, 905

22. अहवा तमेय च्चिय सेसा, जं दंसणाइयं तिविहं।
न गुणो य नाण दंसण, चरमब्भहिओ जओणत्थि।।
वही, 906
23. 'सामाइएणं सावज्जजोगविरइं जणयइ'। उत्तराध्ययनसूत्र, 29/9
24. दिवसे दिवसे लक्खं, देइ सुवण्णस्स खंडियं।
एगो एगो पुण सामाइयं, करेइ न पहुप्पए तस्स।।
सम्बोधसत्तरि, गा.-24
25. तिव्वतवं तवमाणो, जं न निट्ठवइ जम्मकोडीहिं।
तं समभाविअचित्ते, खवेइ कम्मं खणद्धेण।।
26. जे केवि गया मोक्खं, जेवि य गच्छंति।
जे गमिस्संति ते सव्वे, सामाइय पभावेण मुणेयव्वं।।
27. अष्टकप्रकरण, 30/1
28. रत्नसंचयप्रकरण, गा.-195
29. अविवेकजसोकित्ती, लाभत्थी गव्वभय नियाणत्थी।
संसयरोस अविणओ, अवहु माणए दोसा भणियव्वा।।
सामायिकसूत्र-अमरमुनि, पृ. 57
30. कुवयण सहसाकारे, सच्छंद संखेय कलहं च।
विगहा विहासोक्सुद्धं, निरवेक्खो मुणमुणा दस दो।।
सामायिकसूत्र-अमरमुनि, पृ. 61
31. कुआसणं चलासणं चला दिट्ठी, सावज्ज किरिया लंबणांकुसण पसारणं। आलस मोडन मल विमासणं, निद्दा वेयावच्चत्ति बारस कायदोसा।।
वही, पृ.-63
32. रत्नसंचयप्रकरण, गा.-193-197
33. सामायिक एक समाधि, पृ.-48
34. विशेषावश्यकभाष्य, गा. 3410
35. अनुयोगद्वार, 1/2/708
36. विशेषावश्यकभाष्य, 3382
37. आवश्यकनिर्युक्ति, 812
38. वही, 799

39. प्रबोधटीका, भा.-1, पृ.-578-80
40. भगवतीसूत्र, 25/7
41. सुबोधासामाचारी, पृ.-3
42. विधिमार्गप्रपा, पृ.-6
43. आचारदिनकर, पृ.-51-52
44. भगवती-आचार्य महाप्रज्ञ, 1/423-26
45. तएणं से मेहे अणगारे समगस्स भगवाओ महावीरस्स 'तहारूवाणं थेराणं अंतिए सामाइयमाइयाइं एक्कारस अंगाइं अहिज्जइ।

    ज्ञाताधर्मकथा, अंगसुत्ताणि, 1/1/195
46. 'तथारूप'-यह स्थविरों का विशेषण है। तथारूप का अर्थ है- श्रमणचर्या के अनुरूप वेशवाला।
47. ग्यारह अंगों में आचारांग पहला अंग है, किन्तु आगमग्रन्थों में प्राय: 'आचार माइयाइं एक्कारस अंगाइं' का उल्लेख न कर 'सामाइयमाइयाइं एक्कारसअंगाइं' का ही उल्लेख किया गया है। इससे अनुमान होता है कि 'सामायिक' आचारांग का ही दूसरा नाम है।
48. उपासकदशा, अंगसुत्ताणि, 1/45
49. अन्तकृत्दशा, अंगसुत्ताणि, 1/1/21, 6/96, 3/13, 8/16
50. विपाकसूत्र, मधुकरमुनि, 2/1/6
51. आवश्यकनिर्युक्ति, गा.-545-560
52. वही, संपा. कुसुमप्रज्ञा, प्रस्तावना, पृ.-44
53. तिलकाचार्यसामाचारी, पृ.-15
54. विधिमार्गप्रपा, पृ.-6
55. वही, पृ.-6
56. विधिमार्गप्रपा, पृ.-18
57. (क)? विधिमार्गप्रपा-सानुवाद, पृ.-19

    (ख) पौषधविधि, पृ.- 316
58. श्रावकपंचप्रतिक्रमणसूत्र, पृ.-28-35, 50-52
59. पंचप्रतिक्रमणसूत्र(अचलगच्छीय), पृ.-28-35
60. 'पंचिंदियसूत्र' यह है-

पंचिंदियसंवरणो, तह नवविह-बंभचेर-गुत्तिधरो,
चउविहकसायमुक्को, ईअ अट्ठारसगुणेहिं संजुत्तो।।1।।
पंचमहव्वयजुत्तो, पंचविहायारपालण समत्थो,
पंचसमिओ तिगुत्तो, छत्तीसगुणो गुरू मज्झ ।।2।।

61. *'जीवराशि क्षमापना पाठ' निम्न है-*

सात लाख पृथ्वीकाय, सात लाख अप्काय, सात लाख तेउकाय, सात लाख वाउकाय, दस लाख प्रत्येक वनस्पतिकाय, चौदह लाख साधारण वनस्पतिकाय, दो लाख बेइन्द्रिय, दो लाख तेइन्द्रिय, दो लाख चउरिंद्रिय, चार लाख देवता, चार लाख नारकी, चार लाख तिर्यंचपंचेन्द्रिय, चौदह लाख मनुष्य एवं चार गतिना चौरासी लाख जीवाजोनी मां म्हारे जीवे जे कोइ जीव हण्यो होय, हणाव्यो होय, हणतां प्रत्ये अनुमोद्यो होय ते सव्वे हुं मन वचन काया करी तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

62. *'द्रव्य क्षेत्र काल भाव का पाठ' इस प्रकार है-*

द्रव्यथकी लूगडां, लतां, घरेणां, गाढां, पाथरणुं,नवकारवाली, धार्या प्रमाणे मोकला छे. क्षेत्रथकी उपासराना (आ जग्याना) बारणानी मांहेली कोरे कारणे जयणा छे, कालथकी सामायिक निपजे तिहां सुधी, भावथकी यथाशक्तिये रागद्वेषे रहित व्रती संघाते बोलवानो आगार छे, अव्रती संघाते बोलवानुं पच्चक्खाण छे अथवा जयणा छे. अे रीत छ कोटीअे करी सामायिक करूं, सामायिकव्रत उच्चार करवा उभा थईने अेक नवकार गणुंज़ो।।

63. *अचलगछीय-परम्परानुसार सामायिक पारने का पाठ यह है-*

जं जं मणेण बद्धं, जं जं वाया य भासियं पावं।।
काअेणवि दुट्ठुकयं, मिच्छामि दुक्कडं तस्स।।1।।
सव्वे जीवा कम्मवस, चउदह रज्ज भमंत।।
ते मे सव्व खमाविया, मुज्ज वि तेह खमंत।।2।।
खमी खमावी म खमी, छव्विह जीव निकाय।।
शुद्ध मने आलोवतां, मुज मन वेर न थाय।।3।।
दिवसे दिवसे लक्खं, देई सुवन्नस्स खंडिअं एगो।।
एगो पुण सामाईयं, करेइ न पहुप्पए तस्स।।4।।
कुणे पमाए बोलिउ, हुई विरूइ बुद्धि।।
जिणसासण में बोलीउ, मिच्छामि दुक्कडं शुद्धि ।।5।।

समाइअ वयजुत्तो, जावमणे होई नियमसंजुत्तो।।
छिन्नई असुहंकम्मं, सामाइयजत्ति आवारा ।।6।।

सामाइअम्मि उ कए, समणो इव सावओ हवइ जम्हा।।
एएण कारणेणं, बहुसो सामाइयं कुज्जा ।।7।।

सामायिक व्रत फासिअं, पालिअं, पूरियं, तीरियं, कित्तिअं आहारिअं, विधि लीधुं, विधि कीधुं, विधि पाल्युं, विधि करता कोई अविधि, आशातना हुई होय, ते सवि हुं मने, वचने कायाए करी मिच्छामि दुक्कडं।।1।।

पाटी, पोथी, कवली, ठवणी, नवकारवाली, कागले पग लगाड्यो होय, गुरू ने आसने, वेसणे, उपगरणे पग लगाड्यो होय, ज्ञानद्रव्यतणी आशातना थई होय, ते सविहुं मने, वचने, कायाए करी मिच्छामि दुक्कडं। अढीद्वीप ने विषे साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका जे कोई प्रभु श्रीवीतरागदेवजी आज्ञापाले, पलावे, भणे, भणावे, अनुमोदे, तेहनेमारी त्रिकाल वंदना होजो, सीमंधर प्रमुख बीस विहरमान जिनने मारी त्रिकाल वंदना होजो, अतीत चोवीशी, अनागत चोवीशी, वर्तमान चोवीशी ने मारी त्रिकाल वंदना होजो, ऋषभानन, चंद्रानन, वर्द्धमान, वारिषेण, ए चार शाश्वता जिनने मारी त्रिकाल वंदना होजो, दश मनना, दश वचनना, बार कायाना ए बत्रीश दोषो मांहेलो सामायिक व्रतमांहे जिको कोई दोष लाग्यो होय, ते सवि हुं मने, वचने, कायाए करी मिच्छामि दुक्कडं।। तमेव सच्चं निस्संकं जंजं जिणेहिं पवेइयं।। तं तं धम्मसव्वफलं मम होई, साचानी सद्दहणा, जुठानुं मिच्छामि दुक्कडं।। सर्वमंगल मांगल्यं, सर्व कल्याणकारणं।। प्रधानं सर्वधर्माणां, जैन जयति शासनं।।

64. *पंचप्रतिक्रमणसूत्र, विधिसहित (श्री पार्श्वचन्द्रगच्छीय) पृ.-1-9, 56-64*
65. *सामायिकसूत्र (त्रिस्तुतिकगच्छीय), पृ.-2-10*
66. *सामायिकसूत्र (स्थानकवासी), पृ.-18-21*
67. *स्थानकवासी-परम्परा में सामायिक पारते समय निम्न पाठ बोला जाता है-*

नवमा सामायिक व्रत ना पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा तं जहा ते आलोऊं सामायिक में मन वचन काया ना योग पाडुवा ध्यान प्रवर्त्ताण्या होय, सामायिक में समता न कीधी होय, अणपूगी पारी होय, नवमा सामायिक व्रत में जे कोई अतिक्रम व्यतिक्रम अतिचार आणाचार जाणतां अजाणतां पाप दोष लाग्यो होय तो तस्स मिच्छामि दुक्कडं।।

सामायिक में दस मन का, दस वचन का, बारह काया का, बत्तीसदोषां मांहेलो कोई दोष लग्यो होय तो तस्स मिच्छामि दुक्कडं।।

सामायिक पारने के बाद निम्नोक्त पाठ बोला जाता है-

फासियं, पालियं, सोहियं, तिरियं, किट्टियं, अणुपालियं, आणाए, आराहिंय, न भवइ इण आठ पच्चक्खाण सहित सामायिक नहीं पाली होय तो तस्स मिच्छामि दुक्कडं।।

68. *सचित्रश्रावकप्रतिक्रमण (तेरापंथी)*
69. *श्रावकचर्या (दिगम्बर), पृ.-238-44*
70. *आवर्त्त-प्रशस्तयोग को एक अवस्था से हटाकर दूसरी अवस्था में ले जाने का नाम आवर्त्त है। ये आवर्त्त बारह होते हैं। सामायिकदण्ड के आरम्भ और समाप्ति में तीन-तीन, इसी तरह चतुर्विंशातिस्तवदण्ड के प्रारम्भ और अन्त में तीन-तीन कुल बारह आवर्त्त होते हैं।*
71. *शिरोनति-सिर झुकाने की क्रिया शिरोनति कहलाती है।*
72. *कृतिकर्म क्रिया चारों दिशाओं में की जाती है। उसकी विधि यह है-*

    पूर्व दिशा की ओर मुख करके नौ बार नमस्कारमन्त्र का जाप करना, फिर पूर्वदिशा और आग्नेय (कोण) दिशा में स्थित 1. अरिहन्त 2.सिद्ध 3. केवलिजिन 4. आचार्य 5. उपाध्याय 6. साधु 7. जिनधर्म 8. जिनागम 9. जिनप्रतिमा 10. जिनचैत्य को मैं वन्दना करता हूँ-ऐसा बोलना। यह पूर्वदिशा का कृतिकर्म हुआ। शेष दिशाओं-विदिशाओं में भी इसी प्रकार की क्रिया करना कृतिकर्म कहलाता है। श्रावकचर्या, पृ.-240
73. *तिलकाचार्यसामाचारी, पृ.-15*
74. *वही, पृ.-15*
75. *गीता, 6/33, 2/48*
76. *धम्मपद, राहुल सांस्कृत्यायन, 14/7*

●

अध्याय - 5

पौषधव्रत विधि का सामयिक अध्ययन

पौषध जैन गृहस्थ का एक आवश्यक व्रत है। सामान्यतया यह व्रत अष्टमी-चतुर्दशी-पूर्णिमा आदि पर्व तिथियों के दिन चतुर्विध आहार के त्यागपूर्वक किया जाता है। इस व्रत के माध्यम से चार प्रहर या आठ प्रहर के लिए सांसारिक, पारिवारिक, व्यापारिक एवं शारीरिक समस्त प्रकार की पाप प्रवृत्तियों से दूर हटकर एकान्त स्थान में या धर्म स्थान में रहकर आत्मचिन्तन की साधना की जाती है। इसका दूसरा नाम 'पौषधोपवास' है।

यह बारह व्रतधारी जैन श्रावक का ग्यारहवाँ व्रत है। चार शिक्षाव्रतों में इसका तीसरा स्थान है। श्रावक के बारह व्रतों में चार शिक्षाव्रतों का क्रम पूर्णत: मनोवैज्ञानिक एवं अध्यात्ममूलक है। प्रथम सामायिक शिक्षाव्रत में साधक 48 मिनट के लिए सावद्य (हिंसात्मक) प्रवृत्तियों से दूर हटता है और समताभाव में रहने की साधना करता है। द्वितीय देशावगासिक शिक्षाव्रत में 12 से 15 घंटे के लिए सावद्य पापों से विरत होता है, जबकि तृतीय पौषधोपवास शिक्षाव्रत में सम्पूर्ण दिवस-रात्रि के लिए उपवासपूर्वक हिंसाजन्य प्रवृत्तियों का त्याग किया जाता है। इस प्रकार शिक्षाव्रतों को क्रमश: धारण करके श्रावक अपना आत्म विकास करता है। इनमें पौषधव्रत की आराधना का सर्वोच्च स्थान है। चूंकि पौषधव्रती एक अहोरात्रिपर्यन्त मुनि जीवन की भाँति अपनी जीवन चर्या बिताता है अत: पौषधव्रत एक आत्मिक आराधना है।

पौषध शब्द का तात्त्विक अर्थ

पौषध शब्द 'पुष्' धातु से निष्पन्न है। संस्कृतकोश के अनुसार पुष् के विभिन्न अर्थ हैं- पोषण, संपालन, पुष्टि, वृद्धि, संवर्धन, समृद्धि, प्राचुर्य, आदि।[1] यहाँ आत्म भावों का पोषण करना, आत्म भावों को पुष्ट करना, आत्म भावों की वृद्धि करना, आत्मिक अध्यवसायों का संवर्धन करना इत्यादि अर्थ मान्य हैं।

पौषध संस्कृत के 'उपवषथ' शब्द से निर्मित हुआ भी कहा जा सकता है। उपवषथ शब्द के अनुसार धर्माचार्य के समीप या अपने आत्म स्वरूप के निकट रहना पौषध है।

• पौषध का शाब्दिक अर्थ है- पोषना, तृप्त करना। आत्मा को रत्नत्रय की आराधना द्वारा तृप्त करना, पुष्ट करना पौषध है।

• पौषध का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है- **'पोषं-पुष्टिं प्रक्रमाद् धर्मस्य धत्ते करोतीति पोषधः'** अर्थात जो धर्म को धारण करता है, वह पौषध है अथवा **'पोषं धत्ते पुष्णाति वा धर्मानिति पोषधः'** अर्थात जिस क्रिया या साधना द्वारा धर्म का पोषण होता है, आत्मा बलवती बनती है और पाप प्रवृत्तियों का ह्रास होता है वह पौषध है।

• आचार्य हरिभद्र के अनुसार जिस क्रिया से धर्म का पोषण होता है, ऐसी जिनभाषित विधि से आहार, देहसत्कार, अब्रह्मचर्य और लौकिक-व्यापार-इन चार का त्याग करना पौषध कहलाता है।[2]

• उपासकदशासूत्र में इस व्रत का नाम 'पोषधोपवास' है। उपासकदशा के टीकाकार अभयदेवसूरि ने इसका निम्न अर्थ किया है- **''पोसतोववासस्स' त्ति इह पोषधशब्दोऽष्टम्यादि पर्वसु रूढ़ः, तत्र पोषधे उपवासः पोषधोपवासः सं चाहारादिविषय भेदाच्चतुर्विध इति तस्य''**

अर्थात 'पौषध' शब्द रूढ़ि से अष्टमी आदि पर्व दिनों के लिए प्रयुक्त है। उन पर्वों में उपवास करना 'पोषधोपवास' है। वह आहार आदि के भेद से चार प्रकार का कहा गया है।

• आवश्यक टीका में पौषधोपवास का लक्षण बताते हुए कहा गया है कि धर्म एवं अध्यात्म को पुष्ट करने वाले विशेष नियम धारण करके उपवास सहित पौषध में रहना पौषधोपवास व्रत है।[3]

• आचार्य हेमचन्द्र पौषधव्रत का स्वरूप बताते हुए कहते हैं कि चार पर्वों में उपवासादि तप, कुप्रवृत्ति का त्याग, ब्रह्मचर्य का पालन और स्नानादि का वर्जन करना पौषधव्रत है।[4]

सुस्पष्ट है कि अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अमावस्या-इन पर्व-दिनों में आठ प्रहर तक चतुर्विध आहार का त्याग करना और उपासनागृह में निवास

करना पौषधव्रत है। यहाँ पौषधव्रत से सम्बन्धित कुछ शब्दों के अर्थ इस प्रकार हैं-

पौषधोपवास- उपवास के दिन प्रतिज्ञापूर्वक एक अहोरात्र पौषधशाला में आत्मा के निकट रहना पौषधोपवास है।[5]

पौषधशाला- अष्टमी आदि पर्व के दिनों में धर्मानुष्ठान करने का स्थान (शाला) पौषधशाला कहलाता है[6] अथवा जहाँ जैन-गृहस्थ एक अहोरात्रि के लिए समस्त प्रकार की सावद्य प्रवृत्तियों का त्याग करके आत्म साधना में लीन रहता है, वह स्थान पौषधशाला कहा जाता है।

पौषधविधि- जो क्रिया धर्म को पुष्ट करती है, वह पौषध कहलाती है और उसकी विधि पौषधविधि है।

पौषधिक- उपवास एवं पौषधव्रत ग्रहण किया हुआ श्रावक पौषधिक कहलाता है।

पौषध- यह एक प्रकार का आध्यात्मिक व्रतानुष्ठान है।

पौषध के मुख्य प्रकार

आवश्यकसूत्र में पौषध के चार प्रकार कहे गए हैं 1. आहार पौषध 2.शरीरसत्कार पौषध 3. ब्रह्मचर्य पौषध और 4. अव्यापार पौषध।[7]

1. आहार पौषध- अशन (धान्यादि), पान (पेय पदार्थ), खादिम (फल-मेवा आदि), स्वादिम (इलायची, सौंफ आदि) इन चार प्रकार के आहार का सर्वथा त्याग करना एवं आत्म धर्म की विशेष आराधना करना आहार पौषध है।

पौषधव्रत में आहार का त्याग कर देने से आत्म चिन्तन के लिए काफी समय मिल जाता है, जबकि गृहस्थ-जीवन का अधिकतम समय आहार सामग्री को लाने, पकाने, खाने और पचाने में ही व्यतीत होता है।

2. शरीरसत्कार पौषध- स्नान, विलेपन, उबटन, पुष्प, तेल, गन्ध, आभूषण आदि से शरीर को सजाने और संवारने का परित्याग कर शरीर को धर्म प्रवृत्ति में जोडना शरीरपौषध है।

3. ब्रह्मचर्य पौषध- सभी प्रकार की मैथुन-प्रवृत्तियों का त्याग करके ब्रह्म-आत्मभाव में रमण करना ब्रह्मचर्यपौषध है।

4. अव्यापार पौषध- आजीविका के लिए किए जाने वाले व्यवसाय,

नौकरी आदि सावद्य-प्रवृत्तियों का त्याग करना अव्यापारपौषध है। पूर्वोक्त आहार आदि चारों प्रकार के पौषध देश और सर्व से दो-दो प्रकार के निर्दिष्ट हैं। उनमें आहारपौषध सर्व एवं देश-दोनों प्रकार से किया जाता है। यह परम्परा आचरणावश देखी जाती है, किन्तु शेष त्रिविध पौषध सर्व से होते हैं। पौषध के इन भेद-प्रभेदों की व्याख्या इस प्रकार है[8]-

1. **आहार पौषध-** चतुर्विध आहार के त्यागपूर्वक उपवास करना सर्व पौषध है और उपवास, आयंबिल, नीवि, एकासन आदि करना देश-पौषध है।

2. **शरीरसत्कार पौषध-** अमुक शरीर का सत्कार करना और अमुक शरीर का सत्कार न करना देश पौषध है और अहोरात्रि के लिए सम्पूर्ण शरीर के सत्कार-विभूषा आदि का त्याग करना सर्व पौषध है।

3. **ब्रह्मचर्य पौषध-** दिन अथवा रात्रि के लिए ब्रह्मचर्य-पालन की प्रतिज्ञा करना देश पौषध है और सम्पूर्ण अहोरात्रि के लिए ब्रह्मचर्य का पालन करना सर्व पौषध है।

4. **अव्यापार पौषध-** अमुक व्यापार करना और अमुक व्यापार न करना देश पौषध है और समस्त प्रकार के व्यापार का त्याग करना सर्व पौषध है। श्रावक यथासामर्थ्य देश या सर्व किसी भी प्रकार का पौषधव्रत स्वीकार कर सकता है।

पौषधव्रत की प्रतिज्ञा के विभिन्न विकल्प

जैन परम्परा में साधक की क्षमता एवं परिस्थिति के आधार पर व्रतादि स्वीकार करने के विषय में विकल्प (अपवाद) रखे गए हैं, ताकि प्रत्येक साधक यथाशक्ति और यथासुविधा व्रत-प्रत्याख्यान आदि ग्रहण कर सकें। पौषधव्रत स्वीकार करने के 80 विकल्प बताए गए हैं यानी पौषधव्रती अपनी क्षमता के अनुसार 80 विकल्पों में से किसी भी विकल्प द्वारा यह व्रत ग्रहण कर सकता है। उसके लिए यह अनिवार्य नहीं है कि वह चारों ही प्रकारों एवं उनके भेद-प्रभेदों सहित समस्त प्रकार से पौषध ग्रहण करें। पौषधव्रत के विकल्प इस प्रकार हैं-

इसमें मुख्यत: चार भंग होते हैं- 1. एक के संयोग से होने वाले आठ विकल्प हैं, उनमें आहारादि चारों प्रकार के देश और सर्व के भेद गिनने से 8 विकल्प होते हैं।

2. दो के संयोग से होने वाले चौबीस विकल्प हैं-इनमें आहार एवं शरीर का योग करने पर देश-सर्व की अपेक्षा से चार विकल्प, इसी प्रकार आहार एवं ब्रह्मचर्य का योग करने पर देश सर्व की अपेक्षा से चार, आहार एवं अव्यापार का योग करने पर देश सर्व की अपेक्षा से चार, शरीर एवं ब्रह्मचर्य का योग करने पर देश सर्व की अपेक्षा से चार, शरीर एवं अव्यापार का योग करने पर देश-सर्व की अपेक्षा से चार, अव्यापार एवं ब्रह्मचर्य का योग करने पर देश-सर्व की अपेक्षा से चार-इस प्रकार 4 + 4 + 4 + 4 + 4 + 4 = 24 विकल्प होते हैं।

3. तीन के संयोग से बत्तीस विकल्प होते हैं-इनमें आहार, शरीर, ब्रह्मचर्य का योग करने पर देश-सर्व की अपेक्षा से आठ; आहार, शरीर, अव्यापार का योग करने पर देश-सर्व की अपेक्षा से आठ; आहार, ब्रह्मचर्य, अव्यापार का योग करने पर देश-सर्व की अपेक्षा आठ; शरीर, ब्रह्मचर्य, अव्यापार का योग करने पर देश-सर्व की अपेक्षा से आठ; इस प्रकार 8 + 8 + 8 + 8 = 32 भंग होते हैं।

4. चार के संयोग से सोलह विकल्प बनते हैं- इसमें आहार, शरीर, ब्रह्मचर्य और अव्यापार का योग करने पर देश-सर्व की अपेक्षा से सोलह विकल्प होते हैं।[9] आशय यह है कि व्रती-साधक इनमें से किसी भी विकल्पपूर्वक पौषधव्रत स्वीकार कर सकता है।

पौषधधारी के कर्त्तव्य

जैन धर्म में आत्मविकास की अनेक साधनाएँ हैं, उनमें पौषधव्रत का सर्वोत्तम स्थान है। इस व्रत का विधियुत पालन करनेवाला भव्यात्मा अतिशीघ्र मोक्ष सुख को प्राप्त कर लेता है। जैनाचार्यों ने पौषधव्रतधारी के लिए कुछ आवश्यक कर्त्तव्य बताए हैं जो निम्न हैं-

1. पौषधवाही को दिन में अकारण नहीं सोना चाहिए और चरवले का सिरहाना (तकिया) के रूप में उपयोग नहीं करना चाहिए।

2. अकारण एक स्थान से उठकर दूसरे स्थान में गमन नहीं करना चाहिए।

3. संसार या परिवार सम्बन्धी किसी प्रकार का वार्त्तालाप नहीं करना चाहिए।

4. मुख के आगे मुखवस्त्रिका का उपयोग रखकर धर्मचर्चा, सूत्रपाठ, आदि करने चाहिए।

5. अकारण दीवार का सहारा लेकर एवं पाँव फैलाकर नहीं बैठना चाहिए।

6. पौषधव्रत सम्बन्धी समस्त क्रियाएँ जैसे– प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन, देववंदन आदि यथाविधि उठ-बैठकर करनी चाहिए।

7. अपने स्थान से उठते या बैठते समय चरवले द्वारा शरीर एवं वस्त्र की प्रमार्जना करना चाहिए। यह प्रमार्जना जीवहिंसा से बचने के लिए की जाती है।

8. जहाँ तक संभव हो, पूरा समय एक स्थान पर ही बैठे रहना चाहिए।

9. अस्वस्थता होने पर भी आसन पर कदापि नहीं सोना चाहिए, क्योंकि आसन आराधना का साधन है।

10. आजकल एक नई परिपाटी यह भी देखी जाती है कि पौषधव्रती पौषधव्रत ग्रहण करने के पश्चात जिनदर्शन, जलग्रहण, लघुनीतिपरिष्ठापन आदि छोटे-बड़े कार्यों की किसी से अनुमति लेते हैं और उसके बाद ही उन क्रियाओं को करने का अधिकार मानते हैं। इस परम्परा का प्रचलन कब, क्यों और किस स्थिति में हुआ? अवश्य मननीय है। इस विधि के पीछे क्या प्रयोजन हो सकता है? यह भी अज्ञात है। अन्य परम्पराओं में यह प्रणाली जीवित है या नहीं? पूर्ण जानकारी के अभाव में कुछ कह पाना अशक्य है, किन्तु मूर्तिपूजक खरतरगच्छ एवं तपागच्छ-आम्नाय में यह अवश्य मौजूद है।

11. पौषधवाही को अपना पूरा समय धर्मध्यान में ही व्यतीत करना चाहिए और शरीर को स्थिर रखना चाहिए।

पौषधव्रत से होने वाले लाभ

पौषधव्रत स्वयं एक उच्चकोटि का अनुष्ठान है। इस व्रतानुष्ठान के माध्यम से व्रतधारी दैहिक, बौद्धिक, चैतसिक अनेक तरह के लाभ अर्जित करता है।

• सर्वप्रथम पौषधव्रत स्वीकार करनेवाला श्रावक आजीविका, खान-पान, शरीर शुश्रुषा एवं गृह कार्यों की चिन्ता से सर्वथा मुक्त हो जाता है।

• इन समस्त प्रकार की प्रवृत्तियों से दूर हटने के कारण उसे धर्म साधना के लिए भी पर्याप्त समय मिल जाता है।

• *पौषधव्रत के समय एकान्तस्थल या पौषधशाला में रहने के कारण* उसकी आत्मचिन्तनपरक दृष्टि स्वत: प्रकट होने लगती है। जब वह आत्मचिन्तन की ओर उन्मुख होता है, तब स्वयं की कमजोरियों का उसे अहसास होने लगता है तथा उनके निरसन का प्रयास प्रारम्भ हो जाता है।

• पौषधव्रत में प्राय: दूसरों के दोषों का चिन्तन नहीं होता है। उसकी दृष्टि स्व की ओर रहती है, अत: स्वदोषों का निष्कासन होता है।

• इस व्रत के द्वारा आत्मलोचन, आत्मनिरीक्षण, आत्मनिन्दा, आत्मगर्हा और आत्मशुद्धि का यथेष्ट लाभ प्राप्त किया जा सकता है।

• एक अहोरात्र के लिए आहार-त्याग करने से शरीर निरोगी बनता है, रोग के कीटाणु निष्क्रिय होकर समाप्त हो जाते हैं तथा वात, पित्त, कफ, श्लेष्म आदि का प्रकोप मन्द हो जाता है।

• एक अहोरात्रिपर्यन्त पवित्र एवं शान्त वातावरण में रहने से मानसिक-तनाव, टेंशन, डिप्रेशन आदि स्वत: दूर हो जाते हैं। उसकी वैचारिक एवं बौद्धिक क्षमताओं का भी विकास होता है। परिणामस्वरूप जीवन की तमाम गतिविधियाँ सम्यक् रूप से संचालित होती है।

• एक अहोरात्रिपर्यन्त शारीरिक एवं मानसिक-श्रम कम होने से आलस्य, प्रमाद आदि दोष मन्द पड़ जाते हैं तथा धर्माराधना के लिए साधक सक्रिय और सशक्त बन जाता है।

• उतने समय के लिए षड्निकाय-जीवों को अभयदान मिलता है, उससे उत्कृष्ट अहिंसा धर्म का पालन होता है।

• मुनि जीवन को अंगीकार न कर सकने वाले साधक 24 घंटों के लिए संयमी जीवन का आस्वाद प्राप्त करते हैं, आत्मिक-आनन्द का अनुभव करते हैं और चारित्रात्माओं की अनुमोदना कर अनन्तानन्त पाप कर्मों का क्षय कर लेते हैं।

अत: यह सुस्पष्ट है कि पौषधव्रत की साधना विविध दृष्टियों से गुणकारी और लाभकारी है।

पौषध का तात्कालिक फल

अभिधानराजेन्द्रकोश में पौषधव्रत का फल प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि मणियुक्त स्वर्ण के हजार खम्भों वाला और स्वर्ण के फर्श वाला एक जिनमन्दिर बनवाया जाए, तो उसकी तुलना में एक पौषध का फल

अधिक है। इसमें यह भी निर्दिष्ट है कि आठ प्रहर का एक पौषध करने पर 27,77,77,77,777,77 और 7/9 पल्योपम वर्ष का देव-आयुष्य बँधता है।[10]

पुरूषार्थसिद्धयुपाय में कहा गया है कि अप्रमत्त एवं शुभ भाव पूर्वक

पौषध करने से अशुभकर्म, दुःख आदि नष्ट हो जाते हैं और नरक-तिर्यंचगति का नाश होता है।[11] श्रावक के सामायिकपारण पाठ में कहा गया है कि श्रावक जब तक सामायिक या पौषध में रहता है, तब तक वह श्रमण तुल्य है।[12]

पौषधव्रतग्राही के लिए जानने योग्य कुछ बातें

पौषधव्रती के लिए जानने योग्य कुछ महत्त्वपूर्ण बिन्दू निम्नांकित हैं-

1. पौषधव्रत में आभूषण नहीं पहनना चाहिए।

2. पौषधव्रत ग्रहण करने के अनन्तर जिनालय के दर्शन अवश्य करना चाहिए। यदि दर्शन नहीं करते हैं, तो आलोचना आती है।

3. जिनालय से बाहर निकलते हुए तीन बार 'आवस्सही' एवं जिनालय में प्रवेश करते समय तीन बार 'निस्सिही' शब्द बोलना चाहिए। उपाश्रय से बाहर निकलते एवं प्रवेश करते समय भी ये शब्द अवश्य बोलने चाहिए।

4. पौषधव्रत में रहते हुए सौ कदम से अधिक दूर गए हों, तो तुरन्त उपाश्रय में आकर ईर्यापथिक-प्रतिक्रमण करना चाहिए और गमनागमन की आलोचना करना चाहिए।

5. जिस स्थान पर वस्त्र, उपधि, उपकरण आदि की प्रतिलेखना की हो, उस स्थान का प्रतिलेखना के अनन्तर प्रमार्जन करना (काजा निकालना) चाहिए। यदि प्रमार्जन करते हुए धान्य आदि के कण निकल जाएं या मृत जीव-जंतु के कलेवर दिख जाएं, तो उन्हें यतनापूर्वक परिष्ठापित करना चाहिए।

6. रात्रि के समय कानों में कुंडल (रूई का फोया) डालकर शयन करना चाहिए। यह विधि शरीररक्षा और जीवरक्षा के लिए की जाती है।

7. पौषधव्रत स्वीकार करने के पूर्व शरीर के मुख्य अंगों की शुद्धि अवश्य करनी चाहिए।

8. पौषधव्रत में पहने जाने वाले वस्त्र धुले हुए होना चाहिए।

9. पौषध में पुनः-पुनः वस्त्र परिवर्तन नहीं करना चाहिए तथा जो वस्त्र पहनकर आए हैं, उन्हीं वस्त्रों को प्रतिलेखित कर धारण कर लेना चाहिए।

10. पौषध ग्रहण करने का काल पूर्ण हो रहा हो, तो स्वयं को ही पौषध ले लेना चाहिए, परन्तु गुरू महाराज विराजित हों तो पुनः आवश्यक क्रियाएँ उनके समक्ष करनी चाहिए।

11. कई जिज्ञासु प्रश्न करते हैं कि जिनप्रतिमा की पूजा करने के पूर्व पौषध लेना चाहिए या बाद में? इस सम्बन्ध में आगम-प्रमाण या अन्य ग्रन्थों के प्रमाण तो देखने को नहीं मिले हैं। फिर भी गुरू-परम्परा द्वारा जैसा सुना गया है, वह यह कि यदि सर्वांग की शुद्धि की हो और पूजा करने का अखण्ड नियम हो, तो यथास्थिति पूजा कर लेना चाहिए। उसके बाद ही पौषधव्रत स्वीकार करना चाहिए, अन्यथा पूजा करने का कोई प्रयोजन स्पष्ट नहीं होता है। यदि सूक्ष्मतापूर्वक चिंतन करें तो स्पष्ट होता है कि पूर्वकाल में जब त्रिकाल पूजा का विधान था और मध्याह्न काल में अष्टप्रकारी पूजा सम्पन्न की जाती थी तब पौषध से पूर्व जल पूजा आदि करने का प्रश्न ही नहीं उठता। पौषध व्रती को सर्व सावद्य योगों का त्याग करना होता है अतः पौषध से पूर्व देहशुद्धि का कोई हेतु समझ में नहीं आता।

12. पौषधग्राही को पौषध व्रत सम्बन्धी अठारह दोष, पाँच अतिचार और सामायिक में लगने वाले बत्तीस दोष अवश्य टालने चाहिए। नियमतः पौषधव्रत अंगीकार करने के बाद ही रात्रिक-प्रतिक्रमण करना चाहिए। वर्तमान में कुछ लोग प्रतिक्रमण, देववंदन एवं पूजा करने के बाद पौषध उच्चरते हैं, जो अपवादमार्ग है।

यह विवेचन जीतव्यवहार के अनुसार किया गया है। किसी भी मौलिक-ग्रन्थ में उक्त वर्णन उपलब्ध नहीं होता है, केवल अर्वाचीन कृतियों में उल्लिखित है। इस विषयक विस्तृत जानकारी अपेक्षित हो, तो 'सेनप्रश्न' का तृतीय उल्लास पठनीय है।

पौषधव्रत के अठारह दोष

जो व्रत धर्म की पुष्टि करता है, उसे पौषधव्रत कहते हैं अथवा अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या और पूर्णिमा-रूप पर्वदिन धर्मवृद्धि के कारण होने से पौषध कहलाते हैं। इन पर्वदिनों में उपवास करना पौषधोपवास-व्रत है। यह व्रत चार प्रकार का है- 1. आहार पौषध 2. शरीर पौषध 3. ब्रह्मचर्य पौषध 4. अव्यापार पौषध। आहार का त्याग करके धर्म का पोषण करना आहारपौषध है। स्नान, उबटन, विलेपन, पुष्प, गन्ध, ताम्बूल, आभूषण-रूप शरीर सत्कार का त्याग करना शरीरपौषध है। अब्रह्म(मैथुन) का त्याग कर कुशल अनुष्ठानों के सेवन द्वारा धर्मवृद्धि करना ब्रह्मचर्यपौषध है। कृषि, वाणिज्यादि सावद्य व्यापारों का त्याग कर धर्म का पोषण करना अव्यापारपौषध है।

इस पौषधव्रत में सामान्यतः अठारह प्रकार के दोषों की संभावनाएँ रहती है जो निम्न हैं-

1. पौषध के निमित्त अधिक मात्रा में सरस आहार करना। वर्तमान में 'धारणा' करने-करवाने की परिपाटी इसी दोष से सम्बन्धित है।
2. पौषध की पूर्वरात्रि में मैथुन-सेवन करना।
3. पौषध के लिए नख, केश आदि का संस्कार करना।
4. पौषध के निमित्त वस्त्र धोना या धुलवाना।
5. पौषध के लिए शरीर-शुश्रुषा करना।
6. पौषध के निमित्त आभूषण पहनना।

पौषधव्रत लेने के पहले दिन उक्त छः कृत्यों को करने से पौषध दूषित होता है, इसलिए ये कृत्य नहीं करने चाहिए।

7. अव्रती से वैयावृत्य करवाना जैसे-अव्रती द्वारा लाया गया पानी पीना। कदाच् वह अनुपयोगपूर्वक लाया गया हो, तो हिंसादि कई प्रकार के दोष लग सकते हैं।
8. शरीर का मैल उतारना।
9. बिना पूंजे शरीर खुजलाना।
10. अकाल में निद्रा लेना जैसे-दिन में नींद लेना, प्रहर रात्रि बीतने से पहले सो जाना।

11. अप्रमार्जित या अप्रतिलेखित भूमि पर मल-मूत्र आदि परिष्ठापित करना।

12. निन्दा, विकथा और हंसी-मजाक करना।

13. सांसारिक बातचीत करना।

14. स्वयं डरना या दूसरों को डराना।

15. कलह करना।

16. मुखवस्त्रिका का उपयोग किए बिना अयतनापूर्वक बोलना।

17. स्त्री या पुरूष के अंगोपांग निहारना।

18. शरीर को अकारण हिलाना-डुलाना अथवा सांसारिक संबंधियों को काका, मामा आदि के नाम से सम्बोधित करना।[13]

सात से अठारह तक के बारह दोष पौषध लेने के बाद लगते हैं। पौषध के इन अठारह दोषों का परिहार करके शुद्ध पौषध करना चाहिए।

यदि अठारह दोषों का ऐतिहासिक या तुलनापरक-दृष्टि से विचार करें, तो कहा जा सकता है कि इन दोषों की चर्चा मात्र अर्वाचीन संकलित कृतियों में प्राप्त होती है। जैनागमों में पौषधव्रत में लगने वाले दोषों के लिए पाँच अतिचार कहे गए हैं।

पौषधव्रतधारी एवं पौषधव्रतप्रदाता की योग्यताएँ

जैनाचार्यों ने सम्यक्त्वव्रत, बारहव्रत आदि धारण करने वाले साधकों में कुछ योग्यताओं का होना आवश्यक माना है। उसी तरह पौषधव्रती एवं पौषध प्रदाता के लिए भी किंचित् योग्यताएँ अपेक्षित हैं।

यदि इस सम्बन्ध में जैन-साहित्य का अवलोकन करें, कि पौषधव्रतग्राही को किन गुणों से युक्त होना चाहिए? तो यह वर्णन प्राचीन-अर्वाचीन किसी भी ग्रन्थ में लगभग नहीं है। संभवत: इतना कह सकते हैं कि बारहव्रत ग्रहण किया हुआ श्रावक ही अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्वदिनों में पौषधव्रत स्वीकार कर सकता है, अत: बारहव्रतधारी श्रावक के लिए जिन योग्यताओं का होना अपेक्षित माना गया है, वे ही योग्यताएँ पौषधव्रतग्राही श्रावक में भी होनी चाहिए। इसी प्रकार पौषधव्रत प्रदाता गुरू भी उन योग्यताओं से सम्पन्न होने चाहिए, जो सम्यक्त्वव्रत आदि का आरोपण करवाने वाले गुरू के लिए निर्दिष्ट की गई हैं।

पौषधव्रत हेतु शुभदिन का विचार

जिस प्रकार सम्यक्त्वव्रत, बारहव्रत, दीक्षाव्रत, उपस्थापना आदि स्वीकार करने के लिए शुभदिन आदि का होना अत्यन्त आवश्यक माना गया है, वैसा नियम पौषधव्रत के विषय में नहीं है।

इस सम्बन्ध में सामान्य रूप से यह निर्देश प्राप्त होता है कि पौषध की आराधना पर्वदिनों में करना चाहिए और इस व्रत को प्रात:काल में ग्रहण करना चाहिए। प्रभातकाल में भी यह व्रत सूर्योदय के पूर्व ग्रहण करना चाहिए या सूर्योदय के बाद इस विषय में कोई प्रामाणिक आधार प्राप्त नहीं होता है। तत्त्वत: हाथ की रेखाएँ स्पष्ट रूप से दिखने लग जाएं, उस समय से लेकर दिन के एक प्रहर तक भी यह व्रत ग्रहण किया जा सकता है।

जैन ग्रन्थों में इस व्रत का काल आठ प्रहर माना गया है। इस अपेक्षा से भी कह सकते हैं कि पौषधव्रत किस समय स्वीकार करना चाहिए? इसका निश्चित काल अवर्णित है। पौषधव्रत का पालन कितनी अवधि तक के लिए किया जाना चाहिए, यही एकमात्र सूचन देखने को मिलता है, किन्तु इतना नियम अवश्य है और देखा भी जाता है कि जो साधक आठ प्रहर का पौषधव्रत लेने वाला हो, वह प्रथम दिन जिस समय पर पौषध ग्रहण करे दूसरे दिन उसी समय पर पौषध पूर्ण करना चाहिए। उपवास की दृष्टि से देखें, तो सूर्योदय से लेकर दूसरे दिन के सूर्योदय तक इस व्रत का पालन करना चाहिए। परम्परा से इतना अवश्य देखा जाता है कि प्रात:काल में पौषध लेने वाले साधक अपनी सुविधानुसार पाँच बजे से लेकर नौ बजे तक में ग्रहण कर लेते हैं और सायंकाल को पौषध लेने वाले भाई-बहिन सूर्यास्त होने से एक प्रहर पूर्व भी व्रत ग्रहण कर सकते हैं। उत्सर्गत: पौषधव्रत का ग्रहण आठ प्रहर के लिए ही होना चाहिए, किन्तु वर्तमान में पाँच प्रहर, चार प्रहर और आठ प्रहर तीनों प्रकार की परम्पराएँ प्रवर्तित हैं। यह परिवर्तन काल प्रभाव से आया है।

सारतत्त्व यह है कि पौषधव्रत प्रभात काल में आठ प्रहर की अपेक्षा से ग्रहण किया जाना चाहिए, यही शास्त्रीय विधि-नियम है।

आचार्य देवेन्द्रमुनि ने[14] लिखा है कि जो पौषध आठ प्रहर के लिए ग्रहण किया जाता है, वह प्रतिपूर्ण पौषध है। दिगम्बराचार्य अमृतचन्द्र ने

पौषधोपवासव्रत-ग्रहण के सम्बन्ध में चिन्तन करते हुए उल्लेख किया है कि पौषधव्रतग्राही श्रावक सर्वारम्भों का त्याग कर, देहादि के प्रति ममत्वरहित होकर प्रथम दिन के आधे भाग से उपवास ग्रहण करें। फिर एकान्त वसति में जाकर उस दिन को और दूसरे दिन को धर्मध्यान में व्यतीत करें। तीसरे दिन आवश्यक क्रियाकलाप कर प्रासुक द्रव्यों से वीतराग की उपासना करते हुए तृतीय दिन का आधा भाग व्यतीत करें। इस प्रकार सोलह प्रहर तक समस्त सावद्य-क्रियाओं एवं व्यापारों का त्याग करता हुआ पाँच आस्रवद्वारों का भी सेवन नहीं करें। संभवत: यह विधि दिगम्बर-परम्परा में प्रचलित है।

अमोलकऋषिजी ने इस विषय में यह लिखा है कि चक्रवर्ती पुरूष अपने लौकिक कार्यों को सिद्ध करने के लिए द्रव्य तप और द्रव्यपौषध करते हैं। पौषधव्रत के साथ तेरह तेलों की तपस्यापूर्वक षट्खण्ड के अधिपति बन जाते हैं। वासुदेव आदि भी पौषधसहित एक तेला करके देवों के द्वारा वांछित कार्य सिद्ध करते हैं।[15]

इस विवरण से ज्ञात होता है कि पौषधव्रत की मर्यादा आठ प्रहर या सोलह प्रहर से अधिक भी हो सकती है। इसे उत्कृष्ट अवधि कहा जा सकता है तथा जघन्य अवधि कम से कम चार या पाँच प्रहर होना चाहिए, यह सिद्ध होता है।

पौषध किन तिथियों में करें?

उपासकदशाटीका में द्वितीया, पंचमी, अष्टमी, एकादशी एवं चतुर्दशी को पर्व तिथि माना हैं।[16] रत्नकरण्डकश्रावकाचार[17], कार्तिकेयानुप्रेक्षा[18] और श्रावकप्रज्ञप्तिटीका[19] में अष्टमी एवं चतुर्दशी को पर्व तिथि कहा है। योगशास्त्र[20] व तत्त्वार्थभाष्य[21] में अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा एवं अमावस्या को पर्व तिथि स्वीकार किया है। इन तिथियों के दिनों में पौषधव्रत का विशेष रूप से पालन करना चाहिए।

पौषधव्रत के लिए आवश्यक उपकरण

पौषधव्रत धारण करने वाले गृहस्थ के लिए निम्न उपकरण आवश्यक माने गए हैं-

1. चरवला 2. मुखवस्त्रिका 3. कटासन 4. धोती 5. सूत का कंदोरा 6. उत्तरासन (खेस) 7. लघुनीति के समय पहनकर जाने वाला वस्त्र 8. श्लेष्म

आदि निकालने का वस्त्रखंड 9. ऊनी शाल 10. दंडासन 11. माला 12. पुस्तक 13. ठवणी आदि।

रात्रि अथवा अहोरात्रि पौषध धारण करने वाले गृहस्थ के लिए अग्रलिखित उपकरण मुख्य कहें गए हैं-

1. उपर्युक्त सभी प्रकार के उपकरण। इसके सिवाय 2. उत्तरपट्ट (बिछाने का सूती वस्त्र) 3. संथारा (बिछाने का ऊनी वस्त्र) 4. कुंडल (रूई का फोया) 5. बड़ीनीति के लिए लोटा, चूना डाला हुआ पानी आदि।

पौषधव्रत की ऐतिहासिक अवधारणा

जैन परम्परा में सावद्यकारी-प्रवृत्तियों से निवृत्ति पाने के लिए एवं मुनि जीवन की चर्या का आस्वाद प्राप्त करने के लिए पौषधव्रत का विधान है। इसके माध्यम से यह सुनिश्चित किया जाता है कि पौषधव्रती श्रावकधर्म का सच्चा उपासक है तथा श्रावकधर्म की पवित्र आराधना करने का इच्छुक है।

जैन धर्म में पौषधव्रती को श्रमणतुल्य माना गया है। कारण कि पौषधव्रती की समस्त चर्याएँ एवं क्रियाकलाप मुनि जीवन की भाँति ही सम्पन्न होते हैं। इस व्रत का महत्त्व प्राचीनकाल से लेकर आज तक यथावत देखा जाता है। काल-प्रभाव से भले ही इस व्रत के आराधक गिनती मात्र रह गए हों, किन्तु साधना की दृष्टि से अब भी यह व्रत जनसाधारण के लिए उपासना का केन्द्र बना हुआ है। अन्य व्रतों की अपेक्षा इस व्रत में त्याग की कसौटी विशेष रूप से होती है।

पौषधव्रत जैन परम्परा की भाँति बौद्ध-परम्परा में भी प्रारम्भ से ही गृहस्थ उपासक का आवश्यक कर्त्तव्य रहा है। दोनों में इसे स्वीकार करने की तिथियाँ भी एक ही कही गईं हैं। सुत्तनिपात में कहा गया है कि प्रत्येक पक्ष की चतुर्दशी, पूर्णिमा, अष्टमी और प्रतिहार्यपक्ष में उपोसथव्रत सम्यक् रूप से करना चाहिए।[22] उनमें उपोसथधारी के लिए निम्न नियमों का पालन करना जरूरी माना गया है जो प्राय: जैन-परम्परा के समान ही हैं।

1. जीव हिंसा नहीं करना। 2. चोरी नहीं करना। 3. असत्य नहीं बोलना। 4. मादकद्रव्यों का सेवन नहीं करना। 5. मैथुन-सेवन नहीं करना 6. रात्रि में विकाल-भोजन नहीं करना। 7. माल्य एवं गंध का सेवन नहीं करना। 8. काष्ठ

या जमीन पर शयन करना। इन्हें उपोसथशील कहा गया है।[23] महावीर की परम्परा में भोजनसहित जो पौषध किया जाता है, वह देशावगासिकव्रत कहलाता है। ईसाई एवं यहूदियों में मूसा के 'दस आदेशों' या 'धर्म आज्ञाओं' में एक आज्ञा यह भी है कि सप्ताह में एक दिवस विश्राम लेकर पवित्र आचरण करना। इस नियम को उपोसथ या पौषध का ही एक रूप मान सकते हैं, भले ही वह आज लुप्त हो गया हो।[24] इस तरह पौषधव्रत एक आध्यात्मिक एवं प्राचीनतम साधना है।

जहाँ तक प्राचीन जैन आगमों का प्रश्न है, उनमें हमें पौषधव्रत सम्बन्धी किसी विधि-विधान के उल्लेख नहीं मिलते हैं। कालक्रम की दृष्टि से देखा जाए, तो स्थानांगसूत्र में गृहस्थ श्रावक को भारवाहक श्रमिक की उपमा देकर चार प्रकार के भारवाहकों में तीसरे प्रकार के भारवाहक श्रमिक को पौषधोपवासव्रत के समान बताया है, इतनी चर्चा मात्र मिलती है।[25] भगवतीसूत्र में इस व्रत को 'पौषधोपवास' के नाम से निर्दिष्ट किया है।[26]

उपासकदशासूत्र में मात्र इतना उल्लेख मिलता है कि आनन्द आदि श्रावकों ने पौषधव्रत अंगीकार किया तथा कामदेव, चूलनीपिता, सुरादेव, शकडालपुत्र आदि छः उपासकों के लिए यह कहा गया है कि वे पौषधशाला में साधनारत थे, उन्हें विचलित करने के लिए देव परीक्षा लेता है, मृत्यु का भय दिखाता है, अन्ततः उनमें से चार श्रावक विचलित होकर पुनः संभल जाते हैं एवं दो उपासक अडिग रहते हैं। साथ ही पौषधव्रत सम्बन्धी पाँच अतिचारों का उल्लेख प्राप्त होता है। जैसे-

1. पौषधयोग्य स्थान आदि का भली प्रकार से निरीक्षण नहीं करना।
2. पौषधयोग्य शय्या आदि का सम्यक् प्रमार्जन नहीं करना।
3. मल मूत्र त्यागने योग्य स्थान का निरीक्षण नहीं करना।
4. मल-मूत्र की भूमि का प्रमार्जन किए बिना ही उसका उपयोग करना।
5. पौषधोपवास का सम्यक् प्रकार से पालन नहीं करना।[27]

इस वर्णन से सूचित होता है कि आगम युग में पौषधव्रत ग्रहण करने की एक सुनियोजित विधि का अभाव था अथवा तत्कालीन समाज में इसकी पर्याप्त जानकारी होने के कारण इसे लिपिबद्ध करने की आवश्यकता महसूस नहीं की गई होगी।

जहाँ तक निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि एवं टीका साहित्य का प्रश्न है, वहाँ हमें उपासकदशासूत्र की टीका में 'पौषधोपवास' का स्वरूप मात्र दृष्टिगत होता है।[28] आवश्यकचूर्णि आदि ग्रन्थों में भी पौषधव्रत का विवेचन है, किन्तु व्रतग्रहण सम्बन्धी विधि-विधान को लेकर कोई निर्देश नहीं है।

यदि हम आगमयुग के अनन्तर मध्यकालीन (छठवीं से बारहवीं शती) ग्रन्थों का अध्ययन करें, तो वहाँ पौषधव्रत के प्रकार एवं स्वरूप आदि की चर्चा करने वाले कई ग्रन्थ देखें जा सकते हैं, परन्तु उनमें भी विधि-विधान के कोई निर्देश प्राप्त नहीं हैं। हाँ, इतना उल्लेख अवश्य किया गया है कि यह व्रतानुष्ठान विधिपूर्वक करना चाहिए, किन्तु इसकी विधि क्या है? इस बारे में 11 वीं शती तक के सभी ग्रन्थ मौन हैं। यद्यपि हरिभद्रसूरिरचित श्रावकधर्मप्रकरण, श्रावकप्रज्ञप्ति, धर्मबिन्दुप्रकरण, पंचाशक प्रकरण आदि, हेमचन्द्राचार्यकृत योगशास्त्र, दिगम्बर-परम्परा के विविध श्रावकाचार आदि श्रावकधर्म का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ हैं तथा इनमें श्रावक के विविध कृत्यों, चर्याओं एवं व्रतों का सविस्तार वर्णन किया गया है यद्यपि इनके विधि-विधान के सम्बन्ध में कोई निर्देश नहीं है।

इससे फलित होता है कि जैन धर्म में 11 वीं शती तक पौषधव्रत सम्बन्धी विधि-विधान प्रतिष्ठित नहीं हुए थे। जब हम आचार्य हरिभद्रसूरि के परवर्ती ग्रन्थों को देखते हैं, तो वहाँ इस विधि की सर्वप्रथम चर्चा जिनवल्लभसूरिकृत पौषधविधिप्रकरण में पढ़ने को मिलती है। उसके बाद जैन परम्परा के विविध विधि-विधानों का प्रतिपादन करने वाले तिलकाचार्यसामाचारी, सुबोधासामाचारी, विधिमार्गप्रपा, आचारदिनकर आदि ग्रन्थों में यह स्वरूप दिखाई देता है। वर्तमान में पौषधव्रत से सम्बन्धित जो भी विधि-विधान किए जाते हैं, वे इन्हीं ग्रन्थों के आधार से संकलित किए गए हैं। उनमें भी विधिमार्गप्रपा और आचारदिनकर के विधि-विधान अधिक मान्य रहे हैं। ये ग्रन्थ खरतरगच्छ के महान् आचार्यों द्वारा रचित हैं। अब प्रसंगानुसार पौषधविधि कहते हैं-

पौषधग्रहण विधि का प्रचलित स्वरूप

खरतरगच्छ परम्परानुसार जिस दिन श्रावक या श्राविका को पौषधव्रत ग्रहण करना हो, उस दिन वह समस्त प्रकार के पापमय व्यापारों से निवृत्त होकर

पौषधशाला में अथवा साधु के समीप पौषध सम्बन्धी उपकरणों को साथ लेकर जाए।

• उसके बाद गुरू महाराज हों, तो उनके स्थापनाचार्य के सम्मुख, अन्यथा स्वयं के स्थापनाचार्य के समक्ष एक खमासमणसूत्रपूर्वक ईर्यापथप्रतिक्रमण करें अर्थात इरियावहि०, तस्स०, अन्नत्थसूत्र बोलकर चार नवकार का कायोत्सर्ग करें और प्रकट में लोगस्ससूत्र बोलें।[29]

• उसके बाद पुनः एक खमासमण देकर **'इच्छाकारेण संदिसह भगवन्! पोसह मुँहपत्ति पडिलेहुं ?' फिर 'इच्छं'** कहकर पौषधव्रत ग्रहण करने के निमित्त मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करें।[30]

• उसके बाद एक खमासमण देकर **'इच्छा.संदिसह भगवन्! पोसह संदिसाहुं ' इच्छं'** कहें।

❁ वर्तमान परम्परा में गुरू भगवन्त हों, तो **'संदिसावेह' 'ठावेह'**-ऐसा आदेश देते हैं, किन्तु मूलविधि में ऐसा पाठ नहीं है।

• उसके बाद खमासमणसूत्रपूर्वक वंदन करके दोनों हाथों में चरवला और मुखवस्त्रिका को ग्रहण करते हुए तीन नमस्कारमन्त्र बोलें। उसके बाद अर्धावनत होकर, यदि गुरू भगवन्त हों, तो **'इच्छकारी भगवन्! पसाय करी पोसह दंडक उच्चरावोजी'**-ऐसा कहकर पौषध की प्रतिज्ञा करवाने की प्रार्थना करें। तब गुरू या कोई ज्येष्ठ श्रावक हो तो उनसे, अन्यथा स्वयं ही 'पौषधदंडक' का तीन बार उच्चारण करें। पौषधग्रहण का पाठ यह है-

करेमि भंते पोसहं ! आहार पोसहं देसओ सव्वओ वा, सरीर सक्कारपोसहं सव्वओ. बंभचेर पोसहं सव्वओ, अव्वावारपोसहं सव्वओ। चउव्विहे पोसहे सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जाव अहोरत्तं [31] पज्जुवासामि। दुविहं तिविहेणं, मणेणं वायाए काएणं, न करेमि न कारवेमि, तस्स भंते पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।

भावार्थ- हे भगवन् ! मैं एक अहोरात्र के लिए आहार का देश से तथा शरीर सत्कार नहीं करने का, अब्रह्मसेवन न करने का और व्यापार न करने का सर्वथा त्याग करता हूँ। मेरा पौषधव्रत जब तक रहेगा, तब तक गृहीत नियमों का पालन दो करण एवं तीन योग-पूर्वक करूंगा साथ ही अतीतकाल में किए गए सावद्ययोग का प्रतिक्रमण करता हूँ, निन्दा करता हूँ, गुरूसाक्षी से

विशेष निन्दा करता हूँ और अपनी आत्मा को सावद्य पापों से दूर करता हूँ।

सामायिकग्रहण-विधि

• उसके बाद एक खमासमणपूर्वक **'इच्छा. संदि. भगवन्! सामायिक लेवा मुँहपत्ति पडिलेहूं?' 'इच्छं'** कहकर मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करें। फिर एक खमासमण देकर **'इच्छा. संदि. भगवन्! सामायिक संदिसाहूं?' 'इच्छं'** कहें। पुनः एक खमासमण देकर **'इच्छा. संदि. भगवन् सामायिक ठाऊं?' 'इच्छं'** कहें। फिर एक खमासमण देकर तीन नमस्कारमन्त्र बोलें और पौषध के समान ही तीन बार 'सामायिक लेने का पाठ' [32] उच्चारित करें।

• तदनन्तर दो खमासमणपूर्वक वर्षाऋतु का समय हो, तो कटासन का आदेश लें तथा शेष आठ मास का समय हो, तो पादप्रोंछन का आदेश लें। उसके बाद रात्रिक प्रतिक्रमण का समय न हों, तब तक अप्रमत्तभाव से स्वाध्याय में रत रहें।

❁ वर्तमान परम्परा में 'पादप्रोंछन' का आदेश लेने की प्रवृत्ति लुप्त सी हो गई है। प्रथम 'सज्झाय' का आदेश लेते हैं। फिर 'कटासन' का आदेश लेते हैं। इसके बाद दो खमासमण पूर्वक 'बहुवेलं' का आदेश भी लेते हैं, किन्तु विधिमार्गप्रपा जैसे ग्रन्थों में इसका उल्लेख नहीं है।

• पूर्वोक्त विधिपूर्वक पौषधग्रहण करने के बाद प्रतिक्रमण का समय हो जाए, तो प्रातःकालीन प्रतिक्रमण करें।

❁ आजकल प्रायः पौषध करने वाले भाई-बहिन सुबह जल्दी उठकर रात्रिक प्रतिक्रमण कर लेते हैं। उसके बाद उपाश्रय जाकर गुरू के समक्ष पौषधव्रत ग्रहण करते हैं, किन्तु शास्त्रोक्त नियम के अनुसार पौषधव्रत ग्रहण करने के पश्चात् रात्रिक प्रतिक्रमण करना चाहिए। कई जन मूलविधि के अनुसार भी प्रतिक्रमण आदि क्रियाएँ करते हैं।

प्रातःकालीन प्रतिलेखन-विधि

• विधिमार्गप्रपा के अनुसार पौषधवाही प्रतिलेखन का समय हो जाने पर एक खमासमण देकर **'इच्छा. संदि. भगवन्! अंग पडिलेहणं संदिसावेमि ?' 'इच्छं'** पुनः दूसरा खमासमण देकर **'इच्छा. सदि. भगवन्!**

पडिलेहणं करेमि?' 'इच्छं' कहकर क्रमशः मुखवस्त्रिका (50 बोल) आसन(25 बोल), चरवला(10बोल), कंदोरा(10 बोल), धोती(25 बोल) की प्रतिलेखना करें। यहाँ श्राविकाएँ क्रमशः मुखवस्त्रिका, आसन, पेटीकोट, ब्लाउज, साड़ी की प्रतिलेखना करें।

❁ वर्तमान में 'पडिलेहण' के दो आदेश लेकर मुखवस्त्रिका, आसन एवं चरवला की प्रतिलेखना करते हैं और 'अंगपडिलेहण' के दो आदेश लेकर कंदोरा और धोती की प्रतिलेखना करते हैं।

• तदनन्तर पौषधवाही एक खमासमण देकर **'इच्छाकारी भगवन् ! पसायकारी पडिलेहण पडिलेहावोजी, इच्छं'** कहकर स्वयं के स्थापनाचार्यजी हों, तो तेरह बोल से उसकी प्रतिलेखना करें। यदि गुरू के स्थापनाचार्य हो, तो पूर्वप्रतिलेखित होने से पुनः प्रतिलेखन करने की जरूरत नहीं रहती है।

• उसके बाद पुनः एक खमासमण देकर **'इच्छा. संदि. भगवन्! उपधि मुँहपत्ति पडिलेहूं?' 'इच्छं'** कहकर उपधि प्रतिलेखन के निमित्त मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करें। फिर एक खमासमणपूर्वक **'इच्छा. संदि. भगवन् ! ओहि पडिलेहण संदिसाहूं? 'इच्छं'** कहकर क्रमशः कामली (25 बोल), उत्तरासंग-दुपट्टा (25 बोल) आदि वस्त्रों की प्रतिलेखना करें। सायंकालीन प्रतिलेखना में प्रथम उत्तरासंग, फिर कंबल आदि इस क्रम से प्रतिलेखना करें।

• तदनन्तर पौषधवाही दंडासन द्वारा पौषधशाला का प्रमार्जन करें। यदि प्रमार्जन करते हुए जीव-जंतु निकले हों या धान्यादि-कण दिखे हों, तो उनका एकान्तस्थल में विधिपूर्वक परित्याग करें।

• तत्पश्चात् एक खमासमणपूर्वक पूर्ववत् ईर्यापथ प्रतिक्रमण करें। फिर एक खमासमणपूर्वक **'इच्छा. संदि. भगवन्! सज्झाय संदिसाहुं?' 'इच्छं'** पुनः दूसरा खमासमण देकर **'इच्छा संदि. भगवन्! सज्झाय करूँ?' 'इच्छं'** कहकर स्वाध्याय में प्रवृत्त बनें।

❁ यहाँ वर्तमान की खरतरगच्छ-परम्परा में स्वाध्याय का आदेश लेकर एक नमस्कारमन्त्र पूर्वक उपदेशमाला[33] की सज्झाय बोलते हैं। फिर अन्त में एक नमस्कारमन्त्र कहते हैं। यदि गुरू का सान्निध्य हों, तो 'धम्मोमंगल' की पाँच गाथा सज्झायरूप में सुनते हैं।

यह पौषधग्रहणविधि खरतरगच्छ की सामाचारी के अनुसार कही गई है। अन्य परम्पराओं में पौषधविधि का स्वरूप यथा जानकारी इस प्रकार है-

तपागच्छ परम्परा में पौषधग्रहण की विधि लगभग पूर्ववत् जाननी चाहिए। कुछ भिन्नताएँ इस प्रकार हैं-1. इनमें 'पौषधदंडक' को एक बार उच्चारित करते हैं 2.प्रतिलेखन में 'अंगपडिलेहण' करने का आदेश नहीं लेते हैं 3. वसतिप्रमार्जनविधि करने के बाद देववंदन करते हैं, फिर सज्झाय का आदेश लेते हैं जबकि खरतरगच्छ-परम्परा में प्रथम क्रम पर सज्झाय विधि, दूसरे क्रम पर उग्घाड़ापौरूषीविधि और तीसरे क्रम पर देववन्दन विधि होती है[34] 4. स्वाध्याय के रूप में 'मन्नहजिणाणं[35] का पाठ बोलते हैं।

अचलगच्छीय परम्परा में पौषधग्रहणविधि का यह स्वरूप है-

1. प्रथम 'सामायिकग्रहणविधि' के अनुसार 'करेमि भंते' तक वही विधि करते हैं, केवल 'सामायिक' शब्द के स्थान पर 'पौषध' शब्द बोलते हैं, 'करेमिभंते' के स्थान पर 'पौषधदंडक' का उच्चारण करते हैं 2. फिर खमासमण पूर्वक 'पोसह सामायिक संदिसाहूं' 'पोसह सामायिक ठाऊं'-ये दो आदेश लेकर, पौषध-सामायिक में स्थिर होने के लिए दाहिने हाथ को नीचे स्थापित कर तीन नवकार गिनते हैं। फिर खड़े होकर एक बार नमस्कारमन्त्र बोलकर 'करेमिभंते' का पाठ उच्चारित करते हैं 3. फिर दो-दो खमासमणपूर्वक क्रमशः 'बइसणं' और 'सज्झायं' का आदेश लेते हैं तथा उत्कटासन की मुद्रा में बैठकर एवं दोनों हाथ जोड़कर स्वाध्याय के निमित्त तीन नवकारमन्त्र बोलते हैं 4. फिर दो खमासमण पूर्वक 'बहुवेलं' का आदेश लेते हैं।

प्रातःकालीन प्रतिलेखना विधि इस प्रकार करते हैं- 5. प्रथम एक खमासमण देकर **'राई पडिलेहण संदिसाहूं'**, पुनः एक खमासमण देकर **'राई पडिलेहण करूँ'**- ये दो आदेश लेकर ईर्यापथ प्रतिक्रमण करते हैं

6. फिर आदेश पूर्वक उत्तरासंग[36] के छेड़े का (वस्त्र के एक भाग का) प्रतिलेखन कर क्रमशः उत्तरासंग, चरवला, कंदोरा, धोती, कटासन-इन पाँच की प्रतिलेखना करते हैं 7. फिर उस भूमि का प्रमार्जन कर ईर्यापथ प्रतिक्रमण करते हैं 8. तदनन्तर तेरह बोलपूर्वक स्थापनाचार्य की प्रतिलेखना करते हैं 9. फिर दो आदेशपूर्वक उपधि की प्रतिलेखना करते हैं, वहाँ के स्थान का काजा

निकालते हैं और पुन: ईर्यापथप्रतिक्रमण करते हैं 10. फिर सज्झाय का आदेश लेकर 'अरिहंतामंगलं'[37] की सज्झाय बोलते हैं। फिर अविधि-आशातना के लिए 'मिच्छामि दुक्कडं' देते हैं।[38]

पायच्छंदगच्छ की परम्परा में पौषधग्रहणविधि का स्वरूप प्राय: तपागच्छ-आम्नाय के समान ही है। इसमें विशेष यह है कि 1. 'पडिलेहणं संदिसावेमि' 'पडिलेहणं करेमि'-ये दो आदेश लेते हैं 2. इसी प्रकार 'अंगपडिलेहण' के दो आदेश लेते हैं 3. पौषध ग्रहण करने के बाद 'बहुवेलं' का आदेश लेते हैं। फिर प्रतिलेखना विधि प्रारम्भ करते हैं 4. 'बइसणं' एवं 'सज्झाय' का आदेश अन्त में लेते हैं 5. सज्झाय के स्थान पर 'अरिहंतदेवों[39] की पाँच गाथा बोलते हैं 6. सज्झाय पाठ सुनने के बाद गुरू को द्वादशावर्त्तवन्दन कर प्रत्याख्यान ग्रहण करते हैं। फिर देववंदन आदि करते हैं।[40]

त्रिस्तुतिक परम्परा में पौषधग्रहणविधि एवं प्रात: प्रतिलेखनविधि लगभग तपागच्छ-परम्परा के समान की जाती है। विशेष अन्तर यह है कि 'पडिलेहण' का आदेश लेने के बाद क्रमश: मुखवस्त्रिका, चरवला, दंडासन, धोती, उत्तरासन और आसन-इन छ: वस्तुओं की प्रतिलेखना करते हैं।[41]

स्थानक परम्परा में पौषधग्रहणविधि इस प्रकार कही गई है-जिस दिन पौषधव्रत करना हो, उससे पूर्व दिन में एकासना करें। अहोरात्रि ब्रह्मचर्य का पालन करें। दूसरे दिन पौषधशाला या एकान्त पवित्र स्थान में जाकर एक मुहूर्त्त रात्रि शेष रहने पर रात्रिक प्रतिक्रमण करें। फिर आसन बिछाकर 'इरियावहिया' एवं 'तस्सउत्तरी' का पाठ बोलकर इरियावहिया का कायोत्सर्ग करें। नमस्कारमन्त्र के उच्चारण के साथ कायोत्सर्ग पूर्णकर लोगस्ससूत्र बोलें। फिर साधु-साध्वी हों, तो उनके मुख से पौषधदंडक उच्चारित करवाएं, अन्यथा पूर्व या उत्तरदिशा की ओर मुख करके और पंचपरमेष्ठी को वन्दना करके निम्न पाठ से स्वयं ही पौषधव्रत ग्रहण करें। चौविहार उपवासपूर्वक आठ प्रहर का पौषध करने वाले गृहस्थ के लिए पौषधग्रहण का यह पाठ है-

ग्यारहवां पडिपुण्ण पौषधव्रत, चउव्विहंपि आहारं असणं, पाणं, खाइमं, साइमं, पच्चक्खामि, अबंभं पच्चक्खामि, मालावण्णगविलेवणं पच्चक्खामि, मणिसुवण्णं पच्चक्खामि, सत्थमुसलादिसावज्जं जोगं

पच्चक्खामि, जाव अहोरत्तं पज्जुवासामि दुविहं तिविहेणं न करेमि न कारवेमि, मणसा वयसा कायसा तस्स भंते! पडिक्कमामि, निन्दामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि।

भावार्थ- अन्न, पानी, पकवान, मुखवास- इन चतुर्विध आहारों का 'अपि' शब्द से सूँघने आदि के योग्य पदार्थों का, मैथुन सेवन करने का, पुष्पों एवं सुवर्ण की माला आदि आभूषणों का, हीरा, पन्ना, मोती, रत्न, आदि जवाहरात का, तेल-चन्दन आदि के विलेपन का, मूसल, खड्ग, चक्र, आदि शस्त्रों का तथा मन-वचन-काया के पापमय व्यापार का प्रथम व्रत के समान दो करण तीन योग से प्रत्याख्यान करता हूँ।

इस आम्नाय में जो साधक तिविहार उपवास पूर्वक चार प्रहर के लिए पौषध करते हैं, वह देश पौषध कहलाता है। देशपौषध ग्रहण करने का दंडक निम्न है। इसे देशावगासिकदंडक भी कहते हैं-

दसवां देशावगासिकव्रत प्रभात से प्रारम्भ कर पूर्वादिक छहों दिशा में जितनी भूमि खुली राखी, उस उपरान्त स्वइच्छा से काया से जाकर पाँच आस्रव-सेवन का पच्चक्खाण, जाव अहोरंत्त पज्जुवासामि। दुविहं तिविहेणं न करेमि न कारवेमि मणसा वयसा कायसा जितनी भूमिका खुली राखी, उसमें जिन द्रव्यादिक की मर्यादा की उस उपरान्त उपभोग परिभोग अर्थे भोगने का पच्चक्खाण। जाव अहोरत्तं, एगविहं तिविहेणं न करेमि मणसा वयसा कायसा, तस्स भंते। पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।

उसके बाद योगमुद्रा (चैत्यवन्दनमुद्रा) में णमुत्थुणंसूत्र बोलें। फिर जो पौषधव्रत में न हो, ऐसे किसी गृहस्थ से रजोहरण, गुच्छक, लघुनीति-पात्र आदि के उपयोग करने की आज्ञा लें। फिर स्वाध्याय में रत हो जाएं।[42]

तेरापन्थी परम्परा पौषधग्रहणविधि लगभग स्थानक-परम्परा के समान ही है।

दिगम्बर परम्परा पौषधव्रत को स्पष्टत: स्वीकार करती हैं और इस विषय का निरूपण करने वाले अनेकों ग्रन्थ उनकी परम्परा में उपलब्ध भी हैं, किन्तु 'पौषधविधि' की चर्चा करने वाला कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ देखने में नहीं आया है

और जो भी ग्रन्थ उपलब्ध हैं, वे अधिकांश स्वरूप, प्रकार आदि का ही वर्णन करते हैं।

इस परम्परा में आज भी पौषधविधि अवश्य प्रचलित होनी चाहिए, किन्तु उसका स्वरूप क्या है? इस विषय में कुछ कहना असंभव है। दिगम्बर-मुनियों के साथ हुई मौखिक-चर्चा के आधार पर भी इस विषय में मुझे स्पष्ट जानकारी प्राप्त नहीं हो पाई है और न ही तत्सम्बन्धी कोई ग्रन्थ उपलब्ध हो पाया है।

पौषध विधि से सम्बन्धित अन्य विधि-विधान

जिस दिन पौषधव्रत ग्रहण करते हैं, उस दिन कुछ अन्य विधि-विधान भी सम्पन्न किए जाते हैं। ये विधान श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा की सभी शाखाओं में लगभग प्रचलित हैं।

प्रातःकालीन प्रतिलेखना विधि

पौषधव्रत लेने के पश्चात पौषधग्राही वस्त्र, उपधि, वसति आदि की प्रतिलेखना करता है। यह वर्णन पूर्व में कर चुके हैं।

रात्रिकमुखवस्त्रिका प्रतिलेखन विधि

खरतरगच्छ परम्परा में यह विधि प्रातःकालीन प्रतिलेखना-विधि पूर्ण होने के बाद करते हैं। तपागच्छ, पायच्छंदगच्छ एवं त्रिस्तुतिक परम्परा में 'उग्घाड़ापौरूषी' के बाद यह विधि करते हैं। अचलगच्छ में इस विधि का सूचन नहीं है। शेष परम्पराओं में भी यह विधि प्रचलित नहीं है। प्रमुखतः यह विधि गुरू मुख द्वारा प्रत्याख्यान ग्रहण करने से सम्बन्धित है। श्वेताम्बर-मूर्तिपूजक परम्परानुसार जिस दिन जो तप आदि करना हो, उसका प्रत्याख्यान रात्रिक प्रतिक्रमण करते समय कर लेना चाहिए, किन्तु उस दिन के तप का प्रत्याख्यान गुरू मुख से करना जरूरी होता है अतः जिस पौषधव्रती ने गुरू महाराज के साथ प्रतिक्रमण न किया हो, यह विधि उसके लिए कही गई है तथा जिसने गुरू भगवन्त के साथ प्रतिक्रमण किया हो और उनके मुख से तप का प्रत्याख्यान कर लिया हो, उसके लिए यह विधि करना जरूरी नहीं है।

राईय मुहपत्ति पडिलेहण की विधि यह है-

- सर्वप्रथम एक खमासमणपूर्वक ईर्यापथ का प्रतिक्रमण करें। • फिर एक

खमासमणपूर्वक **'इच्छा. संदि. ! राइय मुँहपत्ति पडिलेहुं'** कहकर मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करते हुए द्वादशावर्त्तवन्दन करें। • फिर **'इच्छा. संदि. भगवन्! राइय आलोउं ? इच्छं आलोएमि जो मे राइओ' और 'सव्वस्सवि राइय.'** का पाठ बोलें। • उसके बाद पदस्थ गुरू हों, तो उन्हें द्वादशावर्त्तवन्दन 'इच्छकार सुहराई' 'अब्भुट्ठिओमि' पाठ बोलकर थोभ वन्दन करें। • उसके बाद निर्धारित प्रत्याख्यान को गुरू मुख से ग्रहण करें। फिर दो खमासमणपूर्वक 'बहुवेलं' का आदेश लें।

यह विधि प्रचलित परम्पराओं में लगभग समान ही है।

उग्घाड़ापौरूषी विधि

जब दिनमान पुरूष-परिमाण की छाया जितना चढ़ जाए अर्थात पुरूष परिमाण जितनी छाया आ जाए, उस समय को पौरूषी कहते हैं। उग्घाड़ा का अर्थ है- उद्घाटक, दिन का सम्यक् रूप से प्रकट होना। जैन सामाचारी के अनुसार दिन की पौन पौरूषी जितना समय बीत जाने पर पौषधव्रती को उग्घाड़ा-पौरूषी की विधि करना चाहिए।

यह विधि श्वेताम्बर-मूर्तिपूजक की प्रायः सभी परम्पराओं में आज भी प्रचलित है और लगभग सभी में समान ही है। मूलतः यह विधि भोजन सम्बन्धी पात्रों की प्रतिलेखना करने से सम्बन्धित है। यह अनुष्ठान मुनि जीवन का भी आवश्यक अंग माना गया है। जैन मुनियों की यह सामाचारी है कि वे अपने भोजन-पानी आदि के पात्रों की प्रतिलेखना दिन का पौरूषी जितना समय व्यतीत होने पर ही करें। आज इस विधि में काफी परिवर्तन आ चुका है, जिसमें काल का दुष्प्रभाव, संहनन, शैथिल्य एवं मानसिक-दुर्बलता आदि कई कारण हैं।

उग्घाड़ा पौरूषी की मूल विधि यह है-यदि पौषधव्रती अधिक हों, तो यह विधि सामूहिक रूप से करना चाहिए। • सर्वप्रथम एक खमासमणसूत्रपूर्वक वन्दन करके पौषधव्रती प्रकट में बोलें- **'इच्छा. संदि. ! उग्घाड़ा पौरूषी भणावुं?**[43] **'इच्छं'** कहकर ईर्यापथ प्रतिक्रमण करें। उसके बाद एक खमासमण पूर्वक **'इच्छा. संदि.! पडिलेहणं करेमि?' 'इच्छं'** कहें। फिर **'इच्छा. संदि. ! पडिलेहणं मुहपत्ति पडिलेहुं?' 'इच्छं'** कहकर पात्र आदि की प्रतिलेखना करने

के निमित्त मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करें।[44] • उसके बाद पौषधव्रती पानी के पात्रों की, उपधानवाही भोजन के पात्र आदि की एवं साधु भोजन-पानी के पात्रों की प्रतिलेखना करें। • तत्पश्चात् पौषधव्रती अकाल का समय (मध्याह्न काल) न आने तक स्वाध्याय करें।

देववन्दन विधि

सुबोधासामाचारी, विधिमार्गप्रपा, आचारदिनकर आदि ग्रन्थों के अनुसार दिन का मध्याह्न काल (सूर्योदय से डेढ़ प्रहर जितना समय) पूर्ण होने पर पौषधव्रती को 'निसीहि' शब्दपूर्वक जिनालय में प्रवेश कर देववन्दन करना चाहिए।

यह विधि श्वेताम्बर मूर्तिपूजक शाखा की सभी परम्पराओं में विद्यमान है। यहाँ इस विधि का सर्वाधिक महत्त्व रहा हुआ है। व्रतारोपण का प्रसंग हो चाहे पदस्थापना का, प्रतिष्ठा आदि का उत्सव हो चाहे किसी तप आदि की आराधना का- इन सभी में देववन्दन-विधि अनिवार्य रूप से की जाती है। इस विधान के पीछे ऐसी मान्यता है कि जब तक यह विधि सम्पन्न नहीं करते हैं, तब तक आराधना अधूरी रहती है। इस विधि-प्रक्रिया को लेकर श्वेताम्बर-मूर्तिपूजक की सभी शाखाओं में सामान्य अन्तर है।

प्रत्याख्यानपारण विधि

जैन धर्म में तपाराधना से सम्बन्धित कई प्रकार के विधि-विधान आवश्यक माने गए हैं, उनमें यह भी एक विधि है। पौषधव्रती को पानी पीना हो, उपधानवाही को भोजन या पानी ग्रहण करना हो अथवा कोई उपवास, आयंबिल या किसी अन्य तप का प्रत्याख्यान किया हुआ हो और उसे पानी हो, तो उसके पूर्व निम्नलिखित विधि करनी चाहिए।

• विधिमार्गप्रपा के मतानुसार प्रत्याख्यान पूर्ण करने वाला व्रती या तपस्वी सर्वप्रथम दो खमासमणपूर्वक मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करें। • फिर खमासमणपूर्वक वन्दन कर आहार-पानी ग्रहण करने की अनुमति लें। • फिर प्रत्याख्यान पारने का पाठ बोलें। • उसके बाद 'शक्रस्तव' पाठ द्वारा चैत्यवन्दन कर कुछ समय के लिए स्वाध्याय करें, फिर पानी आदि ग्रहण करें।[45]

श्वेताम्बर-मूर्तिपूजक की प्रचलित परम्पराओं में प्रत्याख्यान पारने की विधि इस प्रकार है-

• प्रत्याख्यान पूर्ण करने वाला आराधक सर्वप्रथम एक खमासमणसूत्र-पूर्वक वन्दन कर ईर्यापथिक का प्रतिक्रमण करें। • फिर चैत्यवन्दन[46] बोलकर **जंकिंचि., णमुत्थुणं., जावंतिचेइआइं., जावंतकेविसाहू., उवसग्गहरं. और जयवीयराय** तक सभी सूत्र बोलें।

❁ यहाँ चैत्यवन्दन के स्थान पर खरतरगच्छ परम्परा में 'जयउसामिय', तपागच्छ एवं त्रिस्तुतिक परम्परा में 'जग चिंतामणि' अचलगच्छ में 'जय-जय महाप्रभु' और पायच्छंदगच्छ में 'सिरिरिसहेसर' नामक सूत्र पाठ बोलते हैं।

• उसके बाद पौषधव्रती या उपधानवाही एक खमासमण देकर **'इच्छा. संदि. भगवन् ! सज्झाय करूँ?' 'इच्छं'** कहकर एक नमस्कारमन्त्र के स्मरण पूर्वक सज्झाय बोलें।

❁ यहाँ खरतरगच्छ में 'उपदेशमाला', तपागच्छ में 'मन्नहजिणाणं', अचलगच्छ में 'अरहंदेवो', पायच्छंदगच्छ में 'अरिहंतामंगलं' और त्रिस्तुतिक में 'मन्नहजिणाणं' पाठ की सज्झाय बोलते हैं। यदि गुरू महाराज विराजमान हों, तो खरतरगच्छ-आम्नाय में गुरू मुख से 'धम्मोमंगल' का पाठ सुनते हैं।

• तत्पश्चात् प्रत्याख्यान पारने हेतु एक खमासमण देकर **'इच्छा. संदि. भगवन्! पच्चक्खाण पारवा मुँहपत्ति पडिलेहूँ?' 'इच्छं'** कहकर मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करें।

• उसके बाद एक खमासमण देकर **'इच्छा. संदि. भगवन् ! पच्चक्खाण पारेमि?' 'यथाशक्ति'** कहें। पुनः एक खमासमण देकर **'इच्छा. संदि.! पच्चक्खाण पारूं?' 'तहत्ति'** बोलकर दाहिने हाथ को मुट्ठि रूप में चरवले या आसन पर रखते हुए एक नमस्कारमन्त्र गिनें। फिर गृहीत प्रत्याख्यान के स्मरण पूर्वक प्रत्याख्यान पारने का सूत्र बोलें।

प्रत्याख्यान पूर्ण करने का पाठ निम्न है-

उग्गए सूरे नमुक्कारसहियं, पोरिसिं, साढ़पोरिसिं, गंठसहियं, मुट्ठिसहियं, पच्चक्खाण कर्युं., चउविहार, आयंबिल, निवि एकासणा, बीयासणा पच्चक्खाण कर्यु, तिविहार पच्चक्खाण फासिअं, पालिअं,

सोहिअं, तीरिअं, किट्टिअं, आराहियं, जं च न आराहियं तस्स मिच्छामि दुक्कडं।'

विधिमार्गप्रपा में यह पाठ किंचिद् भिन्नता के साथ इस प्रकार है-

'नवकारसहिउ चउविहारू ! पौरूषी पुरिमड्ढो वा, तिविहारं चउविहारं वा, एकासणउं निवी आंबिलु वा, जा काइ वेला तीए भत्तपाणं पारावेमि।[47]'

उक्त पाठ का उच्चारण करने के बाद पानी आदि जो भी ग्रहण करना हो, एक या तीन नमस्कारमन्त्र गिनकर ग्रहण करें। पौषधव्रती या उपधानवाही हो, तो आसन पर बैठकर नमस्कारमन्त्र गिनें और पानी ग्रहण करें। अन्य तपस्वी हों, तो वे भूमि पर बैठकर भी पानी आदि ग्रहण कर सकते हैं। पानी के पात्र को रूमाल आदि वस्त्रखण्ड से पोंछकर रखें। पानी के घडेट्ट को खुला न रखें। जिसने चौविहार उपवास किया हो, उसे प्रत्याख्यान पारने की विधि नहीं करनी चाहिए।

भोजन या पानी के बाद की चैत्यवंदन विधि

खरतरगच्छ-सामाचारी के अनुसार चतुष्पर्वी, षड्पर्वी या सामान्य दिन में पौषध करने वाला श्रावक उस पौषधव्रत में आयंबिल या एकासन आदि का प्रत्याख्यान नहीं कर सकता है, उसके लिए उपवास करना आवश्यक माना गया है। केवल उपधानतप में पौषध करने वाले श्रावक के लिए आयंबिल, एकासन आदि करने की छूट है। इस सम्बन्ध में तपागच्छ आदि परम्पराएँ भिन्न मत रखती हैं। उनकी सामाचारी में उपधानतप के सिवाय पर्वदिनों या सामान्य दिनों में भी पौषध करनेवाला श्रावक पौषधव्रत में आयंबिल-एकासनादि तप कर सकता है।

दूसरे, जो पौषधवाही या उपधानवाही एकासन आदि तप करनेवाला हो, उसे स्वयं के घर पर जाकर या पौषधशाला में ही स्वगृह से आया हुआ भोजन करना चाहिए, किन्तु भोजन के लिए घूमना नहीं चाहिए। पौषधव्रती श्रावक को एकासन आदि करने के पश्चात उसी आसन पर बैठे हुए दिवसचरिम का प्रत्याख्यान कर लेना चाहिए। दिवसचरिम का प्रत्याख्यान करने पर पानी के सिवाय शेष तीन प्रकार के आहार का त्याग हो जाता है। उसके बाद पौषधव्रती पौषधशाला में आकर स्थापनाचार्य के समक्ष एक खमासमण देकर ईर्यापथ का प्रतिक्रमण करें। फिर चैत्यवन्दन के रूप में

'शक्रस्तव' का पाठ बोलें, यह मूलविधि है।[48] अभी प्रचलन में शक्रस्तव के स्थान पर अपनी-अपनी परम्परानुसार 'जयउसामिय' आदि जो भी सूत्रपाठ प्रचलित हैं, वह बोलते हैं। इसी के साथ 'जंकिंचि' से लेकर 'जयवीयरायसूत्र' तक के सभी पाठ बोलते हैं।

ज्ञातव्य है कि विक्रम की 14 वीं शती तक चैत्यवन्दन-विधि के रूप में लगभग 'शक्रस्तव' ही बोला जाता था, अन्य प्रकार के चैत्यवन्दनसूत्र पन्द्रहवीं शती के बाद प्रचलन में आए हैं।

यह चैत्यवंदनविधि उपवास आदि तप में पानी पीने वाले सभी आराधकों के लिए भी आवश्यक कही गई है। जो उपवास तप में पानी नहीं पीते हैं, उनके लिए यह विधि जरूरी नहीं है। यह विधि-प्रक्रिया श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा के मुनियों के लिए भी आवश्यक कृत्य के रूप में मानी गई है। जब भी नवकारसी, बीयासणा या एकासन आदि के लिए प्रत्याख्यान पारते हैं, तब आहार के तुरन्त बाद चैत्यवन्दन-विधि करते हैं। यह विधि स्थानक आदि परम्पराओं में प्रचलित नहीं है।

स्थंडिलगमन एवं आलोचना विधि

पौषधव्रती या उपधानवाही को शरीर चिंता (मलविसर्जन-क्रिया) से निवृत्त होना हो, तब साधुचर्या की भाँति अप्रमत्त होकर निर्जीव स्थंडिलभूमि में जाएं। जिस भू-भाग पर मल विसर्जित करना हो, वहाँ 'अणुजाणह **जस्सावग्गहो**' अर्थात जो इस स्थान का स्वामी हो, वह हमें इस स्थान के उपयोग करने की अनुमति दें (यह अनुमति उस स्थान के अधिष्ठायक क्षेत्रदेवता से ली जाती है)-ऐसा बोलकर तथा दिशा-पवन-गाँव आदि के नियमों का ध्यान रखते हुए बड़ी नीति (मलविसर्जन) की शंका दूर करें। फिर प्रासुकजल से गुह्यांग को आचमित (प्रक्षालित) करें।

यहाँ ध्यातव्य है कि वर्तमान में निर्जीव स्थंडिलभूमि न मिलने के कारण संडास आदि दोषकारी साधनों का उपयोग अवश्य करते हैं, किन्तु यह अविधि है। जैन-विधि के अनुसार जहाँ तक हो, पौषधव्रती को शौचालय या स्नानगृह का उपयोग नहीं करना चाहिए और यही उत्सर्ग मार्ग है।

शारीरिक शुद्धि करने के बाद पौषधव्रती 'निसीहि' शब्दपूर्वक

पौषधशाला में प्रवेश करें। फिर स्थापनाचार्य के सम्मुख खड़े होकर एक खमासमणपूर्वक ईर्यापथिक का प्रतिक्रमण करते हुए गमनागमन एवं स्थंडिल विषयक लगे हुए दोषों की आलोचना करें।[49] उसके बाद दिन का अन्तिम प्रहर न आ जाए, तब तक शुभ स्वाध्याय आदि में प्रवृत्त रहें।

यह विधि श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय की सभी परम्पराओं में प्राय: समान ही है। स्थानक एवं तेरापंथ परम्परा में भी तत्सम्बन्धी यही विधि है।

सन्ध्याकालीन प्रतिलेखन विधि

यह विधि दिन के तीसरे प्रहर के अन्त में या चतुर्थ प्रहर के प्रारम्भ में की जाती है। इसे मुनियों, पौषधधारियों एवं उपधानवाहियों के लिए आवश्यक मानी गई है।

यह विधि विधिमार्गप्रपा के अनुसार एवं सामान्य अन्तर के साथ वर्तमान परम्परा में इस प्रकार प्रचलित है-

अंग प्रतिलेखन- • खरतरगच्छीय परम्परानुसार सर्वप्रथम पौषधवाही एक खमासमण देकर **'इच्छाकारेण बहुपडिपुन्नापोरिसी? इच्छं'** ऐसा प्रकट स्वर में बोलें। • उसके बाद एक खमासमणपूर्वक आदेश लेकर ईर्यापथ प्रतिक्रमण करें। • फिर एक खमासमणपूर्वक वन्दन कर-**'इच्छा. संदि.! पडिलेहणं पोसहसालं पमज्जेमि (पौषधशाला प्रमार्जूं)' 'इच्छं'** कहें। उसके बाद उपवासी श्रावक प्रात:कालीन प्रतिलेखना के समान क्रमश: मुखवस्त्रिका, चरवला, आसन (तपागच्छ आदि परम्परानुसार क्रमश: मुखवस्त्रिका, आसन, चरवला)-इन तीन की एवं एकासनादि किया हुआ श्रावक इन तीन के सिवाय कंदोरा और धोती-पाँच की प्रतिलेखना करें।[50] श्राविका क्रमश: मुखवस्त्रिका, चरवला, कटासन, साड़ी, कंचुकी और अधोभागीय वस्त्र(पेटीकोट) की प्रतिलेखना करें।

खरतरगच्छ की वर्तमान सामाचारी में एक खमासमण पूर्वक 'अंगपडिलेहण' का आदेश लेकर पूर्वोक्त उपकरणों की प्रतिलेखना करते हैं, किन्तु विधि मार्गप्रपा में पृथक् से 'अंगपडिलेहण' के आदेश का उल्लेख नहीं है।

पौषधशाला प्रमार्जन- • प्रतिलेखना करने के पश्चात् पौषधशाला का दंडासन से प्रमार्जन करें। काजा(कूड़ा करकट आदि) को सूपडी में लेकर उसे

एकान्तस्थल में परिष्ठापित करें। फिर स्थापनाचार्य के सम्मुख खड़े होकर प्रमार्जना आदि क्रियाओं में लगे हुए दोषों की शुद्धि-निमित्त ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करें। • फिर पूर्ववत् तेरह बोलपूर्वक स्थापनाचार्य की प्रतिलेखना करें और उसे यथास्थान स्थापित करें।[51]

• तदनन्तर गुरू के समीप या स्थापनाचार्य के समीप खड़े होकर एक खमासमण देकर **'इच्छा. संदि. भगवन्! उपधि मुँहपत्ति पडिलेहुं? 'इच्छं'** कहकर उपधि की प्रतिलेखना करने के निमित्त मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करें।

सज्झाय विधि- • उसके बाद एक खमासमण देकर **'इच्छा. संदि. भगवन्! सज्झाय संदिसावेमि?' 'इच्छं'** कहकर पुनः दूसरा खमासमण देकर **'इच्छा. संदि. भगवन्! सज्झायं करेमि?' 'इच्छं-** ऐसा बोलकर एक नमस्कारमन्त्र गिनें। यदि गुरू भगवन्त हो, तो 'धम्मोमंगल' पाठ की पाँच गाथा सुनें। यहाँ स्वाध्याय की क्रिया सूत्रपौरूषी नियम के परिपालनार्थ की जाती है। नियम से चतुर्थ प्रहर स्वाध्याय का माना गया है। यदि पौषध व्रती पूर्ण प्रहर तक स्वाध्याय न भी कर पाए, तो कम से कम नियम-धर्म या विधि-धर्म पूरा करने के लिए नमस्कारमन्त्र या निर्दिष्ट सूत्रपाठ अवश्य बोलें।

प्रत्याख्यान ग्रहण- यदि चौविहार उपवास किया हो, तो कोई भी प्रत्याख्यान लेने की जरूरत नहीं है। तिविहार उपवास हो, तो 'पाणाहार' का प्रत्याख्यान लेना चाहिए। एकासना आदि तप किया हो, तो द्वादशावर्त्तवन्दन देकर गुरूमुख से पाणहार का प्रत्याख्यान ग्रहण करें।[52]

उपधि प्रतिलेखना- • उसके बाद एक खमासमण देकर **'इच्छा. संदि. भगवन्! उपधि थंडिला पडिलेहणं संदिसावेमि?' 'इच्छं'** कहकर, पुनः दूसरा खमासमण देकर **''इच्छा. संदि. भगवन् ! उपधि थंडिला पडिलेहणं करेमि?' 'इच्छं'** कहें। तदनन्तर पुनः दो खमासमण पूर्वक **'बइसणं संदिसावेमि' 'बइसणं ठामि' 'इच्छं'** कहकर वस्त्र-कंबल आदि की प्रतिलेखना करें।

यहाँ अंग एवं उपधि-प्रतिलेखना के क्रम में यह विशेष है कि यदि पौषधव्रती उपवास किया हुआ हो, तो वस्त्र-कंबल आदि समस्त उपधि की प्रतिलेखना करने के बाद कंदोरा और धोती की प्रतिलेखना करें तथा

एकासना आदि तप किया हुआ हो, तो वह कंदोरा-धोती की प्रतिलेखना करने के बाद उपधि-वस्त्रों की प्रतिलेखना करें। फिर अकालवेला न आ जाए, तब तक स्वाध्याय करें। यह सामाचारी नियम श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय की प्राय: सभी परम्पराओं में प्रचलित है।

यह विचारणीय है कि उपवास किए हुए पौषधवाही और एकासना आदि किए हुए पौषधवाही के लिए अंग एवं उपधि प्रतिलेखना के क्रम में अन्तर क्यों रखा गया है? अर्थात उपवासी पौषधव्रती प्रथम उपधि की प्रतिलेखना करें और बाद में अंगस्थित धोती की प्रतिलेखना करें, जबकि एकासना किया हुआ पौषधव्रती प्रथम अंगस्थित वस्त्रों की प्रतिलेखना करें और बाद में उपधि की प्रतिलेखना करें-इसके पीछे क्या प्रयोजन हो सकता है? विद्वज्जनों के लिए अन्वेषणीय है।

तपागच्छ परम्परा में सन्ध्याकालीनप्रतिलेखन-विधि पूर्ववत् ही की जाती है। विशेष इतना है कि 1. इनमें 'अंगप्रतिलेखन' करने का आदेश नहीं लेते हैं 2. सज्झाय के स्थान पर 'मन्नह जिणाणं' का पाठ बोलते हैं 3. इस क्रिया के अन्त में दुबारा भूमि प्रमार्जन (काजा निकालने की क्रिया) और ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करते हैं।[53]

अचलगच्छ परम्परा में प्रस्तुत विधि का यह स्वरूप है-

1. प्रथम एक खमासमणपूर्वक ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करते हैं 2. फिर आदेश लेकर क्रमश: उत्तरासंग का एक पल्ला, उत्तरासंग, चरवला, कंदोरा, धोती, कटासन-इन पाँच की प्रतिलेखना करते हैं 3. पुन: ईर्यापथिक- प्रतिक्रमण करके स्थापनाचार्य की प्रतिलेखना करते हैं। फिर पूर्वनिर्दिष्ट नियमानुसार भोजन-पानी आदि का प्रत्याख्यान ग्रहण करते हैं। * यदि किसी को बाद में पानी पीना हो, तो उत्तरासंग के पल्ले पर गाँठ बांधते हैं और जब पानी पीना हो, तब गाँठ खोलकर तीन बार नमस्कारमन्त्र गिनकर पानी पीते हैं। 4. फिर उपधि की प्रतिलेखना करते हैं और सज्झाय में 'धम्मोमंगल' का पाठ बोलते हैं।[54]

पायच्छंदगच्छ परम्परा में दो खमासमणपूर्वक प्रतिलेखन (पडिलेहण) करने का आदेश लेते हैं, दो खमासमणपूर्वक अंग प्रतिलेखन का आदेश लेते

हैं तथा एक खमासमणपूर्वक पौषधशाला प्रमार्जन करने की अनुमति लेते हैं। शेष विधि लगभग समान है।[55]

त्रिस्तुतिक परम्परा में सन्ध्याकालीन प्रतिलेखना की विधि लगभग तपागच्छ के समान ही करते हैं।

चौबीसमांडला विधि

यह विधि दैवसिकप्रतिक्रमण के पूर्व की जाती है। पौषधवाही एवं उपधानवाही के लिए यह कृत्य आवश्यक माना गया है। मूलत: यह विधान प्रतिलेखित भूमि पर मल-मूत्र परिष्ठापन करने से सम्बन्धित है। जैन विचारणा के अनुसार इस विधि में उपाश्रय से दूर, मध्य एवं निकट-इस प्रकार चौबीस स्थानों की प्रतिलेखना की जानी चाहिए। प्राचीनकाल में यह विधि मूलरूप से प्रवर्त्तित थी, किन्तु आज निर्दिष्ट स्थानों को प्रतिलेखित करने की विधि नहीवत् रह गई है उसके प्रतीक रूप में अब तो मात्र चरवले को उस-उस दिशा की ओर घुमाया जाता है और घुमाने की क्रिया को ही प्रतिलेखित किया हुआ मान लेते हैं। यह प्रक्रिया कहाँ तक सही और सार्थक है? गीतार्थ मुनियों के लिए अवश्य मननीय है।

हमें इस विधि के संबंध में स्पष्ट उल्लेख सर्वप्रथम विधिमार्गप्रपा में प्राप्त होता है। विधिप्रपाकार ने भी इस सन्दर्भ में मात्र इतना ही कहा है कि मल-मूत्र योग्य चौबीस स्थंडिल भूमियों की प्रतिलेखना करनी चाहिए।[56] वर्तमान में यह विधि इस प्रकार प्रचलित है-

• सर्वप्रथम स्थापनाचार्य के समक्ष खड़े होकर ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करें। • फिर एक खमासमण देकर **'इच्छा. संदि. भगवन्! स्थंडिल पडिलेहुं?' 'इच्छं'** कहकर खड़े हो जाएं। • तदनन्तर क्रमश: पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण इन चार दिशाओं के सम्मुख चरवले या रजोहरण की दसियों को करते हुए छ:-छ: मांडला करें यानी पूर्वदिशा की ओर चरवला करते हुए छ: मांडला सम्बन्धी पाठ बोलें। इसी प्रकार शेष तीन दिशाओं की ओर भी चरवला दिखाते हुए छ:-छ: मांडला पाठ बोलें। • किस स्थान विशेष के लिए कौन-सा मांडला पाठ बोला जाना चाहिए? और उनका क्रम क्या है? इसे निम्न तालिका के आधार पर समझना चाहिए।[57]

निम्न छः मांडला संथारा (शयनस्थान) के समीप में करना चाहिए-

1. आघाडे (आपवादिक स्थिति के समय) 2. आघाडे	आसन्ने (समीप में) आसन्ने	उच्चारे (मलोत्सर्ग के निमित्त) पासवणे	पासवणे (मूत्रोत्सर्ग के निमित्त) अणहियासे	अणहियासे (असह्य होने पर)
3. आघाडे	मज्झे	उच्चारे	पासवणे	अणहियासे
4. आघाडे	मज्झे	पासवणे	अणहियासे	
5. आघाडे	दूरे	उच्चारे	पासवणे	अणहियासे
6. आघाड़े	दूरे	पासवणे	अणहियासे	
निम्न छः मांडला पौषधशाला(उपाश्रय) के मुख्य द्वार के भीतरी स्थानविशेष में करना चाहिए-				
1. आघाडे	आसन्ने	उच्चारे	पासवणे	अहियासे (सहन होने पर)
2. आघाडे	आसन्ने	पासवणे	अणहियासे	
3. आघाडे	मज्झे	उच्चारे	पासवणे	अहियासे
4. आघाडे	मज्झे	पासवणे	अणहियासे	
5. आघाडे	दूरे	उच्चारे	पासवणे	अहियासे
6. आघाड़े	दूरे	पासवणे	अहियासे	
निम्न छः मांडला उपाश्रय द्वार के बाहर (नजदीक भूमि को आश्रित करके) करना चाहिए-				
1. अणाघाडे	आसन्ने	उच्चारे	पासवणे	अणहियासे (खास कठिनाई न हो, उस समय)
2. अणाघाडे	आसन्ने	पासवणे	अणहियासे	
3. अणाघाडे	मज्झे	उच्चारे	पासवणे	अणहियासे
4. अणाघाडे	मज्झे	पासवणे	अणहियासे	

5. अणाघाडे	दूरे	उच्चारे	पासवणे	अणहियासे
6. अणाघाडे	दूरे	पासवणे	अणहियासे	
निम्न छः मांडला पौषधशाला से सौ कदम दूर वाले स्थान को आश्रित करके करना चाहिए-				
1. अणाघाडे	आसन्ने	उच्चारे	पासवणे	अणहियासे
2. अणाघाडे	आसन्ने	पासवणे	अणहियासे	
3. अणाघाडे	मज्झे	उच्चारे	पासवणे	अणहियासे
4. अणाघाडे	मज्झे	पासवणे	अणहियासे	
5. अणाघाडे	दूरे	उच्चारे	पासवणे	अणहियासे
6. अणाघाडे	दूरे	पासवणे	अणहियासे	

प्रतिक्रमण विधि

पौषधवाही मांडलाविधि की क्रिया पूर्ण करने के बाद दैवसिक प्रतिक्रमण करें। प्रतिक्रमण करने के पश्चात अस्वाध्याय काल न आए, तब तक स्वाध्याय में लीन रहें।

रात्रिकसंस्तारक पौरुषी विधि

यह विधि रात्रिभर के लिए एक प्रकार से सागारी संथारा ग्रहण करने के निमित्त की जाती है। इस विधि के अन्त में 'राईसंथारा' नाम का पाठ बोला जाता है। इस पाठ के स्मरणपूर्वक आहार शरीर उपधि का सम्पूर्ण रात्रि के लिए त्याग किया जाता है। इसी के साथ एकत्वभावना का चिन्तन करते हुए वैराग्यभावना को पुष्ट बनाया जाता है। कदाच् नश्वर देह का वियोग हो जाए, तो समाधिमरण प्राप्त किया जा सके। पौषधव्रती, संयमी एवं उपधानवाही के सिवाय सामान्य साधकों के लिए भी यह विधि निश्चित रूप से करणीय है।

यह विधि रात्रि के प्रथम प्रहर के अन्त में की जाती है। यदि हम वैधानिक एवं प्रामाणिक-ग्रन्थों के सन्दर्भ में इस विधि को ढूंढें, तो विधिमार्गप्रपा के अतिरिक्त मध्यकालीन ग्रन्थों तक किसी में इस विधि का स्वरूप उपलब्ध नहीं होता है। इस विधि के सम्बन्ध में विधिमार्गप्रपा कहती है कि राईसंथाराविधि

करने वाला श्रावक शारीरिक चिन्ताओं से निवृत्त होकर दो खमासमणपूर्वक मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करके शक्रस्तव बोलें। फिर भूमि का प्रमार्जन कर संथारा बिछाएं। फिर शरीर का प्रमार्जन कर उस पर बैठ जाएं। उसके बाद तीन नमस्कारमन्त्र बोलकर 'संथारापाठ' बोलें।[58]

वर्तमान में प्रचलित रात्रिकसंथारा की विधि इस प्रकार है-

खरतरगच्छ की परम्परानुसार सर्वप्रथम एक खमासमण पूर्वक **'इच्छा. बहुपडिपुन्ना पौरूषी, इच्छं'** कहें। फिर एक खमासमण पूर्वक ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करें। • फिर एक खमासमण पूर्वक **'इच्छा. संदि. भगवन्! राइअ संथारा मुँहपत्ति पडिलेहूं ?' 'इच्छं'** कहकर मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना करें। • फिर एक खमासमण देकर **'इच्छा. संदि. भगवन्! राइअ संथारा संदिसाहुं ?' 'इच्छं'** कहकर पुनः एक खमासमण देकर **'इच्छा. राइअ संथारा ठाऊं?' 'इच्छं'** बोलें। • फिर चैत्यवंदन के रूप में **चउक्कसाय०, णमुत्थुणं०, जावंति चेइआइं०, जावंत केवि साहू०, उवसग्गहरं० और जयवीयराय सूत्र** कहें। • फिर संस्तारक (ऊनी आसन) के ऊपर बैठकर **'निसीहि निसीहि निसीहि, नमो खमासमणाणं गोयमाइणं महामुणिणं'**- इतना पाठ बोलकर तीन नमस्कारमन्त्र गिनें और तीन बार 'करेमिभंते' सूत्र बोलें। • उसके बाद रात्रिकसंस्तारक-पाठ की चौबीस गाथाएँ बोलें। • तत्पश्चात् सात नमस्कारमन्त्र गिनकर सो जाएं। निद्रा न आए, तब तक शुभध्यान में रहें। • दूसरे दिन प्रभात काल में रात्रिक प्रतिक्रमण करें, प्रतिलेखना करें तथा देववन्दन और गुरूवन्दन कर पौषध को पूर्ण करें।[59]

तपागच्छ परम्परा में राईसंथाराविधि पूर्ववत् जाननी चाहिए। मात्र अन्तर यह है कि चउक्कसाय का चैत्यवंदन करने के बाद मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करते हैं और रात्रिसंस्तारक पाठ की सत्तरह गाथा बोलते हैं।[60]

अचलगच्छ परम्परा में यह विधि प्रायः तपागच्छ-आम्नाय के समान की जाती है। विशेष यह है कि 1. रात्रिकसंथारा पाठ की बीस गाथा बोलते हैं 2. उसके बाद सात नमस्कारमन्त्र गिनकर पौषधव्रती कहता है- **'इच्छा. संदि. भगवन्! किं कायव्वं'** तब गुरू कहते हैं- **'सज्झायपाठ भणियव्वं, गणियव्वं, नो पमायव्वं।'** शिष्य कहता है- **'यथाशक्ति'** 3. उसके बाद सर्वमंगल की गाथा बोलते हैं 4. फिर पूर्वदिशा और दक्षिणदिशा की ओर

मुख करके कर्म निर्जरा निमित्त बारह-बारह लोगस्स का कायोत्सर्ग करते हैं।[61]

पायच्छंदगच्छीय परम्परा में यह विधि तपागच्छ आम्नाय के अनुसार ही की जाती है। मात्र भिन्नता यह है कि इसमें रात्रिसंस्तारक पाठ की चौदह गाथा बोलते हैं और इस पाठ के बीच सात लाख पृथ्वीकाय का सूत्र बोलते हैं।[62]

त्रिस्तुतिक परम्परा में यह विधि तपागच्छीय सामाचारी के अनुसार की जाती है।[63]

स्थानकवासी, तेरापंथी, दिगम्बर आदि परम्पराओं में शयन के पूर्व इस प्रकार की कोई विधि नहीं होती है, केवल संस्तारक एवं शरीर की प्रमार्जना कर तथा अंगोपांगों को संकुचित कर निद्राधीन होते हैं।

पौषध पारने की विधि

जैन अवधारणा में पौषधव्रत का सामान्यकाल आठ प्रहर स्वीकृत रहा है। इस व्रत की अवधि पूर्ण होने पर उससे निवृत्त होने के लिए एक क्रिया की जाती है। उसके बाद ही वह व्रती श्रावक गृहस्थ कार्यों को करने का अधिकारी बनता है। विधिमार्गप्रपा आदि ग्रन्थों में पौषध से निवृत्त होने की क्रियाविधि का जो स्वरूप उपलब्ध है, वर्तमान में प्राय: वही विधि प्रवर्तित है।

खरतरगच्छ परम्परानुसार पौषध पूर्ण करने का समय हो जाने पर पौषधवाही एक खमासमण पूर्वक ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करें। • फिर एक खमासमण देकर-**'इच्छा. संदि. भगवन्! पौषध पारवा मुँहपत्ति पडिलेहूँ' 'इच्छं'** कहकर मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करें। • फिर एक खमासमण देकर पौषध पारने वाला कहे-**'इच्छा. संदि. भगवन्! पोसहं पारावेह?' 'इच्छं'।** तब गुरू कहे-**'पुणो वि कायव्वो'**। पुन: साधक दूसरा खमासमण देकर कहे- **'पोसहं पारेमि'**। तब गुरू कहे- **'आयारो न मोतव्वो'**। • तदनन्तर पौषधव्रती खड़े होकर तीन बार नमस्कारमन्त्र बोलें।

• उसके बाद सामायिक पूर्ण करने हेतु मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करें। फिर पूर्ववत् दो खमासमण-पूर्वक 'सामाइयं पारावेह' 'सामाइयं पारेमि'- ये आदेश लेकर तीन बार नमस्कारमन्त्र बोलें। • उसके बाद मस्तक को भूमितल से स्पर्शित करते हुए 'भयवं दसण्णभद्दो सूत्र' बोलें और पौषध में लगे हुए दोषों का मिथ्यादुष्कृत दें।[64]

तपागच्छ परम्परा में पौषध पारने की विधि पूर्ववत् है। विशेष अन्तर यह है कि 1. ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करने के पश्चात् चउक्कसाय का चैत्यवंदन करते हैं, फिर आगे की विधि की जाती है 2. तीन नमस्कारमन्त्र बोलने की जगह एक नमस्कारमन्त्र कहते हैं 3. पौषध पारते समय सागरचंदोकामो[65] नाम का सूत्र बोलते हैं और सामायिक पारते समय सामाइयवयजुत्तो[66] बोलते हैं।

अंचलगच्छ परम्परा में ईर्यापथ का प्रतिक्रमण कर एवं पौषध पूर्ण करने का आदेश लेकर 'सागरचंदोकामो' की तीन गाथा बोलते हैं।[67]

पायच्छंदगच्छ परम्परा में पौषध पारने की विधि तपागच्छ- आम्नाय के समान ही है। अन्तर यह है कि 'सागरचंदोकामो' की पाँच गाथा बोलते हैं[68] और 'चउक्कसाय' का चैत्यवंदन नहीं करते हैं।[69]

त्रिस्तुतिक परम्परा पौषध पारने की विधि के सम्बन्ध में तपागच्छ सामाचारी का ही अनुसरण करती हैं।[70]

स्थानकवासी एवं तेरापंथी परम्पराओं में पौषध पारने की विधि इनके मत में प्रचलित सामायिक पारने की विधि के अनुसार ही है। मात्र 'एयस्स नवमस्स' पाठ के स्थान पर पौषधव्रत का अतिचार पाठ बोला जाता है।[71]

उपर्युक्त विवरण से यह प्रतिध्वनित होता है कि पौषधग्रहण विधि का स्वरूप सामाचारी-भेद को छोड़कर सभी परम्पराओं में प्राय: समान ही है, किन्तु पौषध पारने के सूत्रपाठ भिन्न-भिन्न हैं। उनमें भी खरतरगच्छ के सिवाय मूर्तिपूजक की शेष परम्पराओं के सूत्रपाठ लगभग समान हैं। सूत्रपाठ सम्बन्धी यह अन्तर भी अपनी-अपनी सामाचारी विशेष के कारण ही है, मूलविधि सभी परम्पराओं में प्राय: समान है।

तुलनात्मक विवेचन

यदि पौषध-विधि का तुलनापरक अध्ययन करते हैं, तो जिनवल्लभसूरिकृत 'पौषधविधिप्रकरण' (12 वीं शती), पुरन्दराचार्य विहित 'सामाचारीप्रकरण', 'तिलकाचार्यसामाचारी' (12 वीं शती), जिनप्रभसूरिकृत 'विधिमार्गप्रपा' (12 वीं शती) आदि रचनाएँ मुख्य रूप से आधार बनती हैं। इनके सिवाय अन्य वैधानिक-ग्रन्थों में इस विधि का स्पष्ट स्वरूप लगभग देखने को नहीं मिलता है।

यह ज्ञातव्य है कि परवर्तीकालीन संकलित एवं संगृहीत कृतियों में यह विधि विस्तार के साथ उल्लिखित हैं, किन्तु वे संकलित कृतियाँ उक्त ग्रन्थों को आधार बनाकर ही रची गई हैं। केवल उन कृतियों में अपनी-अपनी सामाचारी के अनुसार किन्हीं में विधि को लेकर, तो किन्हीं में सूत्रपाठ को लेकर, कुछ में क्रम सम्बन्धी, तो कुछ में आलापक-सम्बन्धी विभिन्नताएँ देखी जा सकती हैं। इस आधार पर निश्चित होता है कि पौषधविधि मुख्य रूप से विधिमार्गप्रपा आदि ग्रन्थों में कही गई है।

यदि इन मूल ग्रन्थों का तुलना की अपेक्षा अध्ययन किया जाए, तो कुछ भिन्नताएँ इस प्रकार ज्ञात होती हैं-

प्रतिवचन की अपेक्षा- पौषधविधिप्रकरण, सामाचारीप्रकरण आदि ग्रन्थों में पौषधग्रहण विधि प्राय: समतुल्य है, किन्तु तिलकाचार्य- सामाचारी में एक बात विशेष रूप से यह कही गई है कि यदि पौषधव्रत गुरू की सान्निध्यता में ग्रहण किया जाता है तो शिष्य द्वारा प्रतिलेखन, प्रतिक्रमण, प्रमार्जन आदि हेतु अनुमति लेने पर गुरू-करेह, संदिसावेह, भणेह, आदि अनुज्ञावचन कहे जाते हैं। तदनन्तर व्रतग्राही श्रावक को 'इच्छं' शब्द बोलना चाहिए।[72]

इस सामाचारी ग्रन्थ में निर्दिष्ट 'इच्छं' शब्द से ऐसा अनुमान होता है कि जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय में बहुत से विधि-विधान सम्पन्न करते समय 'इच्छं' शब्द का प्रयोग किया जाता है। वह इसी सामाचारी ग्रन्थ से प्रचलन में आया है, क्योंकि अन्य किसी ग्रन्थ में 'इच्छं' का प्रयोग कब, क्यों किया जाना चाहिए-यह निर्देश प्राप्त नहीं है।

प्रतिलेखन की अपेक्षा- सामाचारी नियमानुसार पौषध संबंधी प्रतिज्ञासूत्र उच्चारित करने के बाद, पौषधव्रती द्वारा वस्त्र, शरीर आदि की प्रतिलेखना की जाती है। यह विधि तिलकाचार्य सामाचारी को छोड़कर शेष सभी ग्रन्थों में समान है। इसमें 'पडिलेहण' एवं 'अंग पडिलेहण' नाम का कोई आलापक-पाठ नहीं है, केवल 'मुहपत्ति पडिलेहुँ' बोलकर मुखवस्त्रिका प्रतिलेखन करने का निर्देश है।[73] उसके बाद 'उपधिपडिलेहण' के दो आदेश लेकर पहनने, ओढ़ने एवं बिछाने सम्बन्धी वस्त्र की प्रतिलेखना करने का वर्णन है। जबकि

पौषधविधिप्रकरण[74], विधिमार्गप्रपा[75] आदि ग्रन्थों में 'अंगपडिलेहण' का आदेश लेकर पहने हुए वस्त्रों की एवं 'उपधि पडिलेहण' का आदेश लेकर शाल-कम्बल आदि की प्रतिलेखना करने का सूचन है और वर्तमान में यही विधि प्रचलित है।

भोजन की अपेक्षा- खरतर सामाचारी के नियमानुसार बिना उपधान के पौषधव्रती के लिए पौषधव्रत में भोजन करने का निषेध है, किन्तु जिन परम्पराओं में पौषधव्रत में भोजन करने का सामान्य प्रावधान हैं, उस अपेक्षा से तिलकाचार्य सामाचारी में एक नई बात यह कही गई है कि यदि पौषधव्रती को एकासनादि करना हो, तो स्वयं के घर जाएं, वहाँ स्थापनाचार्य की स्थापना करें, ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करें, देववन्दन करें, आचार्यादि को वन्दन करें, फिर भोजन करें। तदनन्तर पौषधशाला में लौटकर जिन-प्रतिमा एवं आचार्यादि साधुओं को वन्दन कर तिविहार का प्रत्याख्यान ग्रहण करें।[76]

विधिमार्गप्रपादि में भोजन-विधि की चर्चा उपधान के सन्दर्भ को लेकर की गई है। उसमें भोजन हेतु निज घर में जाने का या संबंधियों द्वारा लाया गया भोजन करने का ही निर्देश है। यहाँ तक का वर्णन सभी में लगभग समान है, किन्तु तिलकाचार्य सामाचारी में कुछ और नवीन तथ्य भी कहे गए हैं।

पौषधपारण विधि एवं पौषधपाठ की अपेक्षा– पौषधविधि प्रकरण[77], विधिमार्गप्रपा आदि ग्रन्थानुसार प्रथम तो पौषधव्रत पूर्ण करना चाहिए, उसके बाद सामायिकव्रत पूर्ण करना चाहिए। खरतरगच्छ परम्परा में इसी क्रम के अनुसार पौषध पारने की विधि की जाती है, जबकि तिलकाचार्यसामाचारी में व्युत्क्रम का निर्देश है अर्थात सामायिकव्रत पूर्ण करने के बाद पौषधव्रत पारने का सूचन है।[78] सामायिक और पौषध पारने के सूत्रपाठ भी अलग-अलग दिए गए हैं। पौषध व्रती द्वारा सामायिकव्रत पूर्ण करते समय तीन गाथाएँ बोलने का आख्यान है। वे गाथाएँ निम्न हैं-

छउमत्थो मूढमणो, कित्तियमित्तंपि संभरइ जीवो।
जं च न सुमरामि अहं, मिच्छामि दुक्कडं तस्स ।।1।।
जं जं मणेणं बद्धं, जं जं वाएण भसियं पावं।
जं जं काएण कयं, मिच्छामि दुक्कडं तस्स ।।2।।

सामाइयवयजुत्तो, जाव मणे होइ नियम संजुत्तो ।
छिन्नइ असुहं कम्मं, सामाइय जत्तिया वारा ।।3।।

इसी तरह पौषध पारते समय उक्त तीन गाथा सहित 'सागरचंदोकामो' की एक गाथा- ऐसे चार गाथा बोलने का सूचन किया गया है, जबकि सामाचारीप्रकरण[79] में 'सागरचंदोकामो' एवं 'धन्नासलाहणिज्जा'-ये दो गाथाएँ पौषध पारने के सूत्र रूप में दी गई हैं तथा सामायिक पारने के सूत्ररूप में 'छउमत्थो मूढमणो' एवं 'सामाइयपोसह'-ये गाथाएँ निर्दिष्ट की हैं। जिनवल्लभसूरिकृत पौषध विधिप्रकरण[80] एवं विधिमार्गप्रपा[81] में पौषध पूर्ण करते समय कौनसा सूत्रपाठ बोला जाना चाहिए, इस सम्बन्ध में कोई निर्देश नहीं है। सामायिक पूर्ण करते समय 'भयवं दंसणभद्दो' सूत्र बोलने का उल्लेख किया गया है, किन्तु खरतर संप्रदाय में पौषध पूर्ण करते समय भी 'भयवं दंसणभद्दो' सूत्र ही बोला जाता है।

रात्रिसंस्तारक पाठ की अपेक्षा- यदि हम उक्त ग्रन्थों के परिप्रेक्ष्य में रात्रिसंस्तारक की गाथाओं को लेकर तुलना करें, तो जिनवल्लभसूरिकृत पौषधविधिप्रकरण में रात्रिसंस्तारक के पाठ को लेकर एक भी गाथा का सूचन नहीं है, किन्तु इतना अवश्य कहा गया है कि यदि पौषधव्रती अर्द्धरात्रि आदि के समय शरीर चिंता के लिए उठ जाए, तो कम से कम तीन गाथा जितने स्वाध्याय का चिन्तन करके ही पुनः शयन करे और इस प्रसंग में कुछ गाथाएँ भी उद्धृत कर दी गई हैं, किन्तु इनमें से एकाध गाथा भी वर्तमान प्रचलित संस्तारकपाठ से नहीं मिलती है।

सामाचारीप्रकरण[82] और विधिमार्गप्रपा[83] में निम्न छः गाथाएँ बोलने का सूचन है- 1. अणुजाणह परमगुरू. 2. अणुजाणह संथारं. 3. संकोइयसंडासं. 4. जइ मे हुज्ज पमाओ. 5. खामेमिसव्व. 6. एवमहं आलोइय; जबकि तिलकाचार्यसामाचारी में निम्न तीन गाथाओं को कहने का निर्देश है- 1. जइ मे हुज्ज. 2. अणुजाणह संथारं. 3. अणुजाणह परमगुरू.।[84]

यदि इस विषय को लेकर प्रचलित परम्पराओं की अपेक्षा चिन्तन करें, तो खरतरगच्छ में 21, तपागच्छ में 17, अचलगच्छ में 20, पायच्छंदगच्छ में 19 एवं त्रिस्तुतिकगच्छ में 20 गाथाएँ बोलने की सामाचारी प्राप्त होती है। आचार्य

वल्लभसूरिकृत पौषधविधिप्रकरण में रात्रिसंस्तारक पाठ सम्बन्धी एक भी गाथा पढ़ने को नहीं मिली है।

रात्रिसंस्तारक विधि करते समय मूलत: कितनी गाथाएँ बोलनी चाहिए तथा इसमें गाथा पाठ को लेकर कब, कैसे परिवर्तन आया? प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं हो पाई है, किन्तु शोध के आधार पर इतना कहना शक्य है कि विक्रम की 10 वीं शती तक के ग्रन्थों में रात्रिकसंस्तारक सम्बन्धी लगभग एक भी गाथा पाठ नहीं है। इसमें गाथा पाठ की वृद्धि क्रमश: हुई है और ये गाथाएँ प्रकीर्णक ग्रन्थ या प्रतिक्रमण आदि सूत्रों से उद्धृत की गई मालूम होती है।

यदि हम वैदिक एवं बौद्ध धर्म की अपेक्षा से विचार करें, तो जैन- परम्परा की भांति बौद्ध-परम्परा में भी उपोसथव्रत गृहस्थ का अनिवार्य कृत्य माना गया है। इस व्रत को आचरित करने की तिथियाँ भी दोनों में एक समान ही बतलाई गई हैं।

सुत्तनिपात में कहा गया है कि प्रत्येक पक्ष की चतुर्दशी, पूर्णिमा, अष्टमी और प्रतिहार्यपक्ष को इस उपोसथव्रत का श्रद्धापूर्वक परिपालन करना चाहिए।[85]

बौद्ध-परम्परा में उपोसथव्रत के जो नियम आदि निर्धारित किए गए हैं, वे ही नियम लगभग जैन-परम्परा में निर्दिष्ट हैं। बौद्ध उपोसथव्रतधारी के लिए अष्टशील-आठ प्रकार के नियम पालन करने का विधान किया गया है। जो गृहस्थ उपोसथव्रत को धारण करता है, उसे निम्न आठ प्रकार के आचारों का निर्दोष पालन करना होता है। वे अष्टशील ये हैं- 1. प्राणीवध नहीं करना। 2. चोरी नहीं करना। 3. असत्य नहीं बोलना। 4. मादक द्रव्यों का सेवन नहीं करना। 5. ब्रह्मचर्य का पालन करना। 6. रात्रिभोजन नहीं करना। 7. माल्य एवं गंध का सेवन नहीं करना और 8. काष्ठपट्ट या जमीन पर शयन करना।

इन नियमों की तुलना जैन-परम्परा के पौषधव्रत से करने पर यह अन्तर प्रतीत होता है कि बौद्ध-परम्परा में उपोसथ व्रत में आहार करने की छूट है, केवल रात्रिभोजन का निषेध किया गया है, जबकि जैन परम्परा के पौषधव्रत में आहार करने एवं आहार न करने सम्बन्धी दोनों ही विधियाँ प्रचलित हैं। जब जैन गृहस्थ पौषधव्रत की दीर्घकालीन साधना करता है या उपधान तप

की आराधना करता है, उस समय पौषधव्रत में एक समय आहार करने की छूट रखी गई है, अन्यथा पर्व विशेष के दिन किए जाने वाले पौषधव्रत में उत्सर्गतः आहार करने की छूट नहीं है। शेष नियम दोनों परम्पराओं में समतुल्य हैं।

दूसरा तथ्य यह है कि जैन परम्परा में भोजनसहित जो पौषध किया जाता है, वह देशावगासिकव्रत कहलाता है और यह स्वरूप विशेषतया स्थानक परम्परा में प्रचलित है। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक की जैन परम्परा में तो चतुर्विध आहार के त्यागपूर्वक पन्द्रह सामायिक धारण कर एक स्थान पर रहने को देशावगासिकव्रत कहा गया है। प्रचलित परम्परा में देशावगासिक का यही स्वरूप उपलब्ध है।

बौद्ध परम्परा में उपोसथव्रत को स्वीकार करने के पीछे यही उद्देश्य रहा है कि सप्ताह में कम से कम एक दिन तो सांसारिक, पारिवारिक एवं व्यापारिक प्रपंचों से दूर होकर आत्मा की आराधना की जाए। इस परम्परा में उपोसथ का मूल आदर्श परमात्मपद को उपलब्ध करना है।

अंगुत्तरनिकाय में भगवान् बुद्ध ने कहा है-जिस व्यक्ति को अर्हत् के समान बनना है, वह पक्ष की चतुर्दशी, पूर्णिमा, अष्टमी तथा प्रतिहार्यपक्ष को अष्टांग शील से युक्त उपोसथव्रत का अवश्य आचरण करें।[86]

इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध-परम्परा में उपोसथ (पौषध) का स्वरूप आध्यात्मिक नियमों से ओत-प्रोत है, जैन परम्परा के नियमों से अतिनिकट है और अर्हत्प्राप्ति के आदर्श का सूचक है।

उपसंहार

पौषधव्रत एक अलौकिक अनुष्ठान है। इसका सुयोग्य अधिकारी गृहस्थ को कहा गया है। यह गृहस्थ द्वारा की जाने योग्य एक विशिष्ट आराधना है।

इस व्रत का महत्त्व गृहस्थ की सभी साधनाओं में सन्निहित है। उपासक की ग्यारह प्रतिमाओं में पौषधप्रतिमा का चतुर्थ स्थान है और द्वादशव्रतों में इसका ग्यारहवाँ स्थान है। जैन-धर्म में आवश्यकसूत्रों के अध्ययन हेतु उपधान (तपोनुष्ठान) करने की व्यवस्था है। यह तपोनुष्ठान पौषधव्रत के साथ ही किया जाता है। इस प्रकार पौषध उपधान का अभिन्न अंग है। उपधान में प्रतिलेखन आदि की अधिकांश क्रियाएँ पौषधव्रत से सम्बन्ध रखती हैं।

इस व्रत की उपादेयता के सम्बन्ध में विचार करें, तो बहुत-से प्रयोजन अनुभूति के स्तर पर कहे जा सकते हैं जैसे- इस व्रताचरण के माध्यम से मुनिधर्म के सच्चे स्वरूप का बोध होता है, उससे जीवन की चर्याओं का सम्यक् अभ्यास होता है, एक अहोरात्र के लिए साधक विषय-कषाय, आरम्भ-समारम्भ, विकथा-विवाद, मोह-माया आदि कर्म-बन्धन कारक प्रवृत्तियों से मुक्त हो जाता है। इसके फलस्वरूप व्यापारजन्य एवं परिवारजन्य आसक्तिभाव का विच्छेद होने लगता है तथा साधक उत्तरोत्तर धर्मोन्मुखी बनता है।

इस व्रत के माध्यम से वैचारिक परिवर्तन के साथ-साथ शारीरिक रोगों से भी उपशान्ति मिलती है। एक निश्चित अवधि तक के लिए बाह्य-हलचलों से मुक्त रहने के कारण डिप्रेशन, टेंशन, चिन्ता आदि वर्तमान युगीन रोगों से भी विश्रान्ति मिलती है। अनावश्यक विकल्पों से दूर रहने के कारण बौद्धिक क्षमताएँ विकसित होती हैं। साज-श्रृंगार आदि शारीरिक व्यापार से निवृत्त रहने के कारण शारीरिक बल में वृद्धि होती है और इससे आत्मिक बल भी जागृत होता है। जाप, स्वाध्याय, कायोत्सर्ग आदि शुभक्रियाओं में स्थिर रहने के कारण पूर्वोपार्जित अशुभकर्म निर्जरित हो जाते हैं एवं आगामी पापक्रियाएँ संवृत्त हो जाती हैं।

समष्टि रूप में कहा जा सकता है कि यह व्रत साधना भौतिक और आध्यात्मिक-दोनों दृष्टियों से लाभदायक है। शरीरशास्त्रियों का यह अभिमत है कि पन्द्रह दिन या एक मास में शारीरिक-मांसपेशियों को आराम देना बहुत जरूरी है। पौषधव्रत के माध्यम से इस सिद्धान्त का अनुकरण सहजतया हो जाता है।

सन्दर्भ-सूची

1. *संस्कृतहिन्दीकोश, पृ. 636*
2. *पोसेइ कुसलधम्मे, जं तौहारादिचागणुट्ठाणं।*
   इह पोसहोत्ति भण्णति, विहिणा जिणभासिएणेव।।
   पंचाशकप्रकरण, 10/14
3. *"पौषधे उपवसनं पौषधोपवासः, नियमविशेषाभिधानं चेदं पौषधोपवास"।*
   आवश्यकनिर्युक्ति, गा. 1561 की टीका

4. चतुःपर्व्या चतुर्थादि, कुव्यापारनिषेधनम्।
ब्रह्मचर्यक्रियास्नाना, दित्यागः पौषधव्रतम्।।
योगशास्त्र, 3/85
5. अभिधानराजेन्द्रकोश, भा. 5, पृ. 1139
6. ज्ञाताधर्मकथाटीका, 1/1
7. आवश्यकसूत्र, संपा. मधुकरमुनि 6/86-90
8. अभिधानराजेन्द्रकोश, भा. 5, पृ. 1132
9. वही, भा. 5, पृ. 1133-34
10. वही, भा.-5, पृ.-1136
11. पुरूषार्थसिद्धयुपाय, गा.-157
12. सामाइयम्मि उ कए, समणो इव सावओ हवइ जम्हा।
एएण कारणेणं, बहुसो सामाइयं कुज्जा।।
श्रावक प्रतिक्रमण-'सामाइय वयजुत्तो' गा.-2
13. जैनसिद्धांतबोलसंग्रह, भा.-5, पृ.-411-412
14. जैन आचार सिद्धान्त और स्वरूप, पृ.-342
15. जैनतत्त्वप्रकाश, पृ.-666
16. उपासकदशा-अभयदेवटीका, पृ.-45
17. रत्करण्डकश्रावकाचार, गा.-106
18. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा.-57
19. श्रावकप्रज्ञप्तिटीका, पृ.-321
20. योगशास्त्र, 3/85
21. तत्त्वार्थसूत्र, 7/16
22. सुत्तनिपात, 26/28
23. वही, 26/25-27
24. जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक विवेचन
भा.-2, पृ.-298
25. स्थानांगसूत्र, मधुकरमुनि, 4/3/362
26. भगवतीसूत्र, 8/5
27. उपासकदशा, मधुकरमुनि, 1/55

28. उपासकदशा-अभयदेवटीका, पृ.-52
29. यदि पौषधग्राही घर से प्रतिक्रमण करके आया हो, तो वह ईर्यापथप्रतिक्रमण करने के पश्चात् इच्छामिठामिसूत्र (आलोचनापाठ), सातलाख; अठारहपापस्थान; ज्ञानदर्शन; सव्वस्सवि.-ये सूत्रपाठ बोलकर पुनः ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करें। फिर पौषध-ग्रहण की विधि प्रारम्भ करें।
30. मुखवस्त्रिका, शरीर, उपधि आदि की प्रतिलेखना किस क्रमपूर्वक करना चाहिए, इसकी विस्तृत चर्चा 'प्रतिलेखन विधि' नामक अध्याय में करेंगे।
31. यहाँ दिवसमात्र या रात्रिमात्र का पौषध लेना हो, तो 'जावदिवसं' या 'जावरत्तिं' शब्द का प्रयोग करें।
32. पौषधव्रत के अनन्तर सामायिकव्रत का दंडक (पाठ) उच्चारित करते समय 'जाव नियमं पज्जुवासामि' के स्थान पर 'जाव पोसहं पज्जुवासामि' बोलना चाहिए।
33. खरतर सामाचारी के अनुसार पौषधव्रत में पौषधवाहियों के लिए बोले जाने वाला स्वाध्यायपाठ निम्न है, इसे 'उपदेशमाला की सज्झाय' कहते हैं-

    जगचूड़ामणि भूओ, उसभो वीरो तिलोय सिरितिलओ।
    एगो लोगाइच्चो, एगो चक्खू तिहुअणस्स ।।1।।

    संवच्छर-मुसभजिणो, छम्मासे वद्धमाण-जिणचंदो।
    इय विहरिया निरसणा, जएज्ज एओवमाणेणं ।।2।।

    जइ ता तिलोयनाहो, विसहइ बहुयाइं असरिस-जणस्स।
    इय जियंतकराइं, एस खमा सव्वसाहूणं ।।3।।

    न चइज्जइ चालेउं, महइ-महा वद्धमाण जिणचंदो,
    उवसग्ग सहस्सेहिं वि, मेरू जहा वायगुं जाहिं ।।4।।

    भद्दो विणीय-विणओ, पढमगणहरो समत्त सुयनाणी।
    जाणंतो वि तमत्थं, विम्हिय हियओ सुणइ सव्वं ।।5।।
34. श्री श्राद्धप्रतिक्रमणसूत्र, प्रबोधटीका, भा.-3, पृ.-339-40
35. तपागच्छीय सामाचारी के अनुसार पौषधव्रत में 'मनहजिणाणं की सज्झाय' कहते हैं-

    मन्ह जिणाणं आणं, मिच्छं परिहरह धरह सम्मत्तं ।
    छव्विह आवस्सयंमि, उज्जुत्तो होइ पइदिवसं ।।1।।

    पव्वेसु पोसहवयं, दाणं सीलं तवो अ भावो अ।
    सज्झाय नमुक्कारो, परोवयारो अ जयणा अ ।।2।।

जिणपूजा जिण थुणणं, गुरू थुअ साहम्मिआण वच्छल्लं।।
ववहारस्स य सुद्धि, रहजत्ता य तित्थजत्ता य ।।3।।
उवसम विवेग संवर, भासासमिइ छ जीव करूणा य।
धम्मिअ जण संसग्गो, करणदमो चरण परिणामो ।।4।।
संधोवरि बहुमाणो, पुत्थयलिहणं पभावणा तित्थे।।
संडाण किच्चमेअं, निच्चं सुगुरूवअेसेणं।।5।।

36. *इस परम्परा में मुखवस्त्रिका के स्थान पर ऊपर ओढ़े हुए उत्तरासंग के एक पल्ले द्वारा सारी विधि करते हैं।*
37. *अचलगच्छीय सामाचारी के अनुसार पौषधवाही निम्न सज्झाय बोलते हैं-*
अरिहंता मंगलं मुज्झ, अरिहंता मुज्झ देवया।
अरिहंता कित्तियंताणं, वोसिरामित्ति पावगं।।
सिद्धा य मंगलं मुज्झ, सिद्धाय मुज्झ देवया।
सिद्धा य कित्तियंताणं, वोसिरामित्ति पावगं।।
आयरिया मंगलं मुज्झ, आयरिया मुज्झ देवया।
आयरिया कित्तियंताणं, वोसिरामिति पावगं।।
उवज्झाय मंगलं मुज्झ, उवज्झाय मुज्झ देवया।
उवज्झाय कित्तियंताणं, वोसिरामिति पावगं।।
साहु मंगलं मुज्झ, साहु मुज्झ देवया।
साहु कित्तियताणं, वोसिरामित्ति पावगं।।
ए पंचे मंगलं मुज्झ, ए पंचे मुज्झ देवया।
ए पंचे कित्तियंताणं, वोसिरामिति पावगं।।
एसो पंच नमुक्कारो, सव्व पावप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं होई मंगलं।।
38. *पंचप्रतिक्रमणसूत्र (अचलगच्छीय), पृ.-121-123*
39. *पायच्छंदगच्छीय परम्परानुसार पौषधवाहियों का सज्झाय पाठ निम्न है-*
अरहंदेवो गुरूणो सुसाहुणो जीणमयं मह पमाणं ।
इच्छाइ सुहोभावो, सम्मत्तं बिंति जगगुरूणो ।।1।।
लब्भई सुरसामत्तिं, लब्भई पहअत्तणं च संदेहो।
ऐगं नवरि न लब्भई, दुल्लई रयणं च सम्मत्तं ।।2।।

सम्मत्तंमिउलद्धे, विमाणवज्जं न बंधये आउं।
जईवि न सम्मत्त जढो, अहव न बद्धाउओ पुव्विं।।3।।
दिवसे-दिवसे लक्खं, देइ सुवन्नस्स खंडियं।
ऐगो ऐगो पुण सामाइअं, करेइ न पहुप्पये तस्स ।।4।।
निंद पसंसासु समो, समोअ माणव माणुकारिसु ।
समसयण परिअणमणो, सामाइअ संगओ जीवो ।।5।।

40. पंचप्रतिक्रमणसूत्र विधिसहित (पार्श्वचन्द्रगच्छीय), पृ.-234-38
41. स्वाध्यायसमुच्चय (त्रिस्तुतिकगच्छ), पृ.-225-28
42. जैनतत्त्वप्रकाश, पृ.-660-62
43. तपागच्छ आदि कुछ परम्पराओं में उग्घाड़ा पौरूषी के स्थान पर 'बहुपडिपुन्ना पौरूषी' शब्द बोलते हैं।
44. विधिमार्गप्रपा, पृ.-19
45. वही, पृ.-19-20
46. परम्परागत सामाचारी के अनुसार पौषधव्रती हो या उपधानवाही अथवा एकासना आदि का प्रत्याख्यान पूर्ण करनेवाला साधक हो उनके लिए आहार-पानी ग्रहण करने के पूर्व और पश्चात् चैत्यवन्दन करने का विधान है। वर्तमान की श्वेताम्बर-मूर्तिपूजक परम्पराओं में स्व-स्व सामाचारी के अनुसार एक निर्धारित चैत्यवंदनसूत्र बोला जाता है।

- खरतरगच्छ के अनुसार निम्न चैत्यवंदनसूत्र बोला जाता है-

जयउ सामिय ! जयउ सामिय ! रिसहसतुंजि उज्जिंति पहुनेमिजिण, जयउ वीर सच्चउरि मंडण ।।1।। भरूअच्छहिं मुणिसुव्वय, मुहरिपास दुह दुरिय खंडण, अवर विदेहिं तित्थयरा, चिहुं दिसि विदिसि जं केवि तीआणागय संपइय वंदु जिण सव्वेवि ।।2।। कम्मभूमिहिं कम्मभूमिहिं पढम संघयणि, उक्कोसय सत्तरिसय, जिणवराण विहरंत लब्भइ, नव कोडिहिं केवलिण कोडि सहस्स नव साहु गम्मइ, संपइ जिणवर बीस मुणि बिहुं कोडिहिं वरनाण समणह कोडी सहस्स दुअ, थुणिज्जइ निच्चविहाणि ।।3।। सत्ताणवइ सहस्सा लक्खा छपन्न अट्ठ कोडीओ। चउसय छायासीया तिल्लुक्के चेइए वंदे ।।4।। वंदे नवकोडिसयं, पणवीसं कोडिलक्ख तेवन्ना। अट्ठावीस सहस्सा, चउसय अट्ठासीया पडिमा ।।5।।

- तपागच्छ-परम्परा में प्रचलित चैत्यवंदन सूत्र यह है-

जगचिंतामणि जगनाह, जगगुरू जगरक्खण, जगबंधव, जगसत्थवाह,

जगभावविअक्खण, अट्ठावय-संठविय-रूव-कम्मट्ठ-विणासण, चउवीसंपि जिणवर जयंतु अप्पडिहय सासण ।।1।। कम्मभूमिहिं कम्मभूमिहिं, पढम संघयणि, उक्कोसय सत्तरिसय, जिणवराण विहरंत लब्भइ, नव कोडिहिं केवलिण, कोडि सहस्स नव साहु गम्मइ, संपइ जिणवर बीस मुणि बिहुं कोडिहिं वरनाण समणह कोडी सहस्स दुअ, थुणिज्जइ निच्च विहाणि ।।2।। जयउ सामिय ! जयउ सामिय ! रिसह सतुंजि उज्जिंति पहु नेमिजिण, जयउ वीर संच्चउरि मंडण भरूअच्छहिं मुणिसुव्वय, मुहरिपास दुह दुरिय खंडण, अवर विदेहिं तित्थयरा, चिहुं दिसि विदिसि जं केवि तीआणागय संपइय वंदुं जिण सव्वेवि ।।3।। सत्ताणवइ सहस्सा लक्खा छपन्न अट्ठ कोडीओ। बत्तीस सयबासिआइं, तिअलोए चेइए वंदे ।।4।। पनरस कोडीसयाइं, कोडी बायाललक्ख अडवन्ना। छत्तीस सहस असिइ, सासय बिंबाइं पणमामि ।।5।।

अचलगच्छीय आम्नाय में चैत्यवंदन के रूप में निम्न सूत्र बोला जाता है-

जय-जय महाप्रभु, देवाधिदेव सर्वज्ञ श्री वीतराग देव।। मुह दीठुं परमेसर, सुंदर सोम सहाव।। भूरि भवंतर संचिओ, नाट्ठो सो सवि पाव।। जे मे पाप क्रियां बालपणे अहवा अन्नाणे।। अण भवंतर सो सो खंड ज्यो परमेसर।। तुह मुह दीठुं सिरिपासजिणेसर।। पास पहु पसाओ करी, विनतडी अवधार।। संसारडो बिहामणो, स्वामी आवागमण निवार।। हत्थडा ते सुलक्खणा, जे जिनवर पूजंत।। एके पुण्णे बाहिरा, सो परधर काम करंत।। कवणे वाडी वावीयां, कवणे गुंथ्यां कूल।। कवणे जिनवर चढ़ावीयां, भवसरीसां मूल।। वाडी वेलो महोरीयो, सोवन कूंप लीखेण।। पास जिणेसर पूजिये, पंचे अंगुलीएण।। दो धोला दो सामला, दोरत्तोपलवन्ना।। मरगयवन्ना दुन्नि जिण, सोलस कंचनवन्ना।। नियनियमान करावियां, भरहेस नयणानंद।। ते मे भावे वंदिया, ए चोबीसे जिणंद।। वत्थुछंद- कम्मभूमिहिं कम्मभूमिहिं पढमसंघयणि, उक्कोसय सत्तरिसय, जिणवराण विहरंत लब्भइ, नवकोडिहिं केवलीण।। कोडिसहस्स नव साहु गम्मइ, संपइ जिणवर वीस मुणी, बिहुं कोडीहिं वरनाण, समणह कोडीसहस्स दुअ, थुणिसुं नेच्च विहाण।। जयउ सामी जयउ सामी, रिसह सिरिसतुंजि, उज्जंत पहुनेमिजिण, जयउवीर सच्चउरिमंडण, भरूअच्छेहिं मुणिसुव्वय, मुहरिपास दुहदुरियखंडण, अवरविदेहिं तित्थयरा, चिहुं दिसि विदिसि जं केवि तीआणागयसंपइय, वंदू जिण सव्वेवि।। सत्ताणवइ सहस्सा लक्खा छप्पन्न अट्ठ कोडीओ।। पंचसयं चउत्तीसा, तिअलोए चेइए वंदे।।

- *पायच्छंदगच्छ में निम्न चैत्यवंदनसूत्र बोलने की परम्परा है-*
  सिरिरिसहेसर गुणनिधान, सेवक सुखदायक, अजिते जीत्या कर्म सबल, हुवा जगनायक, संभव भवना भय हरेवि, पाम्या शिवराज, अभिनंदन जिन मुझ मिल्या, सीधा सवि काज, सुमति-सुमति दायक जिनह, सुरनर सारे सेव पद्मप्रभ जिनदंसणे, जन्म मरण संखेव।।1।। श्री सुपास मुज पूरे आश, भवना दुखवारी, चंद्रप्रभु जिनतणी, कांति देखव मनोहारी, सुविधि सुविधि परे धर्म कह्यो, तिहुयण जण साखी, शीतल संयम सिरिवरी, षट जीवसु राखी, श्री श्रेयांस पाय प्रणमिये, इग्यारमो जिणिंद, वासुपूज्य मन ध्याइअे, केवलनाण दिणिंद।।2।। विमल-विमल धीकरण, तरण भव सायर प्रवहण, जिण अनंते भव अंत कर्यो, जणे सुरनर जण, धर्म जिणेसर सोमवयण, तप तेजे दिनमणि, कृपा-करण श्री शांतिनाथ, त्रसथावर अणुदिणि, कुंथुनाथ चक्रीजगही, छट्ठो सत्तरमो धर्म, अर जिनवरपय ओलगे, लब्भे शिवपद शर्म।।3।। मल्लिनाथ दुय मल्ल दुज्झय, अंतरना जीत्या, मुनिसुव्रत व्रत्त सुष्टु धरी, लोकाग्रे पहुता, नमि नामी रतिपतिय मान, रिपु सर्व खपाव्या, श्री पार्श्वनाथ त्रेविसमो, त्रिभुवन सकल सरूप, श्री महावीर तीर्थेसरं, नमिये विविध सरूप।।4।। इणिपरे जिन चोविस थव्या, पुरूषोत्तम सिद्धा, सेव करी एक चित्त जेणे, ते साथे लीधा, यद्यपि जिणवर रागरहित, पण सेवक ने तारे, द्वेष तज्यों पण अवर लोग, सुंसंग निवारे, तिणकारण भगते भणिय, वंदु देव त्रिकाल, प्रभु तुठे वंछित फले, जाणे बालगोपाल ।।5।।

47. *विधिमार्गप्रपा, पृ.-20*
48. *वही, पृ.-21*
49. *वही, पृ.-21*
50. *वही, पृ.-21*
51. *यदि चन्दन आदि के प्रतिष्ठापित स्थापनाचार्य हों, तो अलग से स्थापनाचार्य की स्थापना करने की जरूरत नहीं रहती है, परन्तु पुस्तक, माला आदि उपकरणों की कुछ समय के लिए स्थापना की हुई हो, तो उनकी स्थापना अवश्य करनी चाहिए अर्थात प्रतिलेखना करने के पहले उनका उत्थापन करना चाहिए और प्रतिलेखना करने के बाद पुनः उनकी स्थापना करके शेष क्रिया करनी चाहिए।*
    धर्मसंग्रह भा. 1, पृ. 257
52. *विधिमार्गप्रपा, पृ.-21*
53. *श्री श्राद्धप्रतिक्रमणसूत्र-प्रबोधटीका, भा.-3, पृ.-547*

54. पंचप्रतिक्रमणसूत्र (अचलगच्छीय), पृ.-125
55. पंचप्रतिक्रमणसूत्र विधिसहित (पार्श्वचन्द्रगच्छीय), पृ.-242
56. विधिमार्गप्रपा, पृ.-21
57. निम्न चारों प्रकार के मांडला पाठों में प्रत्येक में आसन्ने-मज्झे-दूरे इस प्रकार तीन-तीन स्थान विशेष कारण से रखे जाते हैं। यदि रात्रि में बाहर की भूमि पर कोई बैल आदि पशुओं का और अंदर की भूमि में कुंथु आदि जीवों का उपद्रव हो जाए, तो समीप की जगह छोड़कर मध्य की जगह और मध्य की जगह में भी उपद्रव हो जाए, तो दूर की जगह-इस तरह तीन में से किसी एक स्थान का यथासंभव उपयोग कर सकते हैं। आगाढ़ कारण-विशिष्ट रोग या चोर आदि का भय हो, अथवा संयम का उपघात हो-इन विशेष कारणों में उपाश्रय के बाहर नहीं जाना चाहिए। इसी तरह अणहियास-अहियासे यानी मल-मूत्र सम्बन्धी सह्य-असह्य स्थिति के आधार पर भी दूर, मध्य एवं समीप वाले स्थान का उपयोग करना चाहिए। धर्मसंग्रह, भा.-1, पृ.- 261-62
58. विधिमार्गप्रपा, पृ.-20
59. श्रावकपंचप्रतिक्रमणसूत्र-विधिसहित(खरतरगच्छ), पृ.-129-133
60. उपधानविधि तथा पोसहविधि, संपा.-कंचनविजयगणि, पृ.-45-47
61. श्रावकपंचप्रतिक्रमणसूत्र (अचलगच्छीय), पृ.-126-28
62. पंचप्रतिक्रमणसूत्रविधि (पायच्छंदगच्छ), पृ.247-249
63. स्वाध्यायसमुच्चय (त्रिस्तुतिगच्छ), पृ.-232-40
64. खरतर-आम्नाय में सामायिकव्रत एवं पौषधव्रत को पूर्ण करते समय 'भयवं दंसणभद्दो' का सूत्रपाठ बोला जाता है जो निम्न है-

भयवं दसण्णभद्दो सुदंसणो थूलिभद्द वयरो य।
सफली कय गिह चाया, साहू एवं विहा हुंति ।।1।।
साहूण वंदणेणं, नासइ पावं असंकिआ भावा।
फासुअ दाणे निज्जर, अभिग्गहो नाणमाईणं ।।2।।
छउमत्थो मूढमणो, कितिय मित्तंपि संभरइ 'जीवो।
जं च न संभरामि अहं, मिच्छामि दुक्कडं तस्स ।।3।।
जं जं मणेण चिंतिय, मसुहं वायाए भासियं किंचि।
असुहं काएण कयं, मिच्छामि दुक्कडं तस्स ।।4।।
सामाइय पोसह संट्ठियस्स, जीवस्स जाइ जो कालो।
सो सफलो बोधव्वो, सेसो संसारफलहेऊ ।।5।।

सामायिक विधि से लिया, विधि से किया, विधि से करते हुए कोई अविधि-आशातना लगी हो, दस मन के, दस वचन के बारह काया के इन बत्तीस दोषों में से जो कोई दोष लगा हो, वह सब मन-वचन-काया से मिच्छामि दुक्कडं।

65. तपागच्छीय आम्नाय के अनुसार पौषध पारने का सूत्रपाठ निम्न हैं-

सागर चंदो कामो, चंदवडिंसो सुदंसणो धन्नो,
जेसिं पोसह पडिमा, अखंडिआ जीविअं तेवि ।।1।।

धन्ना सलाहणिज्जा, सुलसा आणंद कामदेव य,
जास पसंसइ भयवं, दिढव्वयत्तं महावीरो ।।2।।

पोसह विधिए लीधो, विधिए पार्यो, विधि करतां जे कोई अविधि हुओ होय ते सविहु मन, वचन, कायाए करी तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

66. तपागच्छीय परम्परा में सामायिक पारने का सूत्रपाठ यह है-

सामाइय वयजुत्तो, जावमणे होई नियम संजुत्तो,
छिन्नई असुहं कम्मं, सामाइय जत्तिआ वारा ।।1।।

सामाइयंमि उक्खे, समणो इव सावओ, हवइ जम्हा,
एएण कारणेणं, बहुसो सामाइयं कुज्जा ।।2।।

सामायिक-विधि से लिया, विधि से पारा, विधि करते जो कोई अविधि हुई हो, वे सब मन, वचन, काया से तस्स मिच्छामि दुक्कडं, दस मन के, दस वचन के, बारह काया के-इन बत्तीस दोषों में से जो कोई दोष लगा हो, वह सब मन-वचन-काया से तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

उपधानपोसहविधि, पृ. 48-59

67. श्रावकपंचप्रतिक्रमणसूत्र (अचलगच्छीय), पृ.-128

68. पायच्छंदगच्छीय आम्नाय के अनुसार पौषध पारने का सूत्रपाठ निम्न प्रकार है-

सागर चंदो कामो, चंदवडिंसो सुदंसणो धन्नो।
जेसिं पोसह पडिमा, अखंडिया जीवयं तेवि।।1।।

जे तव सोसिय काया, ते सव्वे हुंति संथुआ जाया।
आणंद कामदेवा, सुसाविया दसवि ते धन्ना ।।2।।

धन्ना सलाहणिज्जा, सुलसा आणंद कामदेवाय।
जेसिं पसंसइ भयवं, दढव्वयं तं महावीरो ।।3।।

पोसहेसु सुहे भावे, असुहाइं खवेइ नत्थि संदेहो।
छिंदइ तिरि निरय गईं, पोसह विहिं अप्पमत्तोया।।4।।

पोसइ सामाइय संठ्ठियस्स जीवस्स जाइ जो कालो।
सो सफलो बोधव्वो सेसो संसार फलहेउ।।5।।

पंचप्रतिक्रमणसूत्र-विधिसहित, पृ.-250

69. पंचप्रतिक्रमणसूत्रविधिसहित(पार्श्वचन्द्रगच्छीय), पृ. 250-51
70. स्वाध्यायसमुच्चय, पृ. 231
71. स्थानकवासी परम्परानुसार पौषध पारने का सूत्रपाठ यह है-
एयस्स एगारसस्स पोसहवयस्स पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तं जहा ते आलोउँ–
अप्पडिलेहिय-दुप्पडिलेहिय सेज्जासंथारए,
अप्पमाज्जिय-दुप्पमज्जिय सेज्जासंथारए,
अप्पमज्जिय-दुप्पडिलेहिय उच्चारपासवण भूमि,
अप्पमज्जिय-दुप्पमज्जिय उच्चारपासवण भूमि,
पोसहस्ससम्मं अणणुपालणया। जो मे देवसिओ अइयारो कओ तस्स मिच्छामि दुक्कडं।

मंगलसाधना, पृ.-122

72. तिलकाचार्यसामाचारी, पृ.-15
73. वही, पृ.-16
74. जिनवल्लभसूरि-ग्रन्थावली, संपा-महो. विनयसागर, पृ.-38
75. विधिमार्गप्रपा, पृ.-19.
76. तिलकाचार्यसामाचारी, पृ.-16
77. जिनवल्लभसूरि-ग्रन्थावली, पृ.-43
78. तिलकाचार्यसामाचारी, पृ.-17
79. सामाचारीप्रकरण, पृ.-13
80. जिनवल्लभसूरी-ग्रन्थावली, पृ.-43
81. विधिमार्गप्रपा, पृ.-21
82. सामाचारीप्रकरण, पृ.-13
83. विधिमार्गप्रपा, पृ.-21
84. तिलकाचार्यसामाचारी, पृ.-17
85. सुत्तनिपात, 26/25-27
86. अंगुत्तरनिकाय, 3/37 उद्धृत-जैन, बौद्ध और गीता का तुलनात्मक अध्ययन, पृ.298

●

अध्याय - 6

उपधान तपवहन विधि का सर्वाङ्गीण अध्ययन

उपधान सम्यक् तपाराधना के साथ विशिष्ट क्रियाओं का अलौकिक उपक्रम है। यह एक आध्यात्मिक शिविर है, जिसमें श्रेष्ठ प्रक्रिया के द्वारा सत्संस्कारों का बीजारोपण किया जाता है। शरीर एवं उससे सम्बन्धित वस्तुओं और व्यक्तियों के प्रति हमारा जो ममत्व है तथा तज्जनित ममत्व के कारण हमारी जो मानसिक, वाचिक और कायिक दुष्प्रवृत्तियाँ होती हैं, उनके संशोधन का यह सफल उपाय है। ममत्व रूपी रोग के हरण की यह रामबाण औषधि है। इसके लिए शर्त यही है कि इसे ज्ञान और विवेक रूपी पथ्य का पालन करते हुए अपनाया जाए।

सामान्यत: उपधान की आराधना तप पूर्वक होती है। इसमें तप, ज्ञान और चारित्र की मुख्यता रहती है। इस आराधना में प्रविष्ट व्यक्ति मुनि-जीवन से सम्बन्धित कई नियमों का पालन करता है जैसे-स्नान नहीं करना, मंजन नहीं करना, गद्दे पर नहीं सोना, तकिए का उपयोग नहीं करना, तेल आदि नहीं लगाना, शरीर की विभूषा नहीं करना, अकारण पौषधशाला(उपाश्रय) से बाहर नहीं जाना, निष्प्रयोजन इधर-उधर नहीं देखना, मौनव्रत में रहना, समभाव की साधना करना, विकथा आदि से दूर रहना, स्वाध्याय-ध्यान आदि में लीन रहना, वस्त्र-पात्र-संथारा आदि आवश्यक वस्तुओं की सम्यक् प्रतिलेखना करना, सदा अप्रमत्त रहना आदि। इस प्रकार उपधान तप की आराधना मुनिचर्या के समकक्ष होती है।

जो उपधानवाही निर्धारित नियमों का अनुपालन नहीं कर पाते हैं, उनके लिए प्रायश्चित्त-विधान की व्यवस्था है अत: उपधान तप का अनुष्ठान सजगता एवं सतर्कतापूर्वक किया जाना चाहिए।

उपधान शब्द का अर्थ विन्यास

जैन ग्रन्थों में उपधान के निम्नलिखित अर्थ प्रतिपादित हैं-

- उप+धान इन दो पदों के योग से उपधान शब्द निष्पन्न है। उप-समीप,

धान-धारण करना अर्थात परमात्मा एवं सद्गुरू के सान्निध्य को स्वीकार कर उनके समीप में सूत्र आदि धारण करना उपधान है।

• उपधान शब्द का प्राकृत रूप 'उवहाण' है। 'उवहाण' का अर्थ करते हुए कहा गया है-

उप-आत्मा निकट में जानो, कर्मों की हान पिछानो।
अपहाण अर्थ विज्ञानो, शिवसाधन सिद्धि निधानो।।

आत्मा के समीप रहते हुए ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का क्षय करना अथवा जो क्रिया कर्मों का नाश कर आत्मदर्शन करा दे, वह उपधान है।

• सामान्य अर्थ के अनुसार सुयोग्य सद्गुरू के पास शास्त्रोक्त रीति से तपपूर्वक सूत्र और अर्थ का अध्ययन करना उपधान है।[1]

• उपधान का निरूक्तिपरक अर्थ करते हुए कहा गया है कि

''उपधीयन्ते-सुगुरू मुखान्नवकार मन्त्राणि सूत्राणि यथाविधि धार्यन्ते-गृह्यन्ते ये न तपसेति तत् उपधान तप इति व्याह्रियते''

सद्गुरू के सन्निकट रहते हुए तपपूर्वक उनके मुखारविन्द से नमस्कार मन्त्र आदि सूत्र जो यथाविधि धारण किए जाते हैं, ग्रहण किए जाते हैं, वह उपधान है।

• आचारांगनिर्युक्ति में उपधान शब्द का अर्थ इस प्रकार किया गया है-

''भावोपधानं ज्ञानादितपो वा वीरवर्द्धमानस्वामिना स्वतोऽनुष्ठितमतोऽन्येनाऽपि मुमुक्षुणैतदनुष्ठेयमिति''

भाव उपधान ज्ञानादि तपरूप है। तीर्थंकर परमात्मा वर्धमानस्वामी ने भाव उपधान का आचरण किया था, अत: अन्य मुमुक्षुओं को भी भाव उपधान करना चाहिए।[2]

• आचारांगसूत्र के प्रथम श्रुतस्कंध का नौवाँ अध्ययन 'उपधानश्रुत' नाम का ही है। इसमें परमात्मा महावीरस्वामी द्वारा साढ़े बारह वर्ष और पन्द्रह दिन अप्रमत्तदशा पूर्वक ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की जो कठोर साधना की गई, उसे उपधान तप कहा है। परमात्मा महावीर द्वारा आचरित यह उपधान, भाव उपधान था। उसका अनंतर फल केवलज्ञान और परंपरा फल निर्वाण की प्राप्ति है।

• आचारांगसूत्र की टीका में उपधान के दो भेद किए गए हैं[3]-

1. द्रव्य उपधान और 2. भाव उपधान। सुखपूर्वक निद्रा लेने के लिए तकिया आदि का आधार लेना द्रव्य उपधान है। इस प्रकार उपधान शब्द का एक अर्थ तकिया भी है। जिस क्रिया द्वारा ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपरूप आत्मा की पुष्टि होती है, वह भाव उपधान है। परमात्मा महावीर ने द्रव्य और भाव दोनों उपधान की साधना की थी।

- स्थानांगटीका में 'उपधान' की यह व्याख्या की गई है [4]-

''मोक्षं प्रत्युपसामीप्येनदधातीत्युपधानम्। अनशनादिके तपसि'' अर्थात जो आत्मा को मोक्ष के निकट रखता है-ऐसा अनशन आदि तप उपधान है। यही व्याख्या आवश्यकसूत्र और पंचवस्तुक की वृत्तियों में भी बतलाई गई है।

- भगवती टीका में उपधान की परिभाषा देते हुए लिखा गया है कि **''उपदधाति-पुष्टिं नयति अनेनेत्युपधानम्''** अर्थात जिस क्रिया द्वारा आत्मा पुष्टि को प्राप्त होती है, वह उपधान है।[5] यहाँ आत्म पुष्टि से तात्पर्य जीव का ज्ञानादि गुण पुष्ट होने से है।

उपधान तप की साधना से ज्ञान आदि की प्राप्ति, उनकी शुद्धि एवं वृद्धि होती है। जैसे वाचनापूर्वक सूत्रादि का अध्ययन करने से ज्ञान की पुष्टि होती है, सामायिक-पौषध आदि क्रियाओं द्वारा चारित्र की पुष्टि होती है, उपवास, आयंबिल, नीवि द्वारा बाह्यतप और स्वाध्याय, कायोत्सर्ग, ध्यान आदि के द्वारा आभ्यंतर तप की पुष्टि होती है। इसी प्रकार उपधान वहन के द्वारा ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की स्वतः पुष्टि होती है।

- दशाश्रुतस्कंधसूत्र की टीका एवं पंचाशकटीका में उपधान की व्याख्या करते हुए श्रुत ज्ञान की प्राप्ति के साधन को उपधान कहा गया है।[6] वह व्युत्पत्ति इस प्रकार है-

''उपधीयते उपष्टभ्यते श्रुतमनेनेति उपधानम्''

अर्थात जिसके द्वारा श्रुतज्ञान की प्राप्ति हो, वह साधन उपधान है। इसमें यह भी कहा गया है कि-

''चारित्रोपष्टमनहेतौ श्रुतविषये उपचारे''

अर्थात जो चारित्र की पुष्टि में हेतु है, उस ज्ञान को विधिपूर्वक ग्रहण करना उपचार से उपधान है।

- व्यवहारटीका के अनुसार जो अध्ययन को पुष्ट करे, वह उपधान है।[7]

• निशीथचूर्णि में उपधान का स्वरूप बताते हुए यह निर्दिष्ट किया है कि जो दुर्गति में गिरती हुई आत्मा को धारण करके रखता है, वह उपधान है।[8]

• उत्तराध्ययनटीका में विशिष्ट तप को उपधान कहा गया है। इसी के साथ अंग, उपांग आदि आगम शास्त्रों का अध्ययन एवं उनकी आराधना के लिए आयंबिल, उपवास, नीवि, आदि तप विशेष को भी उपधान कहा है। इसकी मूल व्याख्या इस प्रकार है-

''अंगानां सिद्धांतानां पठनाऽऽराधनार्थमाचाम्लोपवास निर्विकृत्यादि-लक्षणे तपोविशेषे।''[9]

उपर्युक्त उद्धरणों से सुस्पष्ट है कि आगम शास्त्रों को पढ़ने के लिए एवं शास्त्रों की आराधना करने के लिए आयंबिल आदि तप करना अनिवार्य है।

यहाँ यह तथ्य जानने योग्य है कि आगम शास्त्रों को पढ़ने का अधिकार साधु-साध्वियों को ही है। इस कारण यह तप भी उनके लिए ही विहित है अत: आगमशास्त्र पढ़ने के निमित्त उनके द्वारा जो आयंबिल आदि तप किए जाते हैं, उन्हें उपधान कह सकते हैं। सामान्यत: आगम अध्ययन हेतु साधु-साध्वी द्वारा किए जाने वाले तपविशेष को 'योगवहन' की संज्ञा दी गई है, वह भी उपधानरूप होता है।

उक्त व्याख्या से यह बात और स्पष्ट हो जाती है कि जैन साधु-साध्वियों को आगम पढ़ने का अधिकार प्राप्त करने हेतु उपधानतप (योग) करना अत्यन्त आवश्यक है। जो साधु-साध्वी शास्त्र पढ़ने में असमर्थ हैं, उनमें भी शास्त्र पढ़ने की क्षमता जागृत हो सके, इस आशय से आगमों की आराधना अवश्य करवाई जानी चाहिए, क्योंकि आराधना द्वारा ही आराधक के भाव स्थिर बनते हैं।

• गच्छाचार प्रकीर्णक और धर्मसंग्रह के अनुसार विनय-बहुमान की चतुर्भंगी द्वारा आत्म भावों की पुष्टि करने वाला कर्म उपधान है।[10]

• प्रवचनसारोद्धार की टीका के अनुसार-**''उप-समीपेधीयते- क्रियते सूत्रादिकं येन तपसा तदुपधानम्''** जिस तप द्वारा सूत्रादि को आत्मा के निकट किया जाता है, वह उपधान है। इसका तात्पर्य यह है कि आवश्यक आदि आगम सूत्रों को आत्मसात् करने के लिए जिस तप का आश्रय लिया जाता है, वह उपधान है।[11]

• आचारदिनकर में उपधान की निम्न व्याख्याएँ की गई हैं। जैसे कि आगम पढ़ने का अधिकार प्राप्त करने के लिए आवश्यक तप रूप अनुष्ठान करना उपधान है,[12] अथवा जिसके द्वारा ज्ञानादि का अध्ययन किया जाता है, सम्यक् प्रकार से ज्ञानादि का परीक्षण किया जाता है वह उपधान है अथवा चार प्रकार की संवर समाधिरूप सुखदायी शय्या(पलंग) पर उत्तम भावों के तकिए को आधार बनाकर मस्तक को आराम देना उपधान है।[13] इसमें यह भी कहा गया है कि जैन साधुओं के लिए श्रुतसामायिक का आरोपण योगोद्वहन विधि द्वारा किया जाता है और गृहस्थों के लिए श्रुतसामायिक का आरोपण उपधान वहन द्वारा होता है।[14]

• आचारप्रदीप में उपधान का स्वरूप बतलाते हुए कहा गया है कि श्रुत आराधना के लिए निश्चित किया गया विशिष्ट तप उपधान है।[15] इसका व्युत्पत्तिपरक अर्थ करते हुए कहा है कि उप-समीप में रहकर, धीयते-धारण किया जाता है अर्थात् जिस तप द्वारा सूत्रादिक पढ़ने की क्रिया की जाती है, वह उपधान है।

• उपदेशप्रासाद में कहा गया है कि श्रावक को उपधान तप करके आवश्यकसूत्र पढ़ना चाहिए और साधु को योगवहन करके आगमसूत्रों का अध्ययन करना चाहिए।[16]

उपर्युक्त व्याख्याओं से उपधान संबंधी कुछ तथ्य इस प्रकार नि:सृत होते हैं-

• उपधान एक तप प्रधान क्रिया है।

• यह तप अनुष्ठान सूत्रों के अध्ययन हेतु किया जाता है।

• इस तप साधना द्वारा चैत्यवंदन आदि सूत्र पाठों को आत्मस्थ किया जाता है।

• जैन परम्परागत आवश्यक सूत्र पाठों के अध्ययन की विशिष्ट प्रणाली है।

• यह तपोनुष्ठान पूर्वक किए जाने वाले स्वाध्याय का एक प्रकार है, जिसकी गणना आभ्यंतर तप में की गई है।

जैन दर्शन में स्वाध्याय पाँच प्रकार का माना गया है-

1. वाचना 2. पृच्छना 3. परावर्त्तना 4. अनुप्रेक्षा और 5. धर्मकथा। इनमें

आदि के चार प्रकारों का आलंबन लेने से सूत्र और अर्थ आत्मस्थ होते हैं तथा अन्तिम प्रकार द्वारा सूत्र एवं अर्थ का अन्य जीवों में विनियोग होता है। आत्मस्थ किए हुए सूत्र और अर्थ को धर्मकथा के माध्यम से ही जीवन्त रखा जा सकता है। इस प्रकार स्वाध्याय के पाँचों प्रकारों से सूत्र आत्मस्थ या समीपस्थ बनते हैं। इसका सार यह है कि ज्ञान स्वयं तप रूप है और तप से ज्ञान की उपलब्धि होती है।

समाहार रूप में कहा जा सकता है कि शास्त्रोक्त विधिपूर्वक सद्गुरू के सन्निकट रहते हुए आयंबिल आदि तप विशेष द्वारा नमस्कारमन्त्र आदि सूत्रों को धारण(ग्रहण) करना, उन सूत्रों की वाचना लेना उपधान है अथवा जो मोक्ष के समीप आत्मा को धारण करता है, वह उपधान है।

उपधान का सामान्य स्वरूप

उपधान एक आध्यात्मिक अनुष्ठान है। इसे ज्ञान साधना की प्राथमिक कक्षा कहा जा सकता है। जिस प्रकार M.B.A. या M.B.B.S. प्राप्त करने के पहले विद्यार्थी को स्वूमत Lower Classes का अध्ययन करना अनिवार्य है, उसी प्रकार श्रावक-जीवन की विशिष्ट योग्यता अर्जित करने के लिए उपधान रूपी प्रारम्भिक चरण सम्पन्न करना जरूरी है। उपधान वहन के बिना गृहस्थ सूत्र, अर्थ एवं उनके रहस्यों को जानने एवं आत्मसात् करने की योग्यता विकसित नहीं कर पाता है।

जिस प्रकार जैन मुनि के लिए आगम आदि सूत्रों को पढ़ने-पढ़ाने की योग्यता या अधिकार प्राप्त करने के लिए योगोद्वहन करना आवश्यक माना गया है, उसी प्रकार जैन श्रावकों के लिए प्रतिक्रमण आदि सूत्रों को पढ़ने-पढ़ाने की योग्यता समुपलब्ध करने हेतु उपधान करना अनिवार्य है।

जिस तरह कई प्रकार के मन्त्रों को सिद्ध करने के लिए उनकी विधि के अनुसार अमुक तपस्या करनी होती है, अमुक स्थिति में, अमुक स्थान में और अमुक आसन में बैठना होता है, अमुक संख्या में मंत्रों का एकाग्रचित्त होकर जाप करना तथा मनुष्यकृत उपसर्गों को सहन करना होता है और तब वह मंत्र सिद्ध होते हैं। उसी के बाद उन मंत्रों का यथायोग्य उपयोग किया जा सकता हैं, उसी प्रकार नमस्कार आदि सूत्रों का यथायोग्य फल प्राप्त करने के लिए अमुक तपस्या करना, अमुक स्थिति में रहना, अमुक संख्या में नमस्कार आदि मन्त्रों

का जाप करना और सद्गुरू के सान्निध्य में रहकर विधिपूर्वक वाचना लेना आदि क्रियाएँ अपेक्षित होती हैं और उन कृत्यों का त्रियोगपूर्वक पालन करना उपधान कहलाता है।

मुख्य रूप से उपधान वहन के दिनों में सूत्र एवं अर्थ का अध्ययन तथा सूत्रार्थ का विधिवत् उपयोग किस प्रकार हो, इसका अभ्यास करवाया जाता है।

उपधान तप की आवश्यकता क्यों?

संसारी आत्मा अनादिकाल से राग-द्वेषजन्य प्रवृत्तियाँ करने के कारण कर्मों से आवृत्त है। आत्मा के वास्तविक स्वरूप को प्रकट करने के लिए आवरण को हटाना अनिवार्य है। सम्यग्ज्ञान की आराधना और तदनुरूप क्रिया ही आत्म स्वरूप प्रकटीकरण एवं कर्म निवारण में सक्षम है। सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति का आधार है-कर्मों का क्षयोपशम। वह क्षयोपशम तप व संयम द्वारा ही संभव है। तप एवं संयम से आत्मा निर्मल बनती है, क्षयोपशम प्रबल बनता है, बुद्धि सूक्ष्म होकर सूत्र और अर्थ के रहस्यों को ग्रहण करने योग्य बनती है, इसलिए उपधान तप करना आवश्यक है।

उपधान की आवश्यकता का दूसरा कारण यह है कि कोई भी क्रिया विधिपूर्वक करने पर ही सिद्ध होती है। जैसे-भोजन बनाने की सामग्री एवं बाह्य साधन होने पर भी निर्माण-विधि की जानकारी न हो, तो भोजन समुचित एवं स्वादिष्ट नहीं बन सकता, वैसे ही धार्मिक क्रियाएँ भी विधि विधान के बिना फलवती नहीं बनती हैं।

इस प्रायोगिक अनुष्ठान द्वारा आवश्यक क्रियाओं को विधिपूर्वक करने का शिक्षण दिया जाता है ताकि वे क्रियाएँ मोक्ष रूपी फल को प्रदान करने वाली बन सकें, इस दृष्टि से भी उपधान एक अत्यावश्यक विधान है।

उपधान की आवश्यकता का तीसरा कारण यह है कि इस तप- अनुष्ठान के माध्यम से सूत्रार्थ के प्रति बहुमान बढ़ता है, धार्मिक कृत्यों को सम्यक् विधिपूर्वक सम्पादित करने के संस्कार बनते हैं, जिनसे संसार के प्रति वैराग्य के अंकुर भी प्रस्फुटित हो सकते हैं। चूंकि इस समय का समग्र वातावरण त्याग-वैराग्य, तप-संयम, ज्ञान-ध्यान आदि से अनुप्राणित होता है अतएव संसार की वासना और संयम की उपासना का महत्त्व समझ में आ जाता है।

उपधान तप की मौलिकता विविध दृष्टियों से

जैनागम साहित्य में कहा गया है कि आत्म साधना की प्रत्येक क्रियाएँ तथा क्रिया सहायक सूत्र योग्यता प्राप्त व्यक्ति को ही फलदायी और सिद्धिदायक बनते हैं। चौदह पूर्वों के साररूप नमस्कार महामंत्र एवं आवश्यक सूत्रों का अधिकार प्राप्त करने के लिए सद्गुरू की निश्रा में उपधान तप का वहन करना श्रावक जीवन का परम कर्त्तव्य है।

श्रमणोपासक उपधान तप द्वारा श्रमण जीवन का परम आस्वादन प्राप्त कर सकता है। उपधान में ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप प्रधान जीवन जीना होता है। जिस व्यक्ति के मोहनीयकर्म का क्षयोपशम एवं विशिष्ट पुण्योदय का प्रकटीकरण हुआ हो, वह पुण्यात्मा ही उपधान तप कर सकता है तथा उपधान तप करवाने के मनोरथ को भी पूर्ण कर सकता है। उपधान करने करवाने वाले भव्य जीव इस आराधना में त्रियोग से जुड़ जाते हैं। जिसके फलस्वरूप वे साधक एवं आयोजक दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय-कर्म का क्षयोपशम करते हुए सम्यक्दर्शन और सम्यक्चारित्र को उपलब्ध कर परम पद के भोक्ता बन सकते हैं।

वर्तमान युग में श्वेताम्बर मूर्तिपूजक जैन-समाज में उपधान तप को वहन करने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। यह तप-प्रणाली अतिप्राचीन है। महानिशीथ जैसे प्राचीन एवं प्रामाणिक ग्रन्थ में इसका स्पष्ट उल्लेख मिलता है। यह एक कष्टसाध्य अनुष्ठान है। इस अनुष्ठान को वहन करने-करवाने के लिए बहुत सी साधन सामग्रियों की जरूरत भी रहती है। मध्यकाल में कितने ही समय तक यह तप प्रवृत्ति अवरूद्ध-सी हो गई थी। पिछले 20-25 वर्षों से पुनः यह प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। इस तपोनुष्ठान में हजारों पुरूष, स्त्रियाँ, बालक-बालिकाएँ, युवक- युवतियाँ, वृद्ध-वृद्धाएँ, सभी सोत्साह सम्मिलित होते हैं, किन्तु कुछ नास्तिक आत्माएँ तत्सम्बन्धी विरोध प्रकट करती हैं, अनावश्यक तर्क, शंकाएँ, सन्देह, आदि करती हैं। उनके निरर्थक वचनों का निराकरण करने हेतु रामचन्द्रसूरि समुदायवर्ती आचार्य सम्राट् श्री कीर्तियशसूरीजी म.सा. द्वारा आलेखित कुछ बिन्दुओं को प्रस्तुत किया जा रहा है-

आर्थिक दृष्टि- जो लोग उपधान तप से होने वाले विशिष्ट लाभों से अपरिचित हैं, वे इस प्रकार का आक्षेप करते हैं कि उपधान तप वहन करने वाले

और करवाने वाले को राशि का अधिक भाग व्यय करना होता है। जो लोग आर्थिक स्थिति से कमजोर हैं, उनके लिए यह तप करना बहुत मुश्किल है। दूसरी बात उपधान तप के नकरें (धन राशि) और उपधान तप की पूर्णाहूति प्रसंग में मालारोपण के दिन की जाने वाली उछामणी (बोली) की राशि कोई विशेष कार्य के लिए उपयोग में नहीं आती है और जहाँ जरूरत नहीं है, उस देवद्रव्य में वृद्धि करने से क्या लाभ? क्योंकि उपधान तप की अवधि में जो भी उपज होती है, उस राशि का अधिकांश भाग देवद्रव्य में चला जाता है और शेष बची हुई राशि उत्सव-महोत्सव के आडम्बर में तथा साधर्मीवात्सल्य में पूरी हो जाती है, परन्तु उस राशि द्वारा समाज को किसी प्रकार का लाभ नहीं मिलता है, अत: उपधान-तप करना क्या जरूरी है?

इसके समाधान में हम यह कह सकते हैं कि जो व्यक्ति पूर्वोक्त प्रकार से उपधान तप के प्रति आक्षेप करते हैं, वे उसकी वस्तुस्थिति से सर्वथा अनभिज्ञ हैं। वस्तुत: आर्थिकदृष्टि से उपधान तप द्वारा समाज को जो लाभ मिलता है, वह अन्य अनुष्ठानों द्वारा प्राय: असंभव है। व्यावहारिक-दृष्टि से धनिक वर्ग के लिए धन के सदुपयोग करने का इससे बढ़कर अन्य कोई उपाय असंभव है।

दूसरे जो व्यक्ति ऐसा कहते हैं कि इस तप अनुष्ठान में अधिक द्रव्य व्यय होता है, उनका यह कथन बिल्कुल मिथ्या है। वस्तुस्थिति यह है कि उपधान करने वाला व्यक्ति जितने कम खर्च में जीता है, उतनी कम राशि में गृहस्थ जीवन को चलाने वाला दुर्लभ ही मिलेगा। प्रथम उपधान लगातार 47-51 दिन लगभग डेढ़ महीने का होता है। इस डेढ़ महीने के उपधान में प्रवेश करने वाले व्यक्ति को लगभग 15-17 दिन एकासना और आठ आयंबिल करने होते हैं, इस तरह लगभग 25 दिन उपवास के होते हैं। इस गणित के हिसाब से एक व्यक्ति के डेढ़ महीने तक का भोजन खर्च बीस रूपए प्रतिदिन से अधिक नहीं आता है। इसके सिवाय, उपधान तपवाही के निमित्त और कोई खर्च नहीं होता है। इसके विपरीत, जो लोग उपधान तप में प्रविष्ट नहीं होते हैं, उनका डेढ़ महीने में भोजन खर्च के अतिरिक्त नौकर-चाकर, कपड़े-गहने नाटक-सिनेमा, होटल-रेस्टोरेन्ट, कार-स्कूटर, बीड़ी-सिगरेट या अन्य व्यसन आदि का खर्च कितना आता होगा? उसमें से एक पाई का भी खर्च उपधानवाही को नहीं होता है। उपधान तप में कम से कम खाना, पहनना, नंगे पाँवों से चलना, भूमिशयन

करना, सर्व व्यसनों का त्याग करना, स्वावलम्बी जीवन जीना, स्वयं का काम स्वयं करना-इस प्रकार के नियमों का पालन करना होता है, जिनका धन-सम्पत्ति से कोई सम्बन्ध नहीं है।

इन नियमों का पालन प्रत्येक उपधानवाही को करना होता है। इस प्रकार सदाचार, संयम और त्यागयुक्त मर्यादित जीवन जीने वालों के लिए 'अधिक खर्च करने वाला' कहना, यह सूर्य को अंधकार करने वाला कहने के समान है। अब रहा दूसरा प्रश्न, उपधान कराने वाले के खर्च की बात। इस सम्बन्ध में इतना अवश्य समझ लेना चाहिए कि जो अर्थ सम्पन्न होते हैं, वे पुण्यात्मा ही इस प्रकार के अनुष्ठानों में अपनी राशि का सदुपयोग कर सकते हैं। इससे स्वयं को धर्म की उन्नति और साधर्मिक-भक्ति का लाभ तो मिलता ही है, साथ ही समाज को भी पुण्यार्जन का अवसर प्राप्त होता है।

आज अधिकांश स्कूल, महाविद्यालय, विश्वविद्यालय, चिकित्सालय आदि बनवाने में रूचि लेता है और यह मानता है कि ये सब सामाजिक लाभ के साधन हैं और धर्म निमित्त द्रव्य का व्यय करना यह पारलौकिक लाभ देने वाला है, किन्तु यह बहुत बड़ी भ्रान्ति है। वस्तुत: धर्म-निमित्त द्रव्य का व्यय करने से जो चिरस्थायी लाभ प्राप्त होता है, वैसा एक भी लाभ अन्य कार्यों में द्रव्य व्यय से नहीं होता है। इससे मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि स्कूल, कॉलेज, हास्पीटल आदि बनवाने में लाभ नहीं है, परन्तु इतना सर्वविदित है कि इनसे भौतिक लाभ तो प्राप्त होता है, लेकिन आध्यात्मिक लाभ नहीं। उदाहरणार्थ- महाविद्यालयों की जो शिक्षा प्रणाली एवं वहाँ की जो स्थिति है, उससे हमारी आर्य-संस्कृति का ह्रास हो रहा है।

अन्तिम विचारणीय पक्ष है देवद्रव्य की वृद्धि। उपधान में प्राप्त धन राशि से तथा मालारोपण की उछामणी(बोली) से देवद्रव्य की वृद्धि होती है, यह बात बिल्कुल सत्य है, किन्तु देवद्रव्य की वृद्धि से किसी प्रकार का अनिष्ट होता है ऐसी कल्पना करना मिथ्या है। उपधान की धनराशि उपधानवाही देते हैं और उछामणी उपधान में प्रवेश करने वालों में से कोई-सम्पन्न वर्ग वाला बोलता है। इस हेतु नकरा(धनराशि) देना और बोली बोलना सभी के लिए जरूरी नहीं है। यह सब अपनी इच्छा और स्थिति पर निर्भर है, परन्तु डेढ़ माह लगभग महान् आराधना जिन देवाधिदेव परमात्मा की कृपा से निर्विघ्न पूर्ण हुई है, उनकी

भक्ति करना सामान्य लोक व्यवहार है। यह उल्लेखनीय है कि उपधान का नकरा इतना कम होता है कि डेढ़ महीना में एक व्यक्ति अपने शरीर के लिए जितना खर्च करता है उसका आधा भाग भी नकरें का नहीं होता। इतना द्रव्य तो परमात्म भक्ति के निमित्त खर्च करना ही चाहिए।

शारीरिक दृष्टि- कुछ लोग शरीर की दृष्टि से यह आक्षेप करते हैं कि उपवास या आयंबिल जैसे कठिन तप करने पर शरीर निर्बल और रोगी बनता है, अतः शरीर को स्वस्थ रखना है तो जिम और हेल्थ सेंटर आदि ही पर्याप्त है।

उपरोक्त तर्क सारहीन है। तपस्या द्वारा शरीर और आरोग्य को कभी हानि नहीं पहुँचती है। शारीरिक निर्बलता का मुख्य कारण विषयाधीनता है। जो भोगविलास एवं विषयवासनाओं में लीन रहते हैं, उनका शरीर निर्बल और रोग ग्रसित रहता है। तप द्वारा तो विषय वासनाएँ छूटती हैं, ब्रह्मचर्य निर्मल बनता है, संयमशक्ति की वृद्धि होती है, मानसिक विकार मन्द होते हैं, धार्मिक भाव प्रकट होते हैं और व्यसनादि से मुक्ति मिलती है। आधुनिक युग के बड़े-बड़े शरीरशास्त्रियों और वैज्ञानिकों ने इस बात को स्वीकार किया है कि जीवन को रोगमुक्त बनाने और उसके वास्तविक आस्वाद प्राप्त करने के लिए उपवास आदि विविध तप मानव के लिए अनिवार्य है।

जिस प्रकार आर्थिक संपत्ति का मुख्य आधार पूर्वकृत पुण्य है, उसी प्रकार शरीर-संपत्ति का मुख्य आधार तप है। संसार विज्ञों ने शरीर की सुन्दरता और सुडौलता के लिए जितनी जरूरत व्यायाम की मानी है, ज्ञानी पुरूषों ने उससे कई गुना अधिक तप को आत्मोन्नति के लिए आवश्यक स्वीकार किया है। उपधान द्वारा तप करने का अभ्यास होता है। खमासमण, कायोत्सर्ग आदि के द्वारा व्यायाम हो जाने से शरीर बल तो बढ़ता ही है, आरोग्य भी प्राप्त होता है। इस व्यायाम का उद्देश्य शारीरिक बल को बढ़ाना नहीं है। यद्यपि इस प्रकार उक्त वर्णन से यह सिद्ध होता है कि उपधान तप करने से शरीर निर्बल होने के बजाय सशक्त और आरोग्य-क्षीण होने के बदले स्वस्थ बनता है। अन्य भी कईं लाभ इस अनुष्ठान द्वारा प्राप्त होते हैं।

उपधानवाही उपधानतप पूर्ण होने पर बाह्यदृष्टि से उपधानवाही शरीर अवश्य कृश लगता है, परन्तु उसके मुख की कान्ति और आँखों का तेज बढ़

जाता है। शरीर का अनावश्यक भाग, यथा-मेद और चरबी घट जाते हैं तथा भविष्य की अपेक्षा भी कई शारीरिक रोगों से मुक्ति मिल जाती है, अतः यह तप साधना शरीर की दृष्टि से अनन्य लाभदायी है।

धार्मिक दृष्टि- आजकल अनेक लोग यह प्रश्न या आक्षेप करते हैं कि वर्तमान में उपधानवहन की जो प्रणाली है, वह शास्त्रोक्त नहीं है, क्योंकि किसी भी जिनागम में वर्तमान में प्रचलित विधि का उल्लेख नहीं मिलता है, अर्वाचीन आचार्यों को जैसा सही लगा, वैसी आराधना करवाने लगे। उपधान तप में प्रतिदिन बीस-बीस नवकारवाली गिनना, सौ लोगस्स का कायोत्सर्ग करना और सौ खमासमण देना आदि कई क्रियाएँ आजकल करवाने लगे हैं, उनका उल्लेख किन शास्त्रों में हैं ?

आचार्य कीर्तियशसूरिजी महाराज साहब की दृष्टि से ऐसे प्रश्न उठाने वालों को सबसे पहले तो शास्त्र वचन के प्रति श्रद्धा नहीं है और यदि शास्त्रवचन के प्रति श्रद्धा है, तो उन लोगों को यह समझना चाहिए कि जिनशासन में साधु और श्रावक की वर्तमान सामाचारी अर्थात आचरणयोग्य व्रत एवं क्रियाएँ, उपयोग में आने वाले उपकरणों तथा धर्म के निमित्त हो रही समस्त प्रवृत्तियाँ 'जीतव्यवहार' के अनुसार चल रही है।

स्थानांगसूत्र में पाँच प्रकार के व्यवहार बताए गए हैं-[17] 1. आगमव्यवहार 2. श्रुतव्यवहार 3. आज्ञाव्यवहार 4. धारणाव्यवहार और 5. जीतव्यवहार। इन पाँचों व्यवहारों में से वर्तमान में केवल पाँचवां 'जीतव्यवहार' ही विद्यमान है। आगमव्यवहार आदि का प्रचलन पूर्वधरों के काल में था।

जीत अर्थात आचरणा और आचरणा का मतलब अशठ, भवभीरू और संविग्न गीतार्थों द्वारा आचरित प्रवृत्ति। आगम वचनों को ध्यान में रखकर, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और पुरूषादि की योग्यता का विचार करके, संयम की वृद्धि करने वाला और अन्य संविग्न गीतार्थ मुनियों द्वारा मान्य किया गया प्रवर्त्तन आचरणा कहलाता है। इस आचरणा के आधार पर ही पंचमकाल के अंत तक प्रभु महावीर का शासन चलने वाला है।

न्यायाचार्य महोपाध्याय श्री यशोविजयजी ने भाषास्तवन, जो कि 350 गाथाबद्ध है उसकी 14वीं ढाल में उक्त बात का समर्थन करते हुए कहा है-

''व्यवहार पाँचे भाषिया, अनुक्रमे जेह प्रधान
आज तो तेमां 'जीत' छे, ते त्यजीये हो केम वगर निदान साहेबजी
साची ताहरी वाणी''

अर्थात पाँच प्रकार के व्यवहार कहे गए हैं उनमें से आज 'जीतव्यवहार' प्रधान है। उसका त्याग किसी भी परिस्थिति में नहीं हो सकता है।[18]

सुस्पष्ट है कि जीतव्यवहार का पालन करना शास्त्राज्ञा का पालन है और उसका उत्थापन करना शास्त्राज्ञा का उत्थापन करना है। वर्तमान में खमासमण, कायोत्सर्ग आदि विविध क्रियाएँ 'जीतव्यवहार' के अनुसार चल रही हैं, इसमें शंका करने का कोई स्थान नहीं है।

'आयरणा विहु आणत्ति'-वचन को ध्यान में रखते हुए प्रवर्त्तित सभी क्रियाएँ नि:शंक होकर करनी चाहिए। तत्त्वत: यह आचरणा मूल आगमों के आधार पर ही प्रवर्त्तित होती है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि उपधान तप आर्थिक, शारीरिक और धार्मिक-तीनों दृष्टियों से हितकारी है। उपधान तप करने वाला, करवाने वाला एवं उपधान-तप की अनुमोदना करने वाला सभी के लिए यह एकांतत: लाभदायक है। इसके निमित्त होने वाला धनव्यय पूर्णत: सार्थक होता है तथा शरीर का श्रम पूरी तरह से सफल होता है। इससे तीर्थंकरों के आज्ञा की आराधना होती है, शास्त्र का बहुमान होता है और संसार तारक पंचमंगल महाश्रुतस्कन्ध आदि श्रुत की भक्ति होती है। महीनों तक प्रतिदिन आठ प्रहर का पौषध ग्रहण करने से मुनि जीवन की भाँति सर्वविरति की परिपालना होती है। पौषधव्रत में नियमित रूप से देववंदन और गुरूवंदन आदि की क्रिया होने से वीतरागदेव और निर्ग्रन्थ गुरूओं की भक्ति होती है। संघ का समागम होने से साधर्मिक भक्ति का लाभ मिलता है, धार्मिक-कार्य होते हैं और श्री तीर्थंकर भगवन्तों द्वारा स्थापित धर्मतीर्थ की अनेक प्रकार से सेवा होती है। वीतराग देव द्वारा स्थापित धर्मतीर्थ की पुष्टि होने से सर्वक्षेत्रों और सर्वपात्रों की पुष्टि होती है, ज्ञान बढ़ता है, दर्शन बढ़ता है, चारित्र बढ़ता है, दान बढ़ता है, दया बढ़ती है, अहिंसा बढ़ती है, संयम बढ़ता है-इस प्रकार इस जगत् में जितनी सारभूत और हितकारी वस्तुएँ हैं, उन सभी की वृद्धि होती है। शास्त्र निर्दिष्ट इस तप अनुष्ठान की विधि को श्रद्धापूर्वक करने-करवाने से शासन, संघ और धर्म की महान् सेवा

होती है। शासन, संघ और धर्म की सेवा करने से चराचर विश्व की सेवा हो जाती है अत: उपधान तप में किसी प्रकार का विरोधाभास नहीं है।

उपधान का लोकोत्तर माहात्म्य

उपधान एक आवश्यक अनुष्ठान है। आचारप्रदीप में कहा गया है कि श्रुतज्ञान की प्राप्ति के लिए साधक को विधिपूर्वक उपधान करना चाहिए।[19]

कुछ लोग कहते हैं नमस्कारमन्त्रादि को पढ़ने के लिए उपधान करना क्यों आवश्यक है? यदि उपधान किए बिना ही नमस्कारमंत्र आदि सूत्रपाठ पढ़ लिए जाए, तो क्या दोष लगता है? इस तप का माहात्म्य क्या है? यह अनुष्ठान क्यों किया जाना चाहिए? इसका समाधान महानिशीथ आदि सूत्रों के माध्यम से सहजतया दिया जा सकता है।

महानिशीथसूत्र में इसका महत्व बतलाते हुए कहा गया है,- जिस प्रकार साधुओं के लिए योगवहन किए बिना आगम (शास्त्रवचन) पठन आदि शुद्ध नहीं होते हैं, उसी प्रकार श्रावकों के लिए भी उपधान तप किए बिना नमस्कारादि सूत्र पढ़ना, याद करना आदि शुद्ध नहीं होते हैं।[20] जो लोग उपधानतप को नहीं मानते हैं, या उसके प्रति रूचि नहीं रखते हैं, उनके लिए यह ज्ञातव्य है कि महानिशीथसूत्र में अकाल, अविनय, अबहुमान, अनुपधान आदि आठ प्रकार के ज्ञानकुशील कहे गए हैं, उनमें अनुपधान कुशील को महादोष वाला बताया है।[21]

भगवान् महावीर ने गौतमस्वामी को इस अनुष्ठान के महत्व का मूल्यांकन करते हुए कहा है- हे गौतम! जो कोई व्यक्ति उपधान किए बिना सुप्रशस्तज्ञान को पढ़ता है, पढ़ाता है या पढ़ते हुए की अनुमोदना करता है, वह महापापकर्म का बंधन करता है और ज्ञान की महान् आशातना करता है।[22] इस प्रकार महानिशीथसूत्र में उपधान तप किए बिना नमस्कारादि सूत्र पढ़ने आदि का सर्वथा निषेध किया गया है।

यद्यपि वर्तमान में द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि की अपेक्षा लाभालाभ का विचार करके आचरणा से उपधान किए बिना भी सूत्रपाठादि को ग्रहण करते-करवाते हुए देखा जाता है, परन्तु जिसने पूर्वकाल में नमस्कारादि सूत्रों को पढ़ लिया है, उस व्यक्ति को भी जब सद्गुरू का योग संप्राप्त हो जाए, तब अविलंबतापूर्वक उपधान-तप अवश्य कर लेना चाहिए।

उपधान की अनिवार्यता को बताते हुए आचारप्रदीप में यहाँ तक कहा गया है- जो व्यक्ति आजीविका का निर्वाह करने हेतु सांसारिक कार्यों में रच पच गए हैं अथवा प्रमाद आदि के कारण उपधान आराधना नहीं करते हैं, उनके द्वारा किए गए नमस्कार महामंत्र का स्मरण, देववंदन, ईर्यापथिक-प्रतिक्रमण आदि रूप धार्मिक कार्य इस जन्म में किसी भी प्रकार से शुद्ध नहीं होते हैं तथा आगामी भव के लिए भी उपधानविहीन धर्मक्रिया श्रुतलाभ की प्राप्ति में कारण नहीं बनती है, क्योंकि ज्ञानविराधक के लिए ज्ञान की प्राप्ति करना दुर्लभ हो जाता है। यह प्रत्यक्षसिद्ध है, अत: ज्ञानाराधकों को उपधान विधि में पूर्ण सामर्थ्य के साथ प्रयत्न करना चाहिए।[23]

महानिशीथसूत्र में गौतमस्वामी ने यह प्रश्न किया है- हे भगवन् ! पंचमंगल महाश्रुतस्कन्ध का विनयोपधान अत्यन्त कठिन है, बालजीव यह उपधान किस प्रकार कर सकते हैं? तब भगवान् उत्तर देते हैं- हे गौतम ! जो जीव विनययुक्त उपधान की कठिन विधि को वहन करने की इच्छा नहीं रखते हैं, अथवा अविनयपूर्वक उपधान किए बिना ही पंचमंगल आदि श्रुतज्ञान को पढ़ते हैं, पढ़ाते हैं, या पढ़ने-पढ़ाने वाले की अनुमोदना करते हैं, वे प्रियधर्मी, दृढ़धर्मी, भक्तिमान आदि गुणों से युक्त नहीं होते हैं। वे गुरू की आशातना करते हैं, अतीत-अनागत-वर्तमान तीर्थंकर की आशातना करते हैं, श्रुतज्ञान की आशातना करते हैं, आचार्य-उपाध्याय-साधुओं की आशातना करते हैं। परिणामस्वरूप अनंत संसार समुद्र में भटकते रहते हैं तथा संवृत, विवृत चौरासी लाख संख्यावाली शीत, उष्ण व मिश्र योनियों में दीर्घकाल तक पराधीन होकर दु:ख भोगते रहते है।[24]

हे गौतम ! यदि वह बाल जीव तप करने में असमर्थ हो या अरूचिवाला हो, तो धर्मकथाओं द्वारा सूत्र के प्रति भक्ति पैदा करवानी चाहिए। जब वह प्रियधर्मी, दृढ़धर्मी और भक्तियुक्त बन जाए, तब सामर्थ्य के अनुसार तपपूर्वक उपधान करवाना चाहिए। महानिशीथसूत्र में बाल जीवों के लिए उपधान-तप का परिमाण पूरा करने हेतु आपवादिक तपविधि इस प्रकार कही गई है[25]-

द्विविध, त्रिविध या चतुर्विध-आहार के त्यागपूर्वक रात्रिभोजन का त्याग करना। उस रात्रिभोजन के त्यागपूर्वक पैंतालीस नवकारसी = एक उपवास, चौबीस पौरूषी = एक उपवास, बारह पुरिमड्ढ = एक उपवास, दस अवड्ढ

= एक उपवास, चार एकलठाणा = एक उपवास, तीन नीवि = एक उपवास, दो आयंबिल = एक उपवास तथा एक शुद्ध आयंबिल = एक उपवास होता है।

इस प्रकार अल्पवयी एवं असमर्थ व्यक्ति निर्दिष्ट तप-परिमाण को आपवादिक विधि से भी पूर्ण कर सकता है। जब नमस्कारमंत्र का तप परिमाण पूर्ण हो जाए अर्थात आठ उपवास और आठ आयंबिल-परिमाण जितना तप नवकारसी आदि के द्वारा पूरा कर लिया जाए, तब ही उन्हें नमस्कारसूत्र की वाचना देना चाहिए। यथोक्त तप की परिपूर्ति न होने तक वाचना नहीं देना चाहिए।

पुनः भगवान महावीर कहते हैं-

हे गौतम ! तप का अनिवर्चनीय महत्त्व है। व्यापार का त्याग करके रौद्रध्यान में एकाग्रचित्त बनी हुई आत्मा द्वारा किया गया एक आयंबिल मासक्षमण तप से बढ़कर होता है।[26]

हे भगवन् ! इस विधिपूर्वक उपधान करते हुए तो बहुत समय बीत जाएगा। यदि वह जीव बीच में ही कालधर्म को प्राप्त हो जाए, तो नमस्कारमहामंत्र से रहित वह किस प्रकार मोक्षमार्ग को साध सकता है?

हे गौतम ! जिस समय से आराधक (बालजीवादि) सूत्रों की आराधना के लिए निश्छल भावयुक्त होकर यथाशक्ति तप का प्रारंभ कर देता है, उस समय से ही उस जीव को सूत्र-अर्थ पढ़ा हुआ जानना चाहिए, क्योंकि वह पंचमंगलसूत्र को विधिपूर्वक ग्रहण कर रहा है। वह सूत्रार्थ को ग्रहण करने के अध्यवसाय वाला होने से ही आराधक कहा जाता है। जैन विचारणा में सर्वत्र भावों का प्राधान्य रहा हुआ है।[27]

हे भगवन् ! किसी जीव को श्रुतज्ञानावरण का क्षयोपशम होने के कारण सुनने मात्र से नमस्कारमंत्र का सूत्रपाठ याद हो जाए, तो क्या उस जीव को भी तपोपधान करना चाहिए?

हे गौतम ! उस जीव को भी उपधान करना चाहिए।

हे भगवन् ! उस जीव को उपधान क्यों करना चाहिए?

हे गौतम् ! सुलभबोधि बनने के लिए उपधान करना चाहिए, अन्यथा वह ज्ञान कुशील कहलाता है।[28]

मानदेवसूरिकृत उपधानप्रकरण में उपधान का महत्व प्रतिपादित करते हुए यह उल्लिखित किया है-

• उपधान की विधियुत आराधना करने वाला व्यक्ति कभी भी अधोगति में नहीं जाता है। उसके नरक, निगोद एवं तिर्यंच गति के द्वार बंद हो जाते हैं।[29]

• उपधान करने वाला जीव अपयश नामकर्म और नीचगोत्र कर्म का बंधन नहीं करता है, उसके लिए भवान्तर में भी पंचपरमेष्ठी स्वरूप नमस्कार-महामन्त्र सुलभ हो जाता है।[30]

• वह भवान्तर में दास, भृत्य, दौर्भाग्य या नीच पुरूष के रूप में जन्म नहीं लेता है और विकलेन्द्रियता को भी प्राप्त नहीं करता है।[31]

• वह देवलोक या उच्चगति के सुख का भोक्ता बनता है।

• वह जीव आगामी पर्याय में उत्तम कुल को प्राप्त करता है। उसे सर्वांग सुन्दर काया मिलती है और वह समस्त प्रकार की कलाओं में कुशल होता है।[32]

• देवेन्द्र की भाँति ऋद्धियों का स्वामी बनता है, काम-भोग से निर्लिप्त होकर वैराग्य को उपलब्ध करता है और संयमी साधक बन जाता है। फलतः, सिद्धपुरी के शाश्वत् सुख का भोक्ता बन जाता है।[33]

उपधान का मूल्यांकन करते हुए इसमें यह भी बताया गया है कि जो व्यक्ति उपधान वहन करता है, वह भवान्तर में सुख, समाधि और जैन धर्म की प्राप्ति करता है। इतना ही नहीं, उपधान तप का विचार मात्र करने से वह आराधक की गिनती में भी आ जाता है।[34] और जो उपधान किए बिना ही देव-गुरू की अत्यंत भक्ति करने वाला हो नमस्कारमंत्र को ग्रहण करता हो, उसे नमस्कारमंत्र ग्रहण नहीं किए गए के समान ही जानना चाहिए।[35]

उपधानप्रकरण में यह भी निर्दिष्ट है कि किसी व्यक्ति को पंचमंगल आदि सूत्र सुनकर याद हो गए हों, तब भी उन सूत्रों को जो विधिपूर्वक ग्रहण करता है, वही जीव सुलभबोधि कहा जा सकता है।[36]

उक्त विवेचन से यह पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है कि सभी जीवों के लिए नमस्कारमंत्र आदि सूत्रों को उपधानपूर्वक ग्रहण करना अनिवार्य है। क्योंकि जो जीव अनुपधानपूर्वक नमस्कारमंत्र आदि सूत्र को पढ़ते हैं, उन्हें महापाप का बंध करने वाला और अनन्त संसार को बढ़ाने वाला कहा गया है इसलिए सुलभबोधि बनने के लिए विशिष्ट क्षयोपशमी जीव को भी अवश्य उपधानतप करना चाहिए।

संभव है, किसी पुण्यात्मा को उपधान-तप करने का संयोग न मिला हो और उसने नमस्कार महामंत्र आदि सूत्रों को स्वत: ही पढ़ लिया हो, तो वे सूत्र उधार लिए गए के समान जानने चाहिए। वे सूत्र उसके स्वयं के अधिकार के नहीं हो सकते, अत: ऐसे जीवों को भी जल्द-से-जल्द उपधान-तप का वहन कर लेना चाहिए।

उपधान-तप करवाए बिना वर्तमान में भी आचरणा से नमस्कार महामंत्र आदि सूत्र प्रदान करने की परम्परा चल रही है। उसमें भी यही हेतु है कि संयोग प्राप्त होने पर उन बालमजीवों को गीतार्थ गुरू की निश्रा में प्राप्त सूत्रों का उपधान वहन कर लेना चाहिए। ये सभी बातें उपधान के महत्व को दिग्दर्शित करती हैं।

उपधान के मुख्य प्रकार

जैन साहित्य में उपधान सात प्रकार का बतलाया गया है। उनके नाम ये हैं-

1. पंचमंगल महाश्रुतस्कन्ध (नमस्कारमंत्रसूत्र) उपधान 2.प्रतिक्रमण श्रुतस्कंध (इरियावहिसूत्र) उपधान 3. शक्रस्तव (णमुत्थुणंसूत्र) उपधान 4. चैत्यस्तव (अरिहंतचेईयाणंसूत्र) उपधान 5. नामस्तव (लोगस्ससूत्र) उपधान 6. श्रुतस्तव (पुक्खरवरदीसूत्र) उपधान 7. सिद्धस्तव (सिद्धाणंबुद्धाणंसूत्र) उपधान

इन सप्तविध सूत्रोपधानों के साथ तस्सउत्तरीसूत्र, अन्नत्थसूत्र, वैयावच्चगराणंसूत्र की भी वाचना दी जाती है।

प्रचलित विधि के अनुसार इन सात प्रकार के उपधानों को तीन भागों में विभाजित किया गया है। उन्हें पहला, दूसरा और तीसरा उपधान कहते हैं।

पहला उपधान- इस उपधान में 1. पंचमंगलमहाश्रुतस्कन्ध 2. इरियावहिसूत्र 3. चैत्यस्तवसूत्र 4. श्रुतस्तवसूत्र और 5. सिद्धस्तवसूत्र- इन पाँच सूत्रों का अध्ययन होता है। इस तरह प्रथम उपधान करने वाला पाँच सूत्रों को विधिपूर्वक ग्रहण करता है।

यहाँ विशेष उल्लेखनीय यह है कि महानिशीथसूत्र में वर्णित विधि के अनुसार तो सभी सूत्रों की वाचना ग्रहण करने के पश्चात् ही मालारोपण का विधान किया जाना चाहिए, किन्तु प्रचलित विधि के अनुसार उक्त पाँच सूत्रों की वाचना होने के उपरान्त भी मालारोपण- विधि कर लेते हैं तथा उपचार मात्र

से शेष सूत्रों की समुद्देश एवं अनुज्ञा-विधि भी इसी के साथ सम्पन्न कर ली जाती है। यह पहला उपधान खरतरगच्छ परम्परा में 51 दिन का और तपागच्छ परम्परा में 47 दिन का होता है।

दूसरा उपधान- इस उपधान में शक्रस्तव (णमुत्थुणंसूत्र) का अध्ययन होता है। यह उपधान प्रचलित विधि के अनुसार दोनों परम्पराओं में 35 दिन का होता है।

तीसरा उपधान- इस उपधान में नामस्तव (लोगस्ससूत्र) की वाचना ली जाती है। दोनों परम्पराओं में यह उपधान 28 दिनों में पूर्ण किया जाता है।

इस प्रकार वर्तमान में पृथक्-पृथक् रूप से तीन उपधान करके सभी सूत्रों को वहन किया जाता है। प्राचीन परम्परा में सभी सूत्र एक साथ वहन किए जाते थे, किन्तु देहबल, धृतिबल, मनोबल एवं संहननबल की क्षीणता (न्यूनता) के कारण ही मूलविधि में परिवर्तन आया है, किन्तु यह परिवर्तन भी आगमिक-आचरणा को जीवन्त बनाए रखने के उद्देश्य से किया गया है।

1. पंचमंगल महाश्रुतस्कन्ध (नमस्कारमंत्र सूत्र) उपधान

- श्री पंचमंगलमहाश्रुतस्कन्ध में 9 पद, 8 संपदा,[37] 61 लघुअक्षर और 7 गुरूअक्षर-कुल 68 अक्षर हैं, आठ अध्ययन हैं और अन्तिम तीन अध्ययन 'चूला' नाम से कहे जाते हैं।
- इसमें प्रचलित विधि के अनुसार दस उपवास और दस एकासन, ऐसे साढ़े बारह उपवास-परिमाण तप एवं दो वाचनाएँ होती हैं। प्रथम वाचना पाँच उपवासों से और दूसरी वाचना[38] साढ़े सात उपवासों से दी जाती है। यहाँ चार एकासन का एक उपवास गिनना चाहिए।

तप- महानिशीथसूत्र आदि में वर्णित प्राचीन विधि के अनुसार इस सूत्र के अध्ययन काल में क्रमशः निरन्तर पाँच उपवास, फिर लगातार आठ आयंबिल एवं तीन उपवास किए जाते हैं। इसमें 16 दिन लगते हैं। प्रचलित विधि के अनुसार एकान्तर उपवासपूर्वक धारणा में एकासना करते हुए 20 दिन में साढ़े बारह उपवास-परिमाण का तप किया जाता है।

यह मननीय है कि महानिशीथ में वर्णित विधि के अनुसार पाँच उपवास, आठ आयंबिल और अन्त में तीन उपवास मिलकर 12 उपवास होते हैं, जबकि अर्वाचीन विधि के अनुसार दस उपवास और दस एकासन करते हैं, तब 12 उपवास से कुछ अधिक यानी साढ़े बारह उपवास-परिमाण तप होता है।

वाचना- प्राचीन विधि के अनुसार इस सूत्र के प्रत्येक अध्ययन की पृथक्-पृथक् वाचनाएँ होती हैं, किन्तु अर्वाचीन विधि के अनुसार 1. णमो अरिहंताणं 2. णमो सिद्धाणं 3. णमो आयरियाणं 4. णमो उवज्झायाणं 5. णमो लोए सव्वसाहूणं। इन पाँचों अध्ययनों की एक वाचना पाँच उपवास परिमाण तप पूर्ण होने पर दी जाती है अर्थात एकासना-उपवास, एकासना-उपवास के क्रम से प्रथम वाचना नौवें दिन होती है। दूसरी वाचना 6. एसो पंच णमुक्कारो 7. सव्वपावप्पणासणो 8. मंगलाणं च सव्वेसिं, पढ़मं हवइ मंगलं-इन तीन चूला-अध्ययनों की उन्नीसवें दिन दी जाती है।[39]

- खरतर शिरोमणि, उपाध्याय श्री मणिप्रभसागरजी महाराज साहब के निर्देशानुसार खरतरगच्छ की प्रचलित परम्परा में पहले उपधान के अन्तर्गत 9 वें, 19 वें, 29 वें, 39 वें, 44वें, 50 वें, 51 वें दिन वाचना होती है। दूसरे उपधान में 7 वें, 19 वें, 34 वें दिन वाचना होती है तथा तीसरे उपधान में 7 वें, 15 वें एवं 27 वें दिन वाचना होती है।
- इस सूत्र के अध्ययन काल में 20 दिन लगते हैं अत: इस उपधान का दूसरा नाम 'वीसडंति' भी है।
- इस सूत्र की तपविधि के सम्बन्ध में एक अपवादमार्ग यह भी है कि जो विशेष रूप से असमर्थ हैं और एकान्तर उपवास के पारणे में एकासन नहीं कर सकते हैं। वे इस सूत्रोपधान को एकान्तर उपवास और पारणे में बीयासन तप करते हुए भी वहन कर सकते हैं, किन्तु ऐसी स्थिति में बीस दिन के कालमान में ग्यारह उपवास जितना ही तप होता है[40] अत: एकाध उपवास बढ़ाकर तप पूर्ति की जाती है।
- विधिमार्गप्रपाकार ने प्रथम वाचना के पूर्व पाँच उपवास बराबर किए जाने वाले तप को पूर्वसेवा कहा है और दूसरी वाचना के पूर्व तीन उपवास के बराबर तप को उत्तरसेवा कहा है।[41]

2. इरियावहियश्रुतस्कन्ध(इरियावहि सूत्र) उपधान

- इस श्रुतस्कन्ध में 32 पद, 8 संपदा, 24 गुरू और 175 लघु, ऐसे कुल 199 अक्षर हैं, आठ अध्ययन हैं और अन्तिम के तीन अध्ययनों को 'चूला' कहा गया है।

• इस सूत्रवहन में 20 दिन लगते हैं। तपागच्छ परम्परानुसार यह उपधान 18 दिनों में पूर्ण होता है।

• इसमें मुख्यतया दो वाचनाएँ होती हैं। प्रथम वाचना पाँच उपवास द्वारा आदि के पाँच अध्ययनों की दी जाती है और दूसरी वाचना साढ़े सात उपवासों द्वारा शेष तीन अध्ययनों की दी जाती है। इसमें पूर्वसेवा होती है, किन्तु उत्तरसेवा नहीं होती है।[42] पौषध के दिन 20 होते हैं अत: इसका दूसरा नाम 'वीसडंति' है।[43]

तप- प्राचीन विधि के अनुसार इस श्रुतस्कंध(सूत्र) के काल में क्रमश: पाँच उपवास, फिर श्रेणीबद्ध आठ आयंबिल फिर तीन उपवास होते हैं। कुल 12 उपवास परिमाण तप सोलह दिनों में किया जाता है। अर्वाचीन विधि के अनुसार इस सूत्र का उपधान एकान्तर उपवास और पारणे में एकासन करते हुए साढ़े बारह उपवास-परिमाण के तपपूर्वक किया जाता है।

वाचना- प्रचलित परम्परा के अनुसार 1. 'इच्छामि पडिक्कमिउं' से लेकर 'विराहणाए' तक 2. गमणागमणे 3. 'पाणक्कमणे' से लेकर 'हरिअक्कमणे' तक 4. 'ओसा' से लेकर 'संकमणे' तक 5. जे मे जीवा विराहिया-इन पाँच अध्ययनों की प्रथम वाचना इस सूत्र के प्रारम्भ दिन से नौवें दिन तक दी जाती है। 6. 'एगिंदिया' से लेकर 'पंचिन्दिया' तक

7. 'अभिहया' से 'दुक्कडं' तक 8. 'तस्सउत्तरी' से 'ठामि काउस्सग्गं' तक इन तीन चूला-अध्ययनों की दूसरी वाचना 19 वें दिन दी जाती है।

3. अरिहंतभावस्तव (णमुत्थुणं सूत्र) उपधान

• इस सूत्र में 33 पद, 9 संपदा, 33 गुरू और 264 लघु-कुल 298 अक्षर हैं। 'णमुत्थुणं' से 'विअट्टछउमाणं' तक बत्तीस पद हैं अत: इसमें बत्तीस अध्ययन माने गए हैं।

• इस सूत्र को आत्मस्थ करने में 35 दिन लगते हैं। प्रचलित विधि के अनुसार इस सूत्र की तीन वाचनाएँ होती हैं। प्रथम वाचना तीन उपवास, दूसरी वाचना आठ उपवास और तीसरी वाचना साढ़े आठ उपवास के परिमाण तप पूर्ण होने पर दी जाती है।

• विधिमार्गप्रपा के अनुसार तीन-तीन संपदाओं की तीन वाचनाएँ होती हैं तथा अन्तिम गाथा की वाचना तीसरी गाथा के साथ दी जाती हैं।[44]

• इसमें पौषध के दिन 35 होने से यह 'पांत्रीसड' नाम से भी कहा जाता है। इस सूत्र का वहन साढ़े उन्नीस उपवास बराबर तप करके किया जाता है।

तप- प्राचीन विधि के अनुसार इस सूत्र के वहनकाल में सर्वप्रथम तेला, फिर लगातार बत्तीस आयम्बिल किए जाते हैं। कुल 19 उपवास परिमाण जितना तप 35 दिनों में किया जाता है। प्रचलित विधि के अनुसार भी यह उपधान 35 दिनों में पूर्ण किया जाता है, परन्तु अट्ठम एवं आयंबिल न करके एक उपवास, एक एकासन-इस क्रम से 15 उपवास एवं 17 एकासन किए जाते हैं।

वाचना- इस सूत्र के उपधान में 1. 'णमुत्थुणं' से 'भगवंताणं' तक 2. 'आइगराणं' से 'सयंसंबुद्धाणं' तक 3. 'पुरिसुत्तमाणं' से 'गंधहत्थीणं' तक-इन तीन संपदाओं की प्रथम वाचना अट्ठम के दिन दी जाती है।

1. 'लोगुत्तमाणं' से 'लोगपज्जोअगराणं' तक 2. 'अभयदयाणं' से 'बोहिदयाणं' तक 3. 'धम्मदयाणं' से 'चक्कवट्टीणं' तक-इन तीन संपदाओं की दूसरी वाचना मूल रूप से सोलहवें आयंबिल के दिन दी जाती है।

1. 'अप्पडिहयवर' से 'विअट्टछउमाणं' तक 2. 'जिणाणं' से 'मोअगाणं' तक 3. 'सव्वन्नूणं' से 'जिअभयाणं' तक-इन तीन संपदाओं की तीसरी वाचना मूल रूप से बत्तीसवें आयंबिल के दिन दी जाती है। प्रचलित

विधि के अनुसार अन्तिम गाथा 'जेअ' से 'वंदामि' पद की वाचना तीसरी वाचना के साथ दी जाती है।[45]

4. चैत्यस्तव (अरिहंतचेईयाणं सूत्र) उपधान

• इस सूत्र में 43 पद, 8 संपदा, 29 गुरू और 200 लघु, ऐसे कुल 229 अक्षर और तीन अध्ययन हैं।

• इस सूत्र के उपधान में चार दिन लगते हैं। इस सूत्र की एक वाचना होती है। इसमें ढ़ाई उपवास-परिमाण का तप किया जाता है।

• इसमें पौषध के दिन चार होते हैं।

• प्रचलित विधि के अनुसार शक्रस्तव (35 दिन) और चैत्यस्तव (4 दिन) दोनों उपधान एक साथ वहन किए जाते हैं। इस प्रकार ये दोनों उपधान उनचालीस दिन में पूर्ण होते हैं, अतएव रूढ़ि से इसे चालीसड' कहते हैं।

तप- प्राचीन विधि के अनुसार इस सूत्र के अध्ययन-काल में क्रमशः एक उपवास, फिर लगातार तीन आयंबिल किए जाते हैं। इस प्रकार एक उपवास,

दो आयंबिल के बराबर फिर एक उपवास, एक आयंबिल के बराबर फिर आधा उपवास ऐसे कुल ढाई उपवास-परिमाण जितना तप किया जाता है। प्रचलित विधि के अनुसार इस सूत्र के ग्रहणकाल में दो उपवास एकासन के पारणापूर्वक किए जाते हैं और ढाई उपवास के तप की पूर्ति की जाती है।

वाचना- अर्वाचीन परम्परा के अनुसार 1. 'अरिहंत चेइयाणं' से 'निरूवसग्गवत्तियाए' तक 2.'सद्धाए' से 'काउस्सग्गं' तक 3. 'अन्नत्थ उससिएणं' से 'जाव वोसिरामि' तक-इन तीन अध्ययनों की वाचना उपवास के दिन अर्थात तीसरे दिन दी जाती है।[46]

5. चतुर्विंशतिस्तव (लोगस्स सूत्र) उपधान

- इस सूत्र में 28 पद, 28 संपदा, 27 गुरू, 229 लघु-कुल 256 अक्षर और पच्चीस अध्ययन हैं। छः गाथाओं के चौबीस अध्ययन और सातवीं गाथा का पच्चीसवाँ अध्ययन माना गया है।

- इस सूत्र की तप-साधना में 28 दिन लगते हैं। इसमें साढ़े पन्द्रह उपवास परिमाण जितना तप किया जाता है। पौषध के दिन 28 होते हैं, इसलिए रूढ़ि से इस उपधान को 'अट्ठावीसड' नाम से कहा जाता है। इस सूत्रोपधान में तीन वाचनाएँ होती हैं। प्रथम वाचना तीन उपवास दूसरी वाचना छः उपवास, तीसरी वाचना साढ़े छः उपवास अर्थात उतने परिमाण का तप किए जाने पर दी जाती है।

तप- महानिशीथ में वर्णित विधि के अनुसार इस उपधान में प्रथम एक अट्ठम, फिर श्रेणीबद्ध पच्चीस आयंबिल किए जाते हैं। इस तरह साढ़े पन्द्रह उपवास-परिमाण तप पूर्ण किया जाता है। प्रचलित विधि के अनुसार एक दिन उपवास और एक दिन एकासन-इस क्रम से साढ़े पन्द्रह उपवास जितना तप परिपूर्ण किया जाता है।

वाचना- मूल विधि के अनुसार इस सूत्र की प्रथम वाचना अट्ठम तप के दिन 'लोगस्स उज्जोअगरे'-इस प्रथम गाथा की दी जाती है। प्रचलित विधि के अनुसार तीन उपवास परिमाण जितना तप पूर्ण होने पर प्रथम वाचना दी जाती है।

मूल विधि के अनुसार-1. उसभ मंजिअं च वंदे 2.सुविहिं च पुप्फदंतं 3. कुथुं अरं च-इन तीन गाथाओं की दूसरी वाचना बारहवें आयंबिल के दिन

दी जाती है। प्रचलित विधि के अनुसार द्वितीय वाचना नौ उपवास- परिमाण तप के अन्त में दी जाती है।

प्राचीन विधि के अनुसार 1. एवं मए अभिथुआ 2.किं ाि य वंदिय महिया 3. चंदेसु निम्मलयरा-इन तीन गाथाओं की तीसरी वाचना पच्चीसवें आयंबिल के दिन की जाती है। प्रचलित विधि के अनुसार तृतीय वाचना साढ़े पन्द्रह उपवास परिमाण जितना तप पूर्ण होने पर उपवास के दिन दी जाती है।[47]

6. श्रुतस्तव (पुक्खरवरदी सूत्र) उपधान

• इस सूत्र में16 पद, 16 संपदाएँ, 34 गुरू, 182 लघु ऐसे कुल 216 अक्षर और 4 गाथाएँ हैं।

• खरतरगच्छ सामाचारी के अनुसार श्रुतस्तव नामक सूछत्र में पाँच अध्ययन हैं। इन पाँच अध्ययनों का क्रम इस प्रकार है-प्रथम की दो गाथा के दो अध्ययन, तृतीय गाथा का तीसरा अध्ययन, चौथी गाथा के प्रथम दो पादों का चतुर्थ अध्ययन एवं अन्तिम दो पादों का पाँचवां अध्ययन है।

• इस सूत्र में इन पाँच अध्ययनों की एक वाचना होती है। इसे वहन करने के उद्देश्य से साढ़े तीन उपवास परिमाण जितना तप किया जाता है। इसमें पौषध के छः दिन होते हैं, इसलिए यह 'छक्कड़' नाम से कहा जाता है।

तप- प्राचीन विधि के अनुसार इस सूत्र के वहन काल में क्रमशः एक उपवास, फिर लगातार पाँच आयंबिल किए जाते हैं। इस प्रकार साढ़े तीन उपवास की पूर्ति की जाती है। प्रचलित विधि के अनुसार इस सूत्र का अध्ययन करने के लिए छः दिन एकान्तर उपवासपूर्वक साढ़े तीन उपवास-परिमाण का तप किया जाता है।

वाचना- इस सूत्र के पाँच अध्ययनों 'पुक्खरवरदी' से लेकर 'सुअस्स भगवओ' तक की एक वाचना छठवें दिन दी जाती है।[48]

7. सिद्धस्तव (सिद्धाणंबुद्धाणं सूत्र) उपधान

• इस सूत्र में 20 पद, 20 संपदा, 26 गुरू, 150 लघु-कुल 176 अक्षर और पाँच गाथाएँ हैं।

• खरतरगच्छ सामाचारी के मतानुसार सिद्धस्तव नाम का सातवाँ उपधान एक वाचना और एक उपवासपूर्वक एक दिन में सम्पन्न किया जाता है।[49]

• विधिमार्गप्रपा के अनुसार वर्तमान परिपाटी में सिद्धस्तवसूत्र का उपधान

किए बिना ही, मालारोपण के दिन किए गए उपवास द्वारा प्रारम्भिक तीन गाथाओं की वाचना दी जाती है।[50]

अंतिम दो गाथाओं की वाचना नहीं करते हैं। इसका कारण बताते हुए विधिमार्गप्रपाकार ने लिखा है कि दिगम्बरों द्वारा परिगृहीत गिरनारतीर्थ पर श्वेताम्बर के आधिपत्य को स्पष्ट करने के लिए तथा श्री गौतमगणधर द्वारा वंदित अष्टापदचैत्यस्थित जिनबिम्बों के उपदर्शनार्थ बाद में इन गाथाओं की वृद्धि की गई है,[51] अत: इस उपधान में कुल तीन गाथाओं की ही वाचना दी जाती है।

तपागच्छ सामाचारी के अनुसार श्रुतस्तव एवं सिद्धस्तव इन दोनों सूत्रों का एक ही उपधान होता है। उनके अनुसार यह उपधान साढ़े चार उपवास-परिमाण तपपूर्वक वहन किया जाता है। इसमें कुल सात दिन लगते हैं और दोनों सूत्रों की एक-एक वाचनाएँ होती है।[52]

ज्ञानाचार और उपधान

जिनशासन के महत्त्वपूर्ण चार स्तंभ हैं- 1. साधु 2. साध्वी 3. श्रावक और 4. श्राविका। इन चारों प्रकार के साधकों के लिए अपनी-अपनी भूमिका के अनुसार योग एवं उपधान वहन का निर्देश किया गया है। वस्तुत: योग और उपधान शास्त्राभ्यास एवं इन्हें आत्मस्थ करने के लिए किए जाते हैं। इन तप साधनाओं का मुख्य उद्देश्य शास्त्रज्ञान एवं सूत्रज्ञान अर्जित करना है।

इस विश्व की सभी परम्पराओं में यह अवधारणा दीर्घकाल से स्वीकृत रही है कि गुरू के सन्निकट रहकर विशिष्ट साधनापूर्वक अर्जित किया गया ज्ञान और सूत्राभ्यास अन्त:स्थल को स्पर्शित करता है अर्थात पूर्णत: फलदायी बनता है। इसी का दूसरा नाम उपधान है। सारतत्त्व यह है कि उपधान सुयोग्य गुरू की निश्रा में रहकर विधिपूर्वक ज्ञानार्जन करने का मुख्य साधन है, सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति का अचूक आलंबन है, सम्यक्दर्शन को प्रकट करने का अनन्तर कारण है और सम्यक् चारित्र की शुद्धि का पुष्ट उपाय है। अत: सम्यग्ज्ञान की पवित्रता को टिकाए रखने एवं ज्ञानावरणीय कर्म का विशिष्ट क्षयोपशम करने के लिए ज्ञान के आठ आचारों का परिपालन करना चाहिए। दशवैकालिकनिर्युक्ति में ज्ञान के आठ आचार इस प्रकार प्रवेदित हैं[53]-

1. काल- सुयोग्य समय पर कालग्रहण की विधिपूर्वक ज्ञान पढ़ना काल नामक ज्ञानाचार है।

2. विनय- सद्ज्ञान, ज्ञानी साधु के पास होता है, उनसे विनयपूर्वक ज्ञान अर्जित करना विनयाचार है। विनय करने से ज्ञानी की कृपा प्राप्त होती है, स्वयं की योग्यता प्रकटती है, क्षयोपशम खिलता है और ज्ञानरोधक-कर्म दूर होते हैं।

3. बहुमान- ज्ञानी और ज्ञान के साधनों के प्रति अंतर्मन का अहोभाव रखना बहुमान है। विनय बाह्यकायिक-क्रियारूप होता है, जबकि बहुमान आंतरिक प्रीति-भक्ति रूप होता है। बहुमान करने से ज्ञानावरणीय-कर्म क्षय होते हैं।

4. उपधान- आत्मा के समीप सम्यग्ज्ञान धारण करना-यह 'उपधान' का शाब्दिक अर्थ है तथा विशिष्ट प्रकार का तप, जप और विरतक्रियापूर्वक ज्ञान के सूत्रों और उनके अर्थ को सद्गुरू के मुखारविन्द से प्राप्त करना एवं सुयोग्य जीवों को सूत्रादि पढ़ाने का अधिकार प्रदान करना-यह उपधान का परमार्थ है।

5. अनिन्हव- जिस ज्ञानी गुरू के सन्निकट ज्ञानार्जन किया है, उसके उपकार को विस्मृत नहीं करना तथा उसका नाम नहीं छुपाना अनिन्हव-ज्ञानाचार है।

6. व्यंजन- सूत्र का उच्चारण करते समय स्वर-व्यंजन- मात्रा--ह्रस्व-दीर्घ-पद-संपदा आदि का यथास्थिति ध्यान रखना व्यंजन- ज्ञानाचार है। व्यंजन की शुद्धि रखना तत्त्वत: गणधर पद और उपाध्याय पद की आराधना है, क्योंकि वे सूत्र के स्वामी होते हैं।

7. अर्थ- गृहीत सूत्रों का सम्यक् अर्थ जानना अर्थ-ज्ञानाचार है। सम्यक् अर्थपूर्वक सूत्रोच्चारण करने से अरिहंत परमात्मा या आचार्यपद की आराधना होती है, क्योंकि वे अर्थ के अधिपति होते हैं।

8. तदुभय- सूत्र और अर्थ-इन दोनों के योगपूर्वक धार्मिक कृत्य सम्पन्न करना तदुभय-ज्ञानाचार है।

स्पष्ट है कि उपधान ज्ञान के आठ आचारों में से चौथा आचार है। इस आचार का पालन करना गृहस्थ एवं मुनि-दोनों साधकों के लिए अनिवार्य बताया गया है। दोनों साधकों के अतिचारसूत्र में सर्वप्रथम ज्ञान सम्बन्धी आठ आचारों में लगे हुए दोषों का मिथ्यादुष्कृत देने सम्बन्धी पाठ है। जैन-धर्म की

सभी परम्पराओं ने ज्ञान के इन आठ आचारों को माना है। इससे यह फलित होता है कि उपधान जैन-धर्म के सभी अनुयायियों का एक अनिवार्य अंग है। भले ही कोई परम्परा इसका अनुसरण करे या नहीं, किन्तु ज्ञानाचार की दृष्टि से उपधान की उपासना का अस्तित्व स्वत:सिद्ध हो जाता है।[54]

योग और उपधान

उपधान एक यौगिक क्रिया है। जिस प्रकार यौगिक क्रियाओं में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि-इन आठ प्रकारों की साधनाएँ की जाती है, उसी प्रकार उपधान तप में भी इस प्रकार की साधनाओं का प्रयोग होता है। यम-नियमादि से लेकर समाधि तक की सभी योग साधनाएँ उपधान वहन में अनुष्ठित होती हैं, जैसे-अभक्ष्य आदि पदार्थों का सर्वथा के लिए त्याग कर देना यम है। उपधान-काल में प्रवचनादि द्वारा सचित्त वस्तु का त्याग करना, वस्त्र नहीं धोना, चप्पल आदि नहीं पहनना आदि कई प्रकार की प्रतिज्ञाएँ करना नियम है। प्रतिलेखना, प्रतिक्रमण, देववन्दन आदि विभिन्न प्रकार की क्रियाएँ करना आसन है। कायोत्सर्ग आदि करना प्राणायाम है। उपवास या एक समय भोजन करना प्रत्याहार है। धर्मादि का चिन्तन करना ध्यान है। उपधान-तप की समस्त क्रियाओं को आत्मसात कर लेना धारणा है और पौषध एवं सामायिक की साधना करना समाधि है।

इस प्रकार उपधान-तप द्वारा अष्टांगयोग की साधना निर्विवाद रूप से सिद्ध होती है।

विपश्यना और उपधान

जैन आगमिक परम्परा में आत्मशुद्धि एवं अतिचारों की विशुद्धि के लिए 'कायोत्सर्ग' करने का जो प्रावधान है, वह पूर्वकालीन-परम्परा से है। कायोत्सर्ग में मुख्यत: शरीर आदि के ममत्व का विसर्जन करके श्वासोश्वास को देखने का उपक्रम किया जाता है। इस उपक्रम के माध्यम से आती-जाती हुई श्वास पर मन को नियंत्रित कर नवीन कर्मों का आस्रव रोका जाता है और पुराने दोष विनष्ट किए जाते हैं, इसीलिए जैन धर्म में दिवस, रात्रि, पक्ष आदि में लगे हुए दोषों की शुद्धि के निमित्त प्रतिक्रमण के समय 27 श्वासोश्वास, 25 श्वासोश्वास, 8 श्वासोश्वास आदि गिनने का नियम है। वर्तमान में श्वासोश्वास गिनने की परम्परा लुप्त-सी हो चुकी है। अब श्वासोश्वास गिनने

के स्थान पर उतनी ही संख्या एवं समय के परिमाणवाला लोगस्ससूत्र और नमस्कारमंत्र गिना जाता है। चेतनमन को श्वासोश्वास पर केन्द्रित करने की यह प्रक्रिया बौद्धधर्म में 'विपश्यना' के नाम से प्रख्यात है। बौद्धधर्म के अनुयायियों ने इस प्रक्रिया को अत्यन्त विस्तार का रूप दिया है।

जैन धर्म की उपधान साधना में विपश्यना के कुछ तत्त्व प्रत्यक्षत: देखे जा सकते हैं। इस साधना के अन्तर्गत कायोत्सर्ग-ध्यान आदि की जो क्रियाएँ की जाती है, उन्हें विपश्यना के विकसित चरण कहा जा सकता है। कारण कि विपश्यना का प्रादुर्भाव ध्यानादि के आलंबनों को लेकर ही हुआ है और हम ध्यानादि के माध्यम से श्वासोश्वास की प्रणाली को पुनर्जीवित कर सकते हैं।

उपधानवाहियों के लिए करणीय-अकरणीय कार्य

उपधानवाहियों के लिए निम्न कार्य करणीय माने गए हैं-

• प्रतिक्रमण करना • पौषधरूप सामायिक करना • नमस्कारमन्त्र का जाप करना • कायोत्सर्ग करना • देववंदन करना • चैत्यवंदन करना • द्वादशावर्त्तवन्दन करना • स्वाध्याय करना • व्याख्यान-श्रवण करना • वाचना सुनना • श्रुतलेखन करना • गुरूसेवा करना • साधर्मिक (उपधानवाहियों) की सेवा करना • जयणा का पालन करना • मौनव्रत में रहना • उपवास तप करना • नीवि-तप करना • आयंबिल-तप करना • ऊनोदरी आदि तप करना • समिति-गुप्ति का पालन करना • लोच करवाना • आलोचना-प्रायश्चित्त करना, भव आलोचना करना • पूर्वजन्मों से वर्तमान काल तक सम्बन्धित रहे हुए भौतिक पदार्थों के प्रति ममत्व विसर्जन की विधि करना • बारह व्रत ग्रहण करना • दीक्षा-ग्रहण करनी हो, तो दीक्षा मुहूर्त्त निकलवाना • दीक्षा ग्रहण का संकल्प करना • चतुर्थ व्रत ग्रहण करना • उछामणी (धनादि) का वितरण करना • खमासमण देना • प्रदक्षिणा देना • भावपूजा करना • एक समय भोजन करना • गर्म पानी पीना • उचित द्रव्यों का भोग करना • वासचूर्ण ग्रहण करना आदि निरवद्य अनुष्ठानों का यथाशक्ति पालन करना चाहिए।

उपधानवाहियों के लिए नहीं करने योग्य कृत्यों की सूची निम्नलिखित है-

• स्नान नहीं करना • दाढ़ी नहीं बनाना • हजामत नहीं बनवाना • मेकअप नहीं करना • प्रात:कालीन भ्रमण नही करना • मेल नहीं उतारना • एकासन से कम तप नहीं करना • विकथा-निंदा नहीं करना • हास-

उपहास का त्याग करना • श्रावकों को सिले हुए वस्त्र नहीं पहनना • श्राविकाओं को सिर उघाड़ा नहीं रखना • महिलाओं को मर्यादाहीन वेश नहीं पहनना • सांसारिक-व्यवहारों का त्याग करना • व्यापार-धंधे का त्याग करना • सांसारिक समाचार नहीं देना • पत्रादि न लिखना न लिखवाना • सचित्त द्रव्यों का भोग नहीं करना • कच्चे पानी का उपयोग नहीं करना • पैसा-रूपया न रखना न रखवाना • संघपूजन के रूपयें स्वयं के हाथ में नहीं लेना • द्रव्य से ज्ञानपूजा एवं गुरूपूजा नहीं करना • किसी भी सावद्यकार्य के लिए आदेश नहीं देना। • खाने-पीने की वस्तुएँ नहीं बनवाना और उनके लिए आदेश भी नहीं देना। • एकासन आदि के लिए जो भी खाद्य-सामग्री तैयार हुई है, उसकी संख्या नहीं गिनना • अनुकूल स्थान आदि की खोज नहीं करना • अन्य आराधकों के लिए उपद्रवरूप नहीं बनना • गुरू का अविनय नहीं करना • आयोजक-कार्यकर्त्ताओं की व्यवस्थाओं को नहीं तोड़ना • सुविधाओं की अपेक्षा नहीं रखना • जूठन नहीं छोड़ना • प्रतिनियत क्रियाओं को विस्मृत नहीं करना • प्रमाद नहीं करना • बैठे-बैठे निद्रा नहीं लेना • भोजन करते हुए बातचीत नहीं करना। • हरी वनस्पति का उपभोग नहीं करना • सावद्य-वचन नहीं बोलना।

वर्तमान स्थितियों में उपधानवाही के लिए निम्न कार्यों का भी निषेध किया गया है- • व्यायाम करना • टी.वी.विडियों आदि देखना-सुनना • नवल कथाएं पढ़ना • मोटर, प्लेन, रेल, जहाज आदि किसी भी वाहन का सवारी हेतु उपयोग करना • अंताक्षरी खेलना • क्रिकेट आदि के सामाचार सुनना। • मोबाईल द्वारा पारिवारिक सदस्यों की सार संभाल लेना • पंखे-लाइट आदि का उपयोग करना इत्यादि।

इससे ज्ञात होता है कि उपधान एक कठिनतर साधना है। इस पर आरूढ़ हुआ व्यक्ति सांसारिक, पारिवारिक एवं व्यापारिक समस्त सावद्य प्रवृत्तियाँ न करता हुआ अप्रमत्तदशा में रहने का संकल्प करता है। साथ ही विविध प्रकार की विशिष्ट चर्याओं एवं तपश्चर्याओं का पालन करता हुआ स्वयं को मोक्षयोग्य बनाता है।

यदि हम इस संबंध में तुलनात्मक पक्ष से विचार करें, तो कहा जा सकता है कि यह वर्णन जीतपरम्परा के अनुसार किया गया है। किसी मौलिक ग्रन्थ में यह वर्णन पढ़ने को नहीं मिला है।

उपधानवाहियों के जानने योग्य कुछ महत्त्वपूर्ण बातें

अब यहाँ कुछ महत्त्वपूर्ण बिन्दूओं को चर्चित किया जा रहा है, जो उपधान तप में प्रवेश करने वाले एवं उपधान तप वहन करने वाले साधक-साधिकाओं की जानकारी के लिए अत्यावश्यक हैं।

पुरूषों के लिए आवश्यक उपकरण

उपधान-तप में प्रवेश करने वाले श्रावकों के लिए निम्न उपकरण अनिवार्य माने गए हैं-

1. ऊनी आसन- दो 2. मुखवस्त्रिका- दो 3. चरवला (गोल डंडी का)- एक 4. संथारिया- एक 5. उत्तरपट्ट- पाँच 6. धोती- पाँच 7. उत्तरासंग- तीन 8. सूत का कंदोरा- तीन 9. मल-मूत्र विसर्जन के समय पहनने योग्य धोती- एक 10. कामली (ऊनी शाल)- एक 11. कंबल (रात्रि में ओढ़ने का)- एक, 12. सूती कपड़ा दो हाथ का (थाली, कटोरी, गिलास पोंछने हेतु)- एक, 13. सूती कपड़ा (नाक आदि पोंछने हेतु)- एक 14. सूती माला- एक 15. मात्रादि परठने का पात्र (प्लास्टिक आदि का प्याला)- एक 16. डंडासन (भूमि-प्रमार्जन का साधन) समुदाय के बीच में दो या तीन हो, तो चल सकता है 17. कुण्डल (रूई के फुहे)।

श्राविकाओं के लिए आवश्यक उपकरण

जैन परम्परा में उपधानवाही श्राविकाओं के लिए निम्नांकित उपकरण आवश्यक कहे गए हैं-

1. ऊनी आसन-दो 2. मुखवस्त्रिका-दो 3. चरवला (चौरस डांडी का)-दो 4. साड़ी-पाँच 5. पोलका (चोली, ब्लाऊज)-पाँच 6. लहंगा (घाघरा या पेटीकोट)-सात 7. ओढ़नी-दो 8. संथारिया-एक 9. उत्तरपट्ट-एक 10. दुशाला (ऊनी शाल)-एक 11. कंबल (रात्रि में ओढ़ने हेतु)-एक 12. सूती कपड़ा (थाली , कटोरी, गिलास पोंछने हेतु)-दो 13. मल-मूत्र विसर्जन के समय पहनने योग्य वस्त्र-दो जोड़ी 14. सूती कपड़ा (नाक आदि पोंछने हेतु)-तीन 15. मल-मूत्र परठने हेतु पात्र-दो 16. दंडासन-एक 17. कुंडल-रूई के फुहे (कान में डालने हेतु)।[55]

यह सामान्य सामाचारी है कि उपधान-तप में प्रवेश करने के बाद यदि किसी को नया वस्त्र या उपकरण जरूरी हो, तो तीन दिन तक ले सकते हैं। उसके बाद उपकरण आदि कोई भी वस्तु ग्रहण करना नहीं कल्पता है। दूसरी सामाचारी यह है कि उपधानव्रती जितने भी उपकरण-वस्त्र आदि ग्रहण करता है, उन उपकरणों की प्रतिदिन दो बार प्रतिलेखना करनी चाहिए। यदि प्रतिलेखना करना भूल जाए, तो आलोचना डायरी में लिख देना चाहिए। तीसरा समझने योग्य तथ्य यह है कि उपधान-तप में कीमती वस्त्र, चटकीले-भड़कीले वस्त्र नहीं पहनना चाहिए। श्राविकाओं को सौभाग्यचिह्न वाले आभूषणों को छोड़कर अन्य अलंकारों का त्याग कर देना चाहिए।

उपधान दिवस निरस्त होने के कारण

उपधान-तप वहन करते समय जानबूझकर या अनजाने में आगे कहे जाने वाले दोषों का सेवन हो जाए, तो उपधान के दिन कम हो जाते हैं, फिर उन दिनों की पूर्ति करने के लिए उतने ही दिन पौषधसहित तप करवाया जाता है, अत: उपधानवाहियों को इन दोषों से बचने का ध्यान रखना चाहिए। ये दोष निम्न हैं-

1. उपवास में या आयंबिल-नीवि करके उठने के बाद उल्टी हो जाए और उसमें अनाज के अंश दिखाई दें।
2. एकासनादि करके उठ जाने पर थाली में धान्य का कण पड़ा रह जाए।
3. थाली में जूंठन छोड़ दिया जाए।
4. प्रत्याख्यान पूर्ण करना भूल जाए।
5. आयंबिल-नीवि आदि करने के बाद चैत्यवंदन करना भूल जाए।
6. भोजन करने के बाद चैत्यवंदन करने के पहले पानी पी लिया जाए।
7. सायंकालीन प्रतिलेखनादि की क्रिया करने के बाद मल-विसर्जन के लिए जाए।
8. रात्रि में या प्रात:कालीन प्रतिलेखन आदि क्रिया के पूर्व मल- विसर्जन के लिए जाए।
9. स्थंडिलभूमि की प्रतिलेखना करना रह जाए।
10. पौरूषी पढ़ाना भूल जाए।
11. रात्रि में संथारापौरूषी पढ़ाने के पहले सो जाए।

12. मुखवस्त्रिका या चरवला के बिना सौ हाथ दूर तक चला जाए।
13. एकासनादि करने के बाद तिविहार का प्रत्याख्यान करना भूल जाए।
14. खाते हुए कोई कण गिर जाए और वह वस्त्र पर गिरा हुआ रह जाए।
15. सचित्त वस्तु खाने में आ जाए।
16. कच्ची विगय खाने में आ जाए।
17. हरी वनस्पति खाने में आ जाए।
18. जिनालय के दर्शन करना भूल जाए।
19. देववंदन करना विस्मृत हो जाए।
20. किसी त्रस जीव-जंतु की हिंसा हो जाए।
21. मुखवस्त्रिका गुम हो जाए।
22. तीन दिन अन्तराय में हो जाए।
23. चरवला की डंडी टूट जाए।

उपर्युक्त कारणों के होने पर दिन गिर जाता (अमान्य हो जाता) है अर्थात उपधान में वह दिन गिना नहीं जाता है। यह सामान्य सामाचारी है कि जिसके जितने दिन कम होते हैं, उन दिनों की पूर्ति यदि उपधान के साथ ही करते हैं, तो पूर्ति के दिनों में आयंबिल आदि तप करना चाहिए। यदि साधक उन गिरे हुए(अमान्य) दिनों की पूर्ति उपधान में से निकलने के बाद करता है, तो खरतरगच्छ की सामाचारी के अनुसार उपवासपूर्वक आठ प्रहर का पौषध किया जाना चाहिए।[56]

उपधान के आलोचना योग्य दोष

उपधान एक विशिष्ट तपाराधना है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं तप की एक साथ आराधना होती है। इस विधान में विशिष्ट नियमों का परिपालन करना होता है। उन नियमों का यथाविधि अनुसरण न करने पर या उन्हें विस्मृत कर देने पर उपधानवाही को प्रायश्चित्त (दण्ड) आता है। वह प्रायश्चित्त उपवास, आयंबिल, नीवि, स्वाध्याय, जाप आदि के रूप में दिया जाता है। प्रायश्चित्त देने का अधिकारी गुरू होता है। वे साधक के सामर्थ्य एवं दोष लगने की स्थिति का अनुमान करके ही प्रायश्चित्त देते है, अत: किस दोष में कौनसा प्रायश्चित्त आ सकता है ? उसे निर्धारित करने का अधिकार हमें नहीं है।

यहाँ उपधानवाहियों को किन-किन कारणों से आलोचना आती है, उन बिन्दुओं का उल्लेख किया जा रहा है, जो निम्न हैं-

1. प्रतिलेखन किए बिना वस्त्र या बर्तन आदि का उपयोग करने से।
2. मुखवस्त्रिका या चरवले की आड़ आने से। यहाँ आड़ आने का मतलब उपधानवाही और उसकी मुखवस्त्रिका या चरवले के बीच से किसी व्यक्ति या बिल्ली आदि का निकल जाना है। जैन परम्परा में 'आड़' को अमंगल माना गया है।
3. मुखवस्त्रिका में से अनाज का जूंठा दाना निकलने से।
4. पहने हुए वस्त्र या शरीर पर से जूं निकलने से।
5. नवकारवाली (माला) गिनते समय गिर जाने से।
6. नवकारवाली गुम हो जाने से।
7. ज्ञानादि के उपकरण ठवणी-पुस्तक आदि हाथ से गिर जाने से।
8. स्थापनाचार्य के हाथ से गिर जाने या पाँव आदि के द्वारा उसकी आशातना होने से।
9. कचरे (काजा) में से जीव का कलेवर या सचित्त बीजादि निकलने से।
10. स्त्री का पुरूष से और पुरूष का स्त्री से स्पर्श हो जाने से।
11. नवकारवाली गिनते, भोजन करते या प्रतिलेखना करते समय बातचीत करने से।
12. सचित्त वस्तु (अखण्ड धान आदि, कच्चा पानी आदि) का स्पर्श होने से।
13. दिन में शयन करने से।
14. रात्रि को संथारापौरूषी पढ़ाए बिना ही संथारा पर निद्राधीन होने से।
15. शरीर पर बिजली या दीपक आदि का प्रकाश गिरने से।
16. कामली ओढ़ने के निर्दिष्टकाल में उसे ओढ़े बिना ही मन्दिरदर्शन या आहार-पानी के लिए चले जाने से। उपधानवाही को शाल के स्थान पर कटासन नहीं ओढ़ना चाहिए, यह ध्यान में रहे।
17. वर्षा जल के छींटे शरीर पर गिरने से।
18. प्रतिक्रमण नहीं करने से।
19. खमासमण आदि क्रियाएँ विधियुत न करने से।
20. मन्दिर या उपाश्रय में प्रवेश करते समय 'निसीहि' और बाहर निकलते

हुए 'आवस्सही' शब्द का प्रयोग नहीं करने से।

21. मलिन या दुर्गन्धयुक्त शरीर या वस्त्र आदि के प्रति घृणा करने से।
22. चरवले को छोड़कर तीन हाथ दूर चले जाने से।
23. मुखवस्त्रिका को छोड़कर तीन हाथ दूर चले जाने से।
24. मल-मूत्र का परिष्ठापन करते समय 'अणुजाणह जस्सावग्गहो' कहना भूल जाने से।
25. मल-मूत्रादि को परिष्ठापित करने के बाद तीन बार 'वोसिरे' शब्द न कहने से।
26. सौ हाथ से अधिक गमनागमन की प्रवृत्ति करने पर भी 'ईर्यापथिक प्रतिक्रमण' न करने से।
27. चौविहार-पाणहार आदि के प्रत्याख्यान कर लेने के बाद मुँह से जूठन निकलने अथवा दाना निकलने से।
28. तिर्यंच जीवों का संघट्ट होने से।
29. कच्चे पानी का स्पर्श होने से।
30. बैठे-बैठे खमासमण या प्रतिक्रमण करने या अन्य क्रियाएँ करने से।
31. रात्रि में शयन करते समय कानों में कुंडल न डालने से।
32. उपधान में आँसू बहाने से।
33. आर्त्त या रौद्रध्यान करने से।
34. किसी को मर्मवचन बोलने से।
35. किसी के साथ कलह या झगड़ा करने से।
36. अकारण शरीर आदि के लिए साबुन का उपयोग करने से।
37. बिना विशेष कारण के वस्त्रादि धुलवाने से।
38. शरीर को गीले रूमाल से पोछने से।
39. अन्य गीत या गायन करने से।
40. शरीर पर तेल लगाने से।
41. किसी की विकथा, निन्दा या चुगली करने से, गुरू-आज्ञा के बिना कोई प्रवृत्ति करने से। इस तरह अनेक कारणों से आलोचना आती है।[57]

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त कारणों में से कोई भी कारण बना हो, तो उपधानवाही को स्मरण में रखना चाहिए अथवा आलोचना डायरी में

लिख देना चाहिए और उपधान पूर्ण होने के अनन्तर वह डायरी गुरू को दिखाकर प्रायश्चित्त ग्रहण कर लेना चाहिए। ये कारण उपधानतप को दूषित करते हैं। इन दूषणों का सेवन करने पर उपधान-तप की आराधना पूर्णतः फलीभूत नहीं होती है। यह भी सत्य बात है कि व्यक्ति की स्वयं की असावधानी के कारण ही दूषण लगते हैं, जबकि ज्ञानार्जन करते हुए पूर्ण अप्रमत्तदशा होनी चाहिए। अप्रमत्तता ज्ञान विकास का मुख्य कारण है, अतः सूत्रार्थज्ञान को आत्मसात करने के लिए उसको अर्जित करते समय जो भी असावधानियाँ हुईं हैं, उनसे निवृत्त होने के लिए ही आलोचना सम्बन्धी कारणों को उल्लिखित किया गया है, ताकि आराधक पूर्ण सावधानी बरत सके।

यहाँ आलोचना दान के सम्बन्ध में यह सामाचारी भी है कि उपधान वहन करते समय किसी भी प्रकार की विराधना न हुई हो, तब भी प्रत्येक उपधान में जितना तप किया जाता हो, अथवा नियम हो, उसका चतुर्थांश तप आलोचना के रूप में दिया जाता है और वह तप उपधान से बाहर निकलने के बाद पौषधसहित किया जाना चाहिए। इसी के साथ स्वाध्याय और ध्यान भी करना चाहिए, जैसे-प्रथम नमस्कारमंत्र सम्बन्धी उपधान में कुछ भी विराधना न हुई हो, तो भी अमुक संख्या में नवकारमंत्र की पक्की माला गिनना, इतनी आलोचना अवश्य दी जाती है। इस परिमाण के अनुसार प्रत्येक उपधान की आलोचना ज्ञात कर लेनी चाहिए। इसके सिवाय आलोचक की शारीरिक स्थिति आदि को देखकर भी न्यूनाधिक आलोचना दी जा सकती है। यह सामाचारी नियम तपागच्छ आदि परम्पराओं में प्रवर्तित है ऐसा सूचित होता है।[58]

यह विवरण अर्वाचीन कृतियों के आधार पर लिखा गया है, क्योंकि विक्रम की 16वीं-17वीं शती तक के उपलब्ध ग्रन्थों में इस विषयक वर्णन लगभग नहीं है।

उपधानवाही की दैनिक क्रियाएँ

उपधान ज्ञान एवं क्रिया का अपूर्व संगमरूप है। उपधानवाही का अधिकतम समय प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन, कायोत्सर्ग, खमासमण माला, आदि से सम्बन्धित क्रियाओं में ही व्यतीत होता है। जैन दर्शन में ज्ञान और क्रिया के सम्यक् योग को मोक्ष कहा गया है- 'ज्ञानक्रियाभ्यांमोक्षः'।

उपधान में ज्ञान और क्रिया का सम्यक् योग बनता है, इसीलिए उपधान

तप को प्रशस्त साधना के रूप में स्वीकारा गया है।

वर्तमान में उपधानवाही के लिए निम्न क्रियाएँ अनिवार्य मानी गई हैं-

1. सर्वप्रथम प्रात:काल का प्रतिक्रमण करना चाहिए।
2. फिर अहोरात्रि का पौषध ग्रहण करना चाहिए।
3. मौनपूर्वक प्रात:कालीन वस्त्रादि की प्रतिलेखन करना चाहिए।
4. जिनमन्दिर में जाकर चैत्यवंदन करना चाहिए।
5. प्रतिलेखना कर लेने पर वसति प्रमार्जन एवं पवेयणादि की क्रिया करना चाहिए।
6. दिन का एक प्रहर बीतने को हो, तो स्थापनाचार्य के सम्मुख पौरूषी पढ़ाने की विधि करना चाहिए।
7. राईय मुहपत्ति के प्रतिलेखन की क्रिया करना चाहिए।
8. गुरू मुख से उपवास, आयंबिल आदि जो तप करना हो, उसका प्रत्याख्यान लेना चाहिए।
9. फिर मध्याह्नकाल न आ जाए, तब तक स्वाध्याय करना चाहिए, गुरूमहाराज का प्रवचन आदि सुनना चाहिए।
10. दिन का दूसरा प्रहर बीतने को हो, तब जिनालय में जाकर देववन्दन करना चाहिए।
11. उपवास, एकासन, आयंबिल आदि के प्रत्याख्यान का समय पूर्ण होने पर स्थापनाचार्य के सम्मुख प्रत्याख्यान पारने के निमित्त चैत्यवंदन करना चाहिए तथा एकासन आदि कर लेने पर तिविहार का प्रत्याख्यान करके उस आसन से उठना चाहिए और पुन: स्थापनाचार्य के समक्ष चैत्यवंदन करना चाहिए।
12. वसति एवं मूत्र परिष्ठापन की भूमि देखकर आ जाने के बाद सायंकालीन प्रतिलेखन की क्रिया करना चाहिए।
13. दैवसी-प्रतिक्रमण के पूर्व चौबीस मांडला सम्बन्धी प्रतिलेखन की क्रिया करना चाहिए।
14. दिन का चतुर्थ प्रहर बीतने को हो, तब सायंकालीन दैवसिक प्रतिक्रमण करना चाहिए।
15. रात्रि का प्रथम प्रहर (लगभग ढाई घंटा) बीतने पर संथारा पौरूषी पढ़ाने

की विधि करना चाहिए।

16. यदि मंदिर निकट हो, तो प्रतिदिन त्रिकाल जिनदर्शन करना चाहिए।
17. खरतर आम्नाय के अनुसार एक समय और तपागच्छ परम्परानुसार तीन समय देववंदन करना चाहिए।
18. दोनों समय गुरू मुख से ही प्रत्याख्यान ग्रहण करना चाहिए।
19. इसके सिवाय उपधानवाही को प्रणिपातपूर्वक सौ खमासमण देना चाहिए।
20. खड़े-खड़े सौ लोगस्ससूत्र का कायोत्सर्ग करना चाहिए।
21. पचास दिन का प्रथम उपधान करने वालों को सुखासन में बैठकर 'नमस्कारमंत्र' की बीस पक्की माला गिनना चाहिए। पैंतीस दिन का दूसरा उपधान करने वालों को 'णमुत्थुणं' की तीन माला नित्य गिनना चाहिए। अट्ठाईस दिन का तीसरा उपधान करने वालों को 'लोगस्ससूत्र' की तीन माला नित्य गिनना चाहिए।
22. तपागच्छीय परम्परानुसार सन्ध्याकालीन प्रतिलेखन के समय 'मुट्ठिसहियं' का प्रत्याख्यान किया हो, तो विधिपूर्वक प्रत्याख्यान पूर्णकर पानी लेने के बाद ही देववंदन करना चाहिए।[59] खरतरगच्छ की परम्परा में पाणाहार का प्रत्याख्यान ग्रहण करने के बाद ही सायंकालीन प्रतिलेखन-विधि करते हैं। यही राजमार्ग है।
23. प्रतिदिन प्रवचन अवश्य सुनना चाहिए।
24. आयंबिल, एकासन आदि के लिए बैठते समय भूमि, पट्टा, बर्तन आदि की अवश्य प्रमार्जना करना चाहिए।
25. भोजन करते समय चब-चब, सबड़क आदि की आवाज न हो, इस बात की सावधानी रखनी चाहिए।[60] ऐसी और अन्य क्रियाएँ भी गुरूगमपूर्वक समझनी-सुननी-जाननी चाहिए।

उपधानवाही के लिए विशिष्ट सूचनाएँ

यहाँ विवेच्य वर्णन उपधानवाहकों के लिए नि:सन्देह ध्यान देने योग्य है। प्रस्तुत विवरण सेनप्रश्न, उपधानतपक्रियादिसंग्रह आदि उत्तरकालीन ग्रन्थों के आधार पर दिया जा रहा है।

1. जिन-जिन सूत्रों के लिए उपधान-तप वहन करने में आता है, उन सूत्रों

का 'उद्देश' उन-उन सूत्रों के उपधान में प्रवेश करने के दिन किया जाता है तथा समस्त सूत्रों का 'समुद्देश' एवं 'अनुज्ञा' मालारोपण के दिन की जाती है। यहाँ उद्देश का अर्थ है-सूत्रार्थ ग्रहण करना, समुद्देश का अर्थ है- सूत्रार्थ का विशिष्ट ज्ञान प्राप्त करना, अनुज्ञा का अर्थ है- अमुक सूत्रों को पढ़ने-पढ़ाने की गुरू से अनुमति प्राप्त करना।

2. उपधान तप में मुख्य रूप से देववंदन के सूत्रों (इरियावहि, अन्नत्थ, लोगस्स, णमुत्थुणं, पुक्खरवरदी, सिद्धाणं बुद्धाणं आदि) का अध्ययन करवाया जाता है। सामायिक आदि के सूत्रों (करेमिभंते, भयवं, सामाइयवयजुत्तो आदि) के लिए उपधान वहन करने की आज्ञा नहीं है। तदुपरान्त 'चउसरण' आदि प्रकीर्णक ग्रन्थ और दशवैकालिकसूत्र के चार अध्ययन तीन-तीन आयंबिल कर उनकी वाचना ग्रहण करने का विधान है। इस बारे में गुरूगम से विशेष जान लेना चाहिए।

3. उपधान में या अन्य किसी दिन पौषध लेना हो, तो दिन के प्रथम प्रहर में ही ग्रहण करना चाहिए। प्रथम प्रहर व्यतीत होने के बाद पौषधव्रत नहीं लिया जा सकता है।

4. उपधान के सिवाय सामान्य दिन में पौषध किया हो और उसमें एकासना करना हो, तो हरी सब्जी, फल आदि खाने का निषेध किया गया है, तब उपधान-तप के पौषध में एकासना आदि के दिन हरी सब्जी, फल, रस आदि का सर्वथा निषेध ही जानना चाहिए।

5. उपधान तप में कामली ओढ़ने के समय उसे ओढ़कर ही बाहर जाना चाहिए, आसन आदि ओढ़कर कदापि नहीं जाना चाहिए तथा बाहर से आने के बाद ओढ़ी हुई कामली(शाल) को दीवार पर रख देनी चाहिए और 48 मिनट तक उसका उपयोग नहीं करना चाहिए, क्योंकि उस कामली(शाल) पर 48 मिनट तक संपातिम जीवों का अस्तित्व रहता है।

6. उपधान की दैनिक आवश्यक-क्रियाएँ करने से पूर्व वसति की शुद्धि करना परमावश्यक है। वसति की शुद्धि होने पर ही गुरू क्रिया करवाते हैं। यहाँ वसति-शुद्धि का तात्पर्य यह है कि जिस उपाश्रय या आराधना भवन में गृहस्थ उपधान कर रहा है, उसके चारों ओर सौ-सौ कदम तक मनुष्य या तिर्यंच का रूधिर, मांस, अस्थि आदि अशुचिद्रव्य हो, तो उसकी शुद्धि करना यदि

अशुचिद्रव्य दिखाई दें, तो वसति अशुद्ध मानी जाती है। अशुद्ध वसति में सूत्राभ्यास या तत्सम्बन्धी वाचना आदि का ग्रहण नहीं किया जा सकता है।

7. उपधान वहन के दिनों में तेल-मर्दन एवं औषधोपचार नहीं करना चाहिए। प्रबल कारण उपस्थित होने पर गुरू-आज्ञा से औषधि आदि का सेवन कर सकते हैं।

8. क्रिया करते समय स्थापनाचार्य और क्रियाराधक व्यक्ति-इन दोनों के बीच मनुष्य या तिर्यंच आदि की आड़ नहीं आना चाहिए।

9. जिस स्थान पर सामुदायिक-प्रतिलेखना हुई हो, वहाँ का काजा निकाल दिया गया हो, उसके बाद कोई उपधानवाही उस भूमि पर अकेला ही प्रतिलेखन कर रहा हो, तो उसे भी पूर्ववत् काजा लेना चाहिए, अन्यथा वह दिन अमान्य हो जाता है।

10. जिस दिन श्रावक या श्राविका उपधान पूर्ण करते हैं, उस दिन एकासन करना चाहिए और रात्रि को पौषध में रहना चाहिए।

11. जो साधक चातुर्मास में उपधान करने वाला है, वह शयन के लिए पट्ट का उपयोग कर सकता है।

12. यदि प्रबल कारण हो, तो छकीया के प्रथम दिन माला पहनाई जा सकती है। यदि प्रथम दिन माला पहनाना पड़े तो उस दिन 'पवेयणा' (प्रवेदन विधि) करवाकर एवं वाचना देकर माला पहनाई जा सकती है।

13. उपधान से निवृत्त होकर माला पहननी हो, तो उस दिन उपवास करना चाहिए।

14. माला पहनाने वाले श्रावक को भी कम-से-कम एकासन अवश्य करना चाहिए।

15. उपधान करने वाली श्राविकाओं को मार्ग में चलते हुए गीत नहीं गाना चाहिए।

16. उपधान में उपवास के दिन कल्याणक आ जाए और उपधानवाहक कल्याणक-तप करता हो, तो वह उपधान में ही समाविष्ट हो जाता है।

17. हीरप्रश्न के मत से यदि कोई श्राविका ऋतुकाल में आलोचना-तप करती है, तो वह मान्य नहीं होता है।

18. जो उपधानतप पूर्ण कर चुका है, उसके लिए माला पहनने के दिन

'पवेयण' की विधि करने का कोई नियम नहीं है।

19. उपधान आदि की नंदी में श्रावक-श्राविकाओं को तीन नवकाररूप नंदीसूत्र सुनाया जाता है।

20. यदि उपधानवाही पंचमी तप झेला हुआ हो और छक्कीया में छठवें दिन पंचमी आ रही हो, तो उस दिन पंचमी का उपवास और सातवें दिन तप में आने वाला उपवास-छठ करना चाहिए। यदि छठ(बेला) करने की सामर्थ्य न हों, तो छठवें दिन पंचमी न आए उस प्रकार से उपधान-तप प्रारम्भ करना चाहिए।

21. उपधान तप पूर्ण होने के बाद भी यदि 'पवेयणा' में दिन अमान्य होता है, तो दिन की वृद्धि होती है।

22. पहला, दूसरा, तीसरा, पाँचवा उपधान चल रहा हो, उस समय चैत्र और आश्विन शुक्ल की ओलीजी आदि के तीन दिन आते हों, तो असज्झाय के कारण वे दिन मान्य नहीं किए जाते हैं, परन्तु चौथा या छठवां उपधान हो, तो उन तीन दिनों की गिनती होती है।

23. कार्तिक आदि तीन चातुर्मास में ढाई दिन की असज्झाय गिनी जाती है, वह उपधान में नहीं मानी जाती है।

24. आवश्यक कारण उपस्थित होने पर संलग्न(निरन्तर) दो एकासन करवाए जा सकते हैं।

25. किसी भी माह की शुक्लपक्ष की पंचमी, अष्टमी या चतुर्दशी और कृष्णपक्ष की षष्ठी या चतुर्दशी इन तिथियों के दिन एकासन आता हो, तो यथाशक्ति आयंबिल करवाया जाता है।

26. यदि उपधान करने वाला बालक हो, वयोवृद्ध हो, कमजोर हो और यथानिर्दिष्ट तपपूर्वक उपधान नहीं कर सकता हो, तो नवकारसी, पौरूषी आदि तप करके उस तप-परिमाण की परिपूर्ति अवश्य कर देना चाहिए।

27. उपधान तप करने वाले श्रावक-श्राविकाओं को तप की स्मृति निमित्त सचित्त आदि का त्याग, ब्रह्मचर्यादि का नियम, पर्वतिथि को पौषध, चौदह नियम का पालन, सामायिक आदि में से कोई एक नियम अवश्य ग्रहण करना चाहिए।

28. तपागच्छीय परम्परानुसार प्रत्याख्यान पूर्ण करते समय तथा भोजन

करने के बाद का चैत्यवंदन करते समय स्थापनाचार्य खुल्ला रखना चाहिए।

29. प्रात:कालीन और सायंकालीन प्रतिलेखन-क्रिया स्थापनाचार्य खुला रखकर करना चाहिए।

30. प्रचलित परम्परा के अनुसार प्रथम उपधान करने के पश्चात् खरतरगच्छीय-मत से छ: माह और तपागच्छीय-मत से बारह वर्ष बीत गए हों और माला नहीं पहनी हों, तो पुन: पहला उपधान करना चाहिए। यदि पुन: उपधान वहन करने की शक्ति न हो, तो साढ़े बारह उपवास करके माला पहनी जा सकती है। यदि माला का मुहूर्त्त अत्यन्त निकट हो तो छ: उपवास द्वारा माला पहन सकते हैं, शेष साढ़े छ: उपवास बाद में करने चाहिए।[61] वर्तमान में पहला, दूसरा, चौथा और छठवां-ऐसे चार उपधानों की आराधना एक साथ करवाकर मालारोपण कर देते हैं। इसे पहला उपधान कहते हैं। यह अपवाद-मार्ग है। उत्सर्गत: छ: या सात उपधान एकसाथ करवाने के बाद ही माला पहनाई जाना चाहिए।

31. चैत्यस्तव(चौथा) और श्रुतस्तव (छठवां) ये दोनों उपधान मूलविधि से वहन किए जाते हैं। सेनप्रश्न के अनुसार पारणे के दिन वाचना ग्रहण की जा सकती है, यह नियम लगभग तपागच्छीय सामाचारी के अनुसार है।

32. सेनप्रश्न के निर्देशानुसार यदि श्राविका अन्तराय में बैठ जाए, तब भी उसे महानिशीथसूत्र के योगवहन किए हुए मुनि के समीप ही उपधान सम्बन्धी आवश्यक क्रिया करना चाहिए, अन्य मुनि या साध्वी उस क्रिया को करवाने का अधिकारी नहीं है।

33. सेनप्रश्न के अभिमत से उपधान-वहन की अवधि में हुए समस्त अपराधों की विशुद्धि के लिए उपवास या पौषध दिया जाता है, वह उपवास अहोरात्र-पौषध के साथ किया जाना चाहिए, केवल दिवस-पौषध का विधान नहीं है।

34. छकीया-उपधान में प्रवेश करने के दिन मालारोपणविधि की जाती हो, तो उस दिन सबसे पहले पवेयण, वाचना, समुद्देश आदि की क्रिया करवाते हैं, उसके पश्चात् मालारोपणविधि सम्पन्न करते हैं।

35. उपधानतप के साथ बीसस्थानक आदि अन्य तप नहीं किए जा सकते हैं। किसी उपधानवाही के कल्याणक तप चल रहा हो और उपधान-वहन के

दिनों में, कल्याणक-तप की तिथियाँ आती हों, तो वह तप किया जा सकता है, अथवा दूसरे वर्ष उन कल्याणक- तिथियों की आराधना की जा सकती है।

सुस्पष्ट है कि उपधानतप में अनेक प्रकार की सावधानियां रखी जानी चाहिए और सूचित निर्देशों का भलीभाँति पालन किया जाना चाहिए।

उपधान के बहुविध लाभ

• आवश्यकनिर्युक्तिकार श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहुस्वामी ने कहा है- जब ज्ञान, दर्शन और चारित्र-इन तीनों का युगपत्(एक साथ) समागम होता है, तब आत्मा को मोक्षसुख की प्राप्ति होती है अत: उपधान-तप की आराधना के द्वारा रत्नत्रय की एक साथ साधना होती है जैसे सूत्र पढ़ने एवं अर्थ को समझने का अभ्यास करने से ज्ञानयोग की साधना होती है। ज्ञानयोग की साधना के लिए उपवास, आयंबिल, नीवि आदि तप करने से तपोयोग की साधना होती है। एक निश्चित अवधि तक गृह संबंधी, व्यापार संबंधी एवं संसार संबंधी कार्यों का त्याग करने से एवं प्रवर्द्धमान तृष्णाओं पर नियन्त्रण रखने से बाह्यतपरूप वृत्तिसंक्षेप होता है, इससे संवरभाव की साधना होती है और वही संयमयोग की साधना कहलाती है। इस प्रकार उपधान में ज्ञान, संयम एवं तप की युगपत् आराधना होती है।

• तीर्थंकर परमात्मा की आज्ञा का अनुपालन होता है।

• तपस्या द्वारा कर्मों का क्षय होता है।

• असारभूत शरीर द्वारा सारतत्त्व ग्रहण होता है।

• श्रुत की अपूर्व भक्ति होती है।

• प्रतिदिन पौषधव्रत में रहने से मुनिजीवन की चर्या का अभ्यास होता है।

• विषय-कषायादि में प्रवृत्त होने वाली इन्द्रियों का निरोध होता है।

• कषाय भावों का संवर होता है और समय का अधिकांश भाग संवर-निर्जरा करने वाली क्रियाओं में ही व्यतीत होता है।

• देववंदन आदि क्रियाओं द्वारा देव (परमात्मा) की भक्ति और गुरूवंदन आदि के द्वारा गुरूभक्ति होती है।

• असंयम से निवृत्ति एवं संयम में प्रवृत्ति होती है।

• अन्तर्मुखी बनने की साधना का प्रयास होता है। इससे आत्म तल्लीनता बढ़ती है।

• इस आराधना द्वारा आर्त्त एवं रौद्र ध्यान नष्ट हो जाते हैं तथा आत्मा धर्मध्यान और शुक्लध्यान में रमण करने लगती है।

• उपधान के वातावरण से मन का सम्बन्ध आत्मा से जुड़ता है और इन्द्रियों से पृथक् हो जाता है। फलतः इन्द्रियाँ निग्रहित हो जाती हैं और आत्मभाव की रूचि स्वतः जाग्रत होने लगती हैं। ऐन्द्रिकनिग्रह से संवर और आत्मरमण की रूचि से निर्जरा होती है।

• इस आराधना के द्वारा से बाह्य प्रवृत्तियाँ अल्पतम हो जाने के कारण मन की अनावश्यक कल्पनाएँ भी शिथिल हो जाती हैं। परिणामतः चित्तवृत्तियाँ उपशान्त होने लगती है।

• देववंदन आदि सूत्रों का वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ समझ में आने से शास्त्रों के सूक्ष्म रहस्य ग्रहण करने की रूचि पैदा होती है।

• कषायों एवं इन्द्रिय विषयों के त्याग से आंतरिक विशुद्धि होती है और भक्ति-भाव जागृत होता है।

• पौषधव्रत में रहने से श्रमणतुल्य जीवन का आस्वादन होता है।

• शारीरिक ममत्वभाव धीरे-धीरे कम होता है।

• शरीर की अशाश्वतता का अनुभव होने से जीवनदृष्टि एवं भेदविज्ञान प्रकाशित होता है।

• परिग्रहादि के प्रति रही हुई मूर्च्छा मंद हो जाती है।

• इन्द्रिय दमन और कषाय भाव से आत्मा की परिणति शुद्ध होने लगती है।

• नमस्कारमंत्र के प्रति श्रद्धा, भक्ति एवं प्रेम होने से उसके स्मरण एवं जाप द्वारा अनेकशः बाधाएँ स्वतः दूर हो जाती हैं।

• एकासन आदि तप करने से आहारसंज्ञा कम हो जाती है और भटकता हुआ मन स्थिर हो जाता है।

• इस तपाराधना द्वारा शास्त्र पढ़ने की योग्यता विकसित होती है और श्रुत ज्ञानार्जन की उपयोगिता ज्ञात होती है।

• स्थानांगसूत्र के तीसरे स्थान में यहाँ तक कहा गया है कि योगवहन करने वाला साधु अनादि अनंत चार गतिरूप भवजल से पार हो जाता है अर्थात् जन्म-मरण के चक्रव्यूह को समाप्त कर देता है। इसमें यह भी वर्णित है कि

योगवहन करने वाला जीव शुभ और भद्रिक-परिणाम को प्राप्त होता है। यहाँ तपसाधना एवं सूत्राभ्यास की दृष्टि से उपधान को योगवहन की कोटि में रखा गया है। इससे उच्चकोटि का देशविरति जीवन (श्रावक जीवन) जीने का अवसर प्राप्त होता है।

• रात्रिभोजन, अभक्ष्यभक्षण, नाटक, सिनेमा और बढ़ती हुई लालसाओं का निरोध होता है।

• माता-पिता, भाई-बहन आदि स्वजनों के संसारवर्द्धक संपर्क का परित्याग होता है और चारित्र भावना का संपोषण होता है।

• ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार रूप पाँच आचारों का परिपालन होने से सदाचारमय जीवन का निर्माण होता है।

• आत्मपरिणामों की भूमिका सरल-स्वच्छ और पवित्र बनती है। • अनंत जीवों को अभयदान मिलता है। • शुभ भावों में रमणता होती है। • अनादिकालीन कर्मों का क्षय होता है। • चित्त एकाग्रता का अभ्यास होता है और • गणधर रचित सूत्रों का बहुमान होता है।[62]

इस प्रकार उपधान एक उत्तम क्रिया है। इसे विधिपूर्वक एवं श्रद्धायुत करने से मनुष्य जन्म सफल होता है अत: सभी गृहस्थ साधकों को उपधान तप का अनुष्ठान अवश्यमेव करना चाहिए। यदि किसी व्यक्ति में उतना तप करने की शक्ति नहीं हो, तो उसे उस पर श्रद्धा अवश्य रखना चाहिए और जब योग्यता एवं सामर्थ्य प्राप्त हो जाए, तब उपधान वहन हेतु तत्पर रहना चाहिए।

उपधान न करने पर होने वाले दोष

अंगचूलिका नामक ग्रन्थ में कहा गया है कि योग (उपधान) विधि श्रमण भगवान महावीर द्वारा प्रवेदित है, प्रआख्यात है, सुप्रज्ञप्त है, जो आत्माएँ ऐसी उत्तम योगविधि का आचरण नहीं करती हैं, जिनवाणी का विरोध करती हैं, वे सूत्र, अर्थ और तदुभय की शत्रु बनती हैं, जिनाज्ञा की विराधक बनती हैं, निह्नव (जिनवाणी का विपरीत कथन करने वाली) बनती हैं, इस प्रकार अनंत संसारी बनती हैं। इस ग्रन्थ में यह भी निर्दिष्ट किया गया है कि जो साधु योगविधि का आचरण नहीं करते हैं, उनके सान्निध्य में योगविधि सम्बन्धी क्रियाकलाप करने वालों को एकान्त मिथ्यादृष्टि ही जानना चाहिए।[63]

यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि जो योगविधि का ज्ञाता हो और तदनुरूप

आचरण करनेवाला हो, उसके सान्निध्य में ही योग(उपधान) तप क्यों करना चाहिए? इसके उत्तर में कहा गया है कि जिसने योग (उपधान) विधि का वहन किया है, वह साधु ही कल्याणरूप, मंगलरूप, देवरूप, है और मोक्षफल को प्रदान करने वाला है। भले ही कोई साधु बाह्य-क्रियाकाण्ड का कठोरता से पालन करता हो, परन्तु अनुज्ञा-अनुयोग आदि योग उपधान की क्रिया किया हुआ नहीं हो, वह बाह्य से साधुवेश में होने पर भी तत्त्वत: असाधु ही है। इस विषय में शास्त्रकारों ने यह भी निर्दिष्ट किया है कि जिस श्रावक ने उपधानतप नहीं किया है और जिस साधु ने योगवहन नहीं किया है, उसके द्वारा स्वयं ही सूत्रों का विवेचन करना, वाचना देना या दिलवाना अधर्म के समान है। इससे सिद्ध होता है कि साधु हो या श्रावक, वह अधिकार प्राप्त सूत्रों का ही स्वाध्याय आदि कर सकता है।

पंचवस्तुक आदि ग्रन्थों में बताया गया है कि जो योगविधि या उपधानविधि का उल्लंघन करते हैं उन्हें 1. आज्ञाभंग 2. अनवस्था 3. मिथ्यात्व और 4. विराधना-ये चार दोष लगते हैं।[64] जीतकल्प आगम में कहा गया है कि जो साधक आयंबिल आदि तपपूर्वक योग अथवा उपधान को वहन नहीं करता है, उसके व्रत-महाव्रत में अतिचार लगते हैं।[65]

प्रश्नव्याकरणसूत्र में निर्दिष्ट है कि जो साधु योगवहन किए बिना श्रुत का अभ्यास करता है, उसे तीर्थंकर अदत्त का दोष लगता है। तत्त्वत: उपधान-वहन की आवश्यकता कितनी है? उस सम्बन्ध में हीर प्रश्न का उल्लेख अवश्यमेव पढ़ने जैसा है। उसमें निर्देश है कि कदाचित् गुरू का योग न मिले, तो दक्ष श्रावक को स्थापनाचार्य के समीप उपधान-विषयक सम्पूर्ण विधि करना चाहिए, परन्तु उपधान करने में आलस्य नहीं करना चाहिए।

उपधान-तपविधि में हुए क्रमिक परिवर्तन

इस अध्याय के सन्दर्भ में यह चर्चा करना आवश्यक है कि प्राचीन काल में उपधान की तप-प्रणाली क्या थी और वर्तमान काल में उसमें कैसे और क्यों परिवर्तन आए ?

महानिशीथसूत्र का जब गहन अध्ययन करते हैं, तो यह सूचित होता है कि उस समय पंचमंगल महाश्रुतस्कन्ध आदि कुछ उपधानों के अंत में अट्ठम

करने का नियम था और पंच नमस्कार आदि सूत्रों के उद्देश के लिए लगातार पाँच उपवास किए जाते थे। यह विधि-प्रक्रिया विक्रम की 12वीं शती तक यथावत् विद्यमान थी- ऐसा सुबोधासामाचारी नामक ग्रन्थ का अध्ययन करने से सर्वथा स्पष्ट हो जाता है।[66]

जब आचारमय-सामाचारी का प्रवर्त्तन हुआ, उसके बाद के वर्षों में पाँच उपवास करने की प्रवृत्ति समाप्त हो गई और उसके स्थान पर दस आयंबिल किए जाने की परिपाटी प्रारम्भ हुई। इसमें सप्तविध सूत्रोपधानों में एक आयंबिल की वृद्धि कर निर्धारित उपवास का परिमाण पूरा किया जाने लगा अर्थात जिस सूत्र के अध्ययन के लिए जितने उपवास करने की परम्परा थी, वह आयंबिल द्वारा पूरी की जाने लगी।[67]

कुछ समय बाद विक्रम की 13 वीं शती के अनन्तर एकान्तर उपवास के पारणे एकासन करने की प्रथा शुरू हुई। इतना निश्चित है कि विक्रम की 12 वीं शती तक एकासन करने की परिपाटी शुरू नहीं हुई थी, क्योंकि इसका सर्वप्रथम उल्लेख विधिमार्गप्रपा[68] (14 वीं शती) में प्राप्त होता है। इसके पश्चात् आचारदिनकर[69] (15 वीं शती) में यह परिवर्तित स्वरूप और अधिक स्पष्टता के साथ नजर आता है। अत: इतना निश्चित है कि 13 वीं शती से लेकर 15 वीं शती के मध्य एकान्तर उपवास और एकासन करने की परिपाटी प्रारम्भ हो चुकी थी। आज वह परम्परा स्थाई-सी बन गई है।

इस सम्बन्ध में उपधानवाहियों को यह ज्ञात रहे कि उपधान के समय एकान्तर उपवास और एकासन करना-यह उत्सर्ग विधि नहीं है, आपवादिक-विधि है। यह विधि असमर्थ, वृद्ध एवं संहनन-हीन व्यक्तियों की अपेक्षा से कही गई है। जो साधक समर्थ, बलिष्ठ व युवा हैं, उन्हें औत्सर्गिक तपविधि पूर्वक उपधान करना चाहिए, वही श्रेयस्कर है।

उत्सर्ग तपपूर्ति परिमाण कोष्ठक- जो उपधानवाहक शास्त्रोक्त उपवास या आयंबिलपूर्वक सूत्र वहन नहीं कर सकते हैं, वे सामर्थ्यानुसार निर्दिष्ट किसी भी प्रकार का तप करके एक उपवास की पूर्ति कर सकते हैं और इस प्रकार एक-एक उपवास या आयंबिल की सम्पूर्ति करते हुए सभी सूत्रों का उपधान वहन कर सकते हैं। आज उपवास तप की परिपूर्ति नीवि या एकासन तप द्वारा करते हुए देखी जाती है। इस हेतु अन्य प्रकार के तप जैसे- नवकारसी, पौरूषी,

पुरिमड्ढ़ आदि द्वारा तप पूर्ति की जाती हो, ऐसा देखने-सुनने में नहीं आता है। यह आपवादिक परिपाटी ज्ञानीजनों की करूणाबुद्धि का प्रभाव है।

महानिशीथसूत्र के अनुसार एक उपवास = अन्य तपों की अवगणना का कोष्ठक इस प्रकार है-[70]

एक उपवास	=	एक उपवास
एक शुद्ध आयंबिल	=	एक उपवास
दो आयंबिल	=	एक उपवास
चार एकलठाणा	=	एक उपवास
तीन नीवि	=	एक उपवास
दस अवड्ढ	=	एक उपवास
बारह पुरिमड्ढ	=	एक उपवास
चौबीस पौरूषी	=	एक उपवास
पैंतालीस नवकारसी	=	एक उपवास

अत्यन्त छोटा बालक भी जब तक सूत्रोपधान न कर सके, तब तक सूत्र की आराधना से वंचित न रहें, इस अपेक्षा से जीतव्यवहार के अनुसार उत्सर्गतप की सम्पूर्ति करने वाला एक अन्य कोष्ठक निम्नोक्त है[71]-

उपवास	=	एक उपवास
दो आयंबिल	=	एक उपवास
रूक्ष तीन नीवि	=	एक उपवास
उपधान की चार नीवि	=	एक उपवास
आठ बियासना	=	एक उपवास
अठारह साढ़पौरूषी	=	एक उपवास
चौबीस पौरूषी	=	एक उपवास
पैंतालीस नवकारसी	=	एक उपवास
2000 गाथा का स्वाध्याय	=	एक उपवास
20 नमस्कारमंत्र की माला	=	एक उपवास

उपधान के वाचना-क्रम में घटित परिवर्तन

यदि महानिशीथसूत्र के आधार पर वर्तमान सामाचारी का तुलनात्मक अध्ययन करते हैं, तो वाचनाक्रम-विषयक कुछ अन्तर परिलक्षित होते हैं।

जैसे पंचमंगल महाश्रुतस्कन्ध नामक प्रथम उपधान में पाँच अध्ययन और तीन चूला है। चूला को उद्देशक भी कहा गया है। इस पंचमंगलसूत्र में अड़सठ अक्षर हैं। महानिशीथसूत्र में एक-एक नमस्कार (आदि के पाँच पद) को एक-एक अध्ययन कहा गया है तथा पाँच उपवास करने के बाद पाँच आयंबिल करके पाँच अध्ययन की पृथक्-पृथक् वाचना करने का निर्देश है। छठवां आयंबिल करके छठवें और सातवें पद की वाचना, सातवाँ आयंबिल करके आठवें पद की वाचना और आठवाँ आयंबिल करके नवें पद की वाचना करने का उल्लेख है। इससे ध्वनित होता है कि पूर्वकाल में प्रथम उपधान की वाचना उक्त क्रमपूर्वक दी जाती थी। लगभग विक्रम की 11 वीं शती तक वाचनादान का यही क्रम प्रचलित था।[72] तत्पश्चात् वाचनाक्रम को लेकर जो परिवर्तन हुए, उनके सर्वप्रथम संकेत सुबोधासामाचारी में दृष्टिगत होते हैं। इसके अनुसार परिवर्तित वाचनाक्रम इस प्रकार है[73]-

प्रथम पाँच उपवास, फिर पाँच अध्ययन की प्रथम वाचना करना चाहिए। उसके बाद लगातार आठ आयंबिल और तीन उपवास के अंत में तीन चूलापद की दूसरी वाचना करना चाहिए।

इस पाठांश से सुस्पष्ट है कि आगमकाल में पूर्वसेवा के रूप में किए जाने वाले पाँच उपवास विक्रम की 12वीं शती तक आते-आते पंचमंगल महाश्रुतस्कन्ध के पाँच अध्ययन को वहन करने के आधारभूत बन गए। संभवत: इसी कारण पाँच उपवास करने के अनन्तर पाँच अध्ययन की पहली वाचना देने का प्रवर्त्तन हुआ तथा आठ आयंबिल और अट्ठम (तेला) के पश्चात् तीन चूला की दूसरी वाचना करने की परिपाटी प्रारम्भ हुई। आज भी वाचनादान की यही परिपाटी प्रवर्तित है।

अनुज्ञाक्रम में परिवर्तन

महानिशीथसूत्र के अनुसार प्राचीनयुग में उपधानयोग्य सूत्रों की अनुज्ञाविधि उस-उस सूत्र के तपवहन के साथ की जाती थी। अनुज्ञा के निमित्त अट्ठमतप किया जाता था। इस प्रकार जब निश्चित सूत्रों का उपधान-तप पूर्ण हो जाता, उसके बाद ही मालारोपण-विधान सम्पन्न होता था। आज अनुज्ञाविधि का क्रम बदल चुका है। वर्तमान परिपाटी में उपधान तप के दौरान नवकार मन्त्र आदि सूत्रों की केवल उद्देश विधि ही करवाते हैं उन सूत्रों की समुद्देश विधि एवं

अनुज्ञाविधि तो मालारोपण के दिन माला पहनने के पूर्व करवाई जाती है। उत्सर्ग-विधि के अनुसार प्रवर्त्तमान सूत्र के तपवहन काल में ही उसकी उद्देश, समुद्देश एवं अनुज्ञा विधि कर देनी चाहिए।[74]

वाचनाओं का प्राचीन एवं अर्वाचीन क्रम

प्रथम उपधान- महानिशीथसूत्र[75] के अनुसार प्रथम नमस्कारमंत्र उपधान में पाँच उपवास होने के पश्चात् पाँच दिन आयंबिल करके, पाँच अध्ययनों की पृथक्-पृथक् वाचनाएँ दी जाती थी और छठवें दिन आयंबिलपूर्वक प्रथम चूला की, सातवें-आठवें दिन भी आयंबिलपूर्वक द्वितीय-तृतीय चूला की वाचना दी जाती थी तथा अंत में पंचमंगलमहाश्रुतस्कन्ध की अनुज्ञा निमित्त अट्ठम तप करवाया जाता था, किन्तु विक्रम की 11 वीं शती पश्चात् पाँच उपवास के अनन्तर पाँच अध्ययनों की एक साथ वाचना देने की प्रवृत्ति प्रारम्भ हुई। तदनुसार वर्तमान में पाँच पदों की एक साथ वाचना दी जाती है और शेष सात (साढ़े सात) उपवास-परिमाण तप पूरा होने पर दूसरी तीन चूलाओं (अध्ययनों) की वाचना दी जाती है।[76]

दूसरा उपधान- इरियावहि श्रुतस्कंध नामक दूसरे उपधान में पाँच अध्ययन और तीन चूलिकाएँ हैं।

यह सूत्रोपधान महानिशीथसूत्र के अनुसार पंचमंगल महाश्रुतस्कन्धसूत्र के समान ही वहन होता था, किन्तु बाद में विक्रम की 12 वीं शती के समय से 1. इच्छामि०, 2. गमणा०, 3. पाण०, 4. ओसा०, 5. जे मे०-इन पाँच अध्ययनों की पहली वाचना पाँच उपवास करने के बाद दी जाने लगी और वर्तमान में पाँच उपवास-तप का परिमाण पूर्ण होने के बाद एक साथ दी जाती है।[77] 6. एगिन्दिया०, 7. अभिहया०, 8. तस्स०-ये तीन पद चूलिका के रूप में माने गए हैं। इन तीनों की वाचना सुबोधासामाचारी ग्रन्थ के अनुसार दी जाती है।

तीसरा उपधान- शक्रस्तव नामक तीसरे उपधान में अट्ठम तप या उस परिमाण जितना तप पूर्ण होने के बाद क्रमशः दो, तीन, चार पदवाली तीन संपदाओं की पहली वाचना, सोलह आयंबिल होने के बाद पाँच-पाँच पदवाली तीन संपदाओं की दूसरी वाचना और पुनः सोलह आयंबिल का तप होने के बाद दो, चार एवं तीन पदवाली तीन संपदाओं की तीसरी वाचना दी जाती है तथा

अन्तिम गाथा की वाचना तीसरी वाचना के साथ ही देते हैं।

चौथा उपधान- यह चैत्यस्तव (अरिहंतचेईयाणं) नाम का चौथा उपधान पूर्वकाल से लेकर अब तक मूलविधि के रूप में ही प्रवर्त्तित है। इस उपधान में एक उपवास और तीन आयंबिल के अन्त में 1. अरिहंत०, 2. सद्धाए०, 3 अन्नत्थ०, -इन तीन अध्ययनों की एक वाचना दी जाती है।

पांचवाँ उपधान- नामस्तव(लोगस्ससूत्र) नामक पाचवें उपधान में अट्ठम तप करने के बाद प्रथम गाथा की पहली वाचना, फिर बारह आयंबिल-परिमाण तप होने के बाद तीन गाथाओं की दूसरी वाचना और अंत में तेरह आयंबिल-परिमाण का तप होने के बाद शेष तीन गाथाओं की तीसरी वाचना दी जाती है। सुबोधासामाचारी में नामस्तव की अन्तिम तीन गाथाओं को प्रणिधानत्रिक कहा गया है।[78]

वर्तमान परिपाटी में जावंतिचेइयाइं०, जावंतकेविसाहू० और जयवीयरायसूत्र को प्रणिधानत्रिक कहा गया है। चैत्यवंदन के अधिकार में सिद्धाणंबुद्धाणं सूत्र की तीन गाथाओं को प्रणिधानत्रिक के समान माना गया है।

छठवां उपधान- प्राचीन परम्परानुसार विक्रम की 12वीं शती तक एक उपवास, पाँच आयंबिल और छठ(बेला) की तपस्या होने के बाद श्रुतस्तव(पुक्खरवरदीसूत्र) की प्रारम्भिक दो गाथा और तीसरी काव्यगाथा की एक वाचना दी जाती थी। ये तीन अध्ययन के रूप में माने जाते थे। चौथी काव्यगाथा के आदि के दो पदों का चौथा अध्ययन और अन्तिम दो पदों का पाँचवां अध्ययन माना जाता था। सिद्धस्तव (सिद्धाणंबुद्धाणं सूत्र) की तीन गाथाओं की वाचना उपधान वहन किए बिना ही दी जाती थी तथा उज्जिंत. और चत्तारि.- इन दो गाथाओं की वाचना नहीं दी जाती थी,[79] परन्तु वर्तमान में पहले दो उपवास होने पर श्रुतस्तवसूत्र की और तप की पूर्णता होने पर वेयावच्चगराणंसूत्र के साथ सिद्धाणंबुद्धाणंसूत्र की वाचना दी जाती है।

वर्तमान परिपाटी के अनुसार वहनयोग्य सूत्र उपधान में अनुक्रम से आठ, आठ, बत्तीस, तीन, पच्चीस और पाँच आयंबिल गिने जाते हैं। तदनुसार उपर्युक्त सूत्रों के अध्ययन भी तथाकथित आठ-आठ आदि की संख्या में जानना चाहिए।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि आगमयुग से लेकर वर्तमान युग तक के वाचनाक्रम में द्रव्यादि की अपेक्षा काफी परिवर्तन हुए हैं और यह परिवर्तन

विक्रम की 11 वीं शती के पश्चात् हुआ प्रतीत होता है।

उपधान करवाने का अधिकारी कौन?

जैन विचारणा में विशिष्ट योग्यता प्राप्त मुनि या आचार्य आदि को ही उपधान करवाने का अधिकार प्रदान किया गया है। संभव है, कोई मुनि पचास वर्ष की संयमपर्याय प्राप्त कर चुका हो, किन्तु उसने गीतार्थविहित योग्यता को समुपलब्ध नहीं किया हो, तो उसे उपधान करवाने का अधिकारी नहीं माना जाता है।

यह स्मरणीय है कि प्राचीन सामाचारी के अनुसार किसी आगम में श्रुतस्कन्ध नामक विभाग हो, तो उस श्रुतस्कन्ध का उद्देश नंदीरचना एवं नंदीविधि के बिना नहीं होता है, तब पंचमंगल महाश्रुतस्कन्ध का उद्देश नंदी के बिना कैसे हो सकता है? दूसरा तथ्य, 'श्रुतस्कन्ध के उद्देश के लिए नंदी करनी ही चाहिए'-ऐसा परम्परागत वचन स्वीकार करते हैं, तो यह भी मानना होगा कि जिस मुनि ने नंदीसूत्र एवं अनुयोगद्वारसूत्र के योग कर लिए हों, वह मुनि ही नंदी की क्रिया करवा सकता है।

तीसरा पहलू यह है कि नंदीसूत्र एवं अनुयोगद्वारसूत्र के योगवहन करने का अधिकारी वही माना गया है, जिसने महानिशीथसूत्र के योग, (जिसमें 52 दिन तक निरन्तर आयंबिल करना होता है) कर लिए हों, क्योंकि आचरणावश महानिशीथसूत्र के योग पूर्ण होने के बाद ही नंदीसूत्र एवं अनुयोगसूत्र के योग किए जाते हैं।[80]

इस विवेचन से ज्ञात होता है कि जिस मुनि ने महानिशीथसूत्र, नंदीसूत्र और अनुयोगद्वारसूत्र के योग कर लिए हों, वही मुनि उपधान करवाने का अधिकारी बनता है।

यदि आगमशास्त्रों के अध्ययन क्रम एवं दीक्षापर्याय क्रम की अपेक्षा से देखें, तो उपधान का अधिकारी मुनि आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन एवं छेदसूत्र आदि के योग भी किया हुआ होता है, क्योंकि इन सूत्रों के योगवहन के पश्चात् ही महानिशीथसूत्र आदि के योग किए जाते हैं। महानिशीथसूत्र के अध्ययन हेतु लगभग बीस वर्ष की दीक्षापर्याय होना आवश्यक है।

उपधान करने योग्य कौन?

जैन धर्म व्यक्ति प्रधान नहीं, अपितु गुण प्रधान धर्म है। वह जाति से अधिक कर्म (आचरण) को महत्त्व देता है। भगवान महावीर का उपदेशसूत्र है

कि 'व्यक्ति कर्म से महान् होता है, जाति विशेष में जन्म लेने से नहीं' अर्थात व्यक्ति का मूल्य आचरण से है। व्यक्ति की विशिष्ट योग्यताएँ एवं क्षमताएँ ही आचरण का रूप धारण करती हैं।

यही बात उपधान वहन करने वाले आराधकों के सम्बन्ध में है। जैन परम्परा यह मानती है कि उपधान करने वाला व्यक्ति कुछ योग्यताओं से परिपूर्ण होना चाहिए, क्योंकि योग्य व्यक्ति ही सूत्रों को धारण कर सकता है। जैन धर्म के आवश्यकसूत्र गणधर (चौदह पूर्वों के ज्ञाता) रचित और मन्त्र रूप माने जाते हैं। मन्त्र प्रधान सूत्र विधिपूर्वक ग्रहण किए जाने पर ही आत्मस्थ बनते हैं। दूसरे, योग्य व्यक्ति के हाथ में दी गई विद्या सहस्रगुना लाभदायी होती है जबकि अयोग्य के हाथ में दिया गया विद्या धन हानिकारक होता है, अत: उपधान तप करने वाला व्यक्ति योग्य होना चाहिए।

इस सम्बन्ध में उत्तराध्ययनसूत्र का निर्देश है कि जो शिष्य सदा गुरूकुलवास में रहता है, योग को वहन करने की इच्छा वाला है, उपधानवान है, प्रियकार्य को करने वाला है और प्रिय बोलने वाला है, वही शिक्षा (ग्रहण-आसेवन) प्राप्त करने के योग्य है।[81] स्थानांगसूत्र में कहा गया है कि जो विनयरहित है, विगयकारक द्रव्यों को खाने में आसक्त बना हुआ है और क्रोधयुक्त चित्तवाला है, वह वाचना (सूत्रग्रहण) के लिए अयोग्य है।[82] इसका तात्पर्य है कि विनम्र, अनासक्त, उपशान्त एवं अप्रमत्त व्यक्ति शिक्षाग्रहण के योग्य होता है।

पूर्व विवेचित सम्यक्त्व आदि व्रतारोपण-विधियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उपधानवाही को उक्त गुणों के अतिरिक्त मार्गानुसारी के पैंतीस गुण, श्रावक के इक्कीस गुण इत्यादि से भी युक्त होना चाहिए। अत: उपधानवाही को उपधान में प्रवेश करने के पूर्व स्वयोग्यता का मूल्यांकन अवश्य कर लेना चाहिए अथवा उन योग्यताओं को विकसित करने हेतु प्रयत्नशील बन जाना चाहिए।

उपधान का अधिकारी : गृहस्थ या मुनि

जैन आगम साहित्य में 'उपधान' शब्द का प्रयोग श्रावक एवं साधु-दोनों के लिए हुआ है। हम यह समझते हैं कि उपधान गृहस्थ श्रावक का ही आचार है, किन्तु ऐसा नहीं है। जहाँ महानिशीथसूत्र में उपधान का विवेचन गृहस्थ

साधकों की दृष्टि से किया गया है, वहीं आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग आदि सूत्रों में मुनिसाधना के दृष्टिकोण को लेकर 'उपधान' शब्द का भी प्रयोग है।

आचारांगसूत्र का नौवां अध्ययन 'उपधानश्रुत' नाम का है और वह भगवान महावीर की तपोमय साधना का वर्णन करता है। इस सूत्र में उत्कृष्ट तपोसाधना को उपधान कहा गया है। सूत्रकृतांगसूत्र में 'उपधानवीर्य' को श्रमण का विशेषण बतलाया है तथा एक सुन्दर रूपक प्रस्तुत करते हुए यह कहा है कि जिस प्रकार पक्षी पंख फड़फड़ाकर धूल झाड़ देता है, उसी प्रकार श्रमण भी उपधान-तप से कर्मरज को हटा देता है। स्थानांगसूत्र में श्रमण की बारह प्रतिमाओं को 'उपधान प्रतिमा' कहा गया है। एक जगह चार अन्तक्रियाओं में 'उपधानवान'-यह अणगार का विशेषण भी दिया है।[83]

आचारांगनिर्युक्ति में उल्लेख है कि जिस प्रकार जल आदि द्रव्य साधनों के द्वारा मलीन वस्त्र को स्वच्छ किया जाता है, उसी प्रकार भाव उपधान द्वारा आठ प्रकार के कर्मों को धोया जाता है।[84] उत्तराध्ययनसूत्र में उपधानवाही (श्रुत-अध्ययन काल में तप करने वाला) को शिक्षा ग्रहण के योग्य बताया है।[85]

उक्त वर्णन से ज्ञात होता है कि उपधानतप का अधिकारी गृहस्थ एवं साधु दोनों हैं, क्योंकि श्रुत-अध्ययनकाल में उत्कृष्ट तपोमय साधना करने का अधिकार दोनों को समान रूप से प्राप्त है। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा में गृहस्थ द्वारा श्रुत प्राप्ति के निमित्त की जाने वाली तप साधना को उपधान एवं मुनि द्वारा की जाने वाली तप साधना को योगवहन की संज्ञा दी गई है।

उपधान की आराधना कब हो ?

यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि उपधान कब करना चाहिए ? यदि इस सम्बन्ध में आगम ग्रन्थों का अवलोकन करते हैं, तो वहाँ तत्सम्बन्धी कोई निर्देश संभवत: नहीं है, किन्तु 'हीरप्रश्न' और 'सेनप्रश्न' नामक ग्रन्थों में यह उल्लेख मिलता है कि उपधानतप की आराधना आश्विन आदि महीनों में की जा सकती है।

प्रचलित परम्परा में भी आश्विन शुक्ला दशमी या उस तिथि के निकटवर्ती समय में इस अनुष्ठान को करवाए जाने की विशेष प्रवृत्ति देखी जाती है। इसके पीछे कुछ प्रयोजन हैं। प्रथम प्रयोजन यह है कि मुख्यत: पंचमंगलश्रुतस्कन्धसूत्र के उपधान में आराधक वर्ग की संख्या अधिक होती हैं

और उस पंचमंगलसूत्र का अध्ययन नंदी किए बिना नहीं करवाया जा सकता है। वह नंदीरचना आश्विन शुक्ला दशमी या उसकी परवर्ती तिथियों में की जा सकती है, क्योंकि उसके लिए वही काल उत्तम माना गया है।

दूसरा प्रयोजन प्राकृतिक दृष्टि से यह माना जा सकता है कि आश्विन शुक्ला दशमी के बाद का समय उपधानवाहियों के लिए सर्वथा अनुकूल होता है। इस समय न वर्षा का जोर रहता है, न सर्दी का प्रकोप और न ही गर्मी का प्रभाव।

यह अनुभूतिजन्य है कि बाह्य वातावरण व्यक्ति के मन को काफी हद तक प्रभावित करता है। बाह्य पर्यावरण अनुकूल होने से उपधानवाहकों को बहुत कुछ अनुकूलताएँ मिल जाती हैं। यद्यपि साधना को गतिशील बनाने के उद्देश्य से कठोर परिस्थितियों का निर्माण होना चाहिए, किन्तु जो लोग प्रथम बार श्रमणतुल्य जीवनचर्या की अनुभूति और आचरण करने के भावों को लेकर आए हैं, वे प्रारम्भ में ही कठोर परिस्थितियों से विचलित न हो जाए और कुछ स्थितियाँ सामान्य रहें, ताकि उनकी साधना क्रमशः आगे बढ़ सके इस दृष्टि से यह समय उपयुक्त है।

इसमें तीसरा कारण यह स्वीकारा जा सकता है कि जैन साधु-आगमविधि के अनुसार नवकल्पी-विहार करने वाले होते हैं। वे सर्दी या गर्मी में लम्बे समय तक एक स्थान पर रह पाएं, यह आवश्यक नहीं हैं। जबकि इस आराधना के लिए कम से कम दो महीना एक ही स्थान पर रहना अनिवार्य होता है, जो स्वस्थ साधु के लिए अवैधानिक है। इस दृष्टि से भी विजयादशमी या उसके तुरन्त बाद वाली परिपाटी सहेतुक प्रतीत होती है।[86]

समाहारतः जैनागमों या मध्ययुगीन ग्रन्थों में उपधान के काल को लेकर लगभग कोई विवेचन नहीं है। यह परवर्ती आचार्यों की देन है। उन्होंने जो तर्क दिए हैं वे कुछ अपेक्षाओं से समय के अनुकूल सिद्ध होते हैं।

मालारोपण का सामान्य स्वरूप

हीरप्रश्न नामक ग्रन्थ में यह उल्लिखित है कि उपधान तप ज्ञान की आराधना के लिए किया जाता है और मालारोपण उस तप के उद्यापन निमित्त होता है यानी मालारोपण उपधानतप का उद्यापन रूप है।[87] आचारदिनकर में कहा गया है कि मालारोपण सभी व्रतों का उद्यापनरूप है और माला तीर्थंकर

परमात्मा की श्रेष्ठ मुद्रा(निशानी) है।[88] सामान्यतया मालारोपण के दिन अधिकार प्राप्त गुरू द्वारा उपधानवाही को उपधानयोग्य सूत्रों की समुद्देश एवं अनुज्ञा विधि करवाई जाती है। उसके बाद उपधानवाही को यावज्जीवन के लिए प्रतिदिन त्रिकालदर्शन करना, प्रात:काल जिनप्रतिमा के दर्शन किए बिना पानी नहीं पीना, अभक्ष्य आदि पदार्थों का सेवन नहीं करना-ऐसे कुछ अभिग्रह आदि नियम दिलवाए जाते हैं। तदनन्तर उसके दोनों कंधों पर पूर्व दिन में अभिमंत्रित की गई माला पहनाई जाती है। संक्षेप में यही मालारोपण है।

माला धारण करवाने का अधिकारी कौन?

मालारोपण करवाने का वास्तविक अधिकारी कौन हो सकता है? इस सम्बन्ध में महानिशीथसूत्रकार ने कहा है[89]- **''सहत्थेणं उभय-खंधेसुमारोवयमाणेन गुरूणा''** अर्थात जिस व्यक्ति के लिए पंचमंगलमहाश्रुतस्कन्ध आदि सूत्रों का समुद्देश कर उसकी अनुज्ञा दे दी गई है, उसके दोनों कंधों पर गुरू भगवन्त द्वारा माला आरोपित की जाए। इस पाठांश से निश्चित होता है कि मालारोपण का वास्तविक अधिकारी गुरू को माना गया है। पूर्वकाल में यही परिपाटी प्रचलित थी।

प्रचलित प्रथा के अनुसार वर्तमान में बहिन भाई को और भाई बहिन को माला पहनाते हैं। किसी अपेक्षा से देखें, तो आज भी मूलविधि अस्तित्व में है। प्रथम तो वह माला गुरू द्वारा अभिमन्त्रित कर पारिवारिक-सदस्यों को दी जाती है। उसके बाद ही वह माला उपधानवाही को पहनाई जाती है। प्राचीनकाल में गुरू स्वयं माला पहनाते थे। आज भी कुछ लोग गुरू के हाथों ही माला पहनते हैं। यह माला जीवन में एक ही बार पहनी जाती है। इसलिए मालाग्राही के हृदय में अपूर्व उत्साह होता है अत: इस उत्साह को प्रकट करने के निमित्त मालारोपण के पूर्व दिन बड़ी धूमधाम से माला का वरघोड़ा निकालते हैं।

मालारोपण की शास्त्रीय विधि

महानिशीथसूत्र के अनुसार सभी सूत्रों के उपधान पूर्ण हो जाएं, उसके बाद जिस दिन शुभयोग और चन्द्र बलवान् हों, उस दिन उपधानवाही अपने सामर्थ्य के अनुसार देव-गुरू-धर्म की विशिष्ट भक्ति करें, जिनेश्वर परमात्मा का विविध प्रकार से पूजोपचार करें, गुरू भगवन्तों को वस्त्र आदि प्रदान कर उन्हें प्रतिलाभित करें। चतुर्विध-संघ एवं समग्र बंधुवर्ग के साथ देववंदन करें। फिर

गुणवान् साधुओं को वंदन और साधर्मिक बन्धुओं को आदर-सत्कार एवं सम्मानपूर्वक प्रणाम आदि करें। इसी के साथ उन्हें मूल्यवान्, कोमल एवं स्वच्छ वस्त्रादि प्रदान करें तथा भोजन आदि कराएं। उस दिन गुरू उपधानवाहियों को धर्म देशना प्रदान करें।

परम्परा की दृष्टि से विचार करें, तो वर्तमान में इसका कुछ भिन्न स्वरूप दिखाई देता है। आजकल प्राय: उपधानतप की पूर्णाहूति के अगले (दूसरे) दिन ही मालारोपण-विधि सम्पन्न कर ली जाती है, यह विचारणीय है। मालारोपण का दूसरा कृत्य यह कहा जा सकता है कि जो माला उपधानवाहक धारण करने वाला है, उस माला को स्वर्ण, रजत या अन्य उत्तम थाल में रखकर मूल्यवान् वस्त्र से अलंकृत किया जाता है उसी के साथ मिठाई, मेवा आदि के भी अनेक थाल तैयार किए जाते हैं। जिनपूजा एवं ज्ञान के उपकरण भी तैयार किए जाते हैं। गुरू द्वारा वर्धमानविद्या या सूरिमंत्र आदि से उस माला को अंभिमंत्रित किया जाता है।

मालारोपण के एक दिन पूर्व माला के सम्मानार्थ एवं प्रभावनार्थ माला का भव्य वरघोडाह्न (जुलूस) निकाला जाता है। वरघोड़े में पूर्व सज्जित किए गए सभी थाल साथ में रखते हैं। माला पहनने वाला उपधानवाही अपनी सामर्थ्य के अनुसार वाहन जैसे-पालकी, रथ आदि में सवार होकर वर्षीदान देते हुए वरघोड़े में साथ चलता है। मालाग्राही उस माला को वरघोड़े में अपने सन्निकट ही रखता है तथा उसके साथ ही जिनप्रतिमा की अष्टप्रकारी-पूजा से सम्बन्धित सामग्री आदि भी रखी जाती है। यदि शोभा यात्रा में एक से अधिक उपधानवाही हों, तो उनमें से प्रत्येक अपनी माला अपने समीप ही रखते हैं। शोभा यात्रा शहर के मुख्य मार्गों से होती हुई मुख्य स्थल पर पहुँचती है, जहाँ गुरू सभी को मंगलपाठ सुनाते हैं और माला को मंगल-स्थान पर पधराते हैं।

कुछ आचार्य वरघोड़ा होने के बाद माला को अभिमन्त्रित करने का निर्देश करते हैं, किन्तु इस सम्बन्ध में इतना निश्चित है कि मालारोपण के पूर्व-दिन ही वह अभिमन्त्रित कर दी जाती है, क्योंकि अभिमन्त्रित माला के समक्ष रात्रिभर जागरण किया जाता है। फिर दूसरे दिन उस माला को शुभ मुहूर्त्त में गुरू भगवन्त पारिवारिक सदस्यों में ज्येष्ठ पुरूष या भाई को मंगलमय भावनाओं के साथ प्रदान करते हैं। उसके बाद कुटुम्बी जन उल्लास व उमंगपूर्वक उपधानवाही को माला पहनाते हैं। यह विधि जिनबिम्ब के समक्ष की जाती है।

माला किस वस्तु की हो?

यह मननीय प्रश्न है कि माला किस वस्तु की होना चाहिए? महानिशीथसूत्र में कहा गया है कि 'पूजित हुई अथवा जिनबिम्ब पर पूजा के लिए रखी गई सुगंधी, अम्लान(ताजी) श्वेत पुष्पों की माला को लेकर गुरू स्वयं के हाथों से आराधक के दोनों कंधों पर डालते हुए कुछ उपदेश देते हैं।[90]

इस पाठांश से अवगत होता है कि प्राचीन युग में श्वेत पुष्पों की माला पहनाई जाती थी तथा गुरू स्वयं अपने हाथों से उसे पहनाते थे, किन्तु पिछले कुछ वर्षों से यानी विक्रम की 14वीं शती के कुछ पूर्व से प्राय: सभी आम्नायों में अचित्त माला पहनाए जाने की आचरणा देखी जाती है। वर्तमान में सूत्र(सूत) की लाल वस्त्र आदि से बनी हुई माला पहनाते हैं-ऐसा विधिमार्गप्रपा में उल्लेख है।[91] आचारदिनकर(16 वीं शती) में 'रत्त' के स्थान पर 'रत्न' पाठ है। इसका अर्थ निकलता है-रत्नादि से निर्मित माला।[92] उसमें यह भी पाठ है कि कितने ही पुण्यात्माओं द्वारा रेशमी वस्त्र के रेशे से बनी हुई और सुवर्ण पुष्पों एवं माणक-मोतियों आदि रत्नों से जड़ी हुई मालाएँ और कितने ही भाग्यशालियों द्वारा श्वेत पुष्पों से निर्मित मालाएं पहनाई जाती है।

उपर्युक्त वर्णन से इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि माला पहनाने के विषय में जो निर्देश दिए गए हैं या इस सम्बन्ध में जो भी परिवर्तन आए हैं, इसमें देश-कालगत स्थितियाँ अथवा परम्परागत सामाचारियाँ ही प्रधान रहीं हैं। आजकल प्राय: लाल सूत की बनी हुई मालाएँ ही पहनाई जाती हैं। श्वेत पुष्पों की माला पहनाना मन की उज्ज्वलता का प्रतीक है और लाल सूत की माला पहनाना मांगलिक एवं सिद्ध गति को प्राप्त करवाने का द्योतक है।

उस दिन मालाग्राही परमात्मा की प्रतिमा के सम्मुख नृत्य करता है, यथाशक्ति दान देता है, आयंबिल या उपवास का प्रत्याख्यान लेता है। वर्तमान में उपवास करने की परम्परा है। मालारोपण की समग्र विधि पूर्ण होने के पश्चात् उपस्थित श्रावक-श्राविका मालाग्राही को उसके स्वयं के घर ले जाते हैं। मालाग्राही घर जाकर स्व शक्ति के अनुसार ताम्बूल आदि का दान देता है। यदि उपाश्रय में नंदीरचना की गई हो, तो उपधानवाही समुदाय के साथ गृहचैत्य में जाता है और वह माला गृहप्रतिमा के सम्मुख रखकर छ: माह तक उसकी पूजा करता है।

मालाधारण क्यों की जाए?

उपधान-तप की पूर्णाहूति होने के पश्चात् उपधानवाही को माला पहनाने का प्रयोजन क्या है ? इस सम्बन्ध में जैनाचार्यों ने कहा है कि उपधान पूर्णाहूति के निमित्त पहनाई जाने वाली यह माला मुक्तिरूपी स्त्री को वरण करने की माला है, सुकृत पुण्यरूपी जल सिंचन के लिए अरहट्ट माला है, गुणों की प्राप्ति करवाने वाली गुण माला है। इस माला को धन्य पुरूष ही धारण कर सकता है।

इस माला को मुक्तिमाला कहा गया है। माला को अभिमन्त्रित करते समय एवं पहनाते समय मालाग्राही के लिए यह भावना की जाती है कि यह जन्म-मरण के चक्रों का शीघ्रातिशीघ्र अन्त करके सिद्धगति का वरण करें। इसी दृष्टि से इसे मुक्तिमाला की उपमा दी गई है।

दूसरे, जिस उपधान तप में स्व-पर को प्रकाशित करने वाला ज्ञान है, आत्मा की शुद्धि करने वाला तप है तथा विशिष्ट गुण वाले संयम की आराधना है, उसमें प्रवेश करने वाले पुण्यात्मा के लिए मुक्ति सहज बन जाती है, इसलिए भी यह माला शिवमाला, मुक्तिमाला, गुणमाला कही गई है। एक जगह उल्लिखित है-

गच्छनायक पासे, पहिरे माल विसाल
सुकृत जल की घटमाला, मुक्ति रमणी वरमाला
वर मूर्त्तरूप गुणमाला, गणपति से पहिरूँ माला ।।

इस पद्य से स्पष्ट है कि यह सामान्य माला नहीं है, जिसे किसी के भी हाथों पहनी जा सके। वस्तुतः मालारोपण साधना का कलशारोपण और साध्य की सिद्धि का आश्वासन है। यही मालारोपण का महत्व है।

मालारोपण कब हो?

महानिशीथसूत्र के अनुसार सभी सूत्रों के उपधान को वाचना एवं तपपूर्वक ग्रहण कर लेने के पश्चात् शुभ तिथि, करण, मुहूर्त्त, नक्षत्र, योग, लग्नादि को देखकर मालारोपण करना चाहिए।[93]

सेनप्रश्न में कहा गया है कि जब से पहला उपधान प्रारम्भ किया हो, तब से लेकर बारह वर्ष समाप्ति के पूर्वकाल तक मालारोपण कर लेना चाहिए, अन्यथा शेष उपधान की तपाराधना विफल हो जाती है।[94] जब हम वर्तमान परम्परा का अवलोकन करते हैं, तो मूल विधान से कुछ परिवर्तित स्वरूप नजर

आता है। आज प्राय: 1. पंचमंगल महाश्रुतस्कन्ध 2.प्रतिक्रमण श्रुतस्कंध 3. अर्हत्चैत्यस्तव और 4. श्रुतस्तव एवं सिद्धस्तव-इन चार सूत्रों का उपधान पूर्ण होने के दूसरे या तीसरे दिन ही मालारोपण-विधि कर ली जाती है।

दूसरे, आजकल संहनन शैथिल्य, शारीरिक दौर्बल्य आदि कुछ कारणों से सभी सूत्रोंपधानों को युगपत् रूप से वहन करने की परिपाटी मन्द सी हो गई है अत: उपधान के छ: प्रकारों को प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय-इस प्रकार तीन भागों में विभक्त कर दिया गया है। प्रथम उपधान में उक्त चार सूत्रों का अध्ययन होता है। द्वितीय उपधान में शक्रस्तवसूत्र का और तृतीय उपधान में नामस्तवसूत्र का अध्ययन होता है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि भले ही वर्तमान सामाचारी में पूर्वोक्त चार सूत्रों का तपोपधान करवाकर मालारोपण कर दिया जाता हो, किन्तु मालारोपण विधि सम्पन्न करने के पूर्व पंचमंगलमहाश्रुत स्कन्ध आदि चार सूत्रों के साथ-साथ शक्रस्तव एवं नामस्तवसूत्र की समुद्देश और अनुज्ञा-विधि भी करवा दी जाती है, द्वितीय एवं तृतीय उपधान के समय शेष दो सूत्रों की उद्देश-विधि करवाई जाती है।

इससे सूचित होता है कि मालारोपण के दिन उक्त छ: प्रकार के उपधान(सूत्र) की समुद्देश-विधि एवं अनुज्ञा-विधि एक साथ करवा दी जाती है। समुद्देश एवं अनुज्ञाविधि की पूर्णता ही मालारोपण है।

माला-महोत्सव का आयोजन क्यों?

जिनशासन में माला महोत्सव के दिन उछामणी (बोली) करने की परम्परा अतिप्राचीन है। जो व्यक्ति अधिक लाभ लेने के इच्छुक होते हैं, उन्हें पुण्य लाभ प्रदान करने के निमित्त उछामणी की प्रथा का उद्भव हुआ है। जैन शास्त्रों में इन्द्रमाला, माघमाला, संघमाला आदि अनेक प्रकार की मालाएँ पहनने एवं उस माला को पहनने के निमित्त उछामणी बोलने की रोमांचक घटनाएँ पढ़ने को मिलती हैं।

ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर महाराजा कुमारपाल ने संघ निकाला था, उस समय जगडुशाह श्रावक ने तीन-तीन बार इन्द्रमाला पहनने का लाभ सवा-सवा करोड़ द्रव्य की राशि बोलकर लिया था तथा प्रत्येक बार माला का मूल्य चुकाने के बाद ही माला पहनी थी। पेथड़शाह ने संघमाला का लाभ 56 घड़ी

सुवर्ण (एक घड़ी = 10 मण) बोलकर लिया था और इस सुकृत राशि के द्वारा गिरनार तीर्थ पर श्वेताम्बरों का आधिपत्य सिद्ध कर दिखाया था। इतना ही नहीं, जब तक उछामणी के रूप में बोले गए स्वर्ण का मूल्य चुकाया नहीं, तब तक पेथड़शाह ने चौविहार का प्रत्याख्यान धारण कर रखा था यानी उछामणी में बोले गए द्रव्य को चुकाने के बाद ही उन्होंने अन्न-जल ग्रहण किया था। इस प्रकार उछामणी की परम्परा प्राचीन और ऐतिहासिक है। यह जैन संघ का सौभाग्य है कि आज भी यह व्यवहार सर्वमान्य बना हुआ है।

उछामणी का अर्थ - उछामणी दो शब्दों के योग से बना है-उत् + सर्पण अर्थात ऊँचा चढ़ना। उछामणी शब्द की यह व्युत्पत्ति विद्वत्सम्मत है। दूसरी दृष्टि से इस शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार बनती है- उत् + शामनी। शमन अर्थात शांत होना, शामन अर्थात शांत करना, शामनी अर्थात शान्त करने वाली। इसके साथ 'उद्' उपसर्ग लगा है, जिसका अर्थ होता है-ऊपर उछालने वाली। संस्कृत व्याकरण के नियम से उत् + शामनी को जोड़ने पर 'उच्छामनी' शब्द बनता है। इसका ही गुजराती रूप 'उछामणी' है। हृदय के भावों को ऊँचा उठाते हुए उत्कृष्ट लाभ लेना उछामणी है अथवा जिसके द्वारा आत्मा की उन्नति होती है, आत्मा के परिणाम ऊपर उठते हैं, वह उछामणी है।[95]

जिनशासन की यह परम्परा विशिष्ट प्रयोजनों को लेकर प्रचलित हुई है। उछामणी करने से द्रव्य का सत्कार्य में उपयोग होता है, त्यागवृत्ति की भावना बढ़ती है, संघ के लिए अनुमोदनीय प्रसंग बनता है, जिनशासन की महती प्रभावना होती है, माला पहनाने वाला धन्य हो जाता है। माला की उछामणी बोलने वाला मोहनीय कर्म की प्रकृति का क्षयोपशम कर लेता है। इस उछामणी के पीछे किसी प्रकार का स्वार्थ निहित न होने से द्रव्य-व्यय का अनन्तगुना लाभ मिलता है, पुण्यानुबन्धी पुण्य का उत्कृष्ट बन्ध होता है। दूसरे, मालारोपण के दिन उछामणी का कार्यक्रम होने से ही विशिष्ट प्रकार का माहौल बनता है तथा देवपुरी-सा वातावरण निर्मित होता है। उसके प्रभाव से कुटुम्बियों, धनिकवर्गों एवं दानवीरों का उत्साह अनायास बढ़ने लगता है। फलतः देवद्रव्य आदि की अटूट वृद्धि होती है। इस प्रकार उछामणी की परम्परा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

उपधान विधि की ऐतिहासिक विकास-यात्रा

जैन धर्म व्यक्तिप्रधान या जातिप्रधान धर्म नहीं है, अपितु गुणप्रधान धर्म है। इसमें जात-पात या ऊँच-नीच को लेकर कोई भेद-भाव नहीं है, वह कर्म पर बल देता है। जो व्यक्ति विनय, विवेक, सदाचार, संयम, धैर्य, धर्मज्ञ आदि गुणों से युक्त हैं, जिसमें अपेक्षित योग्यताएँ रही हुई हैं, जो हृदय से सरल और संतोष आदि गुणों को धारण किया हुआ है, वही व्यक्ति जैन धर्म के आवश्यक सूत्र पाठों को पढ़ने का अधिकार प्राप्त कर सकता है। जैन परम्परा के गणधरों या पूर्वाचार्यों द्वारा रचे गए सूत्र एवं शास्त्र मंत्र शक्तियों के पुंज हैं। वे बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। वे सूत्र और शास्त्र न सामान्य व्यक्ति द्वारा पढ़े जा सकते हैं और न ही सामान्य पद्धति से ग्रहण किए जा सकते हैं। उन्हें धारण करने के लिए एक विशिष्ट साधना का अभ्यास करना होता है। सामान्यतया एक निश्चित अवधि तक अनेक नियमों-उपनियमों का अनुपालन करते हुए एवं गृह-व्यापार से सम्बन्धित सावद्यकारी प्रवृत्तियों का परित्याग करते हुए धर्मस्थान और धर्मगुरू के सन्निकट रहना होता है। इस समय आवश्यक सूत्र के पाठ गुरूमुख से सविधि ग्रहण किए जाते हैं। इसके विपरीत अनुष्ठान करने से व्यक्ति प्रायश्चित्त(दण्ड) का अधिकारी बनता है। इस प्रकार की साधना विधि को 'उपधान' संज्ञा प्रदान की गई है।

यहाँ प्रसंगवश यह कहना भी सार्थक होगा कि जैन धर्म के कुछ सूत्र ऐसे हैं, जिन्हें पढ़ने का मुख्य अधिकार गृहस्थ को दिया गया है, कुछ शास्त्रपाठ ऐसे हैं, जो मुनियों के योग्य बतलाए गए हैं तथा कुछ सूत्र इस प्रकार के हैं, जिन्हें पढ़ने-पढ़ाने का अधिकार दोनों को प्राप्त है।

उपधान तप के दौरान उन सूत्रों का अभ्यास करवाया जाता है, जिन्हें पढ़ने-पढ़ाने का अधिकार गृहस्थ एवं मुनि दोनों को सम्प्राप्त हैं।

यह सामान्य नियम है कि आवश्यक सूत्र पाठों को ग्रहण करने के बाद ही कोई व्यक्ति जैन दीक्षा अंगीकार कर सकता है तथा जैन मुनि के योग्य आगम ग्रन्थों का भी अध्ययन कर सकता है। इससे यह सुसिद्ध है कि उपधान किया हुआ व्यक्ति ही जैन मुनि बनने का सच्चा अधिकारी होता है। दूसरे, जो व्यक्ति उपधान तप कर लेता है, वह मुनि जीवन जीने का अभ्यासी भी बन जाता है। इस प्रकार जैन धर्म की यह साधना कई दृष्टियों से विशिष्ट कोटि की प्रतीत होती है।

जिनशासन में आवश्यक सूत्रों का अधिकार प्राप्त करने एवं करवाने के उद्देश्य से व्यक्ति को तपोमय साधना में प्रवेश करवाया जाता है। जैन ग्रन्थों में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि अधिकार प्राप्त व्यक्ति द्वारा पढ़े-पढ़ाए गए सूत्र ही फलदायी होते हैं, अन्यथा वह महापाप का भागी और अनंत संसार को बढ़ाने वाला होता है अत: जब भी सद्गुरू का संयोग मिले, उपधान-तप अवश्य कर लेना चाहिए।

जैन परम्परा में उपधान कृत व्यक्ति द्वारा इतना सुनिश्चित किया जाता है कि वह आवश्यक सूत्रों को पढ़ने-पढ़ाने का अधिकारी बन गया है। अब वह स्वयं अन्यों के लिए उन सूत्रों को प्रतिस्थापित कर सकता है यानी दूसरों को उन सूत्रों का अध्ययन-अध्यापन करवा सकता है। सारत: जैन सूत्रों का विशिष्ट ज्ञान समुपलब्ध कराने के लिए जैन-गृहस्थ को उपधान की दीक्षा दी जाती है अथवा उपधान की साधना में अनुप्रविष्ट करवाया जाता है।

यहाँ प्राक् ऐतिहासिक युग से लेकर अर्वाचीन काल तक उपधानविधि किस रूप में उपलब्ध होती है? इस सम्बन्ध में विचार करना आवश्यक है।

जहाँ तक जैन आगम साहित्य का प्रश्न है, वहाँ आचारांग, सूत्रकृतांग, समवायांग, उत्तराध्ययन आदि सूत्रों में उपधान सम्बन्धी संकेत अवश्य प्राप्त होते हैं। इससे इतना तो नि:सन्देह कहा जा सकता है कि यह साधना पद्धति महावीरकालीन एवं अत्यन्त प्राचीन है।

जब हम आचारांगसूत्र का अवलोकन करते हैं, तो उसमें उपधान का वास्तविक अर्थ क्या है? उपधान की यथार्थ साधना क्या है? भाव-उपधान क्या है? आदि मौलिक तत्त्व स्पष्टत: जानने को मिलते हैं।

आचारांगसूत्र का नौवां अध्ययन 'उपधानश्रुत' है।[96] इस अध्ययन में भगवान महावीर की उत्कृष्ट तपोसाधना को भाव उपधान कहा गया है। यह अध्ययन भगवान महावीर की जीवन साधना से ही सम्बन्धित है तथा उनकी विशिष्ट साधना को लक्ष्य में रखकर ही 'उपधानश्रुत'-ऐसा नाम रखा गया है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि विशिष्ट प्रकार का तप करते हुए आत्मज्ञान (केवलज्ञान) एवं आत्मदर्शन(केवलदर्शन) को समुपलब्ध करना ही वास्तविक उपधान है। यह उपधान का पारम्परिक फल है।

जब हम सूत्रकृतांगसूत्र पढ़ते हैं, तो वहाँ मुनि की उपमा के रूप में उपधान

शब्द का प्रयोग देखा जाता है।[97] सूत्रकृतांगसूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध का छठवां अध्ययन 'महावीरस्तुति' नाम का है। उसमें भगवान महावीर की उत्कृष्ट साधना का वर्णन करते हुए यह कहा गया है कि जिस प्रकार समुद्रों में स्वयंभूरमण नामक समुद्र एवं नागपतियों में धरणीन्द्र नाग को श्रेष्ठ कहा गया है, उसी प्रकार तपोपधान में मुनि की साधना सर्वश्रेष्ठ है। इसके सिवाय उपधान विधि को लेकर कुछ भी नहीं कहा गया है।

तदनन्तर स्थानांगसूत्र में नौ प्रकार के ब्रह्मचर्य के नामों में 'उपधान श्रुत' ऐसा नामोल्लेख मात्र दर्शित होता है।[98] इसमें आचारांगसूत्र के प्रथम श्रुतस्कंध के 9 अध्ययनों को नौ प्रकार के ब्रह्मचर्य के रूप में बतलाया है और उन्हीं अध्ययनों के आधार पर 'उपधानश्रुत' का नाम उल्लिखित है। इससे अधिक इसमें कोई चर्चा नहीं है।

जब हम समवायांगसूत्र पढ़ते हैं तो उसमें भी स्थानांगसूत्र के समान ही नौ प्रकार के ब्रह्मचर्य में 'उपधानश्रुत' नाम का निर्देश मात्र प्राप्त होता है, इसके सिवाय कोई चर्चा नहीं की गई है।[99]

जब हम प्रश्नव्याकरणसूत्र और विपाकसूत्र का अध्ययन करते हैं, तो वहाँ छठ(लगातार दो उपवास) और अट्ठम(लगातार तीन उपवास) तप की साधना द्वारा आत्मा को भावित करने के अर्थ में 'उपधान' शब्द का प्रयोग हुआ है। इस आधार पर यह कह सकते हैं कि तप साधना पूर्वक आत्मज्ञान प्रकट करना ही उपधान है।[100]

जब हम उत्तराध्ययनसूत्र का मनन करते हैं, तो उसमें उपधान योग्य व्यक्ति के लक्षणों का निर्देश प्राप्त होता है।[101] इसमें सूत्रज्ञान एवं शिक्षा ग्रहण करने के अधिकारी के रूप में बहुत से गुणों का विवेचन करते हुए बताया गया है कि श्रुतज्ञान कौन प्राप्त कर सकता है और कौन नहीं? इसके साथ यह भी बतलाया गया है-जो सदा गुरूकुल में रहता है, योगवान है, उपधान (शास्त्राध्ययन से सम्बन्धित विशिष्ट तप) में निरत है, प्रिय कार्य करता है और प्रियभाषी है, वह शिक्षा प्राप्त करने योग्य है।

इस विवेचन के आधार पर यह निर्णीत होता है कि अंगसूत्रों, उपांगसूत्रों एवं मूलसूत्रों तक के ग्रन्थों में लगभग उपधानविधि का सुव्यवस्थित स्वरूप उपलब्ध नहीं है। हाँ! भाव उपधान की चर्चा बहुत विशद रूप से प्राप्त है। यद्यपि

उसका मूल्य कम नहीं हैं, फिर भी उससे सम्बन्धित विधि-विधान की प्राचीनता सिद्ध करना, यह भी परमावश्यक है।

इससे आगे बढ़ते हैं, तो सर्वप्रथम महानिशीथसूत्र में उपधान तप से सम्बन्धित प्राचीनतम विधि-विधान प्राप्त होते हैं। इस ग्रन्थ का तीसरा अध्ययन समग्रत: उपधान विधि से ही सम्बन्धित है। इस अध्ययन में उपधान का स्वरूप आदि एवं अविधि-पूर्वक सूत्राध्ययन करने से होने वाले दोष आदि का विस्तृत निरूपण किया गया है।[102] आज भी महानिशीथसूत्र के आधार पर ही उपधान तप की प्राचीनता एवं प्रामाणिकता सिद्ध की जाती है तथा मूलविधि से तपोपधान करने वाले साधक इसी ग्रन्थ का अनुकरण करते हैं।

इस प्रकार सुस्पष्ट है कि महानिशीथसूत्र उपधानतप का प्रतिपादक ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त अन्य आगम-ग्रन्थों में इसका कोई निर्देश नहीं है। जहाँ तक निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि एवं टीका-साहित्य का सवाल है, उनमें भगवतीटीका, गच्छाचारटीका, आवश्यकटीका, प्रवचनसारोद्धारटीका आदि में उपधान शब्द की परिभाषाएँ तो पढ़ने को मिलती हैं। किन्तु कोई विशेष विवरण उल्लिखित हुआ हो ऐसा शोधपरक-दृष्टि से देखने में नहीं आया है।

जब हम पूर्वकाल से लेकर मध्यकालीन(5 वीं से 14 वीं शती) ग्रन्थों पर दृष्टिपात करते हैं, तो क्रमश: तिलकाचार्यसामाचारी[103](12वीं शती), सुबोधासामाचारी[104](12वीं शती), सामाचारीप्रकरण(13वीं शती), विधिमार्गप्रपा[105](14वीं शती) आदि ग्रन्थों में न केवल उपधानविधि का स्वरूप ही प्राप्त होता है, अपितु उससे सम्बन्धित कई विधि-विधानों का एक सुव्यवस्थित एवं सुगठित रूप भी देखने को मिलता है। वर्तमान परम्परा में ये सभी विधि-विधान अपनी-अपनी सामाचारी के अनुसार ही प्रवर्त्तित हुए देखे जाते हैं। इन ग्रन्थों में उपधान की मूलविधि महानिशीथसूत्र के अनुसार कही गई है। साथ ही आपवादिक-विधि भी विवेचित है। उपधान की इस आपवादिक विधि का प्रवर्त्तन जैन गीतार्थ मुनियों द्वारा व्यक्ति की असमर्थता, संहनन-क्षीणता एवं देश-काल के प्रभाव को ध्यान में रखते हुए किया गया है।

जब हम उत्तरकालीन(15वीं से 19वीं शती) ग्रन्थों का पर्यावलोकन करते हैं, तो उनमें आचारदिनकर[106](15वीं शती), आचारप्रदीप[107](16वीं शती), उपदेशप्रसादवृत्ति[108] हीरप्रश्न,[109] सेनप्रश्न[110] (16वीं शती) आदि ग्रन्थों में

प्रस्तुत विधि का सम्यक् एवं सुन्दर प्रतिपादन दृष्टिगोचर होता है। हीरप्रश्न एवं सेनप्रश्न में उपधान सम्बन्धी कई प्रश्नों के सटीक समाधान भी प्रस्तुत किए गए हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपधान की परिपाटी आगमयुगीन है। यद्यपि प्रचलित उपधान विधि का स्वरूप महानिशीथ सूत्र को छोड़कर अन्य मूल आगमों में प्राप्त नहीं होता है किन्तु विक्रम की 12 वीं शती के परवर्ती ग्रन्थों का अवलोकन करने से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि मध्यकाल में ही उपधान से सम्बन्धित विधि-विधानों का उत्तरोत्तर विकास हुआ।

समाहारत: उपधान एक भावपरक आध्यात्मिक साधना है, किन्तु उस भूमिका तक पहुँचने के लिए द्रव्य क्रियाओं एवं अनुष्ठानों का आलम्बन लेना अति आवश्यक है। ये विधि-विधान द्रव्य साधना पर आधारित हैं, परन्तु भाव साधना में प्रवेश करने हेतु पुष्ट आलम्बन रूप बनते हैं।

मालारोपण की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

यदि हम मालारोपण विधि की अपेक्षा ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययन करें, तो इसका प्रारम्भिक स्वरूप महानिशीथसूत्र के सिवाय किसी भी जैन आगम साहित्य में उपलब्ध नहीं होता है। उसमें यह सूचित किया गया है कि मालारोपण विधि शुभ मुहूर्तादि के दिन ही करनी चाहिए, न कि अपनी सुविधानुसार।[111] इससे परवर्तीकालीन सुबोधासामाचारी[112], विधिमार्गप्रपा[113], आचारदिनकर[114] आदि ग्रन्थों में भी शुभमुहूर्त्त, श्रेष्ठ चन्द्रबल के समय ही मालारोपण करने का निर्देश है।

यदि हम प्रचलित परम्परा के आधार पर अनुष्ठित की जाने वाली समुद्देश-विधि एवं अनुज्ञा-विधि के बारे में विचार करें, तो इस सम्बन्ध में महानिशीथसूत्र संकेत मात्र करता है। वहाँ सप्त थोभवंदन का कोई उल्लेख नहीं है, परन्तु प्रदक्षिणा के समय 'नित्थार पारगो भवेज्जा' बोलते हुए उस पर गंधमुट्ठियाँ प्रक्षेपित करने का उल्लेख स्पष्ट रूप से है।[115]

वर्तमान में यह विधि जिस रूप में प्रचलित है, वह स्वरूप सुबोधासामाचारी, विधिमार्गप्रपा, आचारदिनकर में ही देखा जाता है। उनमें भी विधिमार्गप्रपा अति स्पष्ट विवेचन करती है, अत: मालारोपण के दिन किए जाने वाले विधि-विधानों को विधिमार्गप्रपा के आधार पर ही उल्लिखित किया है।

यदि हम यह चिन्तन करें कि माला किसकी होनी चाहिए और माला पहिनाने का वास्तविक अधिकारी कौन हो सकता है? तो महानिशीथसूत्र में जिनप्रतिमा पर पूजा के लिए चढ़ाई गई सुगंधित- अम्लान तथा श्वेतपुष्पों की माला को गुरू द्वारा पहनाए जाने का स्पष्ट उल्लेख हुआ है।[116] इससे सूचित होता है कि आगम परम्परानुसार योग्य आचार्य द्वारा ही माला पहनाई जानी चाहिए। आज भी बहुत से उपधानवाही गुरू के कर-कमलों से ही माला धारण करते हैं और कुछ अपने बन्धु-वर्ग के हाथों से माला पहनते हैं। इस प्रकार वर्तमान में दोनों तरह की परम्पराएँ मौजूद हैं। श्रीचन्द्राचार्य[117](12वीं शती), जिनप्रभसूरि[118] एवं वर्धमानसूरि[119] ने बन्धुवर्ग के हाथों माला पहनने का सूचन किया है। वर्तमान में इन्हीं ग्रन्थों के आधार पर मालारोपण का विधान करवाया जाता है।

महानिशीथसूत्र में वर्णित उपधान विधि

भगवान् महावीर से गौतमस्वामी ने प्रश्न किया-यदि नमस्कारमंत्र आदि सूत्रों का उपधान करना अति आवश्यक है, तो वह किस विधि एवं किस तपपूर्वक करना चाहिए?

नमस्कारमंत्र उपधान- भगवान महावीर ने कहा-हे गौतम! 'पढमं नाणं तओ दया'-इस शास्त्रवचन के अनुसार ज्ञान की प्राधान्यता स्वत:सिद्ध है। यह ज्ञान विनयपूर्वक पढ़ना चाहिए तथा उस ज्ञानोपधान (ज्ञानग्रहण की प्रक्रिया) का प्रारंभ सुप्रशस्त तिथि, करण, मुहूर्त्त, नक्षत्र, योग, लग्न और चन्द्रबल में करना चाहिए। साथ ही उपधानवाही को अहंकार का त्याग कर, उत्पन्न श्रद्धा-संवेग से युक्त बन, उदार एवं अत्यंत शुभ अध्यवसाय के साथ भक्ति और बहुमानपूर्वक, निदान आदि से रहित, द्वादश भक्त (पाँच उपवास) तप के साथ जिनालय में या जंतुरहित निर्दोष स्थल में नए-नए संवेग के परिणाम से उत्पन्न हुए अत्यंत गाढ़ और सतत प्रकट होने वाले शुभ भाव विशेष से उल्लसित होकर, अत्यन्त दृढ़ हृदयपूर्वक, पाँच अध्ययन और एक चूलिकारूप पंचमंगलमहाश्रुत- स्कन्ध, जो श्रेष्ठ देवताओं से अधिष्ठित बना हुआ, तीन पदों से युक्त, एक आलापक वाला, सात अक्षर परिमाण वाला, अनंतानंत अर्थ से समन्वित, सर्वमहामंत्रों और श्रेष्ठ विद्याओं का परम बीज रूप है, उसमें से 'नमो अरिहंताणं'-इस प्रथम अध्ययन को पढ़ना चाहिए और उस दिन आयंबिल

करना चाहिए।[120]

इसी प्रकार दूसरे दिन दो पद से युक्त एक आलापक वाला, पाँच अक्षर परिमाण 'नमोसिद्धाणं' नामक दूसरा अध्ययन एक आयंबिलपूर्वक पढ़ना चाहिए।[121] इस प्रकार क्रमशः पाँचवां अध्ययन पाँचवें दिन आयंबिलपूर्वक पढ़ना चाहिए,[122] अर्थात नमस्कारमंत्र के पाँच अध्ययन निरन्तर पाँच दिनों तक पाँच आयंबिल-तप द्वारा ग्रहण किए जाना चाहिए। इसी प्रकार तीन आलापक और पैंतीस अक्षर परिमाणवाली 'एसोपंचनमुक्कारो' आदि तीन चूलिकाएँ छठवें, सातवें, आठवें दिन आयंबिलपूर्वक ग्रहण करनी चाहिए।[123] अन्त में अट्ठम (तीन उपवास) करके नमस्कारमन्त्र की अनुज्ञा ग्रहण करनी चाहिए।[124]

इरियावहि उपधान- गौतमस्वामी पुनः प्रश्न करते हैं- हे भगवन्! इरियावहि उपधान किस विधिपूर्वक करना चाहिए ? इसका प्रत्युत्तर देते हुए प्रभु ने कहा-जिस प्रकार पंचमंगल महाश्रुतस्कन्ध को ग्रहण किया गया, उसी प्रकार इरियावहिसूत्र ग्रहण करना चाहिए। यानी प्रथम पाँच उपवास, उसके बाद आठ आयंबिल और अन्त में अट्ठम करके इसे करना चाहिए।[125]

शक्रस्तव उपधान- शक्रस्तव (णमुत्थुणं सूत्र) एक अट्ठम और बत्तीस आयंबिलपूर्वक पढ़ना चाहिए।[126]

चैत्यस्तव उपधान- अरिहंतस्तव (अरिहंतचेइयाणं सूत्र) एक उपवास और तीन आयंबिल द्वारा पढ़ना चाहिए।[127]

चतुर्विंशतिस्तव उपधान- चतुर्विंशतिस्तव (लोगस्स सूत्र) एक अट्ठम और पच्चीस आयंबिलपूर्वक ग्रहण करना चाहिए।[128]

श्रुतस्तव उपधान- श्रुतस्तव (पुक्खरवरदी सूत्र) एक उपवास और पाँच आयंबिलपूर्वक ग्रहण करना चाहिए।[129]

उपधान प्रवेश विधि

प्रचलित परम्परा के अनुसार उपधान संबंधी विधि-विधान निम्नानुसार है-

खरतरगच्छ सामाचारी के अनुसार जिस व्यक्ति को उपधानतप में प्रवेश करना है, वह उपधान प्रवेश के दिन से पूर्व दिन की संध्या में भोजन करने के बाद वाचनाचार्य के समीप आकर, आसन(कटासन) बिछाएँ • फिर चरवला और मुखवस्त्रिका को हाथों में धारण कर एक खमासमणसूत्रपूर्वक वन्दन कर ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करें। उसके बाद प्रथम उपधान करने वाला उपधानवाही एक खमासमण

देकर कहे- **''इच्छाकारेण तुम्हे अम्हं पढमउवहाण पंचमंगलमहासुयक्खंधतवे पवेसेह''**-हे भगवन्! आप मुझे इच्छापूर्वक प्रथम पंचमंगलमहाश्रुतस्कंध नामक उपधान में प्रवेश करवाइए। तब गुरू 'पवेसामो'-प्रवेश करवाता हूँ-ऐसा कहकर **''प्रभातिकपडिक्कमणे नवकारसी पच्चक्खाण करजो, अंग पडिलेहण संदिसावजो''**- अर्थात कल प्राभातिक प्रतिक्रमण में नवकारसी का प्रत्याख्यान और अंग प्रतिलेखन की क्रिया करने का आदेश देता हूँ- ऐसा कहते हैं। तब उपधानवाही 'तहत्ति' कहता है।

- दूसरा एवं तीसरा उपधान करने वाले उपधानवाही भी जिस सूत्रोपधान में प्रवेश कर रहे हों, उस सूत्र का नाम लेकर पूर्ववत सर्व क्रियाएँ करें। जैसे- दूसरे उपधान में प्रवेश करने वाले **''तइयं उवहाणं भावारिहंतत्थय-सुयक्खंध-उवहाणतवे पवेसेह''**- इस आलापक का उच्चारण करें तथा तीसरे उपधान में प्रवेश करने वाले **'पंचमोवहाणं-नामारिहंतत्थय-सुयक्खंधतवे पवेसेह'** आलापक का उच्चारण करें।
- तदनन्तर दो बार खमासमणसूत्रपूर्वक वन्दन कर गुरूमुख से चतुर्विध-आहार का प्रत्याख्यान करें। उसके बाद अपने स्थान में जाकर दैवसिक प्रतिक्रमण करें। यह उपधान प्रवेश की मूलविधि है।

इस विधि का सर्वप्रथम उल्लेख श्रीसप्तोपधानविधि'(19वीं शती) नामक संस्कृत रचना में प्राप्त होता है। इससे पूर्व लगभग किसी भी ग्रन्थ में यह विधि नहीं है। मूलत: यह कृति खरतरगच्छ की परम्परानुसार लिखी गई है। इससे प्रतीत होता है कि सम्भवत: यह प्रवेश विधि खरतरगच्छ में ही प्रचलित हों। वर्तमान में यह परिपाटी प्रवर्त्तित है।

इस विषय में तपागच्छ आदि परम्पराओं के लिए कुछ भी कह पाना संभव नहीं है, क्योंकि तत्सबन्धी कोई मूल ग्रन्थ पढ़ने में नहीं आया है। हाँ, इन परम्पराओं से सम्बन्धित संकलित पुस्तकें अवश्य देखी गईं हैं, किन्तु उनमें यह विधि वर्णित नहीं है।

सप्तोपधान कृति में यह उल्लिखित है कि किसी कारण से उपधान प्रवेश के पूर्व दिन उक्त क्रिया नहीं की जा सकी हो, तो दूसरे दिन रात्रिक प्रतिक्रमण करने के पहले पूर्वोक्त क्रिया अवश्य करना चाहिए। उपधानवाही श्राविका को रात्रिक प्रतिक्रमण में नवकारसी के प्रत्याख्यान करना चाहिए।[130]

उपधान की विशेष विधि

विधिमार्गप्रपा आदि[131] ग्रन्थों के अनुसार यदि उपधान वहन करने वाले श्रावक-श्राविका पंचमंगलमहाश्रुतस्कन्ध एवं इरियावहिश्रुतस्कन्ध नामक उपधान करने के लिए प्रवेश कर रहे हों, तो नन्दीरचना अवश्य करनी चाहिए। शेष पाँच प्रकार के उपधान तप में प्रवेश करने से पूर्व नन्दीरचना करने का कोई नियम नहीं है, किन्तु प्रथम के दो उपधानों में प्रवेश करने के दिन नियम से नंदीरचना करना चाहिए।

यदि उपधान प्रवेश के मूल दिन नन्दीरचना करना हो, तो प्रात:काल सर्वप्रथम नन्दीरचना का विधान करें। उसके बाद उपधान उत्क्षेप(प्रवेश) विधि करनी चाहिए। फिर उद्देश (सप्तखमासमण) विधि और तत्पश्चात पवेयणा की विधि की जाती है। उसके बाद नन्दी का विसर्जन करते हैं। तत्पश्चात सामायिक और पौषध ग्रहण करने की विधि, फिर वन्दनषट्क आदि क्रियाएँ की जाती हैं।

प्रभातकालीन क्रियाविधि

जिस दिन उपधानतप में प्रवेश करना हो, उस दिन अनुक्रम से निम्नोक्त विधान किए जाते हैं-यदि उपधानवाही श्रावक और श्राविका अधिक संख्या में हों, तो श्रीसंघ के नाम से चन्द्रबल आदि देखकर शुभ मुहूर्त्त में नन्दीरचना करनी चाहिए।

उस दिन उपधानवाही प्रात:काल प्रतिक्रमण करें, फिर विधिपूर्वक आवश्यक वस्त्र आदि की प्रतिलेखना करें, फिर शरीर शुद्धि कर जिनालय में जिनप्रतिमा की पूजा करें। फिर पौषध सम्बन्धी उपकरणों को ग्रहण करके एवं सवा किलो अक्षत और सवा रूपया लेकर विविध वादिंत्रनादपूर्वक और आडम्बर सहित गुरू के समीप आएं।

उसके बाद गुरू द्वारा विधिपूर्वक की गई नन्दीस्थापना में बिराजित जिनेन्द्र प्रतिमा की पूजा करें। फिर नन्दीरचना[132] (त्रिगड़ा) के चारों ओर चारों दिशाओं में एक-एक स्वस्तिक का अंकन करें। उसके बाद अक्षत, पूंगीफल, श्रीफलादि द्वारा स्वयं की अंजली भरकर प्रत्येक दिशा में एक-एक नमस्कारमन्त्र का स्मरण करते हुए नन्दीरचना की तीन प्रदक्षिणा करें। तदनन्तर नन्दीस्थ जिनप्रतिमा के आगे स्वस्तिक बनाकर श्रीफल आदि सर्व सामग्री चढ़ावें। उसके बाद अपनी शक्ति के अनुसार सुवर्ण या रजत के सिक्कों द्वारा ज्ञान पूजा करें।[133]

तत्त्वत: यह विधि जिनेश्वर प्रतिमा की भक्ति के निमित्त की जाती है। यह लोक-प्रचलित अवधारणा है कि हर व्यक्ति को श्रेष्ठ कार्य प्रारम्भ करने से पूर्व देव-गुरू-धर्म का स्मरण अवश्य करना चाहिए, क्योंकि इष्टोपासना द्वारा इच्छित कार्य निर्विघ्नतया सम्पन्न होते हैं। तदुपरान्त विशेष लाभदायी भी सिद्ध होते हैं। तपागच्छ आदि आम्नायों के अनुसार यह विधि पूर्ववत जाननी चाहिए।

उपधान उत्क्षेप(प्रवेश) विधि

जिस दिन उपधानवाही उपधानतप में प्रवेश करें, उस दिन जिनप्रतिमा की पूजा, समवसरण (त्रिगडा) की पूजा आदि कृत्यों को फिर से पूर्ववत् सम्पन्न करें। उसके बाद गुरू के बायीं ओर खड़े होकर तथा हाथों में चरवला एवं मुखवस्त्रिका ग्रहण कर ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करें।

• तदनन्तर उपधानग्राही एक खमासमणसूत्रपूर्वक वंदन कर कहें- **''इच्छा. संदि. भगवन्! पढम उवहाण-पंचमंगल-महासुयक्खंधतव उक्खेवनिमित्तं मुहपत्ति पडिलेहेमि''**- हे भगवन् ! आपकी इच्छापूर्वक प्रथम पंचमंगलश्रुतस्कन्ध नामक उपधान में प्रवेश करने के निमित्त मुखवस्त्रिका प्रतिलेखित करूँ? गुरू कहे-'पडिलेहेह'- प्रतिलेखित करो। तब उपधान इच्छुक मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन कर दो बार द्वादशावर्त्तवंदन दें। • पुन: एक खमासमण देकर कहें- **''इच्छा. तुब्भे अम्हं पढम उवहाणपंचमंगल महासुयक्खंधतवं उक्खिवह''**- हे भगवन् ! आपकी इच्छा से मुझे प्रथम उपधानतप में प्रवेश करवाईए। गुरू कहे- 'उक्खिवामो'- मैं उपधान तप में प्रवेश करवाता हूँ।

कायोत्सर्ग-विधि • उसके बाद उपधानवाही **'इच्छं'** कहकर पुन: खमासमणसूत्र द्वारा वन्दन कर बोलें- **''इच्छा. तुब्भे अम्हं पढम-उवहाणपंचमंगल महासुयक्खंध उक्खिवावणियं नंदिपवेसावणियं**[134] **काउस्सग्गं करावेह''**- हे भगवन् ! आप इच्छापूर्वक मुझे प्रथम उपधान तप में एवं नंदी में प्रवेश करने के निमित्त कायोत्सर्ग करवाईए। तब गुरू कहे- 'करेह'- कायोत्सर्ग करो। उसके बाद उपधानवाही **'इच्छं'** कहकर एक खमासमण देकर- **''पढमउवहाण- पंचमंगलमहासुयक्खंधतव उक्खिवावणियं नंदिपवेसावणियं करेमि काउस्सग्गं''** साथ ही अन्नत्थ सूत्र बोलकर कायोत्सर्ग में लोगस्ससूत्र या नमस्कारमन्त्र का चिन्तन करें। (वर्तमान में प्राय:

लोगस्ससूत्र का ही चिन्तन करते हैं।) इसके बाद 'णमोअरिहंताणं' पूर्वक कायोत्सर्ग पूर्णकर लोगस्ससूत्र या नमस्कारमन्त्र बोलें।

देववंदन-विधि • तदनन्तर पुनः एक खमासमणसूत्रपूर्वक वन्दन कर उपधानवाही कहें-**''इच्छा. तुब्भे अम्हं पढमउवहाणपंचमंगलमहासुयक्खंधतव उक्खेवावणियं नंदिपवेसावणियं चेइयाइं वंदावेह''**- हे भगवन्! आप इच्छापूर्वक मुझे प्रथम नमस्कारमंत्र सूत्र की आराधना करने के निमित्त एवं नन्दि में प्रवेश करने निमित्त देववंदन करवाईए। तब गुरू **'वंदावेमो'**- देववन्दन करवाता हूँ, ऐसा कहे। उसके बाद उपधानवाही **'इच्छं'** कहकर अर्द्धावनत होकर बैठ जाएं। गुरू वर्धमानविद्या से वासचूर्ण को अभिमन्त्रित कर तीन बार उसके मस्तक पर डालें।

❖ यहाँ विधिमार्गप्रपा में तीन अथवा सात बार[135] वासचूर्ण डालने का उल्लेख है, परन्तु वर्तमान परम्परा में तीन बार ही डालते हैं।

उसके बाद सभी उपधानवाही गुरू के साथ 18 स्तुतियों द्वारा पूर्ववत् देववन्दन करें।[136] यहाँ तपागच्छ आदि परम्पराओं में आठ स्तुतियों से देववन्दन करते हैं।[137]

नंदीश्रवण-विधि • उसके बाद उपधानवाही एक खमासमणसूत्र पूर्वक आदेश लेकर मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करें। फिर दो बार द्वादशावर्त्तवन्दन देकर,

• पुनः एक खमासमणपूर्वक कहे- **''इच्छा० तुब्भे अम्हं पढमउवहाण पंचमंगलमहासुयक्खंधतव उद्देशनंदिकड्ढावणियं काउस्सग्गं करावेह''**- हे भगवन्! आप इच्छापूर्वक मुझे प्रथम उपधान में प्रवेश करने के निमित्त नंदीपाठ का अनुसरण करने के लिए कायोत्सर्ग करवाईए। तब गुरू और उपधानवाही- दोनों ही सत्ताईस श्वॉसोश्वास का कायोत्सर्ग करते हैं और प्रकट में लोगस्ससूत्र बोलते हैं।

• उसके बाद उपधानवाही एक खमासमणसूत्र द्वारा वन्दन करके बोलें- **''इच्छा० तुब्भे अम्हं पढम पंचमंगलमहासुयक्खंध तव उद्देसावणियं नंदिसुत्तं सुणावेह''**- हे भगवन्! आप इच्छापूर्वक मुझे प्रथम उपधानतप का उद्देश करने के निमित्त नंदीसूत्र सुनाईए। तब गुरू नन्दीरचना में विराजित चौमुखी प्रतिमा पर वासचूर्ण का क्षेपण करें। फिर नमस्कारमन्त्र का मूलपाठ ग्रहण करवाने के निमित्त नन्दिसूत्र के स्थान पर उपधानवाही को तीन बार

नमस्कारमन्त्र सुनाते हैं।[138]

तपागच्छ परम्परा में उपधान उत्क्षेपविधि लगभग पूर्ववत् ही करते हैं। इसमें किंचिद् अन्तर आलापक-पाठ सम्बन्धी है जैसे-'वासनिक्षेप करावणी'-यह पाठ खरतरगच्छ की सामाचारी में नहीं है। आलापक में बोले जाने वाले कुछ शब्दों में व्याकरण की दृष्टि से भी भिन्नता है जैसे- खरतरसामाचारी में नंदिकड्ढावणत्थं या नंदिकड्ढावणियं, नंदिपवेसावणियं इत्यादि आलापक-पाठ हैं, जबकि तपागच्छसामाचारी में नंदीकरावणी, देववंदावणी, उद्देसावणी इत्यादि पाठ हैं। यदि अर्थ की दृष्टि से देखें, तो इन पाठों में कोई अन्तर नही हैं।[139] ध्यातव्य है कि इस विधि के सम्बन्ध में शेष परम्पराएँ संभवत: तपागच्छ सामाचारी का अनुकरण करती हैं।

वासअक्षत अभिमन्त्रण-विधि • उसके बाद गुरूभगवन्त वर्द्धमानविद्या द्वारा वासचूर्ण को तीन बार अभिमन्त्रित करें, फिर जिनप्रतिमा पर उसका क्षेपण करें, फिर शिष्य के ऊपर डालें। • उसके बाद स्वयं का सकलीकरण (रक्षाकवच) कर पवित्र थाल में रखे हुए सुगन्धित श्रेष्ठ अक्षत के बीच वासचूर्ण को डालकर दोनों को सम्मिश्रित करें। • फिर पुन: वर्द्धमानविद्या एवं सात मुद्राओं (पंचपरमेष्ठि, कामधेनु, सौभाग्य, गरूड़, पद्म, मुद्गर एवं हस्त मुद्रा) द्वारा गन्ध-अक्षत को अधिवासित करें। फिर उन पर 'ऊँ ह्रीँ श्रीँ अर्हं नम:'-इन मन्त्राक्षरों को लिखें। उसके बाद वह गन्ध-अक्षत चतुर्विध संघ के हाथ में दें। वे लोग भी गन्ध-अक्षत को मुट्ठी में बांधकर रखें।[140]

जैन धर्म की श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्पराओं में लगभग वास-अक्षत को अभिमन्त्रित करने की यही विधि प्रचलित है।

उद्देश (सूत्रों के मूलपाठ ग्रहण करने हेतु सप्तक्षमाश्रमण) विधि

• तदनन्तर उपधानवाही एक खमासमण देकर कहे- **''इच्छा. संदि. भगवन् ! पढम उवहाणपंचमंगल महासुयक्खंधतव उद्देश निमित्तं मुहपत्ति पडिलेहुं?''** इस प्रकार प्रथम उपधानसूत्र का उद्देश करने हेतु मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन कर द्वादशावर्त्तवन्दन करें।

1. पुन: शिष्य एक खमासमण देकर कहे- **''इच्छा. तुम्हे अम्हं पढम उवहाणपंचमंगलमहासुयक्खंध तव उद्दिसह''** - हे भगवन्! आप इच्छापूर्वक मुझे प्रथम उपधानसूत्र का मूल पाठ दीजिए। तब गुरू कहे- **'उद्दिस्सामो'**- पाठ

देता हूँ।

2. फिर उपधानवाही एक खमासमण देकर कहे- **''संदिसह किं भणामो?''**- हे भगवन् ! आज्ञा दीजिए, मैं क्या कहूँ? गुरू कहे- **''वंदित्ता पवेयह''**- वंदन कर प्रवेदित करो।

3. तब उपधानवाही **'इच्छं'** कहकर एक खमासमणपूर्वक वन्दन कर कहे- **''इच्छा० तुम्हेहि अम्हं पढमउवहाण पंचमंगलमहासुयक्खंध तवो उद्दिट्ठो?''**- हे भगवन्! आपके द्वारा मुझे इच्छापूर्वक प्रथम उपधानसूत्र ग्रहण करने की अनुमति दी गई है?

तब गुरू उस पर वासचूर्ण का निक्षेप करते हुए- **''उद्दिट्ठो-3 खमासमणाणं, हत्थेणं, सुत्तेणं, अत्थेणं तदुभयेणं सम्मं जोगो कायव्वो''**- तुम्हें नमस्कारसूत्र का मूलपाठ ग्रहण करने की अनुमति दी गई है- ऐसा तीन बार कहें। इसी के साथ महान आचार्यों की परम्परा से प्राप्त सूत्र द्वारा, अर्थ द्वारा एवं सूत्रार्थ द्वारा सम्यक् योग करना चाहिए, ऐसा भी कहें। तब शिष्य कहें- **''इच्छामो अणुसट्ठिं''**- मैं आपकी हित शिक्षा सुनने की इच्छा रखता हूँ।

4. उसके बाद उपधानवाही पुनः एक खमासमणसूत्र द्वारा वन्दन कर कहें- **'तुम्हाणं पवेइयं, संदिसह साहूणं पवेएमि'**- हे भगवन्! सूत्र-ग्रहण की अनुमति के बारे में आपको निवेदित कर चुका हूँ, अब आज्ञा दीजिए, अन्य साधुओं (चतुर्विध संघ) के समक्ष उसका प्रकटीकरण करूँ।

5. तब उपधानवाही गुरू की अनुमति प्राप्त कर एक खमासमण देकर नमस्कारमन्त्र का स्मरण करता हुआ समवसरण की तीन प्रदक्षिणा दें। प्रदक्षिणा के समय उपस्थित चतुर्विध-संघ उपधानवाहियों के मस्तक पर तीन बार गन्ध-अक्षत का क्षेपण करें।

6. उसके बाद उपधानवाही एक खमासमण देकर कहें- **''तुम्हाणं पवेइयं, साहूणं पवेइयं, संदिसह काउस्सग्गं करेमि''**- मैने आपको प्रवेदित किया, चतुर्विध-संघ को प्रवेदित किया, अब पंचमंगल महाश्रुतस्कन्धसूत्र को स्थिर करने के निमित्त कायोत्सर्ग करने की आज्ञा दीजिए।

7. फिर गुर्वाज्ञा प्राप्तकर एक खमासमणदानपूर्वक **''पढमउवहाण पंचमंगलमहासुयक्खंधतव उद्देसनिमित्तं करेमि काउस्सग्गं, अन्नत्थसूत्र''** कहकर **'सागरवरगंभीरा'** तक लोगस्ससूत्र का चिन्तन करें। कायोत्सर्ग पूर्णकर

लोगस्ससूत्र बोलें।

तदनन्तर एक खमासमणपूर्वक एवं गुरू की अनुमतिपूर्वक **''पंचमंगलमहासुयक्खंधाइ उद्देश नंदिथिरीकरणत्थं करेमि काउस्सग्गं, अन्नत्थ सूत्र''** पढ़कर आठ श्वासोश्वास परिमाण एक नमस्कारमन्त्र का स्मरण करें। कायोत्सर्ग पूर्णकर पुन: प्रकट में नमस्कारमन्त्र बोलें।[141]

तपागच्छ परम्परा में 'नंदिथिरीकरणत्थं' के निमित्त एक नमस्कारमन्त्र का कायोत्सर्ग नहीं करते हैं। शेष उद्देश-विधि समान है।[142]

नंदिपवेयण-विधि • उद्देशविधि की क्रिया पूर्ण होने के बाद उपधानवाही एक खमासमणसूत्र द्वारा वंदनकर **''इच्छा. संदि. भगवन्! पवेयणा मुहपत्ति पडिलेहुँ?''**- हे भगवन् ! आपकी इच्छापूर्वक नंदी प्रवेदन के निमित्त मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करूँ?- ऐसा निवेदन करें। फिर अनुमति प्राप्तकर मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करें। • तत्पश्चात् द्वादशावर्त्तवन्दन करके कहें- **''इच्छा. संदि. भगवन् ! पवेयणं पवेएमि?''**- हे भगवन् ! आपकी आज्ञापूर्वक प्रवेदन को प्रवेदित करूं, अर्थात् जिस सूत्र को ग्रहण करने की अनुमति प्रदान की गई है, उसके निमित्त तप-प्रत्याख्यान करूं? तब गुरू कहे- **'पवेयह'**- प्रवेदन करो। • उसके बाद शिष्य **'इच्छं'** कहकर, एक खमासमण देकर बोलें- **''पढमउवहाण पंचमंगलमहासुयक्खंध दुवालसमपवेस निमित्तं तवं करेमि''**- प्रथम उपधान पंचनमस्कारमन्त्र की आराधना हेतु पाँच उपवास में प्रवेश करने के निमित्त तप करता हूँ। तब गुरू कहे-**'करेह'**- तप में प्रवेश करो। तदनन्तर उपधानवाही **'इच्छं'** कहकर, एक खमासमण देकर बोलें- **''इच्छकारि भगवन् पसायं किच्चा पच्चक्खाणं करावेह।''** तब गुरू उपवास आदि तप का प्रत्याख्यान करवाएं। • उसके बाद उपधानवाही मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखन पूर्वक दो बार द्वादशावर्त्तवन्दन करके कहें- **नन्दिमांहि अविधि आशातना हुई होय ते सव्वे हु मन-वचन-कायाए करी मिच्छामि दुक्कडं।** • उसके बाद एक खमासमणपूर्वक गुरू को वन्दन कर गुरु चरणों का हाथ से स्पर्श करें।[143]

तपागच्छ परम्परा में नंदिपवेयणा विधि प्राय: पूर्ववत् ही सम्पन्न करते हैं, केवल आलापकपाठ भिन्न हैं। इसमें **''इच्छकारि भगवन् ! तुम्हे अम्हं प्रथम**

उपधान पंचमंगल महाश्रुतस्कन्ध उद्देसावणी, नंदीकरावणी, वासनिक्षेप करावणी, देववंदावणी, नंदीसूत्रसंभलावणी पूर्वचरणपद पईसरावणी पाली तप करशुं'-ऐसा बोलकर उपवास आदि तप के प्रत्याख्यान करते हैं। शेष विधि दोनों मे समान है।[144]

नंदीविसर्जन-विधि • यदि प्रथम या दूसरे उपधान में प्रवेश करने के निमित्त नंदीरचना की गई हो, तो नंदीपवेयणाविधि के अनन्तर नंदीरचना का विधिवत् विसर्जन किया जाता है। नन्दीरचना विधि, नन्दीविसर्जन विधि एवं नन्दीप्रवेश दिन में की जाने वाली देववन्दनविधि परिशिष्ट भाग में उल्लिखित करेंगे।

पौषधग्रहण-विधि • उपधान प्रवेश के दिन पूर्वोक्त सभी विधि-विधान सम्पन्न होने के बाद उपधानवाही पौषधव्रत ग्रहण करें। यह विधि पौषध व्रतग्रहण विधि अधिकार में कही जा चुकी है।

यहाँ खरतरगच्छ की वर्तमान सामाचारी के अनुसार यह उल्लेखनीय है कि कदाचित् प्रथम के दो उपधान प्रवेश के दिन और मालारोपण के दिन आडम्बरपूर्वक नन्दी आदि का विधान करते हुए दिन का पौन प्रहर बीत जाए और अहोरात्रि का पौषध करना संभव न हो, तो दिन के तीसरे प्रहर में रात्रि पौषध ग्रहण करना चाहिए।[145]

तपागच्छ परम्परा में उपधान प्रवेश के दिन नंदीरचना विधि पूर्ण होने के तुरन्त बाद ही पौषधव्रत ग्रहण कर लेते हैं। उसके बाद उपधान प्रवेश, उद्देश, नंदीपवेयणा आदि के विधि-विधान सम्पन्न किए जाते हैं[146] जबकि खरतर परम्परा में प्रवेश, उद्देश, नंदी आदि के विधान होने के बाद पौषधव्रत ग्रहण करते हैं। प्रवेश दिन के अतिरिक्त शेष दिनों में प्रातःकालीन प्रतिक्रमण करने के पश्चात् ही पौषधव्रत ग्रहण करते हैं।

प्रातःकालीन प्रतिलेखन-विधि • उपधानतप में प्रतिदिन पौषध ग्रहण करने के बाद आसन तथा चरवला आदि की, शरीरस्थ वस्त्रों की एवं शॉल आदि उपधि की प्रतिलेखना की जाती है। साथ ही सज्झाय आदि के आदेश लिये जाते हैं। इन सबकी विधिवत् चर्चा पौषधविधि अधिकार में कर चुके हैं।

वन्दनषट्क (पवेयणाविधि) • यह विधि उपवास आदि के प्रत्याख्यान ग्रहण करने के निमित्त की जाती है।

पूर्व में नंदीपवेयणाविधि वर्णित की गई है। उपधान के दिनों में वही विधि प्रतिदिन प्राभातिक प्रतिलेखन विधि के बाद की जाती है। केवल उपधान प्रवेश के दिन यह पवेयणा विधि पौषध ग्रहण करने से पूर्व करते हैं। इस पवेयणा-विधि के साथ राइयमुहपत्ति विधि भी की जाती है। पौषधविधि अधिकार में राइयमुहपत्ति विधि की चर्चा की जा चुकी है। पुनः संक्षेप में वह इस प्रकार है-

उपधानवाही एक खमासमणपूर्वक राइयमुहपत्ति-प्रतिलेखन करने का आदेश लेकर मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करें। फिर दो बार द्वादशावर्त्तवन्दन करें। फिर 'इच्छामिठामि' पाठ पूर्वक रात्रिक सम्बन्धी आलोचना करें। 'सव्वस्सवि राइय' का सूत्र बोलें। फिर मिथ्यादुष्कृत दें। उसके बाद पुनः दो बार द्वादशावर्त्तवन्दन कर 'सुहराई' एवं 'अब्भुट्ठिओमि' सूत्रपूर्वक गुरू को वन्दन करें। तपागच्छ आदि परम्पराओं में वन्दनषट्क एवं राइयमुहपत्ति विधि पूर्ववत ही सम्पन्न करते हैं।[147]

क्षमाश्रमणदशकम्– यह विधि पौषधग्रहण से सम्बन्धित सभी विधान पूर्ण होने के बाद की जाती है। इस विधि में दो खमासमणपूर्वक 'बहुवेलं', दो खमासमणपूर्वक 'बइसणं', दो खमासमणपूर्वक 'सज्झायं', दो खमासमणपूर्वक 'पांगुरणं' और दो खमासमणपूर्वक 'कटासन' का आदेश ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार इस विधि में दस खमासमण होते हैं।

यहाँ तक उपधान में प्रतिदिन करने योग्य प्रभात सम्बन्धी विधि कही गई है। उसके बाद जिनालय में जाकर चैत्यवन्दन करें तथा अन्य धार्मिक क्रियाओं में संलग्न बनें।

उग्घाडापौरूषी विधि- उपधानतप में दिन का पौन प्रहर बीतने पर प्रतिदिन उग्घाड़ापौरूषी की क्रिया की जाती है। यह विधि पात्र प्रतिलेखन से सम्बन्धित है।

इस तपोनुष्ठान में प्रत्याख्यान पारण विधि, स्थंडिलगमन विधि, स्थंडिलआलोचना विधि, सायंकालीनप्रतिलेखन विधि, चौबीसमांडला विधि, रात्रिसंथारा विधि भी की जाती हैं। इनका विधिवत विवेचन पौषधविधि अधिकार में किया जा चुका है।

यहाँ प्रसंगानुसार जानने योग्य यह है कि उपधान तप में वाचनाविधि, कायोत्सर्गविधि को छोड़कर शेष क्रियाएँ पौषधविधि के समान ही होती हैं अतः यहाँ पुनरावृत्ति करना आवश्यक प्रतीत नहीं होता है।[148]

उपधान सम्बन्धी अन्य विधि-विधान

वाचना विधि

जिस दिन जिस सूत्र की वाचना हो, उस दिन वाचना ग्रहण करने के पूर्व उस सूत्र के नामोच्चारणपूर्वक सामान्य विधि करते हैं। यहाँ पंचमंगल महाश्रुतस्कन्ध सूत्र के नामोच्चारणपूर्वक वाचनाविधि दर्शाई जा रही है, शेष सूत्रों को ग्रहण करते समय उन-उन सूत्रों के नामोच्चारणपूर्वक यही विधि करना चाहिए।

वसतिप्रवेदन विधि– • सर्वप्रथम दिन के तीसरे प्रहर में उपधान सम्बन्धी सर्वक्रिया सम्पन्न करने के पश्चात चतुर्विध-आहार का प्रत्याख्यान करें। उसके बाद उपधानवाही वसति के चारों ओर सौ-सौ कदम पर्यन्त भूमि का अवलोकन करें। उस भूमि पर अस्थि-रूधिर आदि मलिन पदार्थ गिरे हुए हों, तो उन्हें दूर करें। फिर **'निसीहि-3'** बोलते हुए गुरू के समक्ष आकर कहे-**'भगवन् ! सुद्धावसही'**- 'हे भगवन् ! वसति शुद्ध है।' गुरू कहे- **'तहत्ति'**- जैसा तुमने कहा, वह सही है।'

• तदनन्तर खुले हुए स्थापनाचार्य के सम्मुख खड़े होकर एक खमासमणपूर्वक ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करें। फिर एक खमासमण पूर्वक कहे- **'वसति पवेवा मुहपत्ति पडिलेहेमि'**- वसति प्रवेदन के निमित्त मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करूँ? फिर गुरू की अनुमति प्राप्त कर मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करें। पुनः, एक खमासमण देकर कहें- **''इच्छा. संदि. भगवन् ! वसहिं पवेएमि ?''**- हे भगवन् ! आपकी इच्छापूर्वक वसति का प्रवेदन करूँ? गुरू कहे- करो। पुनः शिष्य एक खमासमण देकर बोलें- **''भगवन् ! सुद्धावसही''** गुरू कहे- तहत्ति।[149]

सामाचारी नियम के अनुसार वाचना (सूत्रग्रहण) विधि प्रारम्भ करने के पूर्व उपधानवाही वसति का निरीक्षण करें एवं गुरू के समक्ष वसति का प्रवेदन करें। वसति निरीक्षण से तात्पर्य है-वसति के चारों ओर सौ-सौ कदमपर्यन्त भूमि का निरीक्षण करना तथा यह ज्ञात करना कि वह स्थल मृत कलेवर आदि से अशुद्ध तो नहीं है? यदि अशुद्ध हों, तो वहाँ सूत्र-पाठ ग्रहण करना नहीं कल्पता है, क्योंकि अशुद्ध भूमि में सूत्र आदि का ग्रहण, पुनरावर्तन आदि करना दोषयुक्त माना गया है। जैन आगम साहित्य में सूत्र स्वाध्याय कब और कहाँ नहीं करना

चाहिए, इस सम्बन्ध में अस्वाध्याय के बत्तीस कारण बताए गए हैं।[150] उनमें मृत कलेवर आदि के गिरे रहने को भी अस्वाध्याय का कारण माना है अत: वाचना को शुद्ध विधिपूर्वक ग्रहण करने के निमित्त वसति का निरीक्षण किया जाता है। गुरू के समक्ष वसति-शुद्धि का प्रवेदन करने से यह तात्पर्य है कि उपधानवाही अप्रमत्त है, जागृत है, सावधानीपूर्वक वसति का शोधन किया गया है-इसी प्रयोजन से वाचनादान के पूर्व वसति प्रवेदन की विधि की जाती है।

• वसति शोधन के पश्चात जिस उपधानवाही को सूत्र की वाचना ग्रहण करना हो, वह एक खमासमणपूर्वक **''इच्छा. संदि. भगवन्! वायणा मुहपत्ती पडिलेहेमि?''**- हे भगवन् ! आपकी इच्छापूर्वक वाचना ग्रहण करने के निमित्त मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करूँ? ऐसा आदेश लेकर मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करें, फिर दो बार द्वादशावर्त्तवन्दन करें। • उसके बाद **''इच्छा.संदि.भगवन्! पढमोवहाण पंचमंगल महासुयक्खंधस्स पढमवायणापडिग्गहणत्थं काउस्सग्गं करावेह''**- हे भगवन् ! आप इच्छापूर्वक प्रथम उपधानसूत्र की प्रथम वाचना ग्रहण करने के निमित्त कायोत्सर्ग करवाईए- ऐसा गुरू से निवेदन करें। फिर गुरू की अनुमति लेकर, एक खमासमणपूर्वक **'पढमोवहाणपंचमंगल महासुयक्खंधस्स पढमवायणा पडिग्गहणत्थं करेमि काउस्सग्गं'**- अन्नत्थसूत्र कहकर 'सागरवरगंभीरा' तक लोगस्ससूत्र का चिंतन करें। कायोत्सर्ग पूर्णकर पुन: प्रकट में लोगस्ससूत्र बोलें।

• तदनन्तर उपधानवाही एक खमासमण देकर कहें- **''इच्छा. पंचमंगल महासुयक्खंधस्स पढमवायणा पडिग्गहणत्थं चेइयाइं वंदावेह।''** गुरू कहें- **'वंदावेमो।'** पुन: उपधानवाही कहें- 'वासक्षेपं करावेह' तब गुरू कहे- **'करावेमो।'** उसके बाद गुरू उपधानवाही के मस्तक पर वासचूर्ण का क्षेपण करें और चैत्यवन्दन के रूप में शक्रस्तव का पाठ बोलें।

• उसके बाद उपधानवाही एक खमासमण देकर कहें- **''इच्छा. संदि.! वायणं संदिसावेमि?''**- हे भगवन् ! आपकी इच्छापूर्वक वाचना ग्रहण करने की अनुमति लूँ? तब गुरू कहे-**'संदिसावेह'**- वाचना ग्रहण की अनुमति ले सकते हो। पुन: दूसरा खमासमण देकर कहे-**''इच्छा संदि.! वायणं पडिग्गहेमि''**- हे भगवन्! आपकी इच्छापूर्वक वाचना ग्रहण करूँ? गुरू कहे- **'पडिग्गहिह'**- वाचना ग्रहण करो।

• तदनन्तर उपधानवाही **'इच्छं'** कहकर एक खमासमण पूर्वक मुखवस्त्रिका को मुख पर स्थापित करते हुए अर्धावनत मुद्रा में खड़े रहें। उस समय गुरू तीन बार नमस्कारमन्त्र का स्मरण कर 'णमो अरिहंताणं' से लेकर 'णमो लोए सव्वसाहूणं' तक पाँच अध्ययन की तीन बार वाचना दें। उसके बाद गुरू उपधानवाहियों मस्तक पर वासचूर्ण प्रक्षेपित करें। फिर शिष्य वाचना ग्रहण करते समय हुई अविधि-आशातनाओं के लिए मन-वचन-कायापूर्वक मिच्छामिदुक्कडं दें। उसके बाद उपधानवाही वन्दन कर स्वाध्याय आदि करें।[151]

तपागच्छ परम्परा में वाचनाविधि का यह स्वरूप है- 1. सर्वप्रथम 'वसतिशुद्धि' की क्रिया करते हैं 2. उसके बाद वाचना के निमित्त मुखवस्त्रिका-प्रतिलेखन का आदेश लेकर, मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करते हैं, फिर 'वायणासंदिसाहूं, 'वायणालेशूं'-ये दो आदेश लेकर गुरू मुख से तीन बार सूत्र-पाठ ग्रहण करते हैं 3. उसके बाद गुरू उनके मस्तक पर वासचूर्ण डालते हैं।[152]

खरतर एवं तपागच्छ-इन दोनों आम्नायों में सामाचारी अन्तर यह है कि खरतरगच्छ-परम्परा में उपवास के दिन वाचना दी जाती है, जबकि तपागच्छ-परम्परा में उपवास या आयंबिल किसी भी दिन वाचना देने की परिपाटी है। इस परम्परा में कारणविशेष से नीवि (एकासन) के दिन भी वाचना देने का विधान है।[153]

खरतरगच्छ की प्राचीन एवं वर्तमान सामाचारी में पुरूष एवं स्त्रियां-दोनों के लिए अर्धावनत होकर वाचना ग्रहण करने का उल्लेख है, जबकि तपागच्छ-परम्परा में दोनों के लिए उत्कटासन मुद्रा में वाचना ग्रहण करने का निर्देश है।[154]

कायोत्सर्ग करने की विधि

उपधानवाही को प्रतिदिन 100 लोगस्ससूत्र का कायोत्सर्ग करना चाहिए- ऐसा जीत आचार है। कायोत्सर्ग करने की विधि निम्न है-

सर्वप्रथम एक खमासमण देकर ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करें। उसके बाद **'इच्छा. संदि. भगवन्! प्रथम[155] उपधान पंचमंगलमहाश्रुतस्कन्ध आराधनार्थं काउस्सग्गं करूँ ? 'इच्छं'** कहकर वंदणवत्तियाए॰ एवं अन्नत्थसूत्र बोलकर 'चंदेसुनिम्मलयरा' तक 100 लोगस्ससूत्र का कायोत्सर्ग करें। कायोत्सर्ग पूर्ण होने पर 'नमोअरिहंताणं' बोलकर प्रकट में लोगस्ससूत्र कहे।

द्वितीय उपधानवाही को **'श्री भावारिहंतस्तवाध्ययन आराधनार्थ काउस्सग्गं करूँ?'**-यह पद बोलना चाहिए। तृतीय उपधानवाही को **'श्री नामारिहंतस्तवाध्ययन आराधनार्थं काउस्सग्गं करूँ?'**-यह पद बोलना चाहिए। शेष विधि पूर्ववत् ही है।[156]

तपागच्छ परम्परा में 100 लोगस्ससूत्र का कायोत्सर्ग 'सागरवरगंभीरा' तक करने का निर्देश है। शेष विधि पूर्ववत् ही करते हैं।[157]

यह कायोत्सर्ग उपधानतप की विशेष शुद्धि के निमित्त किया जाता है। ऐतिहासिक दृष्टि से देखें, तो 17वीं शती तक लगभग किसी भी ग्रन्थ में 100 लोगस्ससूत्र का कायोत्सर्ग करने की विधि दृष्टिगत नहीं होती है। यह विधि 20 वीं शती के संकलित ग्रन्थों में देखी गई है और वर्तमान में प्रवर्तित है।

नवकारवाली गिनने की विधि

खरतरगच्छ की वर्तमान सामाचारी के अनुसार प्रथम उपधान करने वाले उपधानवाही को 52 दिन तक प्रतिदिन सम्पूर्ण नमस्कारमन्त्र की 20 माला गिनना चाहिए।

दूसरा उपधान करने वाले उपधानवाही को 35 दिन तक प्रतिदिन 'णमुत्थुणंसूत्र' की 3 माला गिनना चाहिए तथा तीसरा उपधान करने वाले उपधानवाहक को 28 दिन तक प्रतिदिन 'लोगस्ससूत्र' की 3 माला गिनना चाहिए।[158]

तपागच्छ की वर्तमान सामाचारी के अनुसार पहले, दूसरे और तीसरे उपधान में बैठने वाले उपधानवाहक को प्रतिदिन नमस्कारमन्त्र की 20 माला फेरना चाहिए। इसमें यह अपवाद है कि जो साधक माला न गिन सके, वह 200 परिमाण गाथाओं का स्वाध्याय कर सकता है। दस गाथाएं एक नमस्कारमन्त्र के बराबर होती हैं। दूसरा नियम यह है कि कम से कम पाँच माला एक ही स्थान पर बैठकर गिनना चाहिए।[159]

खमासमण देने की विधि

खरतरगच्छ एवं तपागच्छ दोनों परम्पराओं में ऐसा सामाचारी नियम है कि उपधानवाही को प्रतिदिन 100 खमासमण अवश्य देना चाहिए।[160] वर्तमान में यह परम्परा प्रचलित है। यहाँ यह विचार उठ सकता है कि उपधानवाही को प्रतिदिन 100 खमासमण क्यों देना चाहिए? तथा यह विधि किस ग्रन्थ के

आधार से की जाती है? वास्तविकता यह है कि इसका प्रामाणिक सूचन तो कहीं देखने को नहीं मिला है, केवल अर्वाचीन कृतियों में यह विधि पाई गई है, अत: कहा जा सकता है कि यह विधान जीतव्यवहार के अनुसार परम्परागत रूप से व्यवहृत है।

संभवत: इस विधान के पीछे कर्मों की विशेष निर्जरा एवं अन्तर्हृदय से लघुताभाव प्रकट करने का उद्देश्य माना जा सकता है। साथ ही शारीरिक स्वस्थता आदि अन्य कारण भी निहित हैं, जैसे-दैहिक अवयवों को पुन:-पुन: झुकाने से मस्तिष्क व शरीर की माँसपेशियाँ लचीली बनती हैं। परिणामस्वरूप भावनात्मक चेतना में भी परिवर्तन आता है।

प्रचलित परम्परा में 100 खमासमण देने की यह विधि है-

प्रथम सूत्रोपधान में **'पंचमंगलमहाश्रुतस्कंधाय नम:'**-यह पद बोलते हुए पंचांगप्रणिपात पूर्वक 100 बार वन्दन करना। इसी प्रकार द्वितीय सूत्रोपधान में **'प्रतिक्रमणश्रुतस्कंधाय नम:'**, तृतीय सूत्रोपधान में **'शक्रस्तव अध्ययनाय नम:'**, चतुर्थ सूत्रोपधान में **'चैत्यस्तव अध्ययनाय नम:'**, पंचम सूत्रोपधान में **'नामस्तव अध्ययनाय नम:'**, षष्ठम सूत्रोपधान में **'श्रुतस्तव अध्ययनाय नम:'** और सप्तम सूत्रोपधान में **'सिद्धस्तव अध्ययनाय नम:'** पद बोलना चाहिए।

यहाँ उपधान काल में करने योग्य कायोत्सर्ग, खमासमण, नवकारवाली आदि का वर्णन अर्वाचीन संकलित कृतियों के आधार पर किया गया है। क्योंकि विक्रम की 16वीं-17वीं शती के पूर्ववर्ती ग्रन्थों में पूर्वोक्त चर्चा की गई हो, ऐसा ज्ञात नहीं है।

आलोचना ग्रहण विधि

प्रत्येक उपधानवाही को उपधान तप के समय लगे हुए दोषों से निवृत्त होने के लिए आलोचना करना चाहिए। आलोचना ग्रहण करने के पूर्व स्वयं के द्वारा जो भी दोष लगे हों, उन दोषों को अच्छी तरह स्मृति में रखना चाहिए। वर्तमान में इन्हें डायरी में या नोटबुक पर लिखने का भी प्रचलन है।

• जिस दिन उपधान पूर्ण हो रहा हो, उस तप दिन में उपधानवाही सायंकालीन क्रिया करने के बाद गुरू के समीप आएं तथा ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करें। • फिर आदेशपूर्वक मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन कर दो बार द्वादशावर्त्तवन्दन करें। • उसके बाद दो खमासमण पूर्वक- **'इच्छा. संदि.!**

सोधि संदिसाहुं', 'इच्छा. संदि.! सोधि करेमि'- ऐसा कहकर गुरू से आत्मशुद्धि करने की अनुमति प्राप्त करें। • फिर यदि उपधानवाही खरतरगच्छ की परम्परा वाला हो, तो तीन और तपागच्छ परम्परा वाला हो, तो एक 'नमस्कारमन्त्र' का स्मरण करें। उसके बाद **'इच्छकारी भगवन्! पसाय करी आलोचना करावोजी'**- ऐसा कहकर गुरू मुख से आलोचना ग्रहण करें।[161] • यहाँ आलोचनादाता गुरू अपने गच्छ की आचरणा के अनुसार आलोचना देते हैं। अधिकांशत: आलोचना पत्रक पर ही आलोचना लिखकर दे देते हैं।

उपधान निक्षेप (निर्गमन) विधि

• जिस दिन उपधान तप पूर्ण हो रहा हो, उस दिन सायंकाल चतुर्विध आहार का प्रत्याख्यान करके शिष्य (उपधानवाही) गुरू के समीप आएं। फिर ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करें। • उसके बाद एक खमासमण देकर **''इच्छा. संदि. भगवन्! पढमउवहाण पंचमंगलमहासुयक्खंध- निक्खेवनिमित्तं[162] मुहपत्तिं पडिलेहेमि''**- हे भगवन् ! आपकी इच्छापूर्वक प्रथम उपधान पंचमंगलमहाश्रुतस्कन्ध से बाहर निकलने के निमित्त मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करूँ-ऐसा निवेदन करें। तब गुरू **'पडिलेहेह'** शब्द बोलकर अनुमति प्रदान करें। तदनन्तर उपधानवाही मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन कर दो बार द्वादशावर्त्तवन्दन करें। • फिर कहे- **''पढम उवहाण-पंचमंगलमहासुयक्खंधतवं उक्खिवह''**- प्रथम उपधानयोग्य सूत्र से बाहर करिए। तब गुरू 'उक्खिवामो' कहकर प्रथम सूत्रोपधान से बाहर करने की अनुमति प्रदान करते हैं। • तत्पश्चात् उपधानवाही एक खमासमण देकर निवेदन करें- **''इच्छा. संदि. भगवन्! पढमउवहाण पंचमंगलमहासुयक्खंधतव निक्खिवणत्थं काउस्सग्गं करावेह'**- हे भगवन् ! आप इच्छापूर्वक प्रथम उपधान से बाहर करने के लिए कायोत्सर्ग करवाईए। गुरू कहे-**'करावेमो'**- कायोत्सर्ग करवाता हूँ। उसके बाद उपधानवाही **'इच्छं'** कहकर, पुन: एक खमासमण देकर 'पंचमंगलमहाश्रुतस्कन्ध' नामक प्रथम उपधान से बाहर निकलने के लिए कायोत्सर्ग करता हूँ'- ऐसा बोलकर एक 'नमस्कारमन्त्र' का चिन्तन करें, फिर प्रकट में एक नमस्कारमन्त्र कहे।

• उसके बाद उपधानवाही पुन: एक खमासमण देकर कहें- **'इच्छा. संदि. भगवन्! पढमउवहाण-पंचमंगलमहासुयक्खंधतव निक्खिवणत्थं**

चेइआइं वंदावेह।'' तब गुरू कहे-'वंदावेमो।' फिर उपधानवाही कहे- **'वासक्षेपं करावेह।'** तब गुरू बोले-**'करावेमो'**। तदनन्तर गुरू शिष्य के मस्तक पर वासचूर्ण डालकर चैत्यवन्दन करवाएं।[163]

तपागच्छ परम्परा में उपधाननिक्षेप विधि किंचिद् अन्तर के साथ पूर्ववत् करवाई जाती है। समाहारत: उपधाननिक्षेप विधि में गुरूवन्दन, उपधान तप में लगे हुए दोषों की विशुद्धि निमित्त कायोत्सर्ग, तीर्थंकर परमात्माओं का स्मरण आदि कृत्य होते हैं तथा इस तप साधना द्वारा अनुरंजित मन निरन्तर शुभत्व की ओर बढ़ता हुआ शुद्धत्व समुपलब्ध करें, इस आशय से वासग्रहण आदि विधान किए जाते हैं।

प्रतिपूर्णाविकृति पारण विधि

यह विधि जिस दिन उपधानपौषध पूर्ण करते हैं अर्थात उपधान से बाहर होते हैं, उस दिन प्रात:काल गुरू के समक्ष की जाती है। उपधानकाल में अधिक विकृतियों का त्याग रहता है, अत: वह काल पूर्ण होने पर सभी विगयों को ग्रहण करने की अनुमति लेना-यही इस विधि का प्रयोजन है। इस विधि के संकेत सर्वप्रथम विधिमार्गप्रपा में मिलते हैं। खरतर परम्परा में आज भी यह विधि प्रचलित है जो इस प्रकार है[164]-

• उपधानपौषध पूर्ण करने वाला श्रावक प्रात:काल गुरू के समक्ष आकर ईर्यापथिकप्रतिक्रमण करें। • फिर एक खमासमण देकर कहे- **'इच्छा संदि. भगवन्! राइमुहपत्तिं पडिलेहेमि।'** गुरू कहे- **'पडिलेहेह।'** उसके बाद शिष्य **'इच्छं'** कह मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करें और गुरू को द्वादशावर्त्तवन्दन करें। • फिर पुन: कहे- **'इच्छा. संदि.! राइयं आलोएमि?'** तब गुरू कहे- **'आलोएह।'** फिर शिष्य **'इच्छं'** कहकर 'जो मे राइओ'.....से इच्छामिठामि सूत्र एवं सव्वस्सविराइय सूत्र बोलकर मिथ्यादुष्कृत दें। पुन: दो बार द्वादशावर्त्तवन्दन करें।

• उसके बाद दो खमासमणपूर्वक 'सुहराईसूत्र' तथा एक खमासमणपूर्वक 'अब्भुट्ठिओमिसूत्र' कहकर गुरू से क्षमायाचना करें।

तदनन्तर उपधानवाही एक खमासमणसूत्र पूर्वक वन्दन कर मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करें। फिर दो बार द्वादशावर्त्तवन्दन कर बोलें- **'पवेयणं पवेयहं'**। पुन: उपधानवाही कहें- **'पडिपुन्न विगइ पारणउं करेहं।'** तब गुरू कहे-**'करेह।'**

तत्पश्चात् उपधानवाही इच्छानुसार प्रत्याख्यान ग्रहण करें। उसके बाद सभी उपधानवाही गुरू के समक्ष यह कहते हैं- **'उपधानमांहि अविधि आशातना कीधी होय ते मिच्छामि दुक्कडं।'**

मालारोपण विधि

महानिशीथसूत्र के अनुसार जिस दिन चन्द्र, नक्षत्र, करण, मुहूर्त्त आदि शुभ हो, उस दिन मालारोपण विधि करना चाहिए। प्राचीनकाल में यह परम्परा यथावत् मौजूद थी। वर्तमान में लगभग उपधानतप पूर्ण होने के दूसरे दिन ही मालारोपणविधि का उत्सव कर लेते हैं। यद्यपि इस समय मुहूर्त्त शुद्धि आदि का ध्यान निश्चित रूप से रखा जाता है। फिर भी तप-पूर्णाहुति के दूसरे दिन की जाने वाली यह माल महोत्सव विधि कितनी सही और सार्थक है ? अवश्य मननीय है।

महानिशीथसूत्र का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट होता है कि जब श्रेष्ठ दिन हो, उसी दिन माला महोत्सव करना चाहिए, भले ही वह श्रेष्ठ दिन उपधान पूर्णाहुति के दस दिन बाद आता हो।

जैन ग्रन्थों में ऐसा उल्लेख आता है कि शुभमुहूर्त्त में हीरे की या एक सौ आठ फूलवाली एक माला बनवाना चाहिए। वह माला महोत्सव के पूर्व दिन उत्सवपूर्वक अपने घर से गुरू के समीप लाई जानी चाहिए। गुरू द्वारा माला को वासचूर्ण से अधिवासित करवाना चाहिए। फिर महोत्सवपूर्वक घर ले जाकर पट्ट आदि उच्च आसन पर उसे रख देना चाहिए तथा उसके समक्ष रात्रि जागरण करना चाहिए।

वर्तमान में यह प्रणाली कम प्रचलित है। दूसरे, जो आराधक अन्य नगरों से आते हैं, उनके लिए गृहमहोत्सव एवं रात्रिजागरण करना करवाना कदाच् असम्भव हो, किन्तु जो नगरस्थ उपधानवाही हैं, उन्हें मालमहोत्सव के पूर्व दिन का यह कृत्य अवश्य सम्पन्न करना चाहिए। यह उसके स्वयं के अनन्य हित के लिए है।

यह उल्लेखनीय है कि प्राचीन परम्परा में प्रत्येक सूत्र का उद्देश, समुदेश एवं अनुज्ञा उस सूत्र की पूर्णाहूति के साथ ही हो जाया करती थी, किन्तु कुछ वर्षों पूर्व से यह परिपाटी देखी जाती है कि प्रत्येक सूत्र की समुद्देश और अनुज्ञा विधि मालमहोत्सव के दिन मालारोपण के पूर्व की जाती है। इसी कारण से

प्रतिसूत्रों की समुद्देश और अनुज्ञा विधि मालारोपण विधान के साथ कही जा रही है। जिस प्रकार सात खमासमणपूर्वक प्रथम उपधान पंचमंगल महाश्रुतस्कन्ध की उद्देश विधि कही गई है, उसी प्रकार सात-सात खमासमण पूर्वक समुद्देश एवं अनुज्ञा के नामोच्चारण पूर्वक समुद्देश एवं अनुज्ञा विधि की जाती है। वह विधि इस प्रकार है-[165]

समुद्देश (सूत्रों को चिर-परिचित करने की) विधि- सर्वप्रथम मालारोपण के दिन प्रात:काल में पवित्र वस्त्र अलंकार आदि से विभूषित होकर उपधानवाही आचार्य के समीप आएं। फिर नारियल और अक्षत द्वारा अंजलि भरकर प्रतिदिशा में एक-एक नमस्कारमन्त्र का स्मरण करते हुए समवसरण के चारों ओर तीन प्रदक्षिणा लगाएं। उसके बाद अक्षत एवं नारियल को समवसरण के सम्मुख रख दें।

• तदनन्तर गुरू के बाईं ओर खड़े होकर ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करें, विधिपूर्वक वसति का प्रवेदन करें, फिर एक खमासमण देकर निवेदन करें- **''इच्छा. संदि. भगवन्! पंचमंगल महासुयक्खंध- पडिक्कमणसुयक्खंध भावारिहंतत्थय-ठवणारिहंतत्थय - चउवीसत्थय - नाणत्थय - सिद्धत्थय समुद्देसनिमित्तं मुहपत्ति पडिलेहेमि ?''** गुरू कहे- 'पडिलेहेह'। उसके बाद उपधानवाही मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन कर दो बार द्वादशावर्त्तवन्दन करें।

1. फिर एक खमासमण देकर निवेदन करें- **''इच्छाकारेण तुम्हे अम्हं पढमंउवहाणं-पंचमंगलमहासुयक्खंधं, बियंउवहाणं पडिक्कमणसुयक्खंधं, तइयंउवहाणं-भावारिहंतत्थय, चउत्थंउवहाणं-ठवणारिहंतत्थय, पंचमं-उवहाणं-चउवीसत्थय, छट्ठंउवहाणं- नाणत्थय, सत्तमंउवहाणं- सिद्धत्थय समुद्दिसह।''** - उपधान योग्य सूत्रों को चिर परिचित करने की अनुमति दीजिए। तब गुरू कहे- **'समुद्दिस्सामो'**- उपधान योग्य सभी सूत्रों को चिर-परिचित करने की अनुमति देता हूँ।

2. उसके बाद शिष्य 'इच्छं' कहकर एक खमासमण देकर कहें- **'संदिसह कि भणामों?'** गुरू कहे - **वंदित्ता पवेयह।'** 3. फिर शिष्य **'इच्छं'** बोलकर एक खमासमण देकर कहे- **'इच्छाकारेण तुम्हे अम्हं पढमंउवहाणं-पंचमंगलमहासुयक्खंधं, बीयंउवहाणं-पडिक्कमण सुयक्खंधं, तइयं-उवहाणं-भावारिहंतत्थय, चउत्थंउवहाणं-ठवणारिहंतत्थय, पंचमं-**

उवहाणं- चउवीसत्थय, छट्ठुंउवहाणं-नाणत्थय, सत्तमंउवहाणं- सिद्धत्थय समुद्दिट्ठो ?''- हे भगवन् ! आपने इच्छापूर्वक मुझे पंचमंगल आदि सप्तोपधान के सूत्रों को सम्यक् प्रकार से चिर-परिचित करने की अनुमति प्रदान की है?' तब गुरू उपधानवाही के मस्तक पर वासचूर्ण का क्षेपण करते हुए कहें- **''समुद्दिट्ठो- 3 खमासमणाणं हत्थेणं सुत्तेणं, अत्थेणं,तदुभयेणं थिरपरिचियं कायव्वं''**- मेरे द्वारा उपधान योग्य सभी सूत्रों को सम्यक् प्रकार से समुदिष्ट किया गया है। अब महापुरूषों की परम्परा से प्राप्त सूत्र, अर्थ एवं सूत्रार्थ द्वारा इनको स्थिर-परिचित करना चाहिए। यानी इन सूत्रों को सम्यक् प्रकार से अवधारित करना चाहिए।' उसके बाद शिष्य कहें-**'इच्छामो अणुसट्ठिं।'**

4. पुनः एक खमासमण देकर शिष्य निवेदन करें- 'तुम्हाणं पवेइयं संदिसह साहूणं पवेएमि।' गुरू कहें-**'पवेयह'।**

5. तत्पश्चात् शिष्य **'इच्छं'** बोलकर एवं अर्द्धावनत होकर तीन बार नमस्कारमन्त्र बोलते हैं।

6. पुनः एक खमासमण देकर शिष्य कहें-**'तुम्हाणं पवेइयं साहूणं पवेइयं संदिसह काउस्सग्गं करेमि''**। गुरू कहे-**'करेह।'**

7. उसके बाद **'इच्छं'** बोलकर, एक खमासमण देकर शिष्य कहे- **''पढमंउवहाणं- पंचमंगलमहासुयक्खंधं, बियंउवहाणं-पडिक्कमणसुय-क्खंधं, तइयंउवहाणं- भावारिहंतत्थय, चउत्थंउवहाणं-ठवणारिहंतत्थय, पंचमंउवहाणं- चउवीसत्थय, छट्ठुंउवहाणं-नाणत्थय, सत्तमंउवहाणं-सिद्धत्थय समुद्देसनिमित्तं करेंमि काउस्सग्गं'' पूर्वक 'अन्नत्थसूत्र'**- कहकर कायोत्सर्ग में सागरवरगंभीरा तक लोगस्ससूत्र का चिन्तन करें। कायोत्सर्ग पूर्णकर प्रकट में लोगस्ससूत्र बोलें।

• तदनन्तर उपधानवाही दो खमासमणपूर्वक **'वायणं संदिसावेमि' 'वायणं पडिग्गहेमि',** पुनः दो खमासमणपूर्वक **'बेसणं संदिसावेमि' 'बेसणं ठाएमि',** पुनः दो खमासमण देकर **'सज्झायं संदिसावेमि' 'सज्झायं करेमि',** पुनः दो खमासमण देकर **'पांगुरणं संदिसावेमि' 'पागुरणं पडिग्गहेमि'**- इस प्रकार वाचना ग्रहण करने का, आसन पर बैठने का, स्वाध्याय करने का एवं कामली आदि ओढ़ने का आदेश लें। उसके बाद अविधि-आशातनाओं के लिए मिच्छामि दुक्कडं दें।

अनुज्ञा (सूत्रों के पठन-पाठन की अनुज्ञा) विधि- समुद्देशविधि पूर्ण होने पर मालाग्राही एक खमासमण देकर बोलें- **''इच्छाकारेण संदि. भगवन्! मुहपत्तिं पडिलेहेमि ?''** गुरू कहे- **'पडिलेहेह।'** उसके बाद वह मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन करके, दो बार द्वादशावर्त्तवन्दन करें। • फिर एक खमासमण देकर कहें- **''इच्छाकारेण भगवन्! तुम्हे अम्हं पढमंउवहाण-पंचमंगलमहासुयक्खंधं, बियंउवहाणं- पडिक्कमणसुयक्खंधं, तइयंउ-वहाणं-भवारिहंतत्थय, चउत्थंउवहाण-ठवणारिहंतत्थय, पंचमउवहाण, चउव्वीसत्थय, छट्ठुंउवहाणं-नाणत्थय, सत्तमंउवहाणं- सिद्धत्थय-अणुजाणावणियं नदिकड्ढावणियं वासनिक्खेवं करेह''-** हे भगवन्! उपधान-योग्य इन सात सूत्रों की अनुज्ञा ग्रहण करने के लिए एवं नंदी का अनुसरण करने के लिए मुझ पर वासचूर्ण का निक्षेप करिए। तब गुरू कहे-'करेमो।' उसके बाद गुरू वर्द्धमानविद्या से अभिमन्त्रित वासचूर्ण मालाग्राही के मस्तक पर तीन बार ड़ालें।

• तदनन्तर मालाग्राही एक खमासमण देकर निवेदन करें- **पढमंउवहाणं-पंचमंगलमहासुयक्खंधं, बियंउवहाणं- पडिक्कमणसुय-क्खंधं, तइयंउवहाणं-भावारिहंतत्थय, चउत्थंउवहाणं-ठवणारिहंतत्थय, पंचमं- उवहाण- चउव्वीसत्थय, छट्ठुंउवहाण-नाणत्थय, सत्तमंउवहाणं-सिद्धत्थय अणुजाणावणियं नंदिकड्ढावणियं चेइयाइं वंदावेह ''-** हे भगवन्! उपधान-योग्य सात सूत्रों की अनुज्ञा ग्रहण करने के लिए एवं नंदी का अनुसरण करने के लिए चैत्यवन्दन करवाएं। तब गुरू बोले-'वंदावेमो।' उसके बाद गुरू और मालाग्राही चैत्यवंदन मुद्रा में बैठकर वर्द्धमान स्वामी आदि की 18 स्तुतियों द्वारा पूर्ववत् चैत्यवंदन (देववंदन) करें।

• तदनन्तर पुनः मालाग्राही एक खमासमण देकर- **'इच्छा. संदि.! मुहपत्तिंपडिलेहुं ?' 'इच्छं'** कहकर मुखवस्त्रिका का प्रतिलेखन और दो बार द्वादशावर्त्तवन्दन करें। पुनः एक खमासमणपूर्वक कहे- **''इच्छा. तुम्हे अम्हं पढमंउवहाणं-पंचमंगलमहासुयक्खंधं, बियंउवहाणं-पडिक्कमणसुय-क्खंधं, तइयउवहाणं-भावारिहंतत्थयं, चउत्थंउवहाणं- ठवणारिहंतत्थयं, पंचमउवहाणं-चउव्वीसत्थय, छट्ठउवहाणं- नाणत्थय सत्तमंउवहाणं-सिद्धत्थय अणुजाणावणियं नंदिकड्ढावणियं काउस्सग्गं करावेह।''** तब

गुरू कहे-'करावेमो।' उसके बाद गुरू और शिष्य-दोनों ही सत्ताईस श्वासोश्वास का कायोत्सर्ग करें। कायोत्सर्ग पूर्णकर लोगस्ससूत्र बोलें।

• तत्पश्चात् मालाग्राही एक खमासमण देकर कहें- **''इच्छा. तुम्हे अम्हं नंदिसुत्तं सुणावेह।''** तब गुरू कहे-**'सुणावेमो।'** ऐसा कहकर गुरू तीन बार नमस्कारमन्त्र बोलकर तीन बार नन्दीसूत्र सुनाएं तथा तीन बार उपधानवाही के मस्तक पर वासचूर्ण डालें। नन्दीसूत्र का संक्षिप्त पाठ यह है-

'नाणं पंचविहं पण्णत्तं, तं जहा-आभिणिबोहियनाणं सुयनाणं, ओहिनाणं, मणपज्जवनाणं, केवलनाणं जाव सुयनाणस्स उद्देसो समुद्देसो अणुन्ना अणुओगो पवत्तइ'' इत्यादि। यहाँ नन्दीसूत्र का पाठ मंगलार्थ एवं कल्याणार्थ सुनाया जाता है। • उसके बाद गुरू वर्धमानविद्या द्वारा अक्षत अभिमन्त्रित करके श्रमण-श्रमणियों को वासचूर्ण एवं श्रावक-श्राविकाओं को अक्षतदान करें। फिर गुरू अपने आसन से उठकर जिनप्रतिमा के चरणों पर वासक्षेप डालें।

1. तदनन्तर मालाग्राही एक खमासमण देकर अनुज्ञा के बारे में गुरू से निवेदन करें- **''इच्छाकारेण तुम्हे अम्हं पढमंउवहाणं-पंचमंगल महासुयक्खंधं, बियंउवहाणं-पडिक्कमणसुयक्खंधं, तइयंउवहाणंभावारि-हंतत्थय, चउत्थंउवहाणं- ठवणारिहंतत्थय, पंचमंउवहाणं- चउवीस-त्थय, छट्ठंउवहाणं-नाणत्थय, सत्तमंउवहाणं-सिद्धत्थय अणुजाणह।''** गुरू कहे- **'अणुजाणामो।'**

2. तब मालाग्राही **'इच्छं'** कहकर एक खमासमण देकर कहें- **'संदिसह किं भणामो ?'** गुरू कहे - **'वंदित्ता पवेयह।'**

3. पुनः, एक खमासमण देकर मालाग्राही बोलें- **''इच्छा. तुम्हे अम्हं पढमंउवहाणं-पंचमंगलमहासुयक्खंधं, बियंउवहाणं-पडिक्कमणसुय-क्खंधं, तइयंउवहाणं-भावरिहंतत्थय, चउत्थंउवहाणं-ठवणारिहंतत्थय, पंचमंउवहाणं- चउवीसत्थय, छट्ठंउवहाणं-नाणत्थय, सत्तमंउवहाणं-सिद्धत्थय अणुन्नाओ ?''** तब गुरू वासचूर्ण डालते हुए "अनुज्ञात किया है" यानी इन सूत्रों को पढ़ने-पढ़ाने की अनुमति दी गई है- ऐसा तीन बार बोलें और "इन सूत्र पाठों को सदैव सम्यक् प्रकार से धारण करना तथा चिरकाल तक याद रखना"-ऐसा शिक्षावचन कहें। साधुओं के प्रति **'अन्नेसिंपि पवेयणिज्जो'**-

इतना पद अधिक बोलते हैं। यहाँ साधु शब्द का तात्पर्य श्रावक से है। उसके बाद मालाग्राहीजन कहें-**'इच्छामो अणुसट्ठिं'।**

4. पुनः मालाग्राही एक खमासमणपूर्वक निवेदन करें- **'तुम्हाणं पवेइयं, संदिसह साहूणं पवेएमि।''** गुरू बोले-**'पवेयह।'**

5. तदनन्तर मालाग्राही एक खमासमण देकर प्रतिदिशा में एक-एक नमस्कारमन्त्र का स्मरण करते हुए नन्दीरचना के चारों ओर तीन प्रदक्षिणा दें।[166] प्रदक्षिणा के समय गुरू एवं चतुर्विध संघ उन पर वास-अक्षत का निक्षेप करें।

6. उसके बाद मालाग्राही एक खमासमणपूर्वक कहें- **''तुम्हाणं पवेइयं, साहूणं पवेइयं, संदिसह काउस्सग्गं करेमि।''** गुरू बोले-**'करेह।'**

7. तदनन्तर एक खमासमण देकर शिष्य- **'पढमंउवहाणं-पंचमंगल-हासुयक्खंधं, बियंउवहाणं-पडिक्कमणसुयक्खंधं, तइयंउवहाणं-भावारि-हंतत्थय, चउत्थंउवहाणं-ठवणारिहंतत्थय, पंचमंउवहाणं-चउवीसत्थय, छट्ठंउवहाणं-नाणत्थय, सत्तमंउवहाणं-सिद्धत्थय, अणुन्ना-निमित्तं करेमि काउस्सग्गं** पूर्वक **अन्नत्थसूत्र'** बोलकर लोगस्ससूत्र का **'सागरवरगंभीरा'** तक चिन्तन करें। कायोत्सर्ग पूर्णकर प्रकट में लोगस्ससूत्र बोलें।

- तदनन्तर मालाग्राही एक खमासमण देकर कहें-**'इच्छा. संदि. भगवन्! पवेयणा मुहपत्तिं पडिलेहेमि ?''** गुरू बोले-**'पडिलेहेह।'** उसके बाद मालाग्राही **'इच्छं'** बोलते हुए मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना पूर्वक दो बार द्वादशावर्त्तवन्दन करें।

- फिर एक खमासमण देकर कहें-**'इच्छा. तुम्हे अम्हं पढमंउवहाणं-पंचमंगलमहासुयक्खंधं, बियंउवहाणं-पडिक्कमणसुयक्खंधं, तइयंउ-वहाणं- भावारिहंतत्थय, चउत्थंउवहाणं-ठवणारिहंतत्थय, पंचमंउवहाणं-चउवी- सत्थय, छट्ठंउवहाणं-नाणत्थय, सत्तमंउवहाणं- सिद्धत्थय समुद्देस-अणुन्नानंदी मालापडिग्गहणत्थं तवं करावेह''**- हे भगवन्! आप मुझे इच्छापूर्वक उपधान योग्य सूत्रों का समुद्देश एवं अनुज्ञानंदी के निमित्त मालाधारण करने के लिए तप का प्रत्याख्यान करवाईए। तब गुरू बोलें-**'करावेमो।'**

उसके बाद मालाग्राहीजन एक खमासमण देकर निवेदन करें- **'इच्छकारि भगवन्! पसाय करी पच्चक्खाण करावोजी'**, तब गुरू उपवास या

आयंबिल के प्रत्याख्यान करवाएं। फिर मालाग्राही एक खमासमणपूर्वक भूमितल पर मस्तक रखकर अविधि-आशातना के लिए मिथ्यादुष्कृत दें।

• पुनः मालाग्राही एक खमासमण देकर अनुमति ग्रहणार्थ यह बोलें- **''इच्छा. संदि. ! माला पहिरेमि ?'' गुरू कहे-'पहिरेह।'** तब शिष्य **'इच्छं'** कहे। गुरू लाल सूत के धागों से बनी हुई माला को प्रतिष्ठामन्त्र से अथवा सात बार नमस्कारमन्त्र के स्मरण से अभिमन्त्रित करें। • फिर मालाग्राही के स्वजन-सम्बधियों को यथाशक्ति ब्रह्मचर्यव्रत का नियम दिलाकर माला उनके हाथ में प्रदान करें। जिसने व्रत-प्रत्याख्यानपूर्वक माला पहनाने का संकल्प किया है, वह माला को मस्तक झुकाते हुए वन्दन कर तथा मालाग्राही के मस्तक पर तिलक कर सात बार नमस्कारमन्त्र का स्मरण करते हुए मालाग्राही के कण्ठ में उसे स्थापित करें। • तदनन्तर गुरू मालाग्राही के मस्तक पर वासचूर्ण का क्षेपण करें। • उसके बाद मालाग्राही समवसरण के चारों ओर तीन प्रदक्षिणा लगाएँ। उस प्रदक्षिणा के समय तीन बार **'नित्थारपारगा होह'**- ऐसा कहते हुए गुरू वासचूर्ण और श्रीसंघ अक्षत का क्षेपण करें। • उसके बाद मालाग्राही एक खमासमण देकर निवेदन करें- **'इच्छा. तुम्हे अम्हं उवहाणमहप्पं सुणावेह।'** गुरू कहे- **'सुणावेमो।'** ऐसा कहकर गुरू धर्मोपदेश सुनाएं। • तत्पश्चात् मालाग्राही चतुर्विध संघ के साथ होकर मंगल-वाद्यादिपूर्वक जिन चैत्यालय में जाएं। उसके बाद उस माला को गृहप्रतिमा के सम्मुख स्थापित कर छः माह तक धूपोत्क्षेपपूर्वक नित्य पूजा करें। यह मालारोपण की प्राचीन एवं प्रचलित विधि है।

तपागच्छ परम्परा में समुद्देश विधि, अनुज्ञा विधि एवं मालारोपण विधि पूर्ववत् ही सम्पन्न करते हैं। इसमें मुख्य अन्तर आलापक पाठ संबंधी ही ज्ञात होता है।[167]

पायच्छंदगच्छीय पूज्या प्रवर्तिनी ऊंकारश्रीजी म.सा. एवं **त्रिस्तुतिक-गच्छीय** आचार्य श्री जयन्तसेनसूरीजी म.सा. के साथ हुई प्रत्यक्ष एवं पत्र चर्चा के आधार पर इन दोनों परम्पराओं में मालारोपण-विधि का स्वरूप प्रायः पूर्ववत् ही है।

जैन धर्म की प्रचलित परम्पराओं में उपधानविधि

उपधान एक शास्त्रीय-अनुष्ठान है। वर्तमान दृष्टि से इसका मूल्यांकन करने पर ज्ञात होता है कि खरतरगच्छ एवं तपागच्छ-इन दोनों शाखाओं में इसका

प्रचलन विशेष रूप से है। दोनों परम्पराओं में उपधान करने वाले आराधक वर्ग की संख्या दिनोंदिन बढ़ती जा रही है।

खरतरगच्छ एवं तपागच्छ दोनों आम्नायों में इससे सम्बन्धित प्राय: सभी विधि-विधान किंचिद् अन्तर के साथ समतुल्य ही हैं। इस परम्परा विषयक सामान्य चर्चा उपधान-विधि के साथ की जा चुकी है।

अचलगच्छ आम्नाय में उपधान की परिपाटी प्रचलित नहीं है। उनके गच्छाधिपतियों का यह मानना है कि उपधान विधि की प्राचीन हस्तलिखित मूल प्रति लुप्त हो गई है।

पायच्छंदगच्छ की सामाचारी में 45, 28 एवं 35 दिन के तीन उपधान माने गए हैं। उपधान विषयक सभी विधि-विधान तपागच्छ परम्परा के समान ही अनुष्ठित किए जाते हैं। विदुषीवर्य्या ऊँकारश्रीजी म.सा. की सुशिष्या साध्वी सिद्धान्तरसाजी के साथ हुई बातचीत के आधार पर उनकी वर्तमान परम्परा में आठ दिन का ही उपधान होता है।

सामान्यतया **त्रिस्तुतिक परम्परा** में उपधान से संबंधित सभी विधि-विधान तपागच्छ सामाचारी के अनुसार किये जाते हैं। विशेष यह है कि तपागच्छ आम्नाय में छठवें उपधान और चौथे उपधान में आयंबिल करवाते हैं, जबकि त्रिस्तुतिक परम्परा में वैसा नहीं है। शेष स्थानकवासी, तेरापंथी एवं दिगम्बर परम्परा में 'उपधान' नाम से कोई अनुष्ठान या विधि-विधान सम्पन्न किया जाता हो-ऐसा पढ़ने या सुनने में नहीं आया है।

समष्टि रूप में कहा जा सकता है कि खरतरगच्छ एवं तपागच्छ- आम्नाय में उपधान का विशेष प्रचलन है। अचलगच्छ एवं पायच्छंदगच्छ में यह परिपाटी अत्यल्प है तथा स्थानकवासी, तेरापंथी एवं दिगम्बर संप्रदाय में यह विधान सम्भवत: होता ही नहीं है।

तुलनात्मक अध्ययन

उपधान एक विशिष्ट कोटि का तपोनुष्ठान है। जैन-परम्परा के आवश्यक सूत्रपाठों को चिर-परिचित करने का उत्तम ज्ञान अनुष्ठान है। जैन दर्शन में आत्मा के अनन्तचतुष्टय के रूप में चार गुण माने गए हैं-ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य। किन्तु कहीं-कहीं छ: गुणों का भी उल्लेख है। नवतत्त्व प्रकरण में कहा गया है- जिसमें ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग हो, वही

जीव है और जीव का लक्षण है।

आशय यह है कि इस अनुष्ठान द्वारा ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं तप-इन चार आत्मिक गुणों की युगपत् आराधना होती है। इससे ध्वनित होता है कि इस अनुष्ठान द्वारा वस्तुत: आत्मा से परमात्मा, देही से विदेही, संसारी से सिद्ध बनने की साधना की जाती है।

यदि उपधान विधि का ग्रन्थों की अपेक्षा से तुलनात्मक अध्ययन किया जाए तो महानिशीथ, तिलकाचार्य सामाचारी, सुबोधासामाचारी, विधिमार्गप्रपा एवं आचारदिनकर आदि प्रमुख रूप से मननीय होते हैं। तदनुसार यह विवरण निम्न प्रकार है-

प्रत्याख्यान की अपेक्षा- तिलकाचार्यकृत सामाचारी में मालारोपण के दिन कौनसा तप किया जाना चाहिए, तत्सम्बन्धी कोई निर्देश नहीं हुआ है, केवल प्रत्याख्यान करवाए जाने का सूचन है।[168] सुबोधासामाचारी में यथाशक्ति आयंबिल आदि तप करने का उल्लेख हुआ है।[169]

विधिमार्गप्रपा में आयंबिल या उपवास का तप किया जाना चाहिए-ऐसा निर्देश है।[170] आचारदिनकर के कर्त्ता ने विधिमार्गप्रपा का यथावत् पाठ उद्धृत करके आयंबिल या उपवास करने का सूचन किया है।[171]

इससे सूचित होता है कि मालारोपण के दिन कम से कम आयंबिल-तप का प्रत्याख्यान अवश्य करना चाहिए। आजकल उपवास तप करवाए जाने की परम्परा है।

प्रदक्षिणा की अपेक्षा- मालारोपण के दिन नमस्कारमन्त्र आदि सूत्रों की अनुज्ञा ग्रहण करने के निमित्त सामान्य समवसरण की तीन प्रदक्षिणा दी जाती हैं। वर्तमान सामाचारी में यही परम्परा प्रवर्तित है, परन्तु तिलकाचार्यकृत सामाचारी में गुरूसहित समवसरण की तीन प्रदक्षिणा देने का निर्देश है।[172] सुबोधासामाचारी में समवसरण की तीन प्रदक्षिणा देने का सूचन है।[173] विधिमार्गप्रपा में प्रत्येक उपधान की अपेक्षा सात प्रदक्षिणा देने का सूचन है[174] तथा आचारदिनकर में समवसरण की तीन प्रदक्षिणा दिए जाने के बाद गुरू की तीन प्रदक्षिणा, गुरूसहित समवसरण की तीन प्रदक्षिणा और गुरू तथा संघ सहित समवसरण की तीन प्रदक्षिणा-ऐसे चार बार तीन-तीन प्रदक्षिणा करने का उल्लेख किया गया है।[176]

वासदान की अपेक्षा- मालारोपण के दिन अनुज्ञा के निमित्त मालाग्राही के मस्तक पर कितना वासदान किया जाना चाहिए ? इस सम्बन्ध में तिलकाचार्य ने कोई निर्देश नहीं किया है। महानिशीथसूत्र,[176] सुबोधासामाचारी[177] और आचारदिनकर[178] में मालाग्राही को कुछ अभिग्रहादि नियम दिलवाने के बाद एक साथ सात गन्ध की मुट्ठियाँ प्रक्षेपित करने का निर्देश है। उसके बाद ही पहनाई जाने वाली माला को जिनप्रतिमा के चरणों पर स्थापित करते हैं,

जबकि विधिमार्गप्रपा में अनुज्ञा के निमित्त दी जाने वाली प्रदक्षिणा के समय एक-एक करके सात गंधमुट्ठियाँ प्रक्षेपित करने का वर्णन है।[179]

अनुशिष्टिवचन की अपेक्षा- मालारोपण के दिन मालाग्राही को लक्ष्य में रखकर सारगर्भित उपदेश दिया जाता है। इस सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न गाथा पाठ देखने को मिलते हैं।

तिलकाचार्यकृत सामाचारी में **भक्तिः श्री वीतरागे .....'**

'आतंकः पातकेभ्यो .....आदि 5 गाथाएँ वर्णित हैं।[180]

सुबोधासामाचारी में **'परमपयपुरीपत्थिये'**, इत्यादि आठ गाथाएँ उसके बाद 'तत्तोजिणपडिमाए' से लेकर **'इत्तिसिज्झंति'** पर्यन्त ग्यारह गाथाएँ तीन बार बोले जाने का निर्देश है।[181]

विधिमार्गप्रपा में मानदेवसूरिकृत 54 गाथाओं की 'उपधानविधि' एवं **'सावज्जकज्जवज्जण'** आदि 9 गाथाओं की 'मालारोपण अनुशिष्टि' कहे जाने का उल्लेख है।[182]

आचारदिनकर में **'जिणपडिमाए पूआदेसाओ'**, आदि ग्यारह गाथाओं और **'भो-भो देवाणुप्पिया'** आदि महानिशीथसूत्र की बीस गाथाओं की देशना करने का वर्णन है।[183]

इन उपदेशमूलक गाथाओं में संख्या भेद होने पर भी अर्थदृष्टि से साम्य है।

प्रकार की अपेक्षा- खरतरगच्छ परम्परा उपधान के सात प्रकार मानती हैं और तपागच्छ आदि परम्परा में उपधान के छः प्रकार माने गए हैं। यह मतभेद सूत्र की संख्या को लेकर नहीं है, अपितु उन सूत्रों को वहन करने की अपेक्षा से है। खरतरगच्छ आम्नाय में 'श्रुतस्तव' को छठवां और 'सिद्धस्तव' को सातवाँ उपधान स्वीकारा गया है, जबकि तपागच्छीय सामाचारी में श्रुतस्तव एवं सिद्धस्तव-दोनों को युगपद मानकर छठवें उपधान की कोटि में रखा गया है।

तप दिन की अपेक्षा- खरतरगच्छ एवं तपागच्छ-दोनों परम्पराओं में उपधानों के दिन समान माने गए हैं, किन्तु प्रथम उपधान में प्रचलित

विधि से चार दिन का अन्तर आता है। खरतरगच्छ में प्रथम उपधान 51 दिन का होता है और तपागच्छ में 47 दिन का, क्योंकि खरतरगच्छ परम्परा में 'पंचमंगल महाश्रुतस्कन्धसूत्र' एवं 'ईरियावहिसूत्र' का उपधान बीस-बीस दिन का होता है, जबकि तपागच्छ में ये दोनों सूत्र अठारह-अठारह दिन में वहन किए जाते हैं।

तपागच्छ की मान्यता है कि यदि एकासन पुरिमड्ढ से करवाया जाय, तो चार एकासन का एक उपवास न होकर, तीन एकासन बराबर एक उपवास होता है। इस प्रकार नौ एकासन होने पर तीन उपवास हो जाते हैं। 18 दिनों तक एकान्तर उपवासपूर्वक एकासन करने से साढ़े बारह उपवास से कुछ कम तप होता है। इसकी कमी पूर्ति प्रायश्चित्त दान देकर की जाती है अर्थात प्रायश्चित्त द्वारा साढ़े बारह उपवास परिमाण तप पूरा किया जाता है।

दूसरा उल्लेखनीय यह है कि तपागच्छ परम्परा वाले पुरिमड्ढपूर्वक किए गए एकासन तप को ही विशेष तप में गिनती करते हैं, किन्तु पुरिमड्ढसहित किए गए आयंबिल और उपवास की विशेष तप में गणना नहीं करते हैं।

पाँच तिथि सम्बन्धी समानता- यदि उपधानवहन की अवधि में प्रचलित विधि के अनुसार शुक्ल पंचमी, द्विपक्ष की अष्टमी एवं द्विपक्ष की चतुर्दशी के दिन एकासन आता हो, तो उन दिनों में आयंबिल तप करवाया जाना चाहिए, यह बात दोनों परम्पराएँ एकमत से स्वीकारती हैं तथा वर्तमान में आयंबिल करवाए जाने की परिपाटी भी मौजूद है। शेष वाचनाविधि, वाचनादिन, तपदिन आदि लगभग समान हैं।

माला पहनाने की अपेक्षा- महानिशीथसूत्र के अनुसार मालाग्राही को गुरू के हाथों से माला पहनाई जाना चाहिए, किन्तु उस समय नमस्कारमन्त्र आदि का स्मरण करने सम्बन्धी कोई सूचन नहीं किया गया है।[184]

तिलकाचार्यकृत सामाचारी में निम्न दो गाथाएँ बोलकर माला पहनाने का निर्देश है, किन्तु माला कौन पहनाए ? तत्सम्बन्धी कोई निर्देश नहीं है। माला पहनाते हुए नवकार मन्त्र आदि का स्मरण करना चाहिए, इसका भी कोई सूचन नहीं है।[185]

माला पहनाने के पूर्व बोली जाने वाली गाथाएँ ये हैं-

निवुइ पह सासणयं, जयउ सया सव्वाभावदेसणयं।
कुसमयमयनासणयं, जिणिंदवर वीर सासणयं ।।1।।
जह लद्धजयस्सरणे, कुणंति पुज्जावि मंगलं लोए।
तह उवहाणतवं ते, करंति तह मंगलं गुरूणो।।2।।

सुबोधासामाचारी,[186] विधिमार्गप्रपा[187] एवं आचारदिनकर[188] में मालाग्राही के बन्धु-बान्धवों के हाथों माला पहनाए जाने का उल्लेख है, किन्तु वह माला गुरू द्वारा अभिमंत्रित होकर, गुरू के द्वारा ही मालाग्राही के कुटुम्बियों को दी जाती है-ऐसा भी स्पष्ट सूचन है। परन्तु माला पहनाते समय किसका स्मरण करना चाहिए, इस सम्बन्ध में कोई सूचना नहीं दी गई है। खरतरगच्छ की वर्तमान सामाचारी में सात बार नमस्कारमन्त्र का स्मरण कर माला पहनाने की विधि है।[189] यहाँ सात बार नमस्कारमन्त्र का स्मरण करना सप्तविध उपधान की पूर्णाहुति का प्रतीक होना चाहिए।

यदि वैदिक या बौद्ध-परम्परा की दृष्टि से तुलना करें, तो उनमें उपधान के समकक्ष किसी तरह का विधान तो संभवतया प्रचलित हो सकता है जैसे-हिन्दू धर्म में प्रचलित विद्याध्ययन या वेदाध्ययन-संस्कार को ज्ञानार्जन की दृष्टि से उपधान कहा जा सकता है। यद्यपि इस संस्कार में तप-नियम-संयम या क्रियादिरूप साधनाएँ तो प्रमुख रूप से नहीं होती, फिर भी उपधान क्रिया की भांति गुरू के सन्निकट रहते हुए आवश्यकसूत्रों के स्थान पर वेद ग्रन्थों का अध्ययन करवाया जाता है, किन्तु उपधान नाम से कोइ वर्णन प्राप्त नहीं होता है।

उपसंहार

भारतीय संस्कृति अध्यात्म प्रधान संस्कृति है। मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव की संस्कृति है। अनेक स्थानों पर 'गुरूसाक्षात्परब्रह्म' कहकर उसकी सर्वोपरिता को भी स्वीकार किया गया है। वस्तुस्थिति भी ऐसी ही है। माता-पिता बालक का पालन-पोषण करते हैं किन्तु उसे संस्कारवान बनाकर सुसभ्य नागरिक एवं आत्माभिमुखी बनाने का कार्य गुरू ही करते हैं। इस महान् उत्तरदायित्व के कारण ही गुरू को परमब्रह्म(परमात्मा) की उपमा दी है।

भारतीय परम्परा के इतिहास का अध्ययन करें तो ज्ञात होता है कि इस

देश की प्राचीन पद्धति के अनुसार जैसे ही बालक की बुद्धि का विकास प्रारम्भ हो, उसे योग्य गुरू को सौंप देने का विधान है। गुरूकुलवास में विद्यार्थी शिक्षापूर्ण न होने तक अपने गुरू के समीप रहता था। जहाँ अक्षराभ्यास, भाषाबोध, व्याकरण दर्शन आदि के अध्ययन के साथ-साथ सदाचरण, आन्तरिक निर्मलता, अतिथि सेवा, सहयोग, सहानुभूति, परदुःख कातरता और परोपकार की शिक्षा भी दी जाती थी। ज्ञानार्जन के साथ चारित्रपक्ष को खास तौर पर परिपक्व बनाया जाता था।

पूर्वकाल में राजपरिवार तथा श्रेष्ठीजन की सन्तानें भी गुरूकुलवास में रहकर अध्ययन करती थीं। वे संसार की असारता का बोध गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने के पूर्व ही कर लेते थे, ताकि गृहस्थ जीवन की यात्रा सुखद एवं शान्तिपूर्ण तरीके से सम्पन्न कर सकें।

ज्ञानार्जन एवं चारित्रविकास की दृष्टि से उपधानकाल को गुरूकुलवास की संज्ञा दी जा सकती है। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से गुरूकुल की अपेक्षा उपधान का महत्त्व सर्वाधिक है, क्योंकि उपधान काल में आत्मा के स्वाभाविकगुण सम्यक्ज्ञान, सम्यक्दर्शन, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप इन चारों की युगपद् साधना की जाती है जबकि गुरूकुलवास में प्रमुख रूप से ज्ञान एवं चारित्र ये दो पक्ष पुष्ट किये जाते हैं।

समीक्षात्मक पहलू से मनन करें तो पाते हैं कि गुरूकुलवास की भांति उपधानकाल में जो प्रशिक्षण एवं संस्कार दिए जाते हैं वे अन्यत्र असंभव हैं। क्योंकि उपधान तप की आराधना में आचार्य स्वयं आदर्श की साक्षात् प्रतिमूर्ति होते हैं तथा विनय-विवेक, नम्रता-धीरता, सरलता-सहजता के जीते जागते प्रतिबिम्ब होते हैं अतः शिष्य के हृदय में उनकी अमिट छाप स्वतः अंकित हो जाती है, शिष्य अनायास गुरूचिह्नों का अनुकरण करने लगता है और एक दिन गुरू का सर्वस्व बन जाता है। इस प्रकार गुरूकुलवास में जीवन संवरता है, मन सुधरता है, चैतसिक-वृत्तियों में परिवर्तन होने के साथ जीवन-यात्रा का लक्ष्य निश्चित हो जाता है। इससे सिद्ध है कि उपधान प्रत्येक व्यक्ति के लिए की जाने वाली अनिवार्य साधना है। इस साधना में प्रविष्ट हुआ व्यक्ति न केवल सूत्रार्जन ही करता है, अपितु संस्कार-धन का संग्रह करते हुए मानव से महामानव की भूमिका पर आरोहण कर लेता है।

समाहारतः भारतीय संस्कृति की लगभग सभी परम्पराओं में इसका अस्तित्व किसी न किसी रूप में अब भी मौजूद है, जिसे आज गुरूकुल, छात्रावास, बोर्डिंग आदि के रूप में जाना जाता है।

सन्दर्भ सूची

1. *उपधान का महत्व, ले. प्रवर्त्तिनी सज्जन श्री*
2. *आचारांगनिर्युक्ति, गा.-302, 1/9/1*
3. *आचारांगटीका, उद्धृत-सन्मार्ग, सन् 2003, अंक 13, पृ.93*
4. *स्थानांग, 1/2/1 की टीका,उद्धृत-वही, पृ.-92*
5. *भगवतीटीका, उद्धृत-वही, पृ.-92*
6. *दशाश्रुतस्कंधटीका, उद्धृत-वही, पृ.93*
7. *उपदधाति पुष्टिं नयति अनेनेत्युपधानं तपः यद् यत्राध्ययने।*
   व्यवहारभाष्य, 62 की टीका
8. *तीए दुग्गतीए पतंतमप्पाणं, जेण धारेति तं उवहाणं भन्नति।*
   निशीथसूत्र, अमरमुनि, गा.15 की चूर्णि
9. *उत्तराध्ययन, अ.-11 की वृत्ति, उद्धृत-सन्मार्ग, पृ.-83*
10. *विनयबहुमानाभ्यां चतुर्थभंगयोपदधातीति उपधानम्।*
    धर्मसंग्रह, पहला अधिकार, उद्धृत-वही पृ. 93
11. *प्रवचनसारोद्धार, छठवें द्वार की टीका, पृ.-169*
12. *उपधान आगमोचितं तपः कर्म। आचारदिनकर, पृ.-53*
13. *उपधीयते ज्ञानादि परीक्ष्यते अनेनेत्युपधानम्, अथवा चतुर्विधसंवरस-माधिरूपायां सुखशय्यायां उत्तमत्वेनेच्छीर्षकस्थाने उपधीयत इत्युपधानम्।*
    वही, पृ.-53
14. *वही, पृ.-53*
15. *उपधानं च श्रुताराधनार्थं यथोद्दिष्टस्तपो विशेषः-'उप-समीपे धीयते-क्रियते सूत्रादिकं येन तपसा तदुपधानमिति व्युत्पत्तेः'।*
    आचारप्रदीप, पृ.-17
16. *उपदेशप्रासादवृत्ति, पृ.-492*
17. *स्थानांगसूत्र, मधुकरमुनि, 5/2/124*
18. *'सन्मार्ग' पर आधारित, सन्-2004, अंक-19, पृ.-202-207*
19. *आचारप्रदीप, पृ.-17*

20. वही, पृ.-17
21. अट्ठण्हंपि एआणं गोअमा जे केइ अणुवहाणेणं सुपसत्थं नाणमहीअंति अज्झावयंति वा अहीअंते वा अज्झावयंते वा समणुजाणंति तेणं महापावकम्मा महती सुपसत्थनाणस्सासायणं पकुव्वंति। महानिशीथ, अ.3
22. आचारप्रदीप, पृ.-19
23. से भयवं सुदुक्करं पंचमंगल महासुयक्खंधस्स विणओवहाणं पण्णत्तं, महई अ एसा निअंतणा, कहं बालेहिं' किज्जइ ? गोयमा! जेणं केई न इच्छेज्जा एअं निअंतणं अविणयोवहाणेणं चेव पंचमंगलाइसुअनाणमऽहिज्झेइ वा अज्झावेइ वा अज्झावयमाणस्स वा अणुन्नं पावइ से णं न भविज्जा।
पिअधम्मे जाव गुरूं से णं आसाईज्ज, अईआणागयवट्टमाणे तित्थयरे आसाइज्जा, सुअनाणं आसाइज्जा, जाव अणंतसंसार- सागरमाहिंडमाणस्स जाव सुचिरं निअंतणा। महानिशीथ, अ.-3, पृ.-55
24. राईभोयणं च दुविहं-तिविहेण-चउविहेण वा जहासत्तीए पच्चक्खाविज्जइ। गोयमा! पणयालाए नमुक्कारसहिआणं चउत्थं, चोबीसाए पोरसीहिं बारसहिं पुरिमड्ढेहिं दसहिं अवड्ढेहिं, तिहिं निव्विइएहिं, चउहिं एगट्ठाण गेहिं, दोहिं आयंबिलेहिं, एगेणं सुद्धत्थायंबिलेहिं तओ अ जाव इअं तवोवहाणगं वीसमंतो करिज्जा ताव इअं अणुगणेऊण जाहे जाणिज्जा जहाणं इत्तिअमित्तेणं तवोवहाणेणं पंचमंगलस्स जोगी भूओ ताहे आउत्तो पढिज्जा न अण्णहत्ति।
महानिशीथ अ.-3, पृ.-55
25. वही, अ.-3, पृ.-55
26. से भयवं पभूअं कालाइक्कमं एअं जइ करिज्जइ अवंतराले पंचत्तमुवगच्छे तओ नमुक्कारविरहिए कह मुत्तिपहं साहिज्जा? गोअमा! जं समयं चेव सुत्तोवयारनिमित्तेणं असढभावत्ताए जहासत्तीए किंचि तवमारभिज्जा ते समयमेव तदहीअसुत्तोभयं दट्ठव्वं जओ णं सो तं पंचनमुक्कारं सुत्तत्थोभयं न अविहीए गिण्हे किंतु तहा गिण्हे जहा भवंतरेसु पि ण विप्पणस्सए अज्झवसायत्ताए आरागहो भविज्जा। वही, अ.-3, पृ.-56
27. से भयवं ! जेण उणं अन्नेसिमहीयमाणाणं सुआवरणखओवसमेण कन्नहाडित्तणेणं पंचमंगलमहीअं भविज्जा, से वि उ कि तवोवहाणं करिज्जा ? गोअमा ! करिज्जा ! से भयवं ! केण अट्ठेणं ?
गोअमा ! सुलभबोहिलाभ निमित्तेणं। एवं चेआइं अकुव्वमाणे नाणकुसीले णेइ इति। वही, अ.-3, पृ.-56

28. वही, अ.3, पृ.56
29. भो भो सुलद्धनियजम्म .....
नारयतिरियगईओ, तुज्झ अवस्सं निरूद्धाओ।
उपधानप्रकरण, मानदेवसूरि, गा. 45
30. नो बंधगो य सुंदर ! तुममित्तो अयस-नीयगोत्ताणं।
नयदुलहे तुह, जम्मंतरे वि एसो नमोक्कारो।।
उपधानप्रकरण, गा.-46
31. अन्नं च ..... कयावि जियलोए।
दास पेसा दुभगा, नीया विगलिंदिया चेव।।
वही गा. 51
32. उत्तमकुलंमि उक्किट्ठलट्ठसव्वंग सुदंरा पयडी।
सयलकलापत्तट्ठा, जणमणआणंदणा होउं ।।
वही गा.-51
33. वही, गा.-52
34. एवं कयउवहाणे, भवंतरे सुलभबोहिओ होज्जा।
एयज्झवसाणो वि हु, गोयम ! आराहगोभणिओ।।
वही, गा.-15
35. जो उ अकाऊणमिमं गोयम ! गिण्हिज्ज भत्तिमंतोवि।
सो मणुओ दट्ठव्वो, अगिण्हमाणेण सारिच्छो।।
वही, गा.-16
36. पढमं चिय कन्नाहेडएण, जं पंचमंगलमहीयं।
तस्स वि उवहाणपरस्स, सुलहिया बोहि निद्दिट्ठा।।
वही, गा.-18
37. कुछ आचार्य छठवां और सातवाँ-इन दो पदों की एक संपदा, आठवें पद की एक तथा नौवें पद की एक-इस प्रकार तीन संपदाएँ मानते हैं।
38. वाचना उपवास के दिन होती है।
39. विधिमार्गप्रपा, पृ.-9
40. वही, पृ.-10
41. वही, पृ.-9

42. वही, पृ.-9
43. वही, पृ.-10
44. वही, पृ.-9
45. वही, पृ.-9
46. वही, पृ.-9
47. (क) वही, पृ.-9 (ख)सप्तोपधानविधि, पृ.-19-20
48. (क) वही, पृ.-10 (ख) सप्तोपधानविधि, पृ.-20-21
49. सप्तोपधानविधि, पृ.-21
50. विधिमार्गप्रपा, पृ.-10
51. वही, पृ.-10
52. प्रव्रज्यायोगादिसंग्रह, पृ.-188-189
    काले विणए बहुमाणे, उवहाणे तहा अनिन्हवणे।
    वंजण अत्थ तदुभए, अट्ठविहो होई नाणमायारो।।
    (क) दशवैकालिकनिर्युक्ति, 3/88
    (ख) निशीथसूत्र, संपा.- अमरमुनि, 1/8
53. 'सन्मार्ग' पत्रिका पर आधारित, सन्-2003, जुलाई अंक
54. उपधानतपक्रियादिसंग्रह, संपा.-प्रभाकरसागरजी, पृ.-4
55. वही, पृ.-7
56. उपधानविधि तथा पोसहविधि, संपा.-कंचनविजयगणि, पृ.-24-25
57. वही, पृ.-24-25
58. उपधानविधान, पृ.-12
59. (क) वही, पृ.21-24
    (ख) उपधानविधि तथा पोसहविधि, पृ.-36
60. उपधानतपक्रियादिसंग्रह, पृ.-3
61. श्रुतार्थिनोपधानं यथाविधि विधेयम्। आचारप्रदीप, पृ-17
62. सन्मार्ग, सन् 2003, अंक-13
63. उद्धृत-सन्मार्ग, सन्-2003, अंक-13, पृ.93
64. पंचवस्तुक, गा.-589
65. आचाम्लादि योगविधान रूपस्योपधानस्यौपकरणौतिचारः ।

66. पंचमंगले पूर्वसेवायामुपवासः 5 ततो क्रमागतपदपइसरावणियं अंबिलं 8 उत्तरसेवायामुपवासः 3। सुबोधासामाचारी पृ.-5
67. उपधाननुं सुंदर स्वरूप, संपा.-पूर्णचन्द्रसागरजी, पृ.-38
68. विधिमार्गप्रपा, पृ.-9-10
69. आचारदिनकर, पृ.-53-58
70. महानिशीथ, अ.-3, पृ.-55
71. सन्मार्ग, सन्-2003, पृ.-94
72. उपधाननुं सुंदर स्वरूप, पृ.-42-43
73. नमस्कारे उववासपंचगाणंतरं पंचण्हं पयाणं एगा वायणा तओ अट्ठण्हमंबिलाणमुववासतिगस्स य अंते अंतिमचूलाए पयतिगस्स सोलट्ठनवक्खर परिमाणस्स बीया वायणा पढम उवहाणं।
सुबोधासामाचारी, पृ.-5
74. उपधाननुं सुंदर स्वरूप, पृ.-49
75. महानिशीथ, अ.-3, पृ.-42-43
76. सुबोधासामाचारी, पृ.-5
77. वही, पृ.-5
78. पणिहाणगाहातिगस्स तइया दिज्जइ वायणा। वही, पृ.-5
79. सिद्धत्थथुईए उवहाणं विणावि तिण्हं गाहाणं वायणा दिज्जइ न पुण चरमगाहाजुयलस्स। वही, पृ.-5
80. उपधाननुं सुंदर स्वरूप, पृ.-10
81. वसे गुरूकुले णिच्चं, जोगवं उवहाणवं।
पियंकरे पियंवाई, से सिक्खं लद्धुमरहई।।
उत्तराध्ययनसूत्र, 11/24
82. स्थानांगसूत्र, 3/476
83. चरणानुयोग, भा.-1, संपा.-मुनि कन्हैयालाल, पृ.-111
84. आचारांगनिर्युक्ति, गा.-283
85. उत्तराध्ययनसूत्र, 11/14
86. उपधाननुं सुंदर स्वरूप, पृ.-2-4
87. हीरप्रश्न, पृ.-52

88. आचारदिनकर, पृ.-58
89. महानिशीथ, अ.-3, पृ.-54
90. तओ जगगुरूणं जिणिंदाणं पूएकदेसाओ गंधट्ठाऽमिलाण- सियमल्लदामं गहाय सहत्थेणोभयखंधेसु मारोवयमाणेणं गुरूण एवं भाणिअव्वं।

वही पृ.-54

91. संपइ सुत्तमई रत्त-वत्थुच्छुया माला कीरइ।

विधिमार्गप्रपा पृ.-15

92. आचारदिनकर, पृ.-58 ठ
93. महानिशीथ, पृ.-53
94. सेनप्रश्न, पृ.-83, पृ.-25
95. 'सन्मार्ग' पर आधारित, अंक-19, पृ.-167
96. आचारांग, नवां अध्ययन
97. जहा सयंभू उदहीणसेट्ठे, णागेसु वा धरणिंद माहु सेट्ठं।
खोओदए वा रसवेजयंते, तवोवहाणे मुनि वेजयंते।।

सूत्रकृतांगसूत्र, अंगसुत्ताणि, 1/6/20

98. णव बंभचेरा पण्णत्ता, तं जहा-सत्थपरिण्णा लोगविजओ, सीओसणिज्जं सम्मत्तं आवंती धूतं विमोहो उवहाणसुयं, महापरिण्णा।

स्थानांग-अंगसुत्ताणि, 9/2

99. समवायांग-अंगसुत्ताणि, 9/3/1
100. विपाकसूत्र- अंगसुत्ताणि, 2/1/35
101. उत्तराध्ययनसूत्र, 11/14
102. महानिशीथ, 3/5-38
103. तिलकाचार्यसामाचारी, पृ.-11-13
104. सुबोधासामाचारी, पृ.-5-9
105. विधिमार्गप्रपा, पृ.-6-16
106. आचारदिनकर, पृ.-53-59
107. आचारप्रदीप, पृ.-17-19
108. उपदेशप्रासादवृत्ति, पृ.-492-502
109. हीरप्रश्न, पृ.-52

110. सेनप्रश्न, प्रश्नांक-28, 34, 81, 82, 83, 194, 297, 314, 315, 319, 321, 377, 417, 447, 458, 459, 482, 512, 527, 554, 555, 556, 685, 725, 766, 774, 776, 789, 948, 972,
111. महानिशीथ, 3/28
112. सुबोधासामाचारी, पृ.-8
113. विधिमार्गप्रपा, पृ.-10
114. आचारदिनकर, पृ.-58
115. महानिशीथ, 3/30-1
116. वही, 3/30-2
117. सुबोधासामाचारी, पृ.-9
118. विधिमार्गप्रपा, पृ.-16
119. आचारदिनकर, पृ.-59
120. से भयवं ! कयराए विहिए पंच मंगलस्स णं विणओवहाणं कायव्वं ? गोयमा ! इमाए बिहिए पचमंगलस्स णं विणओवहाणं कायव्वं, तं जहा-सुपसत्थे चेव तिहि करण-मुहुत्त- नक्खत्त-जोग-लग्ग-ससीबले विप्पमुक्कजायाइमयासंकेण संजाय-सद्धासंवेगसुतिव्वतर-महंतुल्ल संतसुहज्झवसायाणु गय भत्ती बहुमाणपुव्वं णिन्निआणदुवालसभत्तठिएणं चेइआलए जंतु विरहिओगासे जाव नवनवसंवेगसमुच्छलंत- संजाएबहलगण- निरंतर अचिंतपरमसुहपरिणाम-विसेसुल्लासिअ जाव दृढयरंत- करणेण जाव पंचमंगलमहासुयक्खंधस्स पंचज्झयणेग- चूला परिक्खित्तस्स परवरपवयणदेवयाहिट्ठिअस्स तिपद परिच्छिन्ने- गालावग सत्तक्खरपरिमाणं अणंतगमपज्जवत्थ पसाहगं सव्वमहामंतपवर-विज्जाणं परमबीअभूयं 'नमोअरिहंताणं' त्ति पढममज्झयण-महिज्झेअव्वं तद्दियहे य आयंबिलेणं पारेयव्वं। महानिशीथ, अ.3, पृ.-42
121. तहेव बीयदिणे जाव दुपदपरिच्छिन्नेगालावग पंचक्खर-परिमाणं 'नमो सिद्धाणं' त्ति बीअमज्झयणं आयंबिलेणं अहिज्झेअव्वं। वही, पृ.-42
122. एवं जाव पंचमज्झयणं पंचमदिणे आयंबिलेणं। वही, पृ.-42
123. तहेव जाव तिआलावगतित्तीसक्खरपरिमाणं 'एसोपंचनमुक्कारो', इत्यादि चूलं छट्ठसत्तट्ठमदिणे आयंबिलेहिं अहिज्झेअव्वं। वही, पृ.-43
124. जाव अट्ठमभत्तेणं समणुजाणविऊण जाइ अवधारेअव्वं इत्यादि।

वही, पृ.-43

125. तओ इरियावहिअं अहिज्झीए। से भयवं कयराए विहीए ? गोयमा ! जहाणं पंचमंगल महासुयक्खंध। वही, पृ.-53
126. एवं सक्कत्थयं एगट्ठमबत्तीसाए आयंबिलेहिं। वही, पृ.-53
127. अरहंतत्थयं एगेणं चउत्थेणं तिहिं आयंबिलेहिं च। वही, पृ. 53
128. चउवीसत्थयं एगेणं छट्ठेणं एगेणं चउत्थेणं पणवीसाएआयंबिलेहिं। वही, पृ.-53
129. नाणत्थयं एगेणं चउत्थेणं पंचहिं आयंबिलेहिं इत्यादि। वही, पृ.-53
130. सप्तोपधानविधि, पृ.-1-2
131. (क) विधिमार्गप्रपा, पृ.-6 (ख) सप्तोपधानविधि, पृ.-127.
(क) वही, पृ.-7 (ख) वही, पृ.-2
132. यह पाठ विधिमार्गप्रपा में नहीं है, किन्तु वर्तमान सामाचारी में बोला जाता है। विधिमार्गप्रपा, पृ.-7
133. विधिमार्गप्रपा, पृ.-7
134. सप्तोपधानविधि, पृ.-3
135. विधिमार्गप्रपा, पृ.-7
136. देववन्दनविधि अलग से कहेंगे।
137. प्रव्रज्यायोगादिसंग्रह, पृ.-175
138. विधिमार्गप्रपा आदि मध्यकालीन या इनसे पूर्ववर्ती ग्रन्थों में नन्दीश्रवणविधि नहीं कही गई है, किन्तु सप्तोपधान नामक कृति में इस विधि का उल्लेख है तथा वर्तमान में भी यह विधि प्रचलित है।
139. प्रव्रज्यायोगादिविधिसंग्रह, पृ.-175
140. (क) विधिमार्गप्रपा, पृ.-7
(ख) सप्तोपधानविधि, पृ.-8
141. (क) वही, पृ.-7
(ख) वही, पृ.-8-9
142. प्रव्रज्यायोगादिविधिसंग्रह, पृ.-177
143. (क) विधिमार्गप्रपा, पृ.7 (ख) सप्तोपधानविधि, पृ.9
144. प्रव्रज्यायोगादिविधिसंग्रह, पृ.177

145. सप्तोपधानविधि, पृ. 9
146. प्रव्रज्यायोगादिविधिसंग्रह, पृ.174
147. वही, पृ.-177
148. सप्तोपधानविधि, पृ.-12-14
149. वही, पृ.-15
150. (क) विधिमार्गप्रपा, पृ.-8 (ख) सप्तोपधानविधि, पृ.-15-16
151. प्रव्रज्यायोगादिविधिसंग्रह, पृ.-181-82
152. (क)सप्तोपधानविधि, पृ.-5 (ख) प्रव्रज्यादिसंग्रह, पृ.-182
153. (क) विधिमार्गप्रपा, पृ.-8 (ख) वही, पृ.-182
154. सप्तोपधानविधि, पृ.-29
155. प्रव्रज्यायोगादिविधिसंग्रह, पृ.-190
156. उपधानतपक्रियादिसंग्रह, पृ.-6
157. उपधानविधि तथा पोसहविधि, पृ.-18
158. (क) उपधानतपक्रियादिसंग्रह,पृ.-5
    (ख) प्रव्रज्यायोगादिविधिसंग्रह, पृ.-190
159. (क) सप्तोपधानविधि, पृ.-37
    (ख) प्रव्रज्यायोगादिसंग्रह, पृ.-190-191
160. यह विधिमार्गप्रपा के अनुसार उल्लिखित है।
161. विधिमार्गप्रपा में 'उक्खेव' शब्द का प्रयोग है। प्रचलित परम्परा के अनुसार 'निक्खेव' शब्द का प्रयोग किया जाता है। सप्तोपधानविधि में 'निक्खेव'शब्द व्यवहृत हुआ है। उक्खेव एवं निक्खेव-दोनों शब्द अर्थ की दृष्टि से समान हैं।
162. (क) विधिमार्गप्रपा, पृ.-9 (ख) सप्तोपधानविधि, पृ.-28
163. सप्तोपधानविधि, पृ.-22-23
164. विधिमार्गप्रपा में इस स्थान पर सात प्रदक्षिणा लगाने का निर्देश है, जिसका तात्पर्य-प्रत्येक उपधान की पृथक्-पृथक् अनुज्ञा प्राप्त करना है। इसमें यह उल्लिखित है कि 'अणुजाणह' से लेकर यहाँ तक की सभी खमासमण विधियाँ पृथक्-पृथक् उपधान की अपेक्षा उन-उन सूत्रों का नाम लेकर, सात-सात बार करनी चाहिए तथा सात प्रदक्षिणा में सात गंधमुट्ठियाँ डालना चाहिए। इसमें यह भी निर्दिष्ट किया है कि कुछ परम्पराओं में अक्षतदान के अनन्तर एक साथ ही सात गंधमुट्ठियाँ दे देते हैं।

165. *विधिमार्गप्रपा, पृ.-10-11*
166. *विधिमार्गप्रपा में अन्य मतानुसार चार प्रदक्षिणा का सूचन किया है।*
167. *प्रव्रज्यायोगादिसंग्रह, पृ.-200-205*
168. *तिलकाचार्यसामाचारी, पृ.-14*
169. *सुबोधासामाचारी, पृ.-9*
170. *विधिमार्गप्रपा, पृ.-16*
171. *आचारदिनकर, पृ.-60*
172. *तिलकाचार्यसामाचारी, पृ.-14*
173. *सुबोधासामाचारी, पृ.-8*
174. *विधिमार्गप्रपा, पृ.-11*
175. *आचारदिनकर, पृ.-59*
176. *महानिशीथसूत्र, पृ.-54*
177. *सुबोधासामाचारी, पृ.-8*
178. *आचारदिनकर, पृ.-59*
179. *विधिमार्गप्रपा, पृ.-12*
180. *तिलकाचार्यसामाचारी, पृ.-14*
181. *सुबोधासामाचारी, पृ.-9*
182. *विधिमार्गप्रपा, पृ.-12-14*
183. *आचारदिनकर, पृ.-59*
184. *महानिशीथसूत्र, 3/30 पृ.-54*
185. *तिलकाचार्यसामाचारी, पृ.-14*
186. *सुबोधासामाचारी, पृ.-9*
187. *विधिमार्गप्रपा, पृ.-16*
188. *आचारदिनकर, पृ.-60*
189. *सप्तोपधानविधि, पृ.-25*

अध्याय - 7

उपासकप्रतिमाराधना विधि का शास्त्रीय विश्लेषण

इस विश्व में तीन संस्कृतियाँ विख्यात रही है- 1. यूनानी 2. भारतीय और 3. चीनी।

यूनानी संस्कृति में समाज की प्रधानता है। भारतीय संस्कृति में व्यक्ति की प्रधानता और चीनी संस्कृति में परिवार की प्रधानता है। यदि वैश्विक संस्कृति का निर्माण करना हो, तो तीनों ही संस्कृतियों की मौलिक विचारधाराओं का सम्मिश्रण अपेक्षित है। यद्यपि भारतीय संस्कृति में अनेक संस्कृतियों का समावेश हो जाता है, तथापि विश्व संस्कृति के सन्दर्भ में यह बात स्पष्ट है कि वह व्यक्ति प्रधान है। भारत की श्रमण संस्कृति निर्विवाद रूप से यह मानती है कि व्यक्ति स्वयं ही अपने भाग्य का निर्माता है, अपने सुख और दु:ख का कारण वह स्वयं है, वही स्वयं का शत्रु और मित्र है, इसीलिए भारतीय संस्कृति में व्यक्ति प्रधान साधना पद्धतियाँ विकसित हुईं। इसी के साथ जैन और बौद्ध परम्पराओं में संघीय साधना पद्धति का विकास भी हुआ।

जैन धर्म की साधना पद्धति दो भागों में वर्गीकृत है- 1. श्रावकधर्म और 2. श्रमणधर्म। ये दोनों ही साधनाएँ व्यक्तिपरक मानी गईं हैं, किन्तु समाज या संघ की उपेक्षा भी नहीं करती हैं। यह सत्य भी है कि व्यक्ति के धार्मिक और आध्यात्मिक-उत्कर्ष पर ही समाज और संघ का उत्कर्ष आधारित है। जैन धर्म में वैयक्तिक योग्यता को ध्यान में रखते हुए श्रावक धर्म की साधना-पद्धति को तीन भागों में विभाजित किया गया है- 1. श्रद्धावान् श्रावक 2. व्रती श्रावक और 3. प्रतिमाधारी श्रावक।

ये तीनों क्रमश: व्यक्तिप्रधान साधना पद्धति के उत्तरोत्तर विकसित रूप हैं। जैन गृहस्थ के लिए यह अनिवार्य शर्त है कि वह सर्वप्रथम सम्यक्त्व के गुणों से सम्पन्न हो। वही गृहस्थ व्रतधारी और प्रतिमा पालन करने का अधिकारी बन सकता है। जैन विचारणा में प्रतिमाधारी श्रावक को उत्कृष्ट कोटि का स्थान दिया गया है।

उपासकप्रतिमा का अर्थ गांभीर्य

प्रतिमा का सामान्य अर्थ है-प्रतिपत्ति, प्रतिमान अथवा अभिग्रह। परम्परागत मान्यतानुसार प्रतिमा का एक अर्थ प्रतिज्ञाविशेष, व्रतविशेष,[1] नियमविशेष, तपविशेष और अभिग्रहविशेष भी है। अभिधानराजेन्द्रकोश में 'प्रतिमा' शब्द के निम्न अर्थ किए गए हैं-सद्भाव स्थापना, बिंब, प्रतिबिंब, जिनप्रतिमा और प्रतिज्ञा।[2] यहाँ इसका प्रतिज्ञा अर्थ अभीष्ट है। यहाँ मुनियों की उपासना (सेवा) करने वाला गृहस्थ उपासक कहलाता है और अभिग्रह विशेष को प्रतिमा कहते हैं। इस तरह उपासक द्वारा अभिग्रहीत नियम विशेष उपासकप्रतिमा है। गृहस्थ साधना का एक विशिष्ट प्रयोग करना भी उपासकप्रतिमा कहलाता है।

यह उल्लेखनीय है कि जैन-ग्रन्थों में उपासक प्रतिमा के नाम से ही यह वर्णन प्राप्त होता है तथा प्रतिमाधारी गृहस्थ श्रमण की भाँति ही विशेष व्रतों का पालन करता है।

प्रतिमाओं के विभिन्न प्रकार

जैनागमों में मूलत: प्रतिमा के पाँच प्रकार निर्दिष्ट है- 1. समाधि प्रतिमा 2. उपधान प्रतिमा 3. विवेक प्रतिमा 4. प्रतिसंलीनता प्रतिमा और 5. एकलविहार प्रतिमा।[3]

1. **समाधि प्रतिमा-** श्रुत-स्वाध्याय का विशेष संकल्प तथा समता का विशेष अभ्यास करना समाधि प्रतिमा है । समाधिप्रतिमा दो प्रकार की बतलाई गई हैं-1. श्रुतसमाधि प्रतिमा 2. चारित्रसमाधि प्रतिमा। श्रुत समाधि प्रतिमा के छासठ भेद इस प्रकार हैं[4]-

आचारांगसूत्र में निम्नोक्त पाँच प्रतिमाओं का उल्लेख है [5]-

1. मैं दूसरे भिक्षुओं को अशन, पान, खादिम, स्वादिम लाकर दूंगा और उनके द्वारा लाया हुआ स्वीकार करूंगा।
2. मैं दूसरे भिक्षुओं को अशन आदि लाकर दूंगा, किन्तु उनके द्वारा लाया हुआ स्वीकार नहीं करूंगा।
3. मैं दूसरे भिक्षुओं को अशन आदि लाकर नहीं दूंगा, किन्तु उनके द्वारा लाया हुआ स्वीकार करूंगा।

4. मैं दूसरे भिक्षुओं को अशन आदि न लाकर दूंगा और न ही उनके द्वारा लाया हुआ स्वीकार करूंगा।
5. मैं अपनी आवश्यकता से अधिक, अपनी आचार-मर्यादा के अनुसार ग्रहणीय तथा स्वयं के लिए लाए हुए आहार आदि के द्वारा निर्जरा के उद्देश्य से उन साधर्मिकों की सेवा करूंगा अथवा आचारांग के छठवें धूताध्ययन के पाँच धूत, पाँच प्रतिमा के रूप में निर्दिष्ट किए जा सकते हैं-निजकधूत, कर्मधूत, शरीर उपकरणधूत, गौरवधूत और उपसर्गधूत।

• आचारचूला में सैंतीस प्रतिमाएँ प्रज्ञप्त हैं-

चार संस्तारकप्रतिमा, चार वस्त्रप्रतिमा, चार पात्रप्रतिमा, सात अवग्रहप्रतिमा, चार स्थानप्रतिमा।

• स्थानांगसूत्र में सोलह प्रतिमाएँ, चार-चार के भेद से निर्दिष्ट हैं-

1. समाधिप्रतिमा 2. उपधानप्रतिमा 3. विवेकप्रतिमा 4. व्युत्सर्गप्रतिमा।

1. भद्रा 2. सुभद्रा 3. महाभद्रा 4. सर्वतोभद्रा।

1. क्षुल्लकप्रश्रवण 2. महत्प्रश्रवण 3. यवमध्या 4. वज्रमध्या।

1. शय्याप्रतिमा 2. वस्त्रप्रतिमा 3. पात्रप्रतिमा 4. स्थानप्रतिमा।

• व्यवहारसूत्र में दत्ति तप की चार प्रतिमाएँ कही गई हैं-

1. सप्तसप्तमिका 2. अष्टअष्टमिका 3. नवनवमिका 4. दसदसमिका।

• दो मोक-प्रतिमा- 1. क्षुल्लकमोकप्रतिमा 2. महत्मोकप्रतिमा।

• दो चन्द्र-प्रतिमा-1. यवमध्या 2. वज्रमध्या।

यद्यपि ये चारित्र प्रतिमाएँ हैं, किन्तु विशिष्ट श्रुतवान् मुनि के होती हैं, इसलिए इन्हें श्रुतप्रतिमा कहा गया है।

चारित्रसमाधि प्रतिमा पाँच प्रकार की कही गई है- 1. सामायिक 2. छेदोपस्थापनीय 3. परिहारविशुद्धि 4. सूक्ष्मसंपराय और 5. यथाख्यातचारित्र।

इस प्रकार समाधिप्रतिमा कुल 5+37+16+4+2+2=66+5=71 प्रकार की होती है।

2. उपधान प्रतिमा- तप का विशेष प्रयोग करना, जैसे मुनि की तप संबंधी बारह प्रतिमाएँ तथा उपासक की ग्यारह प्रतिमाएँ उपधान प्रतिमा है।

3. विवेक प्रतिमा- क्रोध आदि न करने का विवेक रखना विवेक प्रतिमा है। इस प्रतिमा के अभ्यासकाल में जड़ और चेतन की भिन्नता का अनुचिंतन

किया जाता है। क्रोध, मान, माया, कर्म और संसार का पृथक्करण करना आभ्यंतर विवेक है तथा गण, शरीर और अनैषणीय आहार का विवेक रखना बाह्य विवेक है।

4. प्रतिसंलीनता प्रतिमा- आत्म अध्यवसायों को अन्तर्मुखी बनाने का अभ्यास करना प्रतिसंलीनता प्रतिमा है।

5. एकलविहार प्रतिमा- साधना का विशेष प्रयोग करना जैसे-एकाकी विहार करना आदि एकलविहार प्रतिमा है ।

समाधिप्रतिमा 71, उपधानप्रतिमा 12 + 11 = 23, विवेकप्रतिमा 1, प्रतिसंलीनता प्रतिमा 1, एकलविहार प्रतिमा 1 इस प्रकार कुल 96 प्रतिमाएँ होती है।

आत्म साधना के जितने संकल्पबद्ध विशिष्ट प्रयोग हैं, वे सब प्रतिमा की कोटि में गिने जा सकते हैं। जिनकल्प, यथालंद आदि भी साधना के विशिष्ट उपक्रम हैं, किन्तु यहाँ उनकी गणना नहीं की गई है। ये सब विवक्षा सापेक्ष हैं।

उपासक प्रतिमाएँ एक अनुचिन्तन

जैन धर्म की श्वेताम्बर और दिगम्बर-दोनों ही परम्पराएँ श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ स्वीकार करती हैं। श्वेताम्बर परम्परा के समवायांगसूत्र[6], दशाश्रुतस्कंधसूत्र[7] आदि आगमों में एवं दिगम्बर-परम्परा के कषायपाहुड की जयधवलाटीका,[8] रत्नकरण्डकश्रावकाचार[9] आदि में श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का सम्यक् प्रतिपादन किया गया है। यद्यपि इनमें नाम, क्रम एवं स्वरूप की अपेक्षा किंचिद् मतभेद इस प्रकार है-

श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराओं में नाम-विषयक मतभेद

इन ग्यारह प्रतिमाओं के नामों में मुख्य अन्तर प्रेष्यपरित्याग, अनुमतित्याग एवं श्रमणभूतप्रतिमा को लेकर है। श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार नौवीं प्रतिमा का नाम प्रेष्यपरित्याग है, दसवीं प्रतिमा का नाम उद्दिष्टत्याग और ग्यारहवीं का नाम श्रमणभूतप्रतिमा है,[10] जबकि दिगम्बर-परम्परा में 'प्रेष्यपरित्याग' नाम की कोई प्रतिमा नहीं है, इसके स्थान पर 'परिग्रहत्याग' नामक प्रतिमा है। दिगम्बर-परम्परा में दसवीं 'अनुमतित्याग' प्रतिमा है, जबकि श्वेताम्बर-परम्परा में इस नाम वाली कोई प्रतिमा नहीं है, वहाँ 'उद्दिष्टाहारत्याग' को दसवीं प्रतिमा माना गया है। दिगम्बर-परम्परा में ग्यारहवीं 'उद्दिष्टत्याग' प्रतिमा है, जबकि

श्वेताम्बर-परम्परा में ग्यारहवीं 'श्रमणभूत' प्रतिमा है।

सुस्पष्ट है कि उक्त दोनों परम्पराओं में प्रेष्यपरित्याग, अनुमतित्याग और श्रमणभूत-इन तीन प्रतिमाओं के नामों को लेकर ही मुख्य अन्तर है, शेष नाम एक समान हैं।

श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराओं में क्रम-विषयक मतभेद

श्वेताम्बर-परम्परा में उपासक प्रतिमा के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं- 1. दर्शन 2. व्रत 3. सामायिक 4. पौषध 5. नियम 6. ब्रह्मचर्य 7. सचित्तत्याग 8. आरम्भत्याग 9. प्रेष्यपरित्याग 10. उद्दिष्ट भक्तत्याग और 11. श्रमणभूत।

दिगम्बर परम्परा में ग्यारह प्रतिमाओं के नाम एवं क्रम इस प्रकार है- 1. दर्शन 2. व्रत 3. सामायिक 4. पौषध 5. सचित्तत्याग 6. रात्रिभुक्तित्याग 7. ब्रह्मचर्य 8. आरम्भत्याग 9. परिग्रहत्याग 10. अनुमतित्याग और 11. उद्दिष्टत्याग।

श्वेताम्बर और दिगम्बर-इन दोनों की नाम सूचियों के आधार पर देखें, तो प्रारम्भ के चार नामों एवं उनके क्रम में साम्य है, शेष प्रतिमाओं के नाम क्रम को लेकर विचार करें, तो श्वेताम्बर परम्परा में सचित्त त्याग का स्थान सातवाँ है, जबकि दिगम्बराम्नाय में उसका स्थान पाँचवां है। श्वेताम्बराम्नाय में ब्रह्मचर्य को छठवां स्थान प्राप्त है, जबकि दिगम्बर आम्नाय में ब्रह्मचर्य का स्थान सातवाँ है। श्वेताम्बर परम्परा में परिग्रहत्याग नाम की स्वतन्त्र प्रतिमा नहीं है, जबकि वह दिगम्बर-परम्परा में नवें स्थान पर है।

श्वेताम्बर परम्परा में उद्दिष्टत्याग प्रतिमा में ही अनुमतित्याग प्रतिमा को समाविष्ट किया गया है, किन्तु दिगम्बर ग्रन्थों में इसे स्वतंत्र प्रतिमा स्वीकार कर दसवें स्थान पर रखा गया है, क्योंकि इस प्रतिमा में श्रावक उद्दिष्टभक्त ग्रहण न करने के साथ-साथ अन्य आरम्भ का भी समर्थन नहीं करता है। श्वेताम्बर-परम्परा में मान्य ग्यारहवीं श्रमणभूतप्रतिमा को दिगम्बर-परम्परा में उद्दिष्टत्यागप्रतिमा कहा गया है, क्योंकि इसमें श्रावक का आचार श्रमण के सदृश होता है। तत्त्वतः श्रमणभूत और उद्दिष्टत्याग-दोनों प्रतिमाएँ समानार्थक ही हैं।

इसके सिवाय उपासक प्रतिमाओं के क्रम एवं संख्या के सम्बन्ध में कुछ दिगम्बर आचार्यों में भी मतभेद हैं। स्वामी कार्तिकेय ने इनकी संख्या बारह

मानी है। उन्होंने दर्शनप्रतिमा के सम्यग्दर्शन और दार्शनिकश्रावक-इस प्रकार दो भेद करके बारह भेद स्वीकार किए हैं।[11] इसी प्रकार आचार्य सोमदेव ने दिवामैथुनविरति के स्थान पर रात्रिभोजनविरति प्रतिमा का विधान किया है।[12]

श्वेताम्बर एवं दिगम्बर आम्नायों में अन्य मतभेद

इन दोनों परम्पराओं में एक महत्वपूर्ण अन्तर यह भी अवगत होता है कि श्वेताम्बर-परम्परा के अनुसार इन प्रतिमाओं के पालन के पश्चात् पुन: पूर्वावस्था(गृहस्थावस्था) में लौटा जा सकता है, लेकिन दिगम्बर परम्परा में प्रतिमा धारण की प्रतिज्ञा आजीवन के लिए होती है और साधक पुन: पूर्वावस्था की ओर नहीं लौट सकता। संभवत: यही कारण है कि दिगम्बर परम्परा में परिग्रहत्यागप्रतिमा को स्वतन्त्र स्थान दिया गया है। वहीं श्वेताम्बर परम्परा में उसे पृथक् स्थान नहीं दिया है, क्योंकि यदि साधक पुन: गृहस्थावस्था में लौटता है, तो उसको परिग्रह की आवश्यकता रहती है, अत: साधक मात्र आरम्भ का त्याग करता है, परिग्रह का नहीं।

उक्त दोनों परम्पराओं में दूसरा मतभेद समय की अवधि को लेकर है। श्वेताम्बर परम्परा में प्रतिमा के परिपालन का न्यूनतम एवं अधिकतम समय निश्चित कर दिया गया है। इस परम्परा में अधिकतम समय की अपेक्षा पहली प्रतिमा का काल एक मास का बताया गया है। दूसरी प्रतिमा का दो मास, तीसरी का तीन मास, चौथी का चार मास, पाँचवी का पाँच मास, छठवीं का छ: मास, सातवीं का सात मास, आठवीं का आठ मास, नौवीं का नौ मास, दसवीं का दस मास और ग्यारहवीं का ग्यारह मास कहा गया है। जघन्य समय की अपेक्षा इन प्रतिमाओं का काल एक दिन, दो दिन, तीन दिन आदि है।[13] इस आधार पर निश्चित होता है कि ग्यारह प्रतिमाओं का उत्कृष्ट कालमान पांच वर्ष और छ: महीना है।

दिगम्बर परम्परा में समय मर्यादा का कोई विधान नहीं है। वहाँ इन प्रतिमाओं को आजीवन के लिए ग्रहण किया जाता है। इस परम्परा में प्रतिमाधारी श्रावक उत्तर-उत्तर की प्रतिमाएं स्वीकार करने से पहले अपने सामर्थ्य के आधार पर यह निश्चित करता है कि-'मैं आगे की प्रतिमा को धारण करने में पूर्ण समर्थ हूँ।' तब ही वह अगली प्रतिमा स्वीकार करता है। सामान्यत: जीवन की सांध्यावेला में या तो वह श्रमण बन जाता है अथवा समाधिमरण

स्वीकार कर आयु पूर्ण करता है।

प्रस्तुत विषय पर गहराई से विचार करें, तो यह पक्ष भी स्पष्टत: ज्ञात होता है कि श्वेताम्बर आगम उपासकदशांगसूत्र के मूलपाठ में समय-मर्यादा का कोई विधान नहीं है, किन्तु दशाश्रुतस्कन्धसूत्र और उपासकदशासूत्र की टीकाओं में एवं उससे परवर्ती अन्य ग्रन्थों में समय का निर्धारण किया गया है।

डॉ. सागरमल जैन के मतानुसार श्वेताम्बर परम्परा में इन विकासात्मक भूमिकाओं को मात्र तपविशेष मान लिया गया है, जबकि ये गृहस्थ धर्म के निम्नतम रूप से लेकर संन्यास के उच्चतम आदर्श तक पहुँचने में मध्यावधि विकास की अवस्थाएँ हैं, जिन पर साधक अपने बलाबल का विचार करके आगे बढ़ता है। ये भूमिकाएँ यही बताती हैं कि जो साधक निवृत्तिपरक संन्यासमार्ग को ग्रहण नहीं कर सकता, वह गृही जीवन में रहकर भी उस आदर्श की ओर क्रमश: कैसे आगे बढ़े? अत: यह मानना होगा कि इन प्रतिमाओं के पीछे दिगम्बर सम्प्रदाय का जो दृष्टिकोण या उद्देश्य हैं, वह आत्ममूलक एवं वैज्ञानिक है।[14]

श्वेताम्बर परम्परा में आनन्द आदि श्रावकों द्वारा प्रतिमाओं को धारण करने के जो उल्लेख मिलते हैं, वे भी यह बताते हैं कि आनन्द आदि श्रावक विकास की उच्चतर अवस्थाओं तक बढ़ते गए तथा पुन: वापस नहीं लौटे। इससे और भी स्पष्ट हो जाता है कि ये प्रतिमाएँ श्रावक जीवन से श्रमण जीवन तक उत्तरोत्तर विकास की भूमिकाएँ हैं।

व्यवहारत: ग्यारह प्रतिमाएँ श्रावक की ग्यारह श्रेणियाँ हैं, जिनमें एक के पश्चात् दूसरी श्रेणी पर श्रावक स्वयं को स्थिर करता हुआ आत्मिक उत्थान के सोपान पर क्रमश: बढ़ता चला जाता है।

ग्यारह प्रतिमाओं का स्वरूप

श्वेताम्बर एवं दिगम्बर-दोनों परम्पराओं में ग्यारह प्रतिमाओं का विवरण इस प्रकार उपलब्ध होता है-

1. दर्शन प्रतिमा- दर्शन का सामान्य अर्थ दृष्टि है। आध्यात्मिक विकास के लिए व्यक्ति में सम्यग्दृष्टि होना आवश्यक है। दर्शन प्रतिमा का अर्थ है- वीतरागीदेव, पंचमहाव्रतधारी गुरू और जिन धर्म पर यथार्थ श्रद्धा स्थापित करना। उपासकदशांग की अभयदेवसूरिकृत टीका में बतलाया गया है कि

श्रावक द्वारा शंका आदि शल्य से रहित होकर सम्यग्दर्शन का पूर्णतः पालन करना दर्शनप्रतिमा है।

दशाश्रुतस्कन्ध के अनुसार दर्शनप्रतिमाधारी गृहस्थ धर्म रूचिवाला होता है, परन्तु शीलव्रत, गुणव्रत, प्राणातिपात आदि-विरमणव्रत और प्रत्याख्यान आदि को सम्यक् प्रकार से धारण नहीं करता है। इस प्रतिमा में वह केवल श्रद्धा रखता है।[15]

यहाँ यह ध्यातव्य है कि इस प्रतिमा की आराधना अविरत सम्यगदृष्टि भी कर सकता है। दूसरे, जो सामान्य रूप से सम्यग्दर्शनी है और जो प्रतिमाधारी सम्यग्दर्शनी है, इन दोनों में अन्तर है। सामान्य सम्यक्त्वी राजाभियोग आदि कुछ अपवादों को छोड़कर सम्यक्त्व व्रत स्वीकार करता है, जबकि दर्शन प्रतिमाधारी बिना किसी छूट(अपवाद) के यह नियम स्वीकार करता है। वह केवल निर्ग्रन्थ प्रवचन को ही यथार्थ मानता है।

दिगम्बर-परम्परा में मान्य उपासकाध्ययन[16], वसुनन्दि श्रावकाचार[17], प्रश्नोत्तरश्रावकाचार,[18] आदि के अनुसार जो आठ मूलगुणों का पालन करता है, सप्तव्यसनों का त्यागी है, वह दार्शनिक श्रावक है।

सारांश है कि इस प्रतिमा में व्यक्ति आगम-वचनों पर दृढ़ श्रद्धा रखता है और सम्यग्दर्शन को विशुद्ध रूप से धारण करता है।

2. व्रत प्रतिमा- व्रत का अर्थ है-विरति। दशाश्रुतस्कन्ध में कहा गया है कि श्रावक द्वारा शीलव्रत, गुणव्रत, प्रत्याख्यान और पौषध का सम्यक परिपालन करना किन्तु सामायिक और देशावगासिकव्रत का सम्यक् प्रतिपालन नहीं करना व्रत-प्रतिमा है।[19] व्रत प्रतिमा ग्रहण करने वाला श्रावक पाँच अणुव्रतों का निरतिचार पालन करता है, उनमें किसी भी प्रकार का दोष नहीं लगने देता है। वह तीनों शल्यों से मुक्त रहता हुआ शीलव्रत, गुणव्रत, प्रत्याख्यान आदि का भी अभ्यास करता है। बारह व्रतों में आठवें व्रत तक तो वह नियमित रूप से पालन करता है, परन्तु सामायिक, देशावगासिक आदि व्रतों की आराधना परिस्थिति के कारण यदि नियमित रूप से नहीं भी कर सके, तो भी यथासंभव शिक्षाव्रतों का पालन अवश्य ही करता है।

इससे सिद्ध है कि सामान्य श्रावक अणुव्रत और गुणव्रत को धारण करता भी है और नहीं भी करता है, जबकि व्रत-प्रतिमा में अणुव्रत और गुणव्रत

धारण करना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। दूसरे, इन व्रतों का पालन भी निर्दोष रूप से किया जाता है, क्योंकि जब व्यक्ति की दृष्टि सम्यक् या शुद्ध हो जाती है, उस समय वह चारित्र के विकास में भी आगे बढ़ने की आकांक्षा करने लगता है और इसी में वह अपनी शक्ति-अनुसार पाँच अणुव्रतों, तीन गुणव्रतों, सामायिक एवं देशावगासिक को छोड़कर शेष शिक्षाव्रतों का अतिचार रहित पालन करता है।

3. सामायिक प्रतिमा- सामायिक का अर्थ समभाव की प्राप्ति है। इस प्रतिमा को स्वीकार करने के साथ ही समत्व की साधना का अभ्यास प्रारम्भ हो जाता है। दशाश्रुतस्कन्ध के मतानुसार जिस प्रतिमा में साधक अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या, पूर्णिमा आदि तिथियों में परिपूर्ण पौषधोपवास तो नहीं कर पाता किन्तु सामायिक व्रत एवं देशावगासिकव्रत का सम्यक् परिपालन करता है, वह सामायिक-प्रतिमा है।[20]

दिगम्बर परम्परानुसार सामायिक-प्रतिमा में तीनों सन्ध्याओं में सामायिक करना आवश्यक माना गया है। इनमें सामायिक का उत्कृष्ट-काल छः घड़ी का कहा है। एक बार में दो घड़ी की सामायिक करने पर तीन बार में छः घड़ी की अवधि सहज रूप से पूर्ण हो जाती है। आचार्य समन्तभद्र का अभिमत है कि इस प्रतिमा में 'यथाजात' सामायिक होती है।[21] यहाँ यथाजात से तात्पर्य है-नग्न होकर सामायिक करना। इस परम्परा में यथाजात सामायिक का तात्पर्य यह हो सकता है कि दिन में तीन बार दो-दो घड़ी तक नग्न रहने पर वह आगे चलकर दिगम्बर श्रमण बन सकता है, लेकिन श्वेताम्बर-परम्परा में इस प्रकार का कोई विधान नहीं है।

इस प्रकार सामायिक प्रतिमा में व्यक्ति सम्यक्त्व एवं व्रतों के साथ-साथ सामायिकव्रत की विशेष आराधना करता है। अपनी दैनिक क्रियाओं में आध्यात्मिक चिन्तन के लिए भी कुछ समय देता है तथा इस साधना के प्रयास से अभ्यासित होकर आत्मोन्नति के पथ पर अग्रसर होता चला जाता है।

4. पौषध प्रतिमा- पौषध का अर्थ है- आत्मभावों को पुष्ट करना। इस प्रतिमा को धारण करने वाला श्रावक प्रमुख रूप से पौषधव्रत की साधना करता है।

दशाश्रुतस्कन्ध में कहा गया है कि प्रथम की तीन प्रतिमाओं के साथ

अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्वतिथियों पर प्रतिपूर्ण पौषधव्रत की आराधना करना पौषधप्रतिमा है।[22] उपासकदशांगसूत्र टीका में भी यही उल्लेख है कि उक्त तीनों प्रतिमाओं के पालन के साथ अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा, आदि पर्वतिथियों में प्रतिपूर्ण पौषध करना पौषध-प्रतिमा है।[23]

यदि हम व्रत की दृष्टि से देखें, तो पौषध ग्यारहवाँ व्रत है और प्रतिमा की दृष्टि से समझें, तो वह चौथी प्रतिमा है। सामान्य में देशत: पौषध भी कर सकते हैं, परन्तु प्रतिमा में प्रतिपूर्ण पौषध करने का विधान है। सामान्य पौषधव्रत में कोई भी दोष लग सकता है, परन्तु प्रतिमाधारी के द्वारा गृहीत पौषध में दोष की सम्भावनाएँ नहीं होती है।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार पौषधव्रत में सोलह, बारह या आठ प्रहर तक उपवास करने का कोई प्रतिबन्ध नहीं है। उस समय वह आचाम्ल, निर्विकृति आदि के द्वारा भी पौषध की साधना कर सकता है।[24] उसमें कुछ अपवाद भी होते हैं, किन्तु प्रतिमा में किसी भी प्रकार के अपवाद को स्थान नहीं दिया गया है। प्रतिमा निरतिचार होती है। यदि शरीर स्वस्थ है, तो प्रतिमाधारी श्रावक सोलह प्रहर का पौषधोपवास करता है। यदि शरीर अस्वस्थ हो, तो बारह या आठ प्रहर का भी पौषध किया जा सकता है। पौषधोपवास के दिन प्रतिमाधारी गृहस्थ श्रमण के समान आरम्भ आदि का परित्याग कर धर्मध्यान करता है।

इस प्रकार पौषधप्रतिमा धारण करने वाला श्रावक पर्व-दिनों में उपवास एवं पौषधव्रत की आराधना करके अपना आध्यात्मिक विकास उत्तरोत्तर आगे बढ़ाता है। यह साधना एकान्त स्थान, चैत्यालय या उपाश्रय में की जाती है।

5. नियम प्रतिमा- नियम का अर्थ प्रतिज्ञा धारण करना है। श्वेताम्बर मतानुसार विविध नियमों को धारण करना नियम प्रतिमा है। दशाश्रुत- स्कन्ध में यह बतलाया गया है कि यह प्रतिमा ग्रहण करने वाला साधक प्रमुख रूप से पाँच नियम स्वीकार करता है-1. स्नान नहीं करना 2. रात्रि में चतुर्विध-आहार का त्याग करना 3. धोती को लांग नहीं देना, अर्थात धोती के दोनों अंचलों को कटिभाग से बांध लेना, किन्तु नीचे से नहीं बांधना 4. दिन में ब्रह्मचर्य का पालन करना और 5. रात्रि में अब्रह्मचर्य का परिमाण करना।[25]

भोज्य पदार्थ के सचित्त और अचित्त-ये दो प्रकार हैं। मुनि-जीवन धारण करने वाला साधक सचित्त फल आदि पदार्थों का यावज्जीवन के लिए त्याग

करता है, जबकि नियम प्रतिमाधारी श्रावक केवल पाँच माह के लिए सचित्त जल का त्याग करता है।

दिगम्बर परम्परा में पाँचवीं प्रतिमा का नाम 'सचित्तत्याग' है। रत्नकरण्डकश्रावकाचार[26], कार्तिकेयानुप्रेक्षा[27], वसुनन्दिश्रावकाचार[28] आदि में उल्लेख है कि जो कच्चे मूल, फल, शाक, सचित्त जल और नमक आदि का सेवन नहीं करता है, वह सचित्त त्यागी प्रतिमाधारी है। सागारधर्मामृत में पूर्वोक्त चार प्रतिमाओं का पालक सचित्त त्यागी माना गया है। सामान्यतः सचित्त त्याग की प्रतिज्ञा पाँच माह के लिए धारण की जाती है। यदि इच्छा हो तो आजीवन के लिए भी सचित्त वस्तु का त्याग किया जा सकता है।

6. ब्रह्मचर्य प्रतिमा- ब्रह्मचर्य का अर्थ है-ब्रह्म यानी आत्मा, चर्य यानी विचरण करना अर्थात आत्मस्वभाव में विचरण करना अथवा शीलव्रत का पालन करना।

श्वेताम्बर परम्परानुसार छः माह के लिए मैथुनसंज्ञा का सर्वथा त्याग करना ब्रह्मचर्यप्रतिमा है।

दिगम्बर परम्परा में छठवीं प्रतिमा का नाम 'रात्रिभुक्तित्याग' है। इस प्रतिमा में स्थित साधक रात्रि में चारों प्रकार के आहार का त्याग करता है। उपासकाध्ययन और चारित्रसार के अनुसार दिन में बह्मचर्य का पालन करना रात्रिभुक्तित्याग प्रतिमा है।[29]

यहाँ ब्रह्मचर्य और रात्रिभुक्तित्याग ये दोनों बातें एक अर्थ में लागू नहीं होती है, फिर भी ब्रह्मचर्य पालन को रात्रिभुक्तित्याग की संज्ञा देने का यह कारण कहा जा सकता है कि इस प्रतिमा का सम्बन्ध उपभोग परिभोग परिमाणव्रत से है। उपभोग योग्य पदार्थों में सबसे प्रधान वस्तु 'स्त्री' मानी गई है। इस दृष्टि से ब्रह्मचर्य और रात्रिभुक्ति-ये दोनों सम अर्थ में भी घटित हो जाते हैं और इसी अपेक्षा से इस प्रतिमा के ब्रह्मचर्य और रात्रिभुक्तित्याग ये दो नाम दिए गए हैं। इसी कारण ब्रह्मचर्य पालन को रात्रिभुक्तित्याग भी कहा गया है।

7. सचित्तत्याग प्रतिमा– सचित्तत्याग का अर्थ है-जीव या बीज युक्त वस्तु को ग्रहण नहीं करना। इस परिभाषा के अनुसार पूर्वोक्त प्रतिमाओं के नियमों का यथावत् पालन करते हुए सभी प्रकार की सचित्त वस्तुओं का त्याग कर देना एवं उष्ण जल तथा अचित्त आहार का ही सेवन करना सचित्तत्याग

प्रतिमा है। इस भूमिका में रहने वाला साधक वैयक्तिक-दृष्टि से तो अपनी तृष्णाओं एवं आवश्यकताओं का परिसीमन कर लेता है, फिर भी पारिवारिक एवं सामाजिक उत्तरदायित्व का निर्वहन करने की दृष्टि से गार्हस्थ्य कार्य और व्यवसाय आदि करता रहता है, जिसके परिमाणस्वरूप उद्योगी एवं आरंभी हिंसा से पूर्णतया बच नहीं पाता है।[30] इस प्रतिमा का पालन कम से कम एक, दो दिन तथा उत्कृष्ट सात महीनों तक किया जाता है।

दिगम्बर परम्परा में सातवीं 'ब्रह्मचर्य' प्रतिमा है। यह विवेचन छठवीं प्रतिमा में कर चुके हैं।

8. आरम्भत्याग प्रतिमा– आरम्भत्याग का सीधा अर्थ है-हिंसाजन्य या पापजन्य कार्य-व्यापार का त्याग करना। इस परिभाषा के अनुसार पारिवारिक एवं सामाजिक उत्तरदायित्वों का कार्यभार पुत्र आदि को सुपुर्द करना एवं स्वयं के लिए हिंसात्मक-क्रियाओं या कृषि, वाणिज्य आदि क्रियाओं का त्याग करना आरम्भत्याग-प्रतिमा है।

इस प्रतिमा में मानसिक, वाचिक और कायिक-तीनों आरम्भ का त्याग किया जाता है।[31]

यहाँ यह जानने योग्य है कि इस प्रतिमा को स्वीकार करने वाला श्रावक स्वयं तो व्यवसाय आदि कार्यों में भाग नहीं लेता है और न ही ऐसा कोई कार्य आरम्भ करता है, किन्तु अपने पारिवारिक एवं व्यावसायिक कार्यों में यथोचित मार्गदर्शन अवश्य देता है। दूसरे, वह व्यवसाय आदि कार्यों से तो मुक्त हो जाता है, लेकिन सम्पत्ति के प्रति स्वामित्व के अधिकार का त्याग नहीं करता है। आचार्य सकलकीर्ति ने आठवीं प्रतिमाधारी को रथ आदि की सवारी के त्याग का भी विधान किया है।[32] इस प्रतिमा के विषय में दोनों परम्पराएँ समान हैं।

9. प्रेष्यपरित्याग प्रतिमा- प्रेष्यपरित्याग का अर्थ है-परिवार या व्यवसाय सम्बन्धी लेन-देन का सम्पूर्ण त्याग करना। इस प्रतिमा को ग्रहण करने वाला उपासक जब यह देख लेता है कि उसके उत्तराधिकारियों द्वारा उसकी सम्पत्ति का सही रूप से उपयोग हो रहा है, तब वह अपनी सम्पत्ति से अपने अधिकार का भी परित्याग कर देता है। इस प्रकार विरति की दिशा में एक कदम आगे बढ़कर परिग्रह से विरत हो जाता है। इसका दूसरा नाम परिग्रह-परित्याग भी है।

इस कोटि में स्थित रहने वाला श्रावक परिग्रह-त्यागी होने पर भी पुत्र

आदि एवं पारिवारिक-सदस्यों को उचित मार्गदर्शन देता रहता है। इस प्रकार वह परिग्रह से विरत हो जाने पर भी अनुमति विरत नहीं होता है, साथ ही आरम्भ का परित्यागी होने पर भी अपने निमित्त बनाए गए भोजन को ग्रहण करता है।[33]

नियमतः नौवीं प्रतिमाधारण करने वाला उपासक जलयान, नभोयान, स्थलयान आदि किसी भी वाहन का उपयोग न स्वयं करता है और न दूसरों को उपयोग करने के लिए कहता है। जितने भी गृहस्थ सम्बन्धी आरम्भजन्य कार्य हैं जैसे-गृहनिर्माण, व्यापार, विवाह आदि; उन्हें वह मन-वचन-काया से न स्वयं करता है और न दूसरों से करवाता है, किन्तु उनकी अनुमोदना करने का मार्ग खुल्ला रहता है। वह अधिक से अधिक संवर भाव में रहता हुआ अपने अनुचरों पर अनुशासन करना भी बंद कर देता है।

दिगम्बर परम्परा मानती है कि इस प्रतिमा में श्रावक सम्पूर्ण परिग्रह का परित्याग कर देता है, केवल वस्त्र आदि जो बहुत ही आवश्यक वस्तुएँ हैं, उन्हें ही रखता है। पं. दौलतरामजी[34] ने क्रिया कोश में स्पष्ट लिखा है कि नौवीं प्रतिमा धारण करने वाला श्रावक काष्ठ और मिट्टी से निर्मित पात्र ही रख सकता है, धातुपात्र नहीं। गुणभूषण[35] ने इस प्रतिमाधारी श्रावक के लिए वस्त्र के अतिरिक्त सभी प्रकार के परिग्रह-परित्याग का वर्णन किया है।

10. उद्दिष्टभक्तत्याग प्रतिमा- उद्दिष्टभक्तत्याग का अर्थ है-स्वयं के निमित्त बने हुए भोजन का त्याग करना। दशाश्रुतस्कन्ध के अनुसार दसवीं प्रतिमा को धारण करने वाला उपासक न तो स्वयं के निमित्त बना हुआ आहार ग्रहण करता है और न ही किसी को आरम्भादि की अनुमति प्रदान करता है। सांसारिक बातचीत के लिए मात्र 'हाँ' या 'ना' में उत्तर देता है, निरन्तर स्वाध्याय और ध्यान में लीन रहता है और शिखा रखकर सिर के बालों का शस्त्र से मुण्डन करवाता है।[36]

दिगम्बर परम्परा के अनुसार इस प्रतिमा का नाम अनुमतित्याग- प्रतिमा है जिसका अर्थ है- वह आरम्भ आदि के जो भी कार्य हैं, उनके लिए अनुमति भी नहीं देता है। घर पर रहकर भी गृह सम्बन्धी इष्ट-अनिष्ट कार्यों के प्रति न राग करता है और न द्वेष। वह कमल की तरह निर्लिप्त रहता है।

इस प्रकार उद्दिष्टभक्त या अनुमतित्यागप्रतिमा में गृहस्थ सर्व प्रकार के आरम्भों का त्रिविध योगपूर्वक त्याग कर देता है।

11. श्रमणभूत प्रतिमा- श्रमणभूत प्रतिमा का अर्थ है-श्रमण की तरह जीवनचर्या का निर्वाह करना। इस परिभाषानुसार ग्यारहवीं प्रतिमा धारण करने वाले साधक की सम्पूर्ण चर्या श्रमण के समान होती है। उसकी वेशभूषा भी लगभग श्रमण जैसी ही होती है। वह मुनि की भाँति भिक्षाचर्या द्वारा जीवन निर्वाह करते हुए प्रतिलेखन, स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग, समाधि आदि में लीन रहता है तथा सभी प्रतिमाओं का निरतिचार पालन करता है।

श्वेताम्बर परम्परा की दृष्टि से वह साधु से इस अर्थ में भिन्न होता है कि- 1. पूर्वराग के कारण कुटुम्बी या परिचितों के घर ही भिक्षार्थ जाता है। 2. केशलुंचन के स्थान पर मुण्डन करवा सकता है तथा 3. साधु के समान विभिन्न ग्रामों एवं नगरों में विहार नहीं करता है, अपने ही गाँव में रहता है।[37]

दिगम्बर परम्परा में ग्यारहवीं प्रतिमा का नाम 'उद्दिष्टत्याग' है। प्रतिमा के दो विभाग किए गए हैं-1. क्षुल्लक और 2.ऐलक।[38]

क्षुल्लक- यह दिगम्बर मुनि के आचार-नियम से निम्न बातों में भिन्न होता है-1. दो वस्त्र रखता है 2. केशलोच या मुण्डन करवाता है 3. विभिन्न घरों से भिक्षा ग्रहण करता है या फिर किसी मुनि के पीछे जाकर एक ही घर से भिक्षा ग्रहण कर लेता है 4. वह मुनियों की तरह खड़े-खड़े भोजन नहीं करता है उसके लिए आतापन-योग, वृक्षमूल-योग, आदि योगों की साधना का भी निषेध है 5. वह पाणि-पात्र में भी और कांसे के पात्र आदि में भी भोजन कर सकता है 6. वह कौपीन पहनता है।

क्षुल्लक भी दो प्रकार के होते हैं-1. एक गृहभोजी और 2. अनेक गृहभोजी।

अनेक गृहभोजी क्षुल्लक भिक्षावृत्ति द्वारा उदरपूर्ति करता है। गृहस्थ के घर भिक्षार्थ जाने पर प्रासुक आहार प्राप्त हो, तो ग्रहण करके वहीं भोजन कर लेता है। स्वयं के बर्तन स्वयं ही साफ करता है। भोजन के पश्चात् गुरू के समीप जाकर आगामी दिवस तक के लिए चारों आहार का त्याग करता है।

एक गृह भोजी क्षुल्लक मुनियों द्वारा आहार हेतु प्रस्थित हो जाने के पश्चात् स्वयं की भिक्षाचर्या के लिए निकलता है। वर्तमान में एक गृह भोजी क्षुल्लक ही अधिक हैं।[39]

ऐलक- ऐलक का अर्थ है- मात्र लंगोटी धारण करने वाला उपासक। यह

उपासक कौपीन(लंगोटी) के अतिरिक्त सभी प्रकार के वस्त्रों का परित्यागी होता है। इसकी चर्या मुनि जीवन के अति निकट होती है। यह मुनियों की तरह खड़े-खड़े भोजन करता है, केशलुंचन करवाता है तथा एक कमण्डलु और मोरपिच्छी रखता है। यह दिगम्बर-मुनि से केवल एक बात में ही भिन्न होता है कि वह अपने गुह्यांग को ढँकने के लिए लंगोटी रखता है जबकि दिगम्बर मुनि सर्वथा नग्न रहते हैं।[40]

उक्त दोनों विभागों के सम्बन्ध में दिगम्बर आचार्य एकमत नहीं हैं। कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, कार्तिकेय, सोमदेव, अमितगति आदि कई आचार्यों ने ग्यारहवीं प्रतिमा के दो भेद नहीं किए हैं। इसके सिवाय ग्यारहवीं प्रतिमाधारी श्रावक के लिए आचार्य सकलकीर्ति ने केवल मुहूर्त्त-प्रमाण निद्रा लेने का उल्लेख किया है।[41] लाटीसंहिता[42] में क्षुल्लक के लिए कांस्य या लोहपात्र में भिक्षा लेने का विधान है, तो सकलकीर्ति[43] ने कमण्डलु और थाली रखने का विधान किया है।

तुलनात्मक दृष्टि से विवेचन करने पर यह अवस्था वैदिक परम्परा के वानप्रस्थाश्रम और बौद्धपरम्परा के श्रामणेरजीवन के समकक्ष प्रतीत होती है। जिस प्रकार वैदिक-परम्परा में वानप्रस्थ और बौद्ध परम्परा में श्रामणेर का जीवन संन्यास या उपसंपदा की पूर्व भूमिका रूप है, उसी प्रकार जैन-परम्परा की श्रमणभूत प्रतिमा भी श्रमण जीवन की पूर्व भूमिका स्वरूप है।

समाहार रूप में कहा जा सकता है कि ये प्रतिमाएँ व्यक्तिगत जीवन के चारित्रिक विकास में परम सहयोगी बनती हैं। प्रतिमा ग्रहण करते रहने से व्यक्ति का आचार उन्नत एवं विकासोन्मुख होता जाता है और ग्यारहवीं प्रतिमा तक पहुँचते-पहुँचते श्रावक के आचरण में इतनी पवित्रता आ जाती है कि वह श्रमणतुल्य हो जाता है।

प्रतिमाओं का वर्गीकरण

दिगम्बर आचार्यों ने प्रतिमाधारी श्रावक को तीन भागों में वर्गीकृत किया है- 1. गृहस्थ 2. वर्णी-ब्रह्मचारी और 3. भिक्षु।[44] पहली से लेकर छठवीं तक के प्रतिमाधारियों को गृहस्थ, सातवीं, आठवीं और नौवीं प्रतिमाधारी को वर्णी तथा अन्तिम दो प्रतिमाधारियों को भिक्षु की संज्ञा दी गई है।[45] कुछ आचार्यों ने इन्हें जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट श्रावक की संज्ञा से भी अभिहित

किया है। वे उक्त अर्थ के ही पोषक हैं।[46]

इस प्रकार का वर्गीकरण कब हुआ? शोध के आधार पर ज्ञात होता है कि स्वामी कार्तिकेय, आचार्य समन्तभद्र (12 वीं शती) तक नहीं हुआ था, क्योंकि तत्संबंधी ग्रन्थों में कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं होता है। उनके श्रावकाचार में भिक्षुक एवं उत्कृष्ट नाम की पुष्टि अवश्य होती है, किन्तु वर्गीकरण जैसा कोई ब्रह्मचारी होते हैं और जब उनमें से अन्तिम दो को 'भिक्षुक' संज्ञा दे दी गई है. में रहते हैं अत: उन्हें 'गृहस्थ' संज्ञा स्वत: प्राप्त है। यद्यपि समन्तभद्र के मत से श्रावक दसवीं प्रतिमा तक अपने घर में ही रहता है, पर यहाँ 'गृहिणी गृहमाहुर्न कुड्यकटसंहितम्' की नीति के अनुसार स्त्री को ही गृहसंज्ञा प्राप्त है और उसके साथ रहने के कारण ही वह गृहस्थ संज्ञा का पात्र है। इस प्रकार प्रतिमाधारियों में प्रारम्भिक छ: प्रतिमाधारक स्त्री भोगी होने से गृहस्थ हैं। दूसरे गृहस्थ की कोटि में गिने जाने वाले प्रतिमाधारी श्रावक नियम आदि पालन में अपेक्षाकृत लघु होने से उन्हें जघन्य श्रावक कहा गया है।

मध्यमवर्ती तीन प्रतिमाधारी श्रावक को मध्यम श्रावक कहा गया है, परन्तु दसवीं प्रतिमाधारी को मध्यम न मानकर उत्तम श्रावक माना गया है। इसका कारण यह है कि वह घर में रहते हुए भी कमल की भाँति निर्लेप रहता है। वह गृहस्थी के किसी भी कार्य में अनुमति तक भी प्रदान नहीं करता है।

इस सम्बन्ध में यह एक प्रश्न अवश्य विचारणीय है कि दसवीं प्रतिमा धारण करने वाला श्रावक अपना जीवन भिक्षावृत्ति से निर्वाह नहीं करता है, तब उसे 'भिक्षुक' की संज्ञा कैसे दी जा सकती है? संभवत: भिक्षुक के समीप होने से उसे भी उसी प्रकार भिक्षुक कहा गया हो, जैसे चरम भव के समीपवर्ती अनुत्तर विमानवासी देवों को द्विचरम कह दिया जाता है।

यहाँ ध्यातव्य है कि सातवीं से लेकर आगे के सभी प्रतिमाधारी श्रावक ब्रह्मचारी होते हैं और जब उनमें से अन्तिम दो को 'भिक्षुक' संज्ञा दे दी गई है, तब मध्यमवर्ती तीन (सातवीं, आठवीं और नवीं) प्रतिमाधारियों की 'ब्रह्मचारी' संज्ञा भी स्वत: सिद्ध है, परन्तु यहाँ एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि ब्रह्मचारी को वर्णी क्यों और कब से कहा जाने लगा? जहाँ तक इसके समाधान का प्रश्न है, वहाँ इतना कह सकते हैं कि जैन-परम्परा में सोमदेव, जिनसेन एवं इनके पूर्ववर्ती किसी भी आचार्य ने 'वर्णी' शब्द का उल्लेख नहीं किया है। इन

तीन विभागों का वर्गीकरण सर्वप्रथम पं. आशाधरजी रचित सागारधर्मामृत की स्वोपज्ञटीका में प्राप्त होता है। वहाँ **'वर्णिनी ब्रह्मचारिणः'** लिखा गया है जिससे यही अर्थ निकलता है कि वर्णी पद ब्रह्मचारी का वाचक है, पर 'वर्णी' पद का क्या अर्थ है ? इस बात पर उन्होंने कुछ भी प्रकाश नहीं डाला है।

उत्कृष्ट आदि की अपेक्षा प्रतिमाओं का स्वरूप

प्रत्येक साधक की योग्यता एवं क्षमता भिन्न-भिन्न होती है। प्रत्येक व्यक्ति समान रूप से प्रतिमाओं को धारण नहीं कर सकता है, इसी अपेक्षा से प्रत्येक प्रतिमा जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेद रूप कही गई है ताकि सभी कोटियों के साधक प्रतिमाओं की साधना कर सकें।

1. सम्यक्त्व प्रतिमा- जो सप्तव्यसन और रात्रिभोजन का त्याग कर आठ मूलगुणों के साथ शुद्ध सम्यक्त्व धारण करता है, वह उत्कृष्ट दर्शन प्रतिमाधारी है। जो रात्रिभोजनत्याग के साथ आठ मूलगुणों को धारण करता है और सर्वव्यसनों का त्यागी नहीं है, किन्तु उनमें से कुछ व्यसनों का त्याग किया हुआ है, वह मध्यम है तथा जो चारित्रमोहनीय के तीव्र उदय से एक भी व्रत का पालन नहीं कर पाता, किन्तु व्रत धारण की भावना रखता हुआ निरतिचार सम्यग्दर्शन को धारण करता है, वह जघन्य दर्शन प्रतिमा का धारक है।[47]

2. व्रत प्रतिमा- जो केवल अणुव्रतों का ही पालन करता है, वह जघन्यव्रत-प्रतिमाधारक है। जो मूलगुणों का पालन करता है, वह मध्यम है तथा जो निर्मल सम्यग्दर्शन के साथ अणुव्रतों और गुणव्रतों का निरतिचार पालन करता है, वह उत्तमव्रत-प्रतिमाधारी है।[48]

3. सामायिक प्रतिमा- जो तीनों संध्याओं में निश्चित समय पर नियतकाल तक सामायिक करता है, वह उत्तम सामायिक-प्रतिमाधारी है। जो अणुव्रतों और गुणव्रतों का निरतिचार पालन करते हुए भी सामायिक का निर्दोष पालन नहीं करता है, वह मध्यम है और जो अणुव्रतों एवं गुणव्रतों के साथ-साथ सामायिक का पालन भी सदोषरूप से करता है, वह जघन्य सामायिक-प्रतिमाधारी है।[49]

4. पौषध प्रतिमा- जो प्रारंभ की तीनों प्रतिमाओं का यथाविधि पालन करते हुए प्रत्येक मास के चारों पर्वों में सोलह प्रहर का उपवास करता है और पर्व की रात्रि में प्रतिमायोग धारण कर कायोत्सर्ग करता है, वह उत्तम पौषध-

प्रतिमाधारी है। जो पूर्वोक्त प्रतिमाओं का निर्दोष पालन करते हुए बारह या आठ प्रहर का उपवास करता है और रात्रि में प्रतिमायोग धारण नहीं करता है वह मध्यम है तथा जो पूर्वोक्त प्रतिमाओं को उपवास पूर्वक यथाकिंचित् धारण करता है, वह जघन्य पौषध-प्रतिमाधारी है।[50]

5. सचित्तत्याग प्रतिमा- जो श्रावक पूर्वोक्त प्रतिमाओं का निर्दोष पालन करते हुए सचित्त वस्तु के खान-पान का यावज्जीवन के लिए त्याग करता है, वह उत्तमसचित्तत्याग-प्रतिमाधारी है। जो पौषधोपवास के दिन ही सचित्त वस्तुओं का त्याग करता है, वह मध्यम है तथा जो पूर्व प्रतिमाओं का भी यथाकिंचित् पालन करता है और सचित्त वस्तुओं का भी यथा कथंचित् त्याग करता है, वह जघन्य-प्रतिमाधारी है।[51]

6. रात्रिभुक्तित्याग प्रतिमा- जो व्यक्ति पूर्व की सर्वप्रतिमाओं के साथ दिन में पूर्णत: ब्रह्मचर्य का पालन करता है और अपनी स्त्री की ओर भी राग भाव से नहीं देखता है, वह उत्तम प्रतिमाधारी है। जो पूर्व प्रतिमाओं का पालन करते हुए भी इस प्रतिमा का कथंचित् पालन करता है, वह मध्यम है और जो पूर्व प्रतिमाओं का भी और इस प्रतिमा का भी कथंचित् पालन करता है, वह जघन्य प्रतिमाधारी है।[52]

7. **ब्रह्मचर्य प्रतिमा-** जो साधक पूर्व प्रतिमाओं के साथ त्रिकरण की शुद्धिपूर्वक ब्रह्मचर्यव्रत को धारण करता है, वह उत्तम ब्रह्मचर्यप्रतिमा का धारक है। जो उक्त व्रतों के साथ ब्रह्मचर्य का निर्दोष पालन नहीं करता है, वह मध्यम है तथा जो पूर्व प्रतिमाओं का भी और ब्रह्मचर्य का भी यथावत् पालन नहीं करता है, वह जघन्यब्रह्मचर्य-प्रतिमा धारक है।[53]

8. आरम्भत्याग प्रतिमा- जो व्यक्ति पूर्व प्रतिमाओं का निर्दोष पालन करते हुए गृहस्थ के सभी प्रकार के आरम्भ का परित्याग कर देता है और स्वीकृत धन याचकों को दान करते हुए घर में उदासीन भाव से रहता है, वह उत्तम आरम्भत्याग-प्रतिमा का धारक है। जो पूर्वोक्त प्रतिमाओं का सदोष पालन करते हुए आठवीं प्रतिमा का निर्दोष पालन करता है, वह मध्यम है तथा जो पूर्वोक्त प्रतिमाओं का और इस प्रतिमा का कथंचित् सदोष पालन करता है, वह जघन्य- आरम्भत्याग प्रतिमा का धारक है।[54]

9. परिग्रहत्याग प्रतिमा- जो पूर्व की आठ प्रतिमाओं का निर्दोष पालन

करते हुए अपने संयम के साधनों के सिवाय शेष समस्त प्रकार के बाह्य-परिग्रह का त्याग कर देता है, वह उत्तम परिग्रहत्याग-प्रतिमा धारक है। जो पूर्वोक्त प्रतिमाओं का निर्दोष पालन करता हुआ भी इस प्रतिमा का कथंचित् पालन करता है, वह मध्यम है तथा जो पूर्व व्रतों का और इस प्रतिमा का दोष लगाते हुए पालन करता है, वह जघन्य प्रतिमाधारी है।[55]

10. अनुमतित्याग प्रतिमा- जो पूर्वोक्त प्रतिमाओं का निर्दोष पालन करते हुए समस्त प्रकार के आरम्भ-समारम्भ एवं तत्सम्बन्धी आदेश-निर्देश अनुमति आदि का त्याग कर देता है, वह अनुमतित्याग नामक प्रतिमा उत्तम श्रावक है। जो अपने पुत्रादि को कथंचित् अनुमति प्रदान करता है, वह मध्यम है तथा जो पूर्वोक्त एवं इस प्रतिमा का सदोष पालन करता है, वह जघन्य अनुमतित्यागी है।[56]

11. उद्दिष्टत्याग प्रतिमा- जो पूर्व की सभी प्रतिमाओं का निर्दोष पालन करते हुए अपने निमित्त से बने उद्दिष्ट आहार-पानी का यावज्जीवन के लिए त्याग करता है और उसमें किसी भी प्रकार का दोष नहीं लगने देता है, वह उत्कृष्ट उद्दिष्टत्यागी है। जो कथंचित् रूप से उद्दिष्ट त्याग में दोष लगाता है, वह मध्यम है तथा जो सभी प्रतिमाओं का सदोष पालन करता है, वह जघन्य उद्दिष्टत्यागी है।[57]

इस तरह प्रत्येक प्रतिमा जघन्य आदि कोटि से स्वीकार की जा सकती है।

प्रतिमा पूर्ण होने के बाद क्या करें?

आचार्य हरिभद्रसूरि कहते हैं[58]-यदि प्रतिमा के आचरण से आत्मा भावित हो जाए और स्वयं को साधुता के योग्य जान ले, तो दीक्षा ले और यदि साधु बनने के योग्य न लगे, तो गृहस्थ ही बना रहे। इसी अनुक्रम में आत्मा को भावित करके दीक्षा लेने का कारण बताते हुए कहते हैं-अयोग्य व्यक्तियों द्वारा दीक्षा स्वीकार करना नियमतः अनर्थकारी होता है, इसलिए बुद्धिमान् पुरूष को अपनी योग्यता की समीक्षा करने के उपरान्त ही प्रव्रजित होना चाहिए। यह भी सत्य है कि प्रव्रज्या की योग्यता का परीक्षण प्रतिमागत आचरण से ही होता है, क्योंकि देशविरति स्वीकार करने की मनोवृत्ति या अध्यवसाय के बिना प्रव्रज्या के संस्कार निर्मित नहीं होते हैं।

पंचाशक प्रकरण में प्रतिमा के महत्व का मूल्यांकन करते हुए बतलाया

गया है कि जो व्यक्ति स्वयोग्यता की परीक्षा करके दीक्षित होता है, उसी की दीक्षा परिपूर्ण दीक्षा कहलाती है तथा परिपूर्ण दीक्षा में प्रतिलेखना आदि सामाचारी की अनुपालना आगमों के अनुसार होती है। इस तरह सिद्ध होता है कि यदि योग्यता विकसित हो जाए, तो प्रतिमा के उपरांत दीक्षित हो जाना चाहिए और वह दीक्षा ही सफलता के शिखर पर पहुँचाती है।

प्रतिमाओं की मुख्य पृष्ठभूमि?

दशाश्रुतस्कन्ध के अनुसार इन प्रतिमाओं का आधार सम्यग्दर्शन और श्रावक के प्रारम्भ के ग्यारहव्रत हैं। इनमें प्रथम प्रतिमा का आधार सम्यग्दर्शन, दूसरी प्रतिमा का आधार पाँच अणुव्रत और तीन गुणव्रत, तीसरी प्रतिमा का आधार सामायिक और देशावगासिक (प्रथम के दो शिक्षाव्रत) तथा चौथी प्रतिमा का आधार प्रतिपूर्ण पौषधोपवास है। शेष प्रतिमाओं में इन्हीं व्रतों का उत्तरोत्तर विकास किया गया है।[59]

प्रतिमाएँ कौन धारण करता है?

जैन मनीषियों के अनुसार जो दीर्घ वर्षों से बारहव्रत का परिपालन कर रहा हो, और जब उसके मन में साधना की तीव्र भावना उत्पन्न हो जाये, तब वह सांसारिक प्रवृत्तियों से निवृत्त होकर प्रतिमाओं को स्वीकार करता है। प्राय: वे लोग इनका स्वीकार करते हैं-

1. जो अपने-आपको मुनि बनने के योग्य नहीं पाते, किन्तु जीवन के अन्तिमकाल में श्रमण जैसा जीवन बिताने के इच्छुक होते हैं 2. जो श्रमण-जीवन बिताने का पूर्वाभ्यास करते हैं।

जैनागमों में वर्णन आता है कि आनन्द श्रावक ने चौदह वर्षों तक बारहव्रत का सम्यक् आचरण किया। पन्द्रहवें वर्ष के अंतराल में भगवान् महावीर के पास उपासक की ग्यारह प्रतिमाएँ स्वीकार की। इनके प्रतिपूर्ण पालन में साढ़े पाँच वर्ष का समय लगा। तत्पश्चात् उसने मारणान्तिक-संलेखना की और अन्त में एक मास का अनशन किया।

इस अंश से ऊपर वर्णित प्रतिमा धारण करने सम्बन्धी बात का पूर्ण समर्थन हो जाता है। यहाँ एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि बारहव्रती श्रावक जब सम्यग्दृष्टि और व्रती होता ही है, तब पहली और दूसरी प्रतिमा में सम्यग्दर्शनी बनने की बात क्यों कही गई? इसका समाधान है कि बारहव्रत

अपवादसहित होते हैं, जबकि प्रतिमाओं में कोई अपवाद नहीं होता। प्रतिमा में दर्शन और व्रत संबंधी गुणों का निरपवाद परिपालन और उत्तरोत्तर विकास किया जाता है।[60]

प्रतिमाओं का काल विचार

जैन विचारणा में उत्कृष्ट साधना मार्ग पर आरूढ़ होने एवं विशिष्ट प्रतिज्ञाओं द्वारा साधना पथ को प्रशस्त करने हेतु गृहस्थ के लिए ग्यारह प्रतिमाओं का प्रावधान है। वस्तुत: बारहव्रती श्रावक के मन में जब साधना की तीव्र भावना उत्पन्न होती है, तब वह इन प्रतिमाओं को स्वीकार करता है।

समवायांग, उपासकदशा, दशाश्रुतस्कन्ध आदि जैनागमों में ग्यारह प्रतिमाओं का स्पष्ट उल्लेख है। उपासकदशा में श्रमणोपासक आनन्द द्वारा प्रतिमाएं धारण किए जाने का सुस्पष्टत: उल्लेख है। विंशतिविंशिका, पंचाशक प्रकरण आदि आगमेतर ग्रन्थों में भी श्रावक-प्रतिमाओं का सम्यक् विवेचन उपलब्ध है, किन्तु ये प्रतिमाएँ कितने समय के लिए ग्रहण की जानी चाहिए? इस सम्बन्ध में दशाश्रुतस्कन्ध, उपासकटीका एवं पंचाशक प्रकरण मुख्य रूप से उल्लेखनीय और पठनीय हैं।

इनमें भी यह ज्ञातव्य है कि दशाश्रुतस्कन्ध में प्रारम्भ की चार प्रतिमाओं को छोड़कर शेष पाँचवीं से ग्यारहवीं तक की सात प्रतिमाओं का ही कालमान बताया गया है।[61] पंचाशकप्रकरण में भी प्रत्येक प्रतिमा का पृथक्-पृथक् कालमान न बतलाकर केवल ग्यारहवीं प्रतिमा का जघन्यकाल एक, दो, तीन अहोरात्र बतलाया है। इससे पूर्व की दस प्रतिमाओं का कालमान स्वत: निश्चित हो जाता है।[62] यद्यपि उपासकदशा की टीका में ग्यारह ही प्रतिमाओं का पृथक्-पृथक् काल (समय) सूचित किया गया है। इसमें पहली प्रतिमा का उत्कृष्टकाल एक मास, दूसरी का उत्कृष्टकाल दो मास, तीसरी का उत्कृष्टकाल तीन मास और चौथी का उत्कृष्टकाल चार मास निर्दिष्ट किया गया है। शेष पाँचवी से लेकर ग्यारहवीं प्रतिमा तक जघन्यकाल एक-दो-तीन दिन और उत्कृष्टकाल क्रमश: पाँच मास से लेकर ग्यारह मास कहा गया है।[63]

इस वर्णन का सारतत्त्व यह है कि प्रारम्भ की चार प्रतिमाएँ सुगम होने से क्रमश: एक, दो, तीन, चार मास तक उनका पालन करना चाहिए। इन प्रतिमाओं का जघन्योत्कृष्ट काल एक ही है, परन्तु अग्रिम पाँच से ग्यारह

प्रतिमाएँ आचरण की दृष्टि से दुर्गम होने के कारण जघन्यतम एक, दो या तीन दिन पर्यन्त तथा उत्कृष्टतम पाँच, छः आदि ग्यारह मास तक उन-उन प्रतिमाओं का पालन करना चाहिए। इनके प्रतिपूर्ण पालन में साढ़े पाँच वर्ष का समय लगता है।

प्रतिमा का जघन्यकाल एक दिन क्यों ?

यह बिन्दु विचारणीय है कि पाँचवीं से लेकर ग्यारहवीं प्रतिमा का जघन्य कालमान एक दिन क्यों रखा गया है? इस सम्बन्ध में अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि वह प्रतिमाधारी प्रतिमा स्वीकार करते ही कालगत हो सकता है अथवा श्रमण बन सकता है। इस दृष्टिकोण से एक दिन, दो दिन आदि का निर्देश है, अन्यथा पाँचवीं प्रतिमा सम्पूर्ण पाँच मास यावत् ग्यारहवीं प्रतिमा सम्पूर्ण ग्यारह मास नियम से पालन करने योग्य है।

प्रतिमोपासक के कृत्य

प्रसिद्ध वैधानिक ग्रन्थ तिलकाचार्यसामाचारी में यह वर्णित है कि दर्शनप्रतिमाधारी श्रावक एक महीने तक पार्श्वस्थ आदि साधुओं को वन्दन नहीं करें। दिवस में तीन बार जिनप्रतिमा की पूजा करें, त्रिकाल चैत्यवन्दन करें तथा राजा आदि का आग्रह विशेष होने पर भी सम्यक्त्वव्रत भंग नहीं करें।

- व्रत-प्रतिमाधारी उपासक दो महीने तक यथागृहीत भंगपूर्वक पाँच अणुव्रतों, तीन गुणव्रतों एवं चार शिक्षाव्रतों का निर्दोष पालन करें।
- सामायिक-प्रतिमाधारी तीन माह तक उभय संध्याओं में सामायिक करें।
- पौषध-प्रतिमाधारी चार माह तक अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा एवं अमावस्या-इन पर्वतिथियों में चतुर्विध-आहार के त्याग पूर्वक नियम से पौषध करें।
- पाँचवी प्रतिमा धारण करनेवाला श्रावक पाँच महीनों तक रात्रिभोजन का त्याग करें, स्नान नहीं करें, दिन में ब्रह्मचर्य का सर्वथा पालन करें और रात्रि के लिए अब्रह्मसेवन का परिमाण करें। पौषध के दिनों में सम्पूर्ण रात्रिपर्यन्त कायोत्सर्ग करें।
- छठवीं प्रतिमा धारण करने वाला श्रावक छः महीने तक ब्रह्मचर्य का पूर्णतः पालन करें।
- सातवीं प्रतिमा धारण करनेवाला साधक सात महीने तक सचित्त वस्तुओं

के सेवन का त्याग करें।

- आठवीं प्रतिमा ग्रहण करने वाला श्रावक आठ महीने तक स्वकृत आरंभ (हिंसादि पापमय प्रवृत्तियों) का त्याग करें।
- नवीं प्रतिमा धारण करने वाला साधक नौ मास तक दूसरों के द्वारा आरंभ करवाने का वर्जन करें।
- अनुमतित्याग-प्रतिमाधारी श्रावक दस माह तक आधाकर्मादि (स्वयं के निमित्त बने हुए) आहार का त्याग करें।
- ग्यारहवीं प्रतिमा धारण करने वाला श्रावक शिखाधारी हो या मुनि के समान सिर का मुंडन करवाए और ग्यारह महीने तक मुनिचर्या की भाँति जीवन व्यतीत करें।[64]

प्रतिमा : एक विमर्श

व्रत धारण करने वाला व्रतधारी श्रावक कहा जाता है। वह एक व्रत भी ग्रहण कर सकता है और बारहव्रत भी। प्रतिमा ग्रहण करते समय अनेक प्रकार के व्रत, प्रत्याख्यान आदि धारण किए जाते हैं, किन्तु प्रतिमा धारण में यह विशेषता होती है कि इसमें जो भी प्रतिज्ञा की जाती है, उसमें कोई आगार नहीं रखा जाता है, अपितु नियत समय तक प्रतिज्ञा का दृढ़ता के साथ पालन किया जाता है।

प्रश्न उठता है कि इन प्रतिमाओं की आराधना क्रमपूर्वक करनी चाहिए या अक्रम से ? इस सम्बन्ध में किसी प्रकार का उल्लेख उपलब्ध नहीं होता है, किन्तु कार्तिक सेठ के समान एक प्रतिमा को अनेक बार धारण किया जा सकता है - यह बात भगवतीसूत्र में वर्णित है।[65]

श्रावक प्रतिमा के सम्बन्ध में एक प्रचलित कल्पना यह भी है कि प्रथम प्रतिमा में एकान्तर उपवास, दूसरी प्रतिमा में निरन्तर बेले, तीसरी में तेले, यावत् ग्यारहवीं प्रतिमा में ग्यारह-ग्यारह की तपश्चर्या निरन्तर की जानी चाहिए, किन्तु इस विषय में कोई आगम-प्रमाण उपलब्ध नहीं है तथा ऐसा मानना संगत भी प्रतीत नहीं होता है। चूंकि इतनी तीव्र तपस्या तो भिक्षुप्रतिमा में भी नहीं की जाती है, फिर यह अवधारणा कब और कैसे आई ? इसके सम्बन्ध में पुष्ट प्रमाण के बिना कुछ भी कह पाना मुश्किल है।

श्रावक की चौथी प्रतिमा में महीने के छः पौषध करने का विधान अवश्य

है। यदि उपर्युक्त कथन के अनुसार तपस्या की जाए, तो चार मास में चौबीस चोले की तपस्या करना आवश्यक हो जाता है तथा प्रतिमाधारी द्वारा तिविहार की तपस्या या बिना पौषध के तपस्या करना भी उचित नहीं है, अत: उक्त कथन कपोल कल्पित लगता है। आनन्द आदि श्रावकों द्वारा प्रतिमा-वहन के समय की गई तपाराधनाओं के जो उल्लेख मिलते हैं तथा शारीरिक-कृशता का जो वर्णन पढ़ने को मिलता है, वह व्यक्तिगत जीवन का वर्णन है, उसमें भी इस प्रकार के तप का वर्णन नहीं है। साधक अपनी इच्छा से कभी भी कोई विशिष्ट तप कर सकता है।[66]

कई विचारकों का यह मानना है कि वर्तमान में कोई भी श्रावक प्रतिमाओं की आराधना नहीं कर सकता है। उनका यह कहना है कि जिस प्रकार भिक्षुप्रतिमा का विच्छेद हो गया है, उसी प्रकार श्रावकप्रतिमा का भी विच्छेद हो गया है। यह विद्वज्जनों के लिए निश्चित रूप से अन्वेषणीय है।

जहाँ तक प्रतिमाग्रहण का प्रश्न है, वर्तमान की श्वेताम्बर- परम्परा में यह विधान लुप्त सा हो गया है, किन्तु दिगम्बर-परम्परा में अभी भी मौजूद है। श्वेताम्बरमान्य उपासकदशांगटीका, दशाश्रुतस्कन्ध आदि आगम ग्रन्थों एवं विंशतिविंशिका (8वीं शती), पंचाशक प्रकरण (8वीं शती), तिलकाचार्यसामाचारी (12 वीं शती),आचारदिनकर (16 वीं शती) आदि आगमेतर ग्रन्थों में इन प्रतिमाओं के स्वरूप एवं विधि का सम्यक् उल्लेख हुआ है। 14वीं शती के विधिमार्गप्रपा में गीतार्थ मुनि का नामनिर्देश कर यह कहा गया है कि वर्तमान में प्रतिमारूप श्रावकधर्म विच्छिन्न हो गया है।[67] अत: इसमें प्रतिमाविधि की चर्चा भी नहीं की गई है, किन्तु जो लोग इन प्रतिमाओं को स्वीकारते हैं, वे दलील देते हैं कि जिस प्रकार की कठोर और उग्र साधना भिक्षुप्रतिमाधारी की होती है, वैसी कठोर और उग्र साधना श्रावकप्रतिमाधारी की नहीं होती।

दूसरा वज्रऋषभनाराचसंहनन वाला बलिष्ठ व्यक्ति ही प्रतिमा धारण कर सकता हो-ऐसा भी कहीं आगम में उल्लेख नहीं है। तीसरा विचारणीय तत्त्व यह है कि श्रावक-प्रतिमाओं के विच्छेद होने का शास्त्रीय प्रमाण क्या है ? यदि इसका कोई आगम-प्रमाण नहीं है, तो फिर उनके अपने अभिमतानुसार वर्तमान में भी श्रावक-प्रतिमा धारण की जा सकती है। यदि हम 'प्रतिमा' शब्द का यह

अर्थ करें कि जो प्रतिज्ञा विशुद्धतापूर्वक, अतिचाररहित एवं आगाररहित पालन की जाती है, वह प्रतिमा है। इस दृष्टि से आज भी प्रतिमाओं का ग्रहण करना असंभव नहीं है। विशेष तो ज्ञानीगम्य है।

प्रतिमा वहन के योग्य कौन?

उपासक-प्रतिमा धारण करने का अधिकारी कौन हो सकता है? इसको वहन करने का प्रमाण-पत्र किसे दिया जा सकता है? प्रतिमा वहन करते समय किन-किन नियमों का पालन करना आवश्यक है? हमें इस विषय में न तो आगमिक आधार प्राप्त हो पाया है और न ही किसी प्रकार की विशिष्ट जानकारी उपलब्ध हुई है, किन्तु अर्वाचीन ग्रन्थों एवं स्वचिन्तन के आधार पर जो कुछ समझ में आया वह विवरण इस प्रकार है-

आचार्य श्री देवेन्द्रमुनिजी ने लिखा है कि प्रतिमा धारण करने का अधिकारी वही हो सकता है, जो नवतत्त्व का ज्ञाता हो।[68] दशाश्रुत- स्कन्धसूत्र में विवेचन करते हुए निर्देश दिया गया है कि जिस प्रकार भिक्षु-प्रतिमाधारी को विशुद्ध संयम पर्यायी और विशिष्ट श्रुतज्ञानी होना आवश्यक है, उसी प्रकार उपासक-प्रतिमाधारी को बारहव्रत के पालन का अभ्यासी और सामान्य श्रुतज्ञानी भी अवश्य होना चाहिए। प्रतिमाधारी श्रावक को सांसारिक जिम्मेदारियों से निवृत्त होना चाहिए। यद्यपि वह सातवीं प्रतिमा तक गृह कार्यों का त्याग नहीं कर सकता है, फिर भी प्रतिमा के नियमों का शुद्ध पालन करना अत्यावश्यक है। अभिधानराजेन्द्रकोश के अनुसार प्रतिमाधारी श्रावक आस्तिक्य-गुणवाला, वैयावृत्य करने वाला, व्रती, गुणवान्, लोकव्यवहार विरत, संवेग मतिमान, बुद्धिमान् एवं मोक्षाभिलाषा से वासित होना चाहिए।[69]

प्रतिमा ग्रहण के सम्बन्ध में यह ज्ञातव्य है कि ग्यारह प्रतिमाओं में से किसी भी प्रतिमा को धारण करने वाले व्यक्ति द्वारा आगे की प्रतिमा के नियमों का पालन करना आवश्यक नहीं होता है। वह स्वेच्छानुसार उनका पालन कर सकता है अर्थात पहली प्रतिमा में सचित्त का त्याग या श्रमणभूत जीवन धारण कर सकता है, किन्तु आगे की प्रतिमाएं धारण करने वाले साधक को उसके पूर्व की सभी प्रतिमाओं के सभी नियमों का पालन करना आवश्यक होता है जैसे- सातवीं प्रतिमा धारण करने वाले व्यक्ति को सचित्त का त्याग करने के साथ ही सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य, पौषध, कायोत्सर्ग आदि प्रतिमाओं का भी यथार्थ रूप से पालन करना आवश्यक है।

इस विवेचन से इतना स्वत: स्पष्ट हो जाता है कि प्रतिमाधारण के पूर्व व्यक्ति में कुछ योग्यताएँ होना अत्यन्त आवश्यक है। दूसरे, सम्यक्त्वव्रतग्राही के लिए जो योग्यताएँ अपेक्षित मानी गईं हैं, वे प्रतिमाधारी साधक के लिए भी आवश्यक समझना चाहिए।

उपासकप्रतिमा धारण करवाने का अधिकारी कौन?

जिस प्रकार उपासक-प्रतिमा धारण करने वाले व्यक्ति में कुछ योग्यताएँ होना जरूरी है, उसी प्रकार प्रतिमा स्वीकार करवाने वाले गुरू भी विशिष्ट गुणों से युक्त होने चाहिए, क्योंकि व्रतग्राही और व्रतदाता-दोनों ही योग्य हों, तो गृहीत साधना शीघ्र फलदायी होती है।

प्रतिमा धारण करवाने वाले गुरू किन गुणों से युक्त होने चाहिए ? इस विषय में कोई प्रामाणिक या आगमिक जानकारी तो प्राप्त नहीं हो पाई है, किन्तु वैधानिक ग्रन्थों के आधार पर इतना कह सकते हैं कि सम्यक्त्वव्रत, बारहव्रत, सामायिकव्रत दिलाने वाले गुरू जिन गुणों से सम्पन्न हों। प्रतिमाधारण कराने वाले गुरू में भी तथाविध गुण होने चाहिए।

प्रतिमाग्रहण के लिए मुहूर्त आदि विचार

उपासक प्रतिमाएँ किस दिन तथा किस समय ग्रहण की जानी चाहिए? इस सन्दर्भ में विशेष सूचना या उल्लेख तो प्राप्त नहीं हुए हैं, किन्तु वर्धमानसूरिकृत आचारदिनकर (15 वीं शती) में इतना निर्देश अवश्य है कि इन प्रतिमाओं को शुभमुहूर्त्त आदि में स्वीकार करना चाहिए, पर वे शुभमुहूर्त्तादि कौनसे हैं ? तत्सम्बन्धी कोई विवरण नहीं दिया गया है। इसके अतिरिक्त इसमें यह सूचन है कि यदि सभी प्रतिमाओं को अनुक्रम से धारण करते हैं, तो प्रत्येक के लिए शुभ मुहूर्त्त आदि देखना आवश्यक नहीं है। पहली प्रतिमा जिस शुभ मुहूर्त्त आदि में स्वीकार की जाती है उसमें अन्य प्रतिमाओं का भी अन्तर्भाव हो जाता है। यदि सभी प्रतिमाओं को अलग-अलग समय में धारण करें, तो उस स्थिति में सभी प्रतिमाओं के लिए पृथक्-पृथक् शुभमुहूर्त्तादि देखना चाहिए।[70]

उपासक प्रतिमा में प्रयुक्त सामग्री

सामान्यतया सम्यक्त्वव्रत, बारहव्रत आदि के ग्रहणकाल में जो सामग्री आवश्यक मानी गई है वही उपासकप्रतिमा के सम्बन्ध में भी उपयोगी जाननी चाहिए। यह सामग्री सूची अध्याय-द्वितीय में उल्लिखित है।

उपासक प्रतिमाओं का ऐतिहासिक परिशीलन

साधकीय जीवन में रहते हुए कुछ विशिष्ट प्रतिज्ञाएँ, अभिग्रह या नियम धारण करना 'प्रतिमा' कहलाता है। प्रतिमाएँ स्वीकार करने पर किंचित् अर्थों में श्रावक श्रमण तुल्य हो जाता है। वह ज्यों- ज्यों इस भूमिका में आगे बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों उसका आध्यात्मिक स्तर भी विकसित होता जाता है।

जैन परम्परा में गृहस्थ श्रावक को उच्चकोटि की साधना में प्रवेश देने के लिए प्रतिमाएँ धारण करवाई जाती है। इस विधि के द्वारा यह निश्चित किया जाता है कि वह व्यक्ति गृहस्थ जीवन में रहता हुआ भी श्रमणतुल्य साधना-मार्ग पर आरूढ़ हुआ है, मुनि जीवन की निकटतम भूमिका को उपलब्ध करने में प्रयत्नशील बना है तथा गृहस्थ-जीवन के व्यापारिक, पारिवारिक एवं सामाजिक-दायित्वों से मुक्त होने का उपक्रम प्रारम्भ कर चुका है।

प्रश्न उभरता है कि प्रतिमा रूप साधना विधि का प्रारम्भ कब से हुआ? यदि हम प्राचीन जैन-आगमों को देखें, तो इन प्रतिमाओं का प्राथमिक स्वरूप समवायांगसूत्र[71] में दर्शित होता है, जहाँ ग्यारह प्रतिमाओं का संक्षिप्त वर्णन किया गया है। उसके बाद श्रावकाचार का प्रतिनिधि ग्रन्थ उपासकदशांगसूत्र[72] में एक से ग्यारह प्रतिमाओं को ग्रहण करने के संकेत मिलते हैं, यद्यपि अतिरिक्त स्वरूपादि की कोई चर्चा उसमें नहीं है। उसके बाद दशाश्रुतस्कंधसूत्र[73] में ग्यारह प्रतिमाओं का सम्यक् वर्णन प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त आगम साहित्य में तत्सम्बन्धी कोई चर्चा प्राप्त नहीं होती हैं। दशाश्रुतस्कंध में भी प्रतिमाओं का स्वरूप, प्रतिमाओं का काल आदि का ही निरूपण है, प्रतिमाधारण-विधि से सम्बन्धित कोई चर्चा नहीं की गई है।

यदि हम आगम-युग के अनन्तर निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीका ग्रन्थों को देखें, तो उपासकदशांग टीका[74] में इन प्रतिमाओं का सुविस्तृत स्वरूप उपलब्ध होता है, किन्तु इसमें भी विधि-विधान सम्बन्धी कोई प्रकरण पढ़ने में नहीं आया है। यदि प्राचीन आचार्यों द्वारा रचित ग्रन्थों का आलोड़न करें, तो आचार्य हरिभद्रसूरिकृत विंशतिविंशिका[75] एवं पंचाशक प्रकरण[76] में यह उल्लेख मिलता है। इनमें प्रतिमा स्वरूप का प्रतिपादन करने वाले एक-एक स्वतन्त्र प्रकरण हैं, यद्यपि विधि-विधान को लेकर इनमें भी कुछ नहीं कहा गया है।

यदि दिगम्बराचार्यों द्वारा रचित ग्रन्थों का अवलोकन करें, तो ग्यारह प्रतिमाओं के स्वरूप आदि से सम्बन्धित कुछ कृतियाँ अवश्य प्राप्त होती हैं। उनमें सर्वप्रथम आचार्य कुन्दकुन्द रचित 'कषायपाहुड' की जयधवलाटीका[77] में ग्यारह प्रतिमाओं के नामोल्लेख के साथ-साथ उनके स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। इसी क्रम में आचार्य समन्तभद्र के रत्नकरण्डक श्रावकाचार में श्रावक के ग्यारह पद कहकर प्रत्येक का स्वरूप प्रतिपादित किया गया है।[78] स्वामी कार्तिकेय ने प्रतिमा के आधार को लेकर श्रावकधर्म के बारह भेद किए हैं।[79] सोमदेव ने उपासकाध्ययन में केवल दो श्लोकों में ग्यारह प्रतिमाओं को वर्णित किया है। जहाँ दिगम्बर-परम्परा में 'सचित्तत्याग' को पाँचवीं एवं 'आरम्भत्याग' को आठवीं प्रतिमा माना है, वहीं सोमदेव ने क्रम बदलकर आरम्भत्याग को पाँचवीं तथा सचित्तत्याग को आठवीं प्रतिमा कहा है।[80] इसके अतिरिक्त अमितगतिश्रावकाचार[81], वसुनन्दिश्रावकाचार[82], सागारधर्मामृत[83], प्रश्नोत्तर श्रावकाचार एवं लाटीसंहिता आदि ग्रन्थों में भी ग्यारह प्रतिमाओं का वर्णन प्राप्त होता है, परन्तु प्रतिमाएँ किस विधि पूर्वक ग्रहण की जाएं, इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा गया है।

उक्त वर्णन से फलित होता है कि श्वेताम्बर-परम्परानुसार विक्रम की 10वीं शती और दिगम्बर ग्रन्थानुसार 14वीं-15वीं शती तक प्रतिमा स्वीकार करने के संदर्भ में एक सुनिश्चित विधि-विधान का अभाव था। संभवत: सामान्य क्रियाकलापों एवं दृढ़ संकल्प के साथ ये प्रतिमाएँ ग्रहण करवाई जाती होंगी।

यदि इस विषय को लेकर मध्यकालीन ग्रन्थों पर दृष्टिपात करें, तो सर्वप्रथम तिलकाचार्यकृत सामाचारी में इस विधि का प्रारम्भिक स्वरूप उपलब्ध होता है।[84] तदनन्तर इस विधान का एक सुनियोजित स्वरूप आचारदिनकर में उपलब्ध होता है। यह आश्चर्यजनक तथ्य है कि श्वेताम्बर की परवर्ती रचनाओं में यह विधि सम्यक् रूप से उल्लिखित होने पर भी इस आम्नाय में यह विधान लुप्त प्राय हो चुका है, जबकि दिगम्बर-परम्परा की किसी रचना में यह विधि लिखी गई हो-ऐसा देखने में नहीं आया है, फिर भी उनमें यह विधान मौजूद है। अत: यह सुसिद्ध है कि यह साधना आगम प्रमाणित है।

उपासकप्रतिमा धारण की मूल विधि

सामान्यत: यह विधि बारहव्रतारोपणसंस्कार-विधि के समान की जाती है, केवल व्रतग्रहण के पाठ अलग होते हैं। सुगमबोध के लिए वह संक्षेप में इस प्रकार है-

खरतरगच्छीय आचारदिनकर के अनुसार[85] सर्वप्रथम शुभमुहूर्त्त के दिन प्रतिमाग्राही श्रावक जिनमन्दिर में या समवसरण (त्रिगड़ा) में विराजित जिनप्रतिमा की पूजा करें। फिर नमस्कारमन्त्र के स्मरणपूर्वक समवसरण की तीन प्रदक्षिणा दें। फिर ईर्यापथिक प्रतिक्रमण करें। तदनन्तर एक खमासमणसूत्रपूर्वक वंदन करके प्रथम दर्शनप्रतिमा को ग्रहण करने के निमित्त गुरू के साथ देववन्दन करें। उसके बाद प्रतिमाग्राही श्रावक द्वारा निवेदन किए जाने पर गुरू उसके मस्तक पर वासचूर्ण का निक्षेप करें। पुन: एक खमासमणसूत्र पूर्वक दर्शनप्रतिमा ग्रहण करने के निमित्त सत्ताईस श्वासोश्वास-परिमाण लोगस्ससूत्र का चिन्तन (कायोत्सर्ग) करें। उसके पश्चात् दर्शनप्रतिमा ग्रहण करने एवं करवाने के लिए गुरू से निवेदन करें। तब गुरू तीन बार नमस्कारमन्त्र का स्मरण करते हुए निम्न दंडक या आलापक का तीन बार उच्चारण करवाएँ और प्रतिमा ग्रहण का पाठ प्रतिमाग्राही श्रावक को दर्शनप्रतिमा में स्थापित करें। दंडक इस प्रकार है-

''अहन्नं भंते तुम्हाणं समीवे मिच्छत्तं दव्वभावभेयभिन्नं पच्चक्खामि दंसणपडिमं उवसंपज्जामि नो मे कप्पई अज्जपभिई अन्नउत्थिय देवयाणि वा, अन्नउत्थियपरिग्गहिआणि वा, अर्हतचेइयाणि वा वंदित्तए वा, नमंसित्तए वा, पुव्विअणालत्तेणं आलवित्तए वा संलवित्तए वा तेसिं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा, दाउं वा अणुप्पयाउं वा तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि तहा अईयं निंदामि पडुप्पन्नं संवरेमि अणागयं पच्चक्खामि अरिहंतसक्खियं सिद्धसक्खियं, साहुसक्खियं देवसक्खियं गुरूसक्खियं अप्पसक्खियं वोसिरामि। तहा दव्वओ, खित्तओ कालओ, भावओ, दव्वओणं एसा दंसणपडिमा, खित्तओणं इहेव वा अन्नत्थ वा, कालओणं जावमासं, भावओणं जाव गहेणं न गहिज्जामि, जाव छलेणं न छलिज्जामि जाव सन्निवाएणं नाभिभविज्जामि ताव मे एसा दंसण पडिमा।''

भावार्थ- हे भगवन् ! मैं आपके समक्ष द्रव्य एवं भावरूप मिथ्यात्व का

त्याग करता हूँ और दर्शनप्रतिमा ग्रहण करता हूँ। आज से अन्य तिर्थों के देवों तथा अन्य तैर्थिकों द्वारा गृहीत अर्हत् चैत्यों को वंदन-नमस्कार करने का त्याग करता हूँ। इस प्रकार अन्य तैर्थिकों के साथ सम्भाषण करने, उनसे संलाप करने, उनको अशनादि देने का तीन योग तीन, करण से, अर्थात् मन-वचन-काया से करने करवाने अन्य करने वालों की अनुमोदना करने का त्याग करता हूँ। साथ ही पूर्वकृत दोषों की निन्दा करता हूँ, वर्तमान की सावद्य-क्रिया का संवरण करता हूँ एवं भविष्य में न करने की प्रतिज्ञा करता हूँ। मेरी यह प्रतिज्ञा अरिहंत, सिद्ध साधु, देव, गुरू और आत्मसाक्षीपूर्वक है। द्रव्य से दर्शनप्रतिमा का, क्षेत्र से सर्वत्र, काल से एक मास तक, भाव से जब तक रोगादि से ग्रसित न हो जाऊँ, तब तक इस प्रतिमा का पालन करूंगा।

तदनन्तर गुरू अक्षत एवं वासचूर्ण अभिमन्त्रित करें। प्रतिमाग्राही श्रावक सात बार खमासमणसूत्र पूर्वक वंदन करता हुआ गुरू से निवेदन करें, सभी मुनियों को प्रतिमाग्रहण करने की सूचना दें, सकल संघ को तीन प्रदक्षिणा पूर्वक प्रतिमाग्रहण करने की प्रतिज्ञा से अवगत करायें। उनकी वर्धापना को स्वीकार करें। दर्शनप्रतिमा में स्थिर रहने के निमित्त कायोत्सर्ग करें। तदनन्तर एक मास के लिए यथाशक्ति आयम्बिल आदि तप करने का, दिन की तीनों संध्याओं में विधिपूर्वक देवपूजन करने का, पार्श्वस्थ (शिथिलाचारी) मुनियों को वन्दन न करने का, शंका आदि पाँच प्रकार के अतिचारों का सेवन न करने का एवं राजा आदि छः प्रकार के अभियोगों का प्रसंग आने पर भी दर्शनप्रतिमा का त्याग नहीं करूँगा, इत्यादि प्रकार के अभिग्रह (नियम) धारण करें।

यह विधि दर्शनप्रतिमा ग्रहण करने से सम्बन्धित कही गई है। शेष प्रतिमाएँ ग्रहण करने की भी यही विधि है। केवल अन्तर यह है कि दूसरी व्रतप्रतिमा धारण करते समय दंडक में दो मास और मिथ्यात्व के स्थान पर **'निरतिचारपंचाणुव्रतप्रतिपालनविषया गुणव्रतशिक्षाव्रतप्रतिपालनं'** वाक्य बोलना चाहिए। तीसरी सामायिकप्रतिमा ग्रहण करते समय तीन मास और **'उभयसन्ध्यंसामायिकं करोमि, या सामाइयपडिमं उवसंपज्जामि'** पाठ बोलना चाहिए। चौथी पौषधप्रतिमा धारण करते समय चार मास और **'पोसहपडिमं उवसंपज्जामि'** पद कहना चाहिए। शेष प्रतिमाएँ ग्रहण करते समय क्रमशः पाँच मास, छः मास आदि बोलना चाहिए तथा नन्दीविधि,

खमासमणविधि, व्रतग्रहणविधि आदि समस्त विधान उन-उन प्रतिमाओं के नाम-पूर्वक करने चाहिए।

तपागच्छ, अचलगच्छ, पायच्छंदगच्छ आदि मूर्तिपूजक परम्पराओं में यह विधि किस रूप में की जाती है? यह कहना मुश्किल है, क्योंकि इन परम्पराओं से सम्बन्धित इस विषयक एक भी ग्रन्थ देखने में नहीं आया है। संभवत: तपागच्छ परम्परा वाले अधिकांश विधि-विधान आचारदिनकर को आधार मानकर करते रहे हैं। उस दृष्टि से कहा जा सकता है कि खरतरगच्छ-परम्परानुसार जो विधि दर्शाई गई है, इस परम्परा में भी वही स्वरूप मान्य होना चाहिए। अत: कहा जा सकता है कि खरतरगच्छ और तपागच्छ-दोनों परम्पराओं में यह विधि समान है तथा अन्य परम्पराएँ लगभग तपागच्छ-सामाचारी का अनुकरण करने वाली होने से इनमें भी प्रतिमा- विधि का पूर्वोक्त स्वरूप ही समझा जाना चाहिए।

स्थानक एवं तेरापंथी परम्परा उपासक-प्रतिमा की साधना विधि निश्चित रूप से स्वीकार करती हैं, किन्तु इन द्विविध आम्नाय में दशाश्रुतस्कन्ध की विधि के अतिरिक्त किसी प्रकार के अन्य विधि-विधान प्रचलित नहीं हैं, क्योंकि इन परम्पराओं की विशेष रूचि कर्मकाण्ड में नहीं है।

दिगम्बर परम्परा में प्रतिमा स्वीकार करने की प्रवृत्ति सर्वाधिक रही है। इसका एक हेतु यह माना जा सकता है कि इस विषय को लेकर सबसे अधिक चर्चा दिगम्बर-ग्रन्थों में उपलब्ध है। जहाँ तक तत्सम्बन्धी विधि-विधानों का प्रश्न है, वहाँ इस विधि से सम्बन्धित कोई ग्रन्थ अवश्य होना चाहिए, परन्तु हमें अभी तक वह उपलब्ध नहीं हो पाया है और न ही कोई स्पष्ट जानकारी प्राप्त हो पाई है, अत: इसके बारे में अधिक कहना मुश्किल है। फिर भी इतना सच है कि इनमें श्वेताम्बर-परम्परा की भाँति नन्दीरचना, देववन्दन, वासदान, खमासमण आदि विधि-प्रक्रियाएँ नहीं होती है। सम्भवत: भक्तिपाठ एवं निर्धारित दंडकपाठ के साथ यह विधि सम्पन्न की जाती है।

ग्यारह प्रतिमाओं के प्रयोजन

उपासक की ग्यारह प्रतिमाओं के अनुक्रमश: ये प्रयोजन हैं-

- दर्शनप्रतिमा का उद्देश्य मिथ्यात्वबुद्धि से रहित और शमसंवेग आदि प्रशस्त गुणों से युक्त होना है।

- व्रतप्रतिमा का लक्ष्य अणुव्रतों की प्राप्ति द्वारा आत्मा के प्रशस्त परिणामों को जाग्रत करना और जीवदया, धर्मशास्त्रश्रवण, आदि क्रियाओं में विशेषता प्रकट करना है।
- सामायिकप्रतिमा देशविरति के परिणाम उत्पन्न करने, समत्वभाव में सजग रहने एवं समत्व की अवस्थिति बनाए रखने के प्रयोजन से की जाती है।
- पौषधप्रतिमा का प्रयोजन आत्मभावों का पुष्ट करना है।
- कायोत्सर्गप्रतिमा का उद्देश्य अनावश्यक प्रवृत्तियों से बचे रहना और रसनेन्द्रिय को नियन्त्रित करना है।
- आठवीं आरम्भवर्जनप्रतिमा का उद्देश्य पारिवारिक एवं व्यापारिक पापजन्य कार्यों से निर्लेप रहना है।
- नौवीं प्रेष्यवर्जनप्रतिमा ममत्वबुद्धि का क्षय करने, लोक- व्यवहार से निवृत्त होने एवं भवभोगों से भय बुद्धि उत्पन्न करने के लिए स्वीकार की जाती है।
- दसवीं उद्दिष्टवर्जनप्रतिमा स्व स्वरूप में स्थित होने एवं जीवादि सूक्ष्मपदार्थों का सतत चिन्तन करते रहने के प्रयोजन से ग्रहण की जाता है।
- ग्यारहवीं श्रमणभूतप्रतिमा श्रमणतुल्य जीवन का अभ्यास करने के उद्देश्य से स्वीकार जाती है। यह प्रतिमाधारी केवल मन से ही नहीं, काया से भी चारित्रधर्म का पालन करता है।

इस प्रकार हम पाते हैं कि प्रत्येक प्रतिमा का प्रयोजन भिन्न-भिन्न और पूर्णत: आध्यात्मिक है।[86]

तुलनात्मक विवेचन

यदि उपासकप्रतिमा विधि का तुलनापरक विवेचन करना चाहें, तो इस सम्बन्ध में मुख्य रूप से दो ग्रन्थ ही उपलब्ध होते हैं-

1. तिलकाचार्यसामाचारी और 2. आचारदिनकर। इन द्विविध ग्रन्थों में इस विधि का प्रारम्भिक, विकसित एवं सुनिश्चित स्वरूप सम्यक् रूप से प्रतिपादित है। प्राय: आगम और आगमेतर- साहित्य में जहाँ कहीं 'प्रतिमा' का वर्णन है, वहाँ मात्र स्वरूप आदि की ही चर्चा की गई है अत: सुनिश्चित है कि इस विधि

का तात्त्विक स्वरूप उपरोक्त ग्रन्थों में ही निर्दिष्ट है।

जब हम इन ग्रन्थों के आधार पर तुलनात्मक-विचार प्रस्तुत करते हैं तो ज्ञात होता है कि इन दोनों ग्रन्थों में मुख्य अन्तर दंडक (ग्रहण पाठ) को लेकर है। तिलकाचार्यसामाचारी के अनुसार प्रतिमाग्रहणदंडक निम्न है[87]-

प्रथम दर्शनप्रतिमा- अहं भंते ! तुम्हाणं समीवे पढमं दंसणपडिमं उवसंपज्जामि। तं जहा-दव्वओ खित्तओ कालओ भावओ। दव्वओणं संकाइयाइपारविरहियाइं रायाइछछिंडियो विवज्जियाइं मिच्छत्तमोहणीय कम्मक्खओवसमसमुत्थाइं सम्मद्दंसणदलियाइं। खित्तओणं इत्थ वा अणत्थ वा। कालओणं मासमेगं। भावओणं जाव गहेणं न गहिज्जामि, जाव छलेणं न छलिज्जामि ताव मम एसा दंसणपडिमा समारोविया, अरिहंतसक्खियं सिद्धसक्खियं साहुसक्खियं देवसक्खियं अप्पसक्खियं अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरामि।

द्वितीय व्रतप्रतिमा- अहं भंते ! बीयं वयपडिमं उवसंपज्जामि। तं जहा-दव्वओ खित्तओ कालओ भावओ। दव्वओणं पंचाइयार विसुद्धं थूलं मुसावायं थूलमदिन्नादाणं, थूलंमेहूणं थूलंपरिग्गहं जह गहियभंगेहि य परिहरामि। खित्तओणं इत्थ अणत्थ वा। कालओणं जाव गहेणं नं. ताव मम एसा वयपडिमा समारोविया अरिहंतसक्खियं .....वोसिरामि।

तृतीय सामायिकप्रतिमा- अहं भंते ! तुम्हाणं समीवे तइयं सामाइयपडिमं उवसंपज्जामि तं जहा-दव्वओ, खित्तओ, कालओ भावओ। दव्वओणं सामाइय दव्वाइं। खित्तओणं इत्थ अणत्थ वा। कालओणं तिन्नि मासा। भावओणं जाव गहेणं तावमम एसा सामाइय पडिमा सामारोविया अरिहंतसक्खियं .....वोसिरामि।

चतुर्थ पौषधप्रतिमा- अहं भंते! चउत्थिं पोसहपडिमं उवसंपज्जामि तं जहा-दव्वओ, खित्तओ कालओ भावओ। दव्वओंणं पोसह दव्वाइं। खित्तओण इत्थ अणत्थ वा। कालओणं चत्तारि मासा। भावओणं जाव गहेणं ताव मम एसा पोसह पडिमा समारोविया अरिहंतसक्खियं. .....वोसिरामि।

शेष प्रतिमाओं के दंडक (पाठ) पूर्ववत् ही समझना चाहिए। आचारदिनकर में वर्णित प्रतिमाग्रहण के पाठ कुछ भिन्न हैं। स्पष्ट बोध के लिए उन पाठों को

प्रतिमा ग्रहण विधि के अन्तर्गत देखा जा सकता है।

उक्त दोनों ग्रन्थों में दंडक (पाठ) को लेकर मुख्य भिन्नता यह है कि तिलकाचार्य ने प्रतिमाग्राही श्रावक के लिए अन्नत्थणाभोग आदि चार आगार रखे जाने का निर्देश किया है, जबकि वर्धमानसूरि ने इसका निषेध किया है। वस्तुत: प्रतिमा एक उत्सर्गमार्ग रूप है। यदि उसमें आगार (छूट) आदि रखे जाएं तो यह साधना अपवाद मार्ग रूप हो जायेगी। यहाँ निष्पक्ष दृष्टि से आचारदिनकर का अभिमत ही सर्वथा उपयुक्त है। इसके अतिरिक्त नन्दी, देववन्दन, वासदान, प्रदक्षिणा आदि का उल्लेख दोनों में समान प्राय: है। दूसरी समानता यह है कि दोनों ही ग्रन्थों में आदि की चार प्रतिमाओं के दंडक ही दिए गए हैं और कहा गया है कि अधुना कालविपर्यास एवं संहनन-शैथिल्य के कारण श्रावक द्वारा प्रारम्भ की चार प्रतिमाएँ ही ग्रहण की जाती है, शेष प्रतिमाओं के नियम कठोर होने से उन्हें धारण करना गृहस्थ साधक के लिए असंभव है।[88]

यदि हम जैन, वैदिक एवं बौद्ध इन तीनों परम्परा के सन्दर्भ में विचार करें, तो इस विधि की अवधारणा जैन-धर्म की श्वेताम्बर और दिगम्बर-दोनों परम्पराओं में दिखाई देती है, परन्तु वैदिक एवं बौद्ध-परम्परा में इस तरह का कोई विधान परिलक्षित नहीं होता है।

उपसंहार

जैन-दृष्टिकोण के अनुसार विशिष्ट प्रकार की प्रतिज्ञा स्वीकार करना या व्रतविशेष का दृढ़संकल्प करना 'प्रतिज्ञा' कहलाता है। जिस प्रकार व्यक्तिविशेष की आकृति के रूप में निर्मित पत्थर की प्रतिमा अडोल और अकम्प रहती है, उसी प्रकार व्रतविशेष को धारण करने वाला साधक स्वगृहीत प्रतिज्ञा में अडिग रहता है। यदि किसी प्रकार की प्रतिकूल स्थिति उत्पन्न हो जाए, तो भी वह यत्किंचित् भी विचलित नहीं होता है, इसीलिए दृढ़ प्रतिज्ञा को प्रतिमा कहा गया है तथा वह प्रतिज्ञा जिस व्यक्ति द्वारा स्वीकार की जाती है, वह प्रतिमाधारी कहलाता है।

जैन-धर्म में प्रतिमाधारी श्रावक को गृहस्थ साधकों की श्रेणी में सर्वोत्तम माना गया है। गृहस्थ साधकों की अपेक्षा तुलना करें, तो ग्यारहवीं श्रमणभूतप्रतिमा की उपासना करने वाला श्रावक गृहस्थधर्म की सर्वोत्कृष्ट

साधना पर आरूढ़ होता है, क्योंकि इसका अग्रिम चरण मुनि जीवन को स्वीकार करना ही बताया है। इस वर्णन से यह दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है कि प्रतिमा स्वीकार गृहस्थ जीवन की उच्चतम साधना का वरण करना है।

इस विधान की उपादेयता के सम्बन्ध में कहें तो यह तथ्य ज्ञात होता है कि अमुक प्रकार की प्रतिज्ञा विशेष द्वारा व्यक्ति का मनोबल परिपक्व बनता है। मनोबल की परिपक्वता से आत्मबल का विकास होता है तथा आत्मबल के विकसित होने पर स्वयं के भीतर सुप्त व आच्छादित अनन्त शक्तियाँ जाग्रत करने की योग्यता अर्जित कर लेता है और यथासाधना उस मार्ग में सफल भी हो जाता है, अर्थात् विशिष्ट प्रकार का क्षयोपशम उपलब्ध करता है, जो चरम लक्ष्य (मोक्ष) की प्राप्ति कराने में परम्परा से कारणभूत बनता है।

यह ध्यातव्य है कि उपासक प्रतिमाएँ एक के बाद एक क्रमशः धारण की जाती हैं तथा प्रत्येक प्रतिमा को धारण करने वाला व्यक्ति कम से कम एक, दो या तीन दिन और अधिक से अधिक एक महीना, दो महीना, यावत् ग्यारह महीना पर्यन्त उस- उस प्रतिमा का पालन करता है। उस

अवधि के अन्तराल में वह कठोर साधना का अभ्यासी भी बन जाता है। इसके साथ ही साधना के परिणामस्वरूप प्रतिकूल परिस्थितियों में प्रसन्न रहने, विषमता भरे वातावरण में तटस्थ रहने एवं विभिन्न प्रकार के नियमोपनियमों का निर्दोषतः पालन करने में सक्षम बन जाता है।

इसकी सर्वाधिक उपादेयता इस उद्देश्य को लेकर भी स्वीकारी जा सकती है कि यह एक क्रमिक-विकास की यात्रा का उपक्रम है। इसमें साधक व्रताचरण के ग्यारह सोपानों पर अनुक्रमशः आरूढ़ होता है। दूसरे इस साधना का अनुपालन यावज्जीवन के लिए भी किया जा सकता है और निर्धारित अवधि विशेष के लिए भी।

समाहारतः यह आचार पक्ष को सुसंस्कारित करने वाली आध्यात्मिक साधना है। श्वेताम्बर-परम्परा इसके अस्तित्व को तो सर्वांग रूपेण स्वीकार करती है, किन्तु इस विषमकाल में प्रतिमाओं को ग्रहण करने की परिपाटी लगभग समाप्त हो चुकी है जबकि दिगम्बर परम्परा में आज भी प्रतिमाधारी वर्ग की बहुतायत है।

सन्दर्भ सूची

1. (क) प्रतिपत्तिः प्रतिमाणं वा पडिमा।
   दशाश्रुतस्कन्ध-दशा, 6/8 की चूर्णि, पृ.-375
   (ख) प्रतिमाभिः अभिग्रहविशेषभूताभिः। आचारचूला, 2/62 की टीका,
2. आभिधानराजेन्द्रकोश, भा. 5 . पृ. 332
3. समाधिओवहाणे य, विवेगपडिमाइया।
   पडिसंलीणा य तहा, एग विहारे य पंचमिया।।
   दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति, गा.-46
4. दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति, 47-48 की चूर्णि,
5. आचारांगसूत्र, संपा. मधुकरमुनि, 1/8/7/227
6. एक्कारस उवासगपडिमाओ पण्णत्ताओ तं जहा दंसणावय .....
   समणभूए, आवि भवइ समाणाओ।
   समवायांग -आगमसुत्ताणि, भा.-4, 11/19
7. इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं एक्कारस उवासगपडिमाओ पण्णत्ताओ।
   दशाश्रुतस्कन्ध, सं. दीपरत्नसागर, 6/35
8. कषायपाहुड, जयधवलाटीका, 9/130
9. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, 1/137-147
10. विंशतिविंशिका, 10/1
11. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा.-24, 27-29, 70-90
12. वसुनन्दिश्रावकाचार की भूमिका, पृ.-50
13. दशाश्रुतस्कन्ध, नवसुत्ताणि, 6/1-18
14. जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक विवेचन
    भा.-2, पृ.-319
15. दशाश्रुतस्कन्ध, नवसुत्ताणि, 6/8
16. उपासकाध्ययन, 821
17. वसुनन्दिश्रावकाचार, 205
18. (क) प्रश्नोत्तरश्रावकाचार, 12/4
    (ख) लाटीसंहिता, 1/6
19. दशाश्रुतस्कन्ध, नवसुत्ताणि, 6/9

20. वही, 6/19
21. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, 139
22. दशाश्रुतस्कन्ध-नवसुत्ताणि, 6/11
23. उपासकदशांग-अभयदेवटीका, पृ.-66
24. (क) श्रावकाचारसंग्रह, भा.-4, प्रस्ता., पृ.-83
    (ख) धर्मरत्नाकर, श्लो.-32-33
25. दशाश्रुतस्कन्ध, नवसुत्ताणि, 6/12
26. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, 141
27. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा. 78-79
28. वसुनन्दिश्रावकाचार, 295
29. (क) उपासकाध्ययन, 821
    (ख) चारित्रसार, (श्रावकाचारसंग्रह) पृ.-255
30. दशाश्रुतस्कन्ध, 6/23
31. विंशतिविंशिका, 10/14
32. प्रश्नोत्तरश्रावकाचार, 107
33. (क) दशाश्रुतस्कन्ध, नवसुत्ताणि, 6/16 (ख) उपासकटीका, पृ. 67
34. श्रावकाचार, संग्रह, भा. 5, पृ. 375
35. गुणभूषणश्रावकाचार, पृ.-454
36. (क) दशाश्रुतस्कन्ध, नवसुत्ताणि, 6/17
    (ख) उपासकटीका-अभयदेवसूरि, पृ.-67
37. वही, 6/27
38. (क) वसुनन्दिश्रावकाचार, 301
    (ख) सागारधर्मामृत, 7/37-38
    (ग) लाटीसंहिता 56/63
39. जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश-भा. 2, पृ. 189
40. जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन भा.-2, पृ.-323
41. प्रश्नोत्तरश्रावकाचार, श्लो.-110
42. लाटीसंहिता, श्लो.-64

43. प्रश्नोत्तरश्रावकाचार, श्लो.-34, 41, 42
44. श्रावकाचारसंग्रह, भा.-1, पृ.-223
45. वही, भा.-2, पृ.-22
46. वही, भा.-1, पृ.-257
47. धर्मरत्नाकर, आ. जयसेन, श्लोक-62-64
48. वही, 35-36
49. वही, 76-77
50. वही, 32-33
51. वही, 9-10
52. वही, 17
53. वही, 27
54. वही, 36
55. वही, 44
56. वही, 67
57. वही, 73
58. पंचाशकप्रकरण, 10/39-42
59. श्री भिक्षुआगमविषयकोश, भा.-2, पृ.-157
60. समवायांग, 11/1 की टीका, उद्धृत- श्री भिक्षुआगमकोश, भा.-2, पृ.-154
61. से णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणे जहण्णेणं एगाहं वा, दुयाहं वा, तियाहंवा जारव-उक्कोसेणं पंच मासं विहरइ सव्व-धम्म-रूई यावि भवइ-जाव उद्दिट्ठभत्ते ..... उक्कोसेणं एक्कारसमासे विहरेज्जा।
दशाश्रुतस्कन्ध, 6/17-30
62. एवं उक्कोसेणं एक्कारस, मास जाव विहरेइ।
एगाहादियरेणं, एयं सव्वत्थ पाएणं।।
पंचाशक प्रकरण, 10/38
63. वरदंसणवयजुत्तो, सामाइयं कुणइ जो उ।
तिसंझासु उक्कोसेण, तिमासं एसा सामाइय पडिमा।।
पुव्वोदियपडिमजुओ, पालइ जो पोसहं तु सम्पुण्णं।
अट्ठमिचउद्दसाइसु, चउरो मासे चउत्थी सा ।।
उपासकदशा, सू.15 की टीका, आगमसुत्ताणि, भा. 7, पृ. 276-77

64. तिलकाचार्यसामाचारी पर आधारित, पृ.-10
65. जैन आचार सिद्धान्त और स्वरूप, पृ.-359
66. वही, पृ.-359
67. विधिमार्गप्रपा, पृ.-6
68. जैन आचार सिद्धान्त और स्वरूप, पृ.-359
69. अभिधानराजेन्द्रकोश, भा. 2, पृ. 1130, 1134
70. आचारदिनकर, पृ.-52
71. समवायांगसूत्र, 11/5
72. आणंदे समणोवासए उवासग पडिमाओ उवसंपज्जित्ताणं विहरइ।
उपासकदशा, मधुकरमुनि, 1/70
73. दशाश्रुतस्कन्ध, नवसुत्ताणि, 6/1-18
74. उपासकदशा, अभयदेवटीका, पृ.-65/68
75. विंशतिविंशिका, 10 वीं विंशिका
76. पंचाशक प्रकरण- 10 वाँ प्रकरण
77. कषायपाहुड, जयधवलाटीका, 9/130
78. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, 1/137-147
79. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा.-24, 27-29, 70-90
80. उपासकाध्ययन, 821-822
81. अमितगतिश्रावकाचार, 7/67-78
82. वसुनन्दिश्रावकाचार, 205-213
83. सागारधर्मामृत, 3/6 से 7/37
84. तिलकाचार्यसामाचारी, पृ. 9-10
85. आचारदिनकर, पृ.-52-53
86. पंचाशकप्रकरण, 10/5-37 पर आधारित
87. तिलकाचार्यसामाचारी, पृ.-9
88. वही, पृ.-11

●

प्रयुक्त ग्रंथ सूची

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
1.	अभिधानराजेन्द्रकोश (भाग-1-7)	श्रीराजेन्द्रसूरि	राजेन्द्रसूरि ज्ञानमंदिर रतनपोल, अहमदाबाद	1982
2.	अनगारधर्मामृत	अनु.पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली	1977
3.	अष्टपाहुड	अनु.पं. पन्नालाल साहित्याचार्य	श्री दिगम्बर जैन मंदिर गुलाबवाटिका, दिल्ली	1995
4.	अन्तकृत्दशासूत्र	सं. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति ब्यावर	1990
5.	अनुयोगद्वारसूत्र	सं. मधुकरमुनि	आगमप्रकाशन समिति, ब्यावर	1987
6.	आवश्यकसूत्र	सं. मधुकरमुनि	आगमप्रकाशन समिति, ब्यावर	1989
7.	आवश्यकनिर्युक्ति	समणी कुसुमप्रज्ञा	जैन विश्व भारती, लाडनूं	2001
8.	आवश्यकनिर्युक्ति	भद्रबाहु रचित सं. विजयजिनेन्द्रसूरि	हर्षपुष्पामृत ग्रंथमाला, लाखावाबल, शान्तिपुरी सौराष्ट्र	1989
9.	आवश्यकचूर्णि (भा.1-2)	जिनदासगणिमहत्तर	ऋषभदेव केसरीमलजी संस्था, रतलाम	1928
10.	आवश्यकटीका	आचार्यमलगिरि	जिनशासन आराधना ट्रस्ट, मुंबई	2046
11.	आवश्यकवृत्ति	आचार्य हरिभद्रसूरि	आगमोदय समिति, मुंबई	1928
12.	आचारांगसूत्र(भा.1-2)	सं. मधुकरमुनि	आगमप्रकाशन समिति, ब्यावर	1989

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
13.	आचारांगसूत्र	अनु. सौभाग्यमलजी	श्री धर्मदासजैन मित्र मंडल, 80, नौलाईपुरा	2001
14.	आचारांगसूत्र	अनु. सौभाग्यमलजी	श्री धर्मदासजैन मित्र मंडल 80, नौलाईपुरा, रतलाम	1963
15.	आयारो(आचारचूला)	सं. मुनि नथमल	जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं	वि.सं. 2031
16.	आचारांगनिर्युक्ति	आ. भद्रबाहु स्वामी	आगमोदयसमिति, सूरत	1962
17.	आचारांगचूर्णि	जिनदासगणिमहत्तर	श्री ऋषभदेव-केसरीमल श्वेताम्बर संस्था, रतलाम	1977
18.	आचारांगटीका	शीलांकाचार्य	आगमोदय समिति, सूरत	1962
19.	आचारप्रदीप	आचार्य रत्नशेखरसूरि	देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड, जवेरी बाजार, मुंबई	1927
20.	आचारदिनकर(भा.1-2)	आचार्य वर्धमानसूरि	निर्णयसागर मुद्रालय, मुंबई	1922
21.	आचारदिनकर(भा.1-2)	आचार्य वर्धमानसूरि	जसवंतलालशाह दोशीवाडानी पोल. अहमदाबाद	1981
22.	आत्मानुशासनम्	संपा. पं.बालचन्द्र सिद्धांतशास्त्री	जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर	1980
23.	आगमशब्दकोष	आ. महाप्रज्ञ	जैन विश्व भारती लाडनूं	1980
24.	आगमसुत्ताणि सटीक (भा.1-25)	मुनि दीपरत्नसागर	आगमआराधनाकेन्द्र रवानपुर, अहमदाबाद	2000
25.	आदिपुराण (भा.1-2)	आ. जिनसेन	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली	2000
26.	आनंदघन चौबीसी	मुनि आनंदघन	राजप्रेस, सोजती गेट, जोधपुर	वि.सं. 2012

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
27.	आचार्य हरिभद्र के ग्रन्थों में श्रावकाचार	अर्पणा चाणोदिया	बरकतउल्ला विश्वविद्यालय, भोपाल	2002
28.	आवश्यकसूत्र सार्थ	सं. कुन्दनऋषिजी	श्रीरत्न जैन पुस्तकालय अहमदनगर	1986
29.	उत्तराध्ययनसूत्र	सं. मधुकरमुनि	आगमप्रकाशन समिति, ब्यावर	1884
30.	उत्तराध्ययनटीका (भा.1-3)	वादिवेताल शान्त्याचार्य	जिनशासन आराधना ट्रस्ट, मुंबई	वी.सं. 2517
31.	उपांग सुत्ताणि (खं.1-3)	आ. महाप्रज्ञ	जैन विश्व भारती, लाडनूं	वि.सं. 2049
32.	उपासकदशासूत्र	सं. मधुकरमुनि	आगमप्रकाशन समिति, ब्यावर	1989
33.	उपासकदशा	आ. अमोलकऋषि	सिकंदराबाद जैनसंघ, हैदराबाद	1972
34.	उवासगदसाओ	आ. अभयदेवसूरि	पं. भगवानदास हर्षचन्द्र जेनानन्द पुस्तकालय गोपीपुरा, सूरत	वि.सं. 1992
35.	उपासकदशा टीका	आ. अभयदेवसूरि	राजधनपतसिंह बहादुर, अजीमगंज	1933
36.	उपासकदशांगसूत्र का आलोचनात्मक अध्ययन	सुभाषचन्द कोठारी	सुखाड़िया विश्व-विद्यालय, उदयपुर	1985
37.	उपदेशप्रासाद भाग.1-5)	विजयलक्ष्मीसूरि	श्री वर्द्धमान जैन तत्त्व प्रचारक विद्यालय, शिवगंज	1997
38.	उपदेशमाला	धर्मदासगणि, अनु. पद्मविजय	निर्ग्रन्थ साहित्य	1971
39.	उपासकाध्ययन	अनु. ज्ञानभूषणजी	दिगम्बरजैन समाज	1987

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
40.	उपधान का सुंदर स्वरूप	आनन्दसागरसूरि	आगमोद्धारक प्रतिष्ठान, छाणी विपीनचन्द्र एस शाह,बड़ौदा	
41.	उपधानविधि तथा पोसह विधि	सं. कंचनविजयजी	धीरजलाल प्रभुदास वेलाणी, भावनगर	1949
42.	उपाधानतपक्रियादि संग्रह	सं. प्रभाकरसागर	आनंद ज्ञान मंदिर, सैलाना	1977
43.	उपधानविधान	ले. विजयदक्षसूरिजी	श्रीजैन संघ, ऊँझा	वि.सं. 2058
44.	ऋग्वेद	पं. श्रीरामशर्मा आचार्य	संस्कृति संस्थान, बरेली	1969
45.	अंगसुत्ताणि	आ. महाप्रज्ञ	जैन विश्व भारती, लाडनूं	1986
46.	अंगुत्तरनिकाय(भा.1)	भदंतआनंद कौसल्यायन	महाबोधिसभा, कलकत्ता	1987
47.	कसायपाहुडसुत्त (चूर्णियुक्त)	पं. हीरालालजैन	वीरशासनसंघ, कोलकाता	1955
48.	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	स्वामीकार्तिकेय	दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर, सोनगढ़	वि.सं. 2505
49.	गणिविद्याप्रकीर्णक	डॉ. सुभाषकोठारी	आगम अहिंसा समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर	1994
50.	गोम्मटसार(जीवकाण्ड)	अनु. डॉ. आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये	भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली	1999
51.	गोम्मटसार(कर्मकाण्ड)	डॉ. आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली	1999
52.	चरणानुयोग (भा.1-2)	संपा.मुनि कन्हैलयालाल कमल	आगम अनुयोग ट्रस्ट, अहमदाबाद	1990
53.	छान्दोग्योपनिषद्	सानुवाद, शांकर भाष्यसहित	गोविन्द भवन, गीता प्रेस, गोरखपुर	वि.सं. 2052

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
54.	जिनवल्ल्भसूरि ग्रन्थावली	महो. विनयसागर	प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर	2004
55.	जीतकल्पसूत्र (स्वोपज्ञभाष्य)	संपा. मुनिपुण्यविजय	बबलचन्द्र-केशवलाल मोदी हाजापटेल नीपोल, अहमदाबाद	
56.	जीवविचारप्रकरण (सार्थ)	वादिवेताल श्री शांतिसूरि	जैनश्रेयस्करमंडल, महेसाणा	वि.सं. 2033
57.	जैनसिद्धांतबोलसंग्रह (भा.1-8)	सं. भैरोदानजी सेठिया	जैनपारमार्थिक संस्था, बीकानेर	1945
58.	जैनेन्द्रसिद्धांतकोश (भाग.1-2)	क्षु. जिनेन्द्रवर्णी	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली	1977
59.	जैन आचार सिद्धांत और स्वरूप	देवेन्द्रमुनि शास्त्री	तारकगुरू जैन ग्रन्थालय, उदयपुर	1982
60.	जैन आगम साहित्य मनन और मीमांसा	देवेन्द्रमुनि शास्त्री	तारकगुरू जैन ग्रन्थालय, उदयपुर	1977
61.	जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन (भा. 1-2)	डॉ. सागरमल जैन	पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी	1999
62.	जैन दर्शन में सम्यग्दर्शन का समालोचनात्मक अध्ययन (शोध प्रबन्ध)	विनोद कुमार जैन	डॉ. हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र)	1997
63.	तत्त्वार्थसूत्र	पं. सुखलालजी संघवी	पं. दलसुखभाई मालवणिया, हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी	1952

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
64.	तत्त्वार्थराजवार्तिक	सं. महेन्द्र कुमार जैन	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली	1993
65.	तत्त्वार्थधिघमसूत्र (सभाष्य)	आ. भद्रबाहु रचित	हर्षपुष्पामृत ग्रंथमाला, मंडल, मुंबई-2	1932
66.	दशाश्रुतस्कंधनिर्युक्ति (निर्युक्तिपंचक)	आ. भद्रबाहु रचित विजयजिनेन्द्रसूरि	हर्षपुष्पामृत ग्रंथमाला, शान्तिपुरी	1989
67.	दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति	डॉ. अशोक सिंह	पार्श्वनाथविद्यापीठ, वाराणसी	1998
68.	दशवैकालिकसूत्र	सं. मधुकरमुनि	आगमप्रकाशनसमिति, ब्यावर	1986
70.	दशवैकालिक निर्युक्ति सहचूर्णि	सं. मुनिपुण्यविजय	सरस्वती पुस्तक भंडार, रतनपोल, अहमदाबाद	2003
71.	दशवैकालिक चूर्णि	चूर्णि. जिनदासगणि	ऋषभदेव केशरीमल संस्था, रतनलाम	वि.सं. 1979
72.	दशवैकालिकवृत्ति	आचार्य हरिभद्रसूरि	जैन पुस्तकोद्धार फंड, सूरत	1974
73.	दीर्घनिकाय (भा.3)		विपश्यना विशोधन विन्यास, इगतपुरी	1998
74.	धर्मबिन्दु-सटीका	मुनिचन्द्राचार्य	श्रीवीरशासन प्रिंटिंग प्रेस, अहमदाबाद	वि.सं. 1980
75.	धर्मरत्नप्रकरण	शांतिसूरिकृत	जैन आत्मानंद सभा, भावनगर	1973
76.	धर्मशास्त्र का इतिहास	अनु. अर्जुन चौबे	हिन्दी समिति, उत्तर प्रदेश शासन, लखनऊ	1973
77.	धम्मपद	राहुलसांकृत्यायन	भिक्षु प्रज्ञानन्द बुद्ध विहार रिसालदार पार्क, लखनऊ	-

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
78.	धर्मसंग्रह (भा.1-3)	गणि मानविजय	निर्ग्रन्थ साहित्य प्रकाशन, हस्तिनापुर	1994
79.	नवतत्त्वप्रकरण(सार्थ)	-	जैनश्रेयस्कर मंडल, महेसाणा	वि.सं. 2037
80.	नंदीसूत्र	संपा. मधुकरमुनि	आगमप्रकाशन समिति, ब्यावर	1991
81.	नन्दीचूर्णि (जिनदासमहत्तर)	मुनि पुण्यविजय	प्राकृत टेक्स्ट सासायटी, बनारस	1966
82.	नन्दीटीका	आ. हरिभद्रसूरि	ऋषभदेवकेशरीमल संस्था, रतलाम	1984
83.	नन्दी वृत्ति	आ. मलयगिरि	आगमोदय समिति, मुंबई	वि.सं. 1980
84.	निर्युक्तिपंचक	आ. महाप्रज्ञ	जैन विश्व भारती, लाडनूं	1999
85.	निर्युक्तिसंग्रह	विजयजिनेन्द्रसूरि	हर्षपुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला, लाखावाबल शान्तिपुरी(सौराष्ट्र)	1989
86.	निशीथसूत्र	सं. मधुकरमुनि	आगमप्रकाशन समिति, ब्यावर	1991
87.	निशीथसूत्र(भा.1-4)	सं. अमरमुनि	अमर पब्लिकेशन, वाराणसी	2005
88.	नियमसार	आ. कुन्दकुन्द	पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर	1984
89.	पधारो पौषध करीये	संपा. विजयसिंह सेन		वि.सं. 2058
90.	पद्मपुराण (भा.1-2)	आचार्य रविषेण	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली	2000

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
91.	पद्मचरित	श्री मद्रविषेणाचार्य	माणिकचन्द्र जैन ग्रंथमाला, मुंबई	वि.सं. 1985
92.	पुरूषार्थसिद्धयुपाय	अनु. गंभीरचन्द्र जैन	दुलीचन्द्रजी जैन ग्रंथमाला सोनगढ़, (सौराष्ट्र)	वि.सं. 2499
93.	पंचलिंगीप्रकरण	जिनेश्वरसूरि	शुभ संकल्प बया मेटाररियल ट्रस्ट ई. 26 भूपालपुरा, उदयपुर	
94.	पंचवस्तुक (भा.1-2)	हरिभद्रसूरि रचित अनु. राजशेखरसूरि	अरिहंत आराधक ट्रस्ट, हिन्दुस्तान मिल स्टोर्स, गनी अपार्ट, भिवंडी	वि.सं. 2060
95.	पंचप्रतिक्रमण सूत्रार्थ (खरतरगच्छ)		श्री जैन साहित्य प्रकाशन समिति, कलकत्ता	वि.सं. 2036
96.	पंचप्रतिक्रमणसूत्रविधि (अचलगच्छ)	आ. गुणसागरसूरि	चंदुलालगांगजी फेमवाला, श्री क.वि.ओ. दे. जैन महाजन, मुंबई	वि.सं. 2048
97.	पंचप्रतिक्रमणसूत्रविधि (पार्श्वचंद्रगच्छ)	पार्श्वचन्दसूरि	पार्श्वचन्द्रसूरि ज्ञानमंदिर चेम्बुर, मुंबई	1992
98.	पंचाशकप्रकरण	अनु. दीनानाथ शर्मा	पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी	1997
99.	पंचाशक टीका	आचार्य अभयदेवसूरि	जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर	1912
100.	पंचविंशतिका	पद्मनन्दिकृत	जैनसंस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर	1977
101.	प्रतिक्रमणविधिसंग्रह	पं. कल्याणविजय	श्रीमांडवलाजैनसंघ, मांडवला	1973

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
102.	प्रज्ञापनासूत्र	सं. मधुकरमुनि	आगमप्रकाशनसमिति, ब्यावर	1993
103.	प्रश्नव्याकरणसूत्र	सं. मधुकरमुनि	आगमप्रकाशनसमिति, ब्यावर	1990
104.	प्रवचनसारोद्धार (भा.1-2)	अनु. हेमप्रभाश्री	प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर	
105.	प्रवचनसारोद्धार वृत्ति	सिद्धसेनसूरि	भारतीय प्राच्य तत्त्व प्रकाशन समिति, पिंडवाडा	1979
106.	प्रव्रज्यायोगादिविधि संग्रह	संपा. अजितशेखर विजय	दिव्यदर्शन ट्रस्ट, धोलका	वि.सं. 2054
107.	प्रवचनसार	अनु.पं. परमेष्ठीदासजी	पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर	वि.सं. 2006
108.	भगवतीसूत्र	आ. महाप्रज्ञ	जैन विश्व भारती, लाडनूं	1983
109.	भगवतीसूत्र	सं. मधुकरमुनि	आगमप्रकाशनसमिति ब्यावर	1994
110.	भगवती आरकाधना	पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री	हीरालाल खुशालचंद दोशी, फलटण (मांडवे)	1990
111.	भगवद्गीता	टी.जयदयाल गोयन्दका	गीताप्रेस, गोरखपुर	2004
112.	भावसंग्रह	आचार्य देवसेन	सखारामदोषी, फलटणगली, सोलापुर	वि.सं. 2454
113.	भिक्षुआगम विषय कोश (भाग.1-2)	आ. महाप्रज्ञ	जैनविश्वभारती, लाडनूं	2000
114.	मनुस्मृति	संपा.पं. जनार्दनझा	अ.भा. हिन्दी पुस्तकालय एजेंसी हरिसन रोड, कलकत्ता	वि.सं. 1983

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
115.	महानिसीहसुयखंधं	संपा. पुण्यविजयजी	प्राकृतग्रन्थपरिषद्, अहमदाबाद	1994
116.	मूलाचार(भा.1-2)	आ. वट्टकेर, टीकानुवाद- ज्ञानमती माताजी	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली	1944
117.	मंगल साधना	संकलन-प्रमोद संघवी	संखवी प्रकाशन, गोराकुण्ड, इंदौर	-
118.	योगदृष्टिसमुच्चय (भा.1)	सं. पद्मसेन विजय	दिव्यदर्शन ट्रस्ट, धोलका	-
119.	योगशास्त्र सटीका	मुनि जंबूविजय	शंखेश्वरतीर्थ	वि.सं. 2033
120.	योगशास्त्र भाषांतर	केशवसूरिजी	सरस्वती पुस्तक भंडार, अहमदाबाद	वि.सं. 2033
121.	योगदर्शन	स्वामी सत्यपति परिव्राजक	दर्शनयोग महाविद्यालय, सागपुर	2001
122.	रत्नसंचयप्रकरण	हर्षनिधानसूरि	जैनधर्मप्रचारक सभा, भावनगर	1985
123.	रयणसार	स्याद्वादमती माताजी	भारतवर्षीय अनेकांत विद्वत् परिषद्	1998
124.	रत्नकरण्ड श्रावकाचार	टीका.पं. सदासुखजी कासलीवाल	मध्यक्षेत्रीय मुमुक्षुमंडल संघ सागर	1983
125.	रत्नकरण्ड श्रावकाचार	स्वामी समंतभद्र आचार्य	पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर	1997
126.	राजप्रश्नीयसूत्र	सं. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1991
127.	लाटीसंहिता	राजमल्ल विरचित	श्री मणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रंथमाला गिरगांव	वि.सं. 1984

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
128.	व्यवहारभाष्य	आ. महाप्रज्ञ	जैन विश्व भारती, लाडनूं	2004
129.	व्यवहारभाष्य	अनु. मुनि दुलहराज	जैन विश्व भारती, लाडनूं	2004
130.	वरांगचरित	आ. जटासिंहनन्दि	भारतवर्षीय अनेकांत विद्वतपरिषद्	1996
131.	वसुनंदीश्रावकाचार	मुनि सुनीलसागर	पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी	1999
132.	विपाकसूत्र	सं. मधुकरमुनि	आगमप्रकाशन समिति,	1992
133.	विधिमार्गप्रपा	रचित जिनप्रभसूरि	प्राकृतभारती अकादमी, जयपुर	2000
134.	विधिमार्गप्रपा	अनु. सौम्यगुणाश्री	श्री महावीर स्वामी देरासर पायधुनी, मुंबई	2005
135.	विशेषावश्यकभाष्य (स्वोपज्ञवृत्ति)	आ.जिनभद्रगणि,संपा. दलसुख मालवणिया	भारतीय संस्कृत विद्या मंदिर, अहमदाबाद	1966
136.	विशेषावश्यकभाष्यम् (भा.1-2) (मलधार टीका)	सं. राजेन्द्र विजयजी	जैन श्वे. मू. ज्ञानोद्धार ट्रस्ट अहमदाबाद	वि.सं. 2489
137.	विशेषावश्यकभाष्य (भा.1-3) मलधारी हेमचन्द्रकृत वृत्ति	सं. गणि वज्रसेनविजय	भद्रंकर प्रकाशन, शाहीबाग, अहमदाबाद	वि.सं. 2053
138.	विंशतिविंशिका	सं. धर्मरक्षितविजय	दिव्यदर्शन ट्रस्ट, धोलका	वि.सं. 2054
139.	समणसुत्तं	पं. कैलाशचन्द्रजी शास्त्री	सर्व सेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी	1975
140.	समवायांगसूत्र	सं. मधुकरमुनि	आगमप्रकाशनसमिति, ब्यावर	1991

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
141.	समवायांग (वृत्तिसहित)	आचार्य अभयदेवसूरि	आगमोदय समिति, सूरत	1919
142.	सम्यक्त्व सप्ततिका:	विबुधविमलसूरि	नगीनभाई धेलाभाई जवेरी मुंबई	1916
143.	समयसार	संपा. पन्नालाल जैन	श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास	1982
144.	सर्वार्थसिद्धि	अनु.पं.फूलचन्द शास्त्री	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली	1944
145.	सन्मार्ग (पत्रिका)	आचार्य कीर्तियशसूरि	सन्मार्गप्रकाशन, रीलिफ रोड, अहमदाबाद	2003. 2004
146.	समत्वयोग एक समन्वय दृष्टि	डॉ. प्रीतम सिंधवी	नवदर्शन सोसायटी, गुलबाई टेकरा, अहमदाबाद	1996
147.	सप्तोपधानविधि	मुनि मंगलसागर	जिनदत्तसूरिज्ञानभंडार, सूरत	वि.सं. 2009
148.	सामायिक एक समाधि	सं.मुनिचंद्ररत्नसागर	रत्नसागर प्रकाशन निधि, ऐरोड्रम रोड, इन्दौर	वि.सं. 2054
149.	स्वाध्यायसमुच्चय	आ. जयंतसेनसूरि	राजेन्द्रसूरिज्ञान मंदिर रतनपोल, अहमदाबाद	वि.सं. 2004
150.	सामाचारी	तिलकाचार्य	डाह्याभाई मोकमचंद, पांजरापोल, अहमदाबाद	वि.सं. 1990
151.	सामायिकसूत्र	ले. अमरमुनि	सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा	1966
152.	सागारधर्मामृत	अनु.पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली	1944

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
153.	सिद्धांतसारसंग्रह	नरेन्द्रसेनाचार्य	जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर	1957
154.	सुभाषितरत्नसंदोह	अनु.पं. बालचन्द्र सिद्धांतशास्त्री	जैन संस्कृति संरक्षकसंघ, सोलापुर	1977
155.	सुबोधासामाचारी	श्रीचन्द्राचार्य	जीवनचंद साकरचंद, जवेरी बाजार, मुंबई	1980
156.	सूत्रकृतांगसूत्र	सं. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1991
157.	सेनप्रश्न	विजयसेनसूरि	श्री मुलुंड श्वे. मूर्तिपूजक जैन संघ, मुलुंड, मुंबई	1994
158.	स्थानांगसूत्र	सं. मधुकरमुनि	आगमप्रकाश समिति, ब्यावर	1991
159.	स्थानांगटीका(भा.1-2)	टीका. अभयदेवसूरि	आगमोदय समिति, सूरत	वि.सं. 1976
160.	संबोधसत्तरि(सार्थ)	संपा. अमितयशविजय	-	-
161.	संस्कृतहिन्दीकोश	वामनशिवराम आप्टे	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली	1966
162.	श्रमणसूत्र	उपा. अमरमुनि	सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा	1966
163.	श्रमणाचार	पं. लाडली प्रसाद जैन	ताराचन्द अजमेरा, दिल्ली	1989
164.	श्रमण प्रतिक्रमण	सं. आ. महाप्रज्ञ	जैन विश्व भारती, लाडनूं	1995
165.	श्राद्धप्रतिक्रमणसूत्र (प्रबोध टीका) (भा.1-3)	सं. भद्रकरविजयगणि	जैन साहित्य विकासमंडल, वीलेपारले मुंबई	2000

क्र.	ग्रन्थ का नाम	लेखक/संपादक	प्रकाशक	वर्ष
166.	श्रावकधर्मविधिप्रकरण	महो. विनयसागर	प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर	2001
167.	श्राद्धविधिप्रकरण	रत्नशेखरसूरि	जिनाज्ञा प्रकाशन, वापी	वि.सं. 2056
168.	श्रावकप्रज्ञप्ति	आचार्य हरिभद्रसूरि, संपा. बालचन्द्र शास्त्री	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली	वि.सं. 2038
169.	श्रावकाचारसंग्रह	पं. हीरालाल जैन शास्त्री	जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर	1988
170.	श्रावक सामायिक प्रतिक्रमणसूत्र	सं. पार्श्व मेहता	सम्यग्ज्ञान प्रचारक मंडल, जयपुर	1990
171.	श्रावकचर्या	सं. पवनजैन	डॉ. पन्नालाल जैन ग्रन्थमाला, जबलपुर	-
172.	हरिवंशपुराण	आ. जिनसेन, अनु. डॉ. पन्नालाल जैन	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली	2000
173.	हीरप्रश्न	सं. राजशेखरसूरि	अरिहंत आराधक ट्रस्ट हिन्दुस्तान मिल स्टोर्स, गनी अपार्ट, मुंबई-आगरा रोड भिवंडी	1999
174.	त्रीणि छेदसूत्ताणि (दशाश्रुतस्कन्ध)	सं. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर	1992
175.	ज्ञानार्णव	शुभचन्द्राचार्य	परमश्रुतप्रभावक मंडल, असाग	1981
176.	ज्ञाताधर्मकथासूत्र	संपा. मधुकरमुनि	आगम प्रकाशन समिति ब्यावर	वि.सं. 2518

●

सज्जनमणि ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित साहित्य का संक्षिप्त सूची पत्र

क्र.	नाम	ले./संपा./अनु.	मूल्य
1.	सज्जन जिन वन्दन विधि	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
2.	सज्जन सद्ज्ञान प्रवेशिका	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
3.	सज्जन पूजामृत (पूजा संग्रह)	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
4.	सज्जन वंदनामृत (नवपद आराधना विधि)	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
5.	सज्जन अर्चनामृत (बीसस्थानक तप विधि)	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
6.	सज्जन आराधनामृत (नव्वाणु यात्रा विधि)	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
7.	सज्जन ज्ञान विधि	साध्वी प्रियदर्शनाश्री	सदुपयोग
		साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
8.	पंच प्रतिक्रमण सूत्र	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
9.	तप से सज्जन बने विचक्षण	साध्वी मणिप्रभाश्री	सदुपयोग
	(चातुर्मासिक पर्व एवं तप आराधना विधि)	साध्वी शशिप्रभाश्री	सदुपयोग
10.	मणिमंथन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
11.	सज्जन सद्ज्ञान सुधा	साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
12.	चौबीस तीर्थंकर चरित्र (अप्राप्य)	साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
13.	सज्जन गीत गुंजन (अप्राप्य)	साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
14.	दर्पण विशेषांक	साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
15.	विधिमार्गप्रपा (सानुवाद)	साध्वी सौम्यगुणाश्री	सदुपयोग
16.	जैन विधि-विधानों के तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन का शोध प्रबन्ध सार	साध्वी सौम्यगुणाश्री	50.00
17.	जैन विधि विधान सम्बन्धी साहित्य का बृहद् इतिहास	साध्वी सौम्यगुणाश्री	200.00
18.	जैन गृहस्थ के सोलह संस्कारों का तुलनात्मक अध्ययन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
19.	जैन गृहस्थ के व्रतारोपण सम्बन्धी संस्कारों का प्रासंगिक अनुशीलन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	150.00
20.	जैन मुनि के व्रतारोपण सम्बन्धी विधि-विधानों की त्रैकालिक उपयोगिता, नव्ययुग के संदर्भ में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
21.	जैन मुनि की आचार संहिता का सर्वाङ्गीण अध्ययन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	150.00

22.	जैन मुनि की आहार संहिता का समीक्षात्मक अध्ययन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
23.	पदारोहण सम्बन्धी विधियों की मौलिकता, आधुनिक परिप्रेक्ष्य में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
24.	आगम अध्ययन की मौलिक विधि का शास्त्रीय अनुशीलन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	150.00
25.	तप साधना विधि का प्रासंगिक अनुशीलन, आगमों से अब तक	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
26.	प्रायश्चित्त विधि का शास्त्रीय पर्यवेक्षण व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों के संदर्भ में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
27.	षडावश्यक की उपादेयता, भौतिक एवं आध्यात्मिक संदर्भ में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	150.00
28.	प्रतिक्रमण, एक रहस्यमयी योग साधना	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
29.	पूजा विधि के रहस्यों की मूल्यवत्ता, मनोविज्ञान एवं अध्यात्म के संदर्भ में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	150.00
30.	प्रतिष्ठा विधि का मौलिक विवेचन आधुनिक संदर्भ में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	200.00
31.	मुद्रा योग एक अनुसंधान संस्कृति के आलोक में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	50.00
32.	नाट्य मुद्राओं का मनोवैज्ञानिक अनुशीलन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
33.	जैन मुद्रा योग की वैज्ञानिक एवं आधुनिक समीक्षा	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
34.	हिन्दू मुद्राओं की उपयोगिता, चिकित्सा एवं साधना के संदर्भ में	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
35.	बौद्ध परम्परा में प्रचलित मुद्राओं का रहस्यात्मक परिशीलन	साध्वी सौम्यगुणाश्री	150.00
36.	यौगिक मुद्राएँ, मानसिक शान्ति का एक सफल प्रयोग	साध्वी सौम्यगुणाश्री	50.00
37.	आधुनिक चिकित्सा में मुद्रा प्रयोग क्यों, कब और कैसे?	साध्वी सौम्यगुणाश्री	50.00
38.	सज्जन तप प्रवेशिका	साध्वी सौम्यगुणाश्री	100.00
39.	शंका नवि चित्त धरिए	साध्वी सौम्यगुणाश्री	50.00

विधि संशोधिका का अणु परिचय



डॉ. साध्वी सौम्यगुणा श्रीजी (D.Lit.)

नाम	:	नारंगी उर्फ निशा
माता-पिता	:	विमलादेवी केसरीचंद छाजेड
जन्म	:	श्रावण वदि अष्टमी, सन् 1971 गढ़ सिवाना
दीक्षा	:	वैशाख सुदी छट्ठ, सन् 1983, गढ़ सिवाना
दीक्षा नाम	:	सौम्यगुणा श्री
गुरुवर्य्या	:	प्रवर्त्तिनी महोदया प. पू. सज्जन श्रीजी म. सा.
अध्ययन	:	जैन दर्शन में आचार्य, विधिमार्गप्रपा ग्रन्थ पर Ph.D. कल्पसूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र, नंदीसूत्र आदि आगम कंठस्थ, हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत, गुजराती, राजस्थानी भाषाओं का सम्यक् ज्ञान।
रचित, अनुवादित एवं सम्पादित साहित्य	:	तीर्थंकर चरित्र, सद्ज्ञानसुधा, मणिमंथन, अनुवाद-विधिमार्गप्रपा, पर्युषण प्रवचन, तत्वज्ञान प्रवेशिका, सज्जन गीत गुंजन (भाग : १-२)
विचरण	:	राजस्थान, गुजरात, बंगाल, बिहार, मध्यप्रदेश, उत्तर प्रदेश, कर्नाटक, तमिलनाडु, थलीप्रदेश, आंध्रप्रदेश, छत्तीसगढ़, झारखण्ड, महाराष्ट्र, मालवा, मेवाड़।
विशिष्टता	:	सौम्य स्वभावी, मितभाषी, कोकिल कंठी, सरस्वती की कृपापात्री, स्वाध्याय निमग्ना, गुरु निश्रारत।
तपाराधना	:	श्रेणीतप, मासक्षमण, चत्तारि अट्ठ दस दोय, ग्यारह, अट्ठाई बीसस्थानक, नवपद ओली, वर्धमान ओली, पखवासा, डेढ़ मासी, दो मासी आदि अनेक तप।

सज्जन चिंतन के स्वर्णिम मोती

- श्रावक कहलाने का हकदार कौन ?
- श्रावक जीवन के **Most Important** कर्त्तव्य ?
- श्रावक जीवन में समय प्रबंधन का महत्त्व ?
- सद्गृहस्थ को क्या करना चाहिए और क्या नहीं ?
- सम्यक्त्व व्रत विधि आगमों से अब तक ?
- श्रावक जीवन के निर्माण में बारह व्रतों की भूमिका ?
- सामायिक साधना शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक शांति का गुरु मंत्र कैसे ?
- सामायिक उपकरणों का बदलता स्वरूप ?
- उपधान विधियों में आए परिवर्तन आवश्यक या अनावश्यक ?
- उपासक प्रतिमा ग्रहण विधि का मौलिक स्वरूप ?

SAJJANMANI GRANTHMALA
Website : www.jainsajjanmani.com,E-mail : vidhiprabha@gmail.com
ISBN 978-81-910801-6-2 (III)